लेखक :

मांगीलाल भूतोड़िया

एम० ए०, एल० एल० बी०; साहित्यरत्न
अधिवक्ता कलकत्ता (उच्च न्यायालय)

●

प्राक्कथन :

डा० रघुबीर सिंह डी० लिट्०, एल० एल० बी०
(निदेशक—श्री नटनागर शोध संस्थान, सीतामऊ)

●

भूमिका :

श्री शरद कुमार साधक
संपादक : आचार्य कुल, वाराणसी

प्रथम संस्करण, १९८८ (विक्रम संवत् २०४५)

प्रथम आवृत्ति—३०००

●

मूल्य : एक सा। ७५५

●

मुद्रक : धर्मराज प्रिंटिंग प्रेस,
यस० २६/९३ मीरापुर बसहीं, शिवपुर,
वाराणसी


इतिहास की अमर बेल
ओसवाल

समर्पण

जब मैंने इतिहास लिखना प्रारम्भ किया—एक ललक थी इसे पूर्ण करने की। यह मेरे लिए एक चुनौती थी। जैसे-जैसे मैं इसमें रमा, मुझे लगा कि यह रत्नगर्भा तो है पर अपरम्पार भी। तब से यह मेरी साधना का अंग बना और धीरे-धीरे आनन्द बन गया। जो अज्ञात है, अनदेखा है, वह सहज ही आकर्षित करता है। उसे खोलना, समझना प्रीतिकर होता है। उसी अज्ञात को समर्पित है मेरा यह अकिंचन प्रयास।

—मांगीलाल भूतोड़िया

प्राक्कथन

भारत चिरकाल से ही धर्म प्रधान देश रहा है। यही कारण है कि जब-जब भी धर्म की क्षति हुई है, तब तब ऐसे व्यक्ति पैदा हुए, जिन्होंने धर्म की पुनः स्थापना की या उसका पुनरुत्थान किया। श्रीमद्भागवत में २२ अवतारों का विवरण है, जिनमें जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव अष्टम अवतार थे। इक्ष्वाकु वंश के भरत चक्रवर्ती उनके समकालीन राजा थे।

प्रत्येक धर्म अपनी प्रासंगिकता को स्थापित करते हुए उसके अनुरूप सृष्टि के स्वरूप और प्राग्-ऐतिहासिक विकास का विवेचन और धर्म तीर्थ का प्रवर्तन भी करता है।

यों तो ऋषभदेव के बाद २४वें तीर्थंकर महावीर स्वामी हुए, जो आज भी जैन धर्मावलम्बियों द्वारा भगवान महावीर के रूप में पूजे जाते हैं। परन्तु जैन उपासकों के हृदय में जितनी श्रद्धा और भक्ति २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के प्रति है, उतनी महावीर के प्रति नहीं है। यही कारण है कि जैन तीर्थों और तीर्थंकर प्रतिमाओं में सर्वाधिक तीर्थ और सर्वाधिक प्रतिमाएँ पार्श्वनाथ की ही मिलती हैं। इसी के फलस्वरूप आचार्य रत्नप्रभ सूरि पार्श्व संतानीय होने के कारण ही प्रतिबोधित होकर संस्थापित हो गये।

जैन धर्म वस्तुतः बहुत ही प्राचीन धर्म है। विष्णु पुराण आदि कई एक पुराणों में जैन धर्म का उल्लेख है। अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी का निर्वाण ईसा से ५२७ वर्ष पहले हुआ था। बौद्ध और जैन धर्मों में यदा-कदा सादृष्य देखने को मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों और इसी प्रकार अशोक के शिलालेखों में निर्ग्रन्थों (जैन-संतों) के उल्लेख मिलते हैं। भ० महावीर के जीवन-मुक्त होने के ६०९ वर्ष बाद तद्नुसार वि० सं० १३९ में दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई। इन बौधिकों के प्रवर्तक पृथ्वीपुर में जन्मे थे। उधर एक अन्य गाथा के अनुसार महावीर स्वामी के निर्वाण के ६०९ वर्ष बाद श्वेताम्बर सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ था। यों प्रारम्भ में केवल जिनकल्पो (दिगम्बर) दीक्षा का ही प्रावधान था। परन्तु कालांतर में कठिनाइयाँ होने पर वस्त्र (श्वेत) धारण करने लगे, जो श्वेताम्बर कहलाये। देवसेन सूरी कृत 'भाव संग्रह' के अनुसार विक्रम राजा की मृत्यु के बाद सौरठ देश के वल्लभ नगर में श्वेताम्बर धर्म उदय हुआ।

जैन धर्म मानने वाली इन दो प्रधान शाखाओं में अनेकानेक पारस्परिक विभेद हैं, जो इन दोनों सम्प्रदायों की देवमूर्तियों के दर्शन से स्पष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार इन दोनों धर्मावलम्बियों के कथा-ग्रंथों में बहुत-कुछ अलग-अलग है। धर्म-शास्त्र भी अलग-अलग रचे हुए हैं। लेकिन पूर्ववर्ती दिगम्बर और श्वेताम्बर मूर्तियों में बहुत कम अन्तर होता था। तब इन दोनों शाखाओं में भी अधिक विभेद नहीं था और दोनों मिलकर साधना करते थे।

आजकल दिगम्बर साधु अति विरल हैं, वहीं श्वेताम्बर साधु बहुत दिखाई पड़ते हैं, जिसका कारण दोनों के दुर्गम और सुगम मार्ग हैं। इन दोनों की मूर्ति पूजा में भी परस्पर भेद हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में स्थानकवासी, तेरह-पंथी आदि संघों के अनुयायी मूर्ति को नहीं पूजते।

इन दोनों मुख्य सम्प्रदायों में संघ या गच्छ भेद पाया जाता है। दिगम्बराचार्य अमितगति ने स्व-रचित 'धर्म परीक्षा' में चार संघों का उल्लेख किया है। यथा—१. मूल संघ, २. काष्ठा संघ, ३. माथुर संघ, ४. गोप्य संघ।

श्वेताम्बराचार्य धर्मसागरगणि ने अपने 'प्रवचन-परीक्षा' नामक ग्रन्थ में तपागच्छ के सिवाय और भी दस मतों का उल्लेख किया है, जिनमें से चार मत दिगम्बर, पौर्णमीयक, औष्टिक और पाशचन्द आदि जैन धर्म से ही निकले हैं, जिनके बारे में 'प्रवचन-परीक्षा' में स्पष्ट लिखा है।

श्वेताम्बर समाज का एक महत्वपूर्ण वर्ग है, जिसे ओसवाल जाति कहा जाता है। कहा जाता है कि इन ओसवालों की उत्पत्ति जोधपुर से ३२ मील दूर उत्तर-पश्चिम पर स्थित ओसिया नगरी से हुई थी। ओसवाल जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत-मतांतर प्रचलित हैं, जिनके बारे में इस 'इतिहास की अमर बेल : ओसवाल' ग्रंथ में सविस्तार विवेचन है। ओसवाल जाति का गौरव उसके महान् विश्वभाव के सिद्धान्त के कारण ही है, जिसके वश होकर आचार्य रत्नप्रभु सूरि ने उसकी स्थापना की थी। यही नहीं आगे चलकर इस जाति के महान् पुरुषों ने राजनीति, धर्म नीति और अर्थ नीति में अपनी स्वतंत्र पहचान बनायी, आश्चर्यजनक कारनामे दिखाये तथा अपनी प्रतिभा और त्याग के बल से राजस्थान के मध्ययुगीन इतिहास को दैदीप्यमान कर दिया।

विश्व-बन्धुत्व के सिद्धान्त पर ही श्री रत्नप्रभु सूरि ने ओसवाल जाति की स्थापना की थी और उनके वाद अनेकानेक जैन आचार्यों ने इस जाति की उन्नति के लिए बहुत ही प्रभावशाली चेष्टाएँ कीं, जिनके परिश्रम से अनेकानेक जातियों को ओसवालों में सम्मिलित कर इसमें नये-नये गोत्रों के नाम दिये गये।

स्पष्टतया जैन आचार्यों के चमत्कारवाद से ही ओसवाल जाति के कई गोत्रों की उत्पत्ति हुई होगी। कालान्तर में प्रसिद्ध आचार्य बप्प भट्ट सूरि, श्री नेमिचन्द्र सूरि, श्री वर्द्धमान सूरि, श्री जिनेश्वर सूरि, श्री अभयदेव सूरि आदि अनेकानेक जैन आचार्यों ने जैन धर्म की प्रतिष्ठा को बढ़ाकर जैन धर्म को विशेष महत्त्व प्रदान किया। मध्यकाल में श्री जिनभद्र सूरि और श्री जिनचन्द्र सूरि का विशेष महत्त्व और प्रतिष्ठा रही। श्री हीर विजय सूरि ने मुगल सम्राट् अकबर को भी प्रभावित किया था, जिसके फलस्वरूप अकबर ने उनको आमंत्रित कर उनका बहुत आदर-सम्मान किया। उनके साथ उनके कई एक आग्रहों को भी स्वीकार कर पर्युषण पर्व में जीव हिंसा बंद करने के आदेश दिये थे। अकबर ने इन आचार्य श्री को 'जगत्-गुरु' का विरुद भी प्रदान किया था।

इस प्रकार इस पूर्व मध्यकालीन भारत में ओसवालों ने जैन धर्म का महत्त्व ही नहीं बढ़ाया, परन्तु उसके विशिष्ट प्रसार और प्रभाव में भी निरन्तर वृद्धि की, जिससे श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय की इस महत्त्वपूर्ण जाति का परिचय, सांगोपांग वर्णन और विवेचन अत्यावश्यक है। श्री मांगीलाल भूतोड़िया ने इस आवश्यकता की पूर्ति करने का प्रयत्न किया है, अतः उनके द्वारा लिखित 'इतिहास की अमरबेल ओसवाल' शीर्षक ओसवाल समाज के इस सचित्र इतिहास का मैं हृदय से स्वागत करता हूँ।

लेखक ने श्रमण परम्परा की ऐतिहासिकता और धर्मचक्र के महत्त्व का विवेचन करते हुए सम्प्रदायों की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डाला है। जोधपुर से ३२ मील उत्तर-पश्चिम में स्थित [२६° ४३' उ०, ७२°५५' पू०], ओसिया नगरी की संस्थापना का विवरण देते हुए ओसवालों की उत्पत्ति तथा कुलदेवी सचिया माता पर भी सविस्तार विवेचन किया है। ओसिया की प्राचीनता सम्बन्धी नवीनतम शोधों का विवरण देते हुए ओसिया तीर्थ के पुनरुद्धार पर भी विचार किया है। ओसवाल उत्पत्ति के काल-निर्णय में सारे मतों और इतिहासकारों के तर्कों पर भी विचार-विमर्श करते हुए इस तीर्थ के पुनरुद्धार विषयक प्रस्तावों के सन्दर्भ में वर्तमान ओसिया नगरी की पूर्ण जानकारी दी है।

तद्विषयक प्राचीन ग्रन्थों और शिलालेखों सम्बन्धी मान्यता पर विचार कर परमार आदि राजपूत जाति की उत्पत्ति की भ्रांति पर अपना स्पष्ट मत दिया है। इतिहास-लेखन में ओसवालों के इतिहास के विभिन्न स्रोतों पर अपनी मान्यता प्रकट करते हुए लेखक ने ओसवालों के गोत्रों की स्थापना और विकास

सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रस्तुत की है। ओसवालों के सामाजिक समीकरणों की चर्चा करते हुए उनके समुचित कार्यों का भी विवरण दिया है, जिससे इस जाति के इतिहास पर पूरा-पूरा प्रकाश पड़ता है। ओसवालों के गोत्रों की स्थापना और विकास के विवरण के साथ माहेश्वरी जाति से आये हुए ओसवालों की भी जानकारी सम्मिलित की गई है। विभिन्न जैनाचार्यों की चर्चा करते हुए स्थानकवासी, तेरापंथी और दिगम्बर सम्प्रदायों के प्रभावी संतों की जानकरी जोड़ दी गयी है। प्राचीन ओसवाल तीर्थों के विवरण देकर ओसवाल इतिहास पुरुषों की भी संक्षिप्त जीवनियाँ और शासन-सम्मानित ओसवालों का भी उल्लेख किया गया है। इस प्रकार यह ग्रंथ ओसवाल जाति सम्बन्धी एक विस्तृत सामग्री-संग्रह बन गया है, जिसके आधार पर ओसवाल इतिहास पर भविष्य में बहुत-कुछ अध्ययन और भरपूर शोध सम्भव हो सकेंगे।

अतः आशा करता हूँ कि यह इतिहास अधिकाधिक प्रसारित ही नहीं होगा, परन्तु इसका गहन अध्ययन भी होगा। इस ग्रन्थ को लिखकर श्री मांगीलाल भूतोड़िया ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उसके लिये मैं उनका समादर करते हुए उनको हृदय से धन्यवाद देता हूँ कि भारतीय इतिहास की इस महत्त्वपूर्ण कड़ी का प्रामाणिक विवेचन हमें यों सुलभ कराया। यह ग्रंथ पठनीय ही नहीं, अध्ययनीय और सयत्न संग्रहणीय भी है।

'रघुबीर निवास'
सीतामऊ [मालवा], ४५८-९९०,
सितम्बर ९, १९८८

—रघुबीर सिंह

उपोद्घात

यह ग्रन्थ श्री मांगीलालजी भूतोड़िया के अथक अध्यवसाय और अनुशीलन की पुरस्कृति है। इस ग्रंथ में इतिहास और पुरातत्त्व, साहित्य और कला, धर्म और दर्शन, संस्कृति और समाजशास्त्र—इन सबका सार्थक संगम और समन्वय सम्पन्न हुआ है। विद्वान लेखक ने अपनी दुस्तर अनुसंधान यात्रा में एक सुदीर्घ कालखण्ड के पठारों और पड़ावों का मानक और मनोरम मानचित्र बनाया है। एक पुरातन जाति की जीवन्त गाथा प्रस्तुत करने में प्रमाण और प्रवाद को, साक्ष्य और संभावना को, तथ्य और अनुमान को जोड़ने और आँकने का यह उल्लेखनीय प्रयास है। न केवल इतिहासकार की दृष्टि से बल्कि कवि की संवेदना से लेखक ने भारतीय जीवन के शतदल-पद्मवृन्त पर 'ओस' (शबनम) को तरह सुशोभन ओसवाल जाति के उद्भव और उन्मेष की गाथा प्रस्तुत की है। इस प्रस्तुति में सहृदय आत्मीयता ने विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण को दिशा दी है और कई बिखरे हुए तथ्यों एवं मतों को एक सूत्र में पिरोने की प्रेरणा भी।

मुझे यह ग्रंथ संयुक्त राष्ट्रसंघ के स्विट्जरलैंड में जीनीवा स्थित मुख्यालय की एक भित्ति पर सुसज्जित व सुविशाल चित्र की याद दिलाता है। उस बुने हुए चित्र में परिवारों, कबीलों, गाँवों, शहरों, जनपदों, राष्ट्रों और एक विश्व के अन्तर्ग्रंथित विकास क्रम की कथा कहने की कलात्मक चेष्टा की गई है। हर बार जब मैं उस चित्र को देखता हूँ तो मेरे मानसपटल पर अनेकताओं में झाँकती हुई मनुष्य जाति की एकता, सांस्कृतिक-सामाजिक विभिन्नताओं में बसी हुई मनुष्य की अभिन्नता और इतिहास के क्रम में उभरते और निखरते हुए मानवीय सम्बन्धों की आत्मीयता रेखांकित और आलोकित हो उठती है। मनुष्य का इतिहास इन्हीं सम्बन्धों में गुँथी हुई अस्मिताओं की कहानी है। श्री भूतोड़िया जी का यह ग्रंथ उसी कथा-शृंखला की एक कड़ी है।

भारतवर्ष में परम्परा से शुद्ध इतिहास की तथ्यात्मक और घटनापरक दृष्टि का अभाव रहा है। भारत में अधिकांश जातियों का इतिहास इस दृष्टि से न्यूनाधिक परिमाण में अभावग्रस्त है। ओसवाल जाति का इतिहास इसका अपवाद नहीं है। विभिन्न साक्ष्य-स्रोत जो संकेत देते हैं उनमें तिथिक्रम एवं अन्य विविध प्रश्नों के अलग-अलग निष्कर्ष प्रकट होते हैं, अलग-अलग प्रस्थापनाओं और संभावनाओं की प्रतीति उभरती है। विद्वान लेखक ने उन विभिन्न निष्कर्षों और प्रस्थापनाओं का तरतीब से और तुलनात्मक विवेचन किया है, उनके पक्ष और विपक्ष को तथ्य और तर्क की कसौटी पर रखा है, एवं एक सधे हुए कथाकार की बानगी से सुसंगत तारतम्य का निर्वाह किया है। इसलिए मत-मतान्तर के बीहड़ के बीच लेखक अपना मार्ग कभी नहीं खोता; दिग-दिन्त के सर्वेक्षण में भी लेखक को दिशाभ्रम नहीं होता। एक सर्वांगीण सम्पूर्णता एवं

सर्वतोमुखी निरन्तरता का प्रयास इस ग्रंथ को एक परम्परा के यात्रा-वृत्तान्त की तरह रोचक बनाकर प्रस्तुत करता है।

धर्म-परम्परा की दृष्टि से ओसवाल जाति का जैन परम्परा से अंतरंग सम्बन्ध रहा है। एक जन-समुदाय के जैनधर्म स्वीकार करने में एवं नई जाति के संगठन या निर्माण के बीच क्या सम्बन्ध है, और यह निर्माण और संगठन कितना भौगोलिक, कितना धार्मिक, कितना आर्थिक और सामाजिक, कितना जातीय और कितना आनुवंशिक था, इन प्रश्नों का उत्तर निर्णयात्मक रूप से देना आज संभव नहीं है। ये प्रश्न केवल ओसवाल जाति के इतिहास से ही सम्बन्धित नहीं; बल्कि मूलभूतरूप से इन प्रश्नों का समाधान भारतीय इतिहास, नृतत्वशास्त्र (एंथ्रोपोलोजी) एवं समाजशास्त्र के लिए आधारभूत और अनिवार्य है।

वर्ण-व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में ओसवाल जाति की उत्पत्ति मूलतः क्षत्रियवर्ण से मानी जाती है, यद्यपि मुझे यह लगता है कि शायद भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक कारणों से एवं पारंपरिक प्रचलन के अनुसार यह संभव है कि इस नई 'महाजन' जाति के निर्माण में राजा, मंत्री, श्रेष्ठि, ब्राह्मण के साथ विभिन्न वर्णों के सदस्य सामूहिक रूप से सम्मिलित हुए हों। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह घटना किसी एक ही दिन हुई हो। हो सकता है यह प्रक्रिया बार-बार या निरन्तर क्रमिक रूप से घटित होती रही हो। यह असंभव नहीं कि इस जाति में क्षत्रिय, ब्राह्मण एवं वैश्य वर्ण के अतिरिक्त कुछ अन्य भारतीय या भारतीयेतर जातियाँ भी समाहित हुई हों। क्षत्रिय और ब्राह्मण इस नई महाजन जाति में क्यों, कब और कैसे सम्मिलित हुए और क्यों उन्होंने चतुर्विध वर्ण-व्यवस्था में वैश्यवर्ण का अभिधान स्वीकार किया, यह भी एक विचारणीय समाजशास्त्रीय प्रश्न है। मेरी राय में यह संभव है कि अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय वाणिज्य के क्रम में क्षत्रियों, ब्राह्मणों और व्यापारी तथा कृषक-वैश्यों ने नई संभावनाओं को देखते हुए नये व्यवसाय चुने और वे तिजारती काफिलों के सरदार और संरक्षक बने। संभव है कि क्षत्रिय और सार्थवाह वाणिज्य के नए सीमान्त पर एक सूत्र में बंधे और उस समय उन्हें एक नई जाति में गठित होना स्वाभाविक या अनिवार्य लगा हो। यह भी संभव है कि क्षत्रियों और ब्राह्मणों के लिए आर्थिक सम्पन्नता के स्रोत सूखने लगे हों और वाणिज्य की संभावनाओं ने वर्ण-व्यवस्था को एक नया मोड़ दे दिया हो। उत्तर भारत में आज कई वैश्य जातियाँ, विशेषतः श्रीमाल (जो वस्तुतः ओसवाल जाति से भिन्न नहीं हैं) अग्रवाल, माहेश्वरी, खंडेलवाल तथा 'खत्री' जाति की यही समान, बल्कि बिल्कुल एक सी, पृष्ठभूमि प्रतीत होती है।

यह सच है कि ओसवाल जाति के इतिहास में जैनधर्म का प्रभाव बहुत गहरा रहा है। किन्तु धर्म-विशेष के कारण वर्ण-परिवर्तन क्यों आवश्यक हुआ यह स्पष्ट नहीं

है। भारतवर्ष में जैन-परंपरा अत्यन्त प्राचीन है, यह एक निर्विवाद सत्य है। भगवान आदिनाथ ऋषभदेव इस परंपरा के पहले तीर्थंकर थे और भारत के प्राचीनतम साहित्य वेद में उनका उल्लेख मिलता है। उनके बाद एवं भगवान महावीर से पूर्व जैन परंपरा में बाईस अन्य तीर्थंकर हुए। उन सब के अनुयायी रहे होंगे, यह सुनिश्चित है; किन्तु वे अनुयायी किसी एक जाति या वर्ण के ही रहे हों, यह संदिग्ध है। निर्विवाद रूप से भगवान नेमिनाथ एवं भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर के समय में तदनंतर कई सदियों तक जैन धर्म स्वीकार करने पर किसी व्यक्ति या समुदाय को क्षत्रिय या ब्राह्मण से वैश्य बनना पड़ा हो, इसका प्रमाण स्पष्ट रूप से नहीं मिलता है। यह भी संभव है कि जैनधर्म ने जाति की सीमारेखा को नकार कर अपने नये समाजदर्शन को आचार और विचार की निष्ठा के रूप में व्याख्यायित करने का सार्थक प्रयास किया हो और इस प्रक्रिया में शायद एक नई जाति का आविर्भाव हुआ हो, जिसका आत्म-विश्वास पारंपरिक वर्ण-व्यवस्था से अप्रतिहत रहा।

उल्लेखनीय है कि यद्यपि ओसवाल जाति को 'वैश्य' अभिहित किया गया, इस जाति के कई वंशधर व्यापार और वाणिज्य में अतुल धनसंपदा एवं यशकीर्ति प्राप्त करने के अलावा शासन और सेना में भी संलग्न रहे और उन्होंने अपने आप को निरन्तर तलवार, कलम और व्यवस्था-कौशल का धनी भी सिद्ध किया। राजस्थान एवं गुजरात में ओसवाल जाति के इतिहास से अंतर्ग्रन्थित इस प्रकार के अगणित और अप्रतिम उदाहरण पग-पग पर मिलते हैं। मध्ययुगीन रियासती राज्यवंशों की आंतरिक राज-नीतिक में ओसवाल जाति के राजपुरुषों ने महत्वपूर्ण सैनिक, राजनैतिक एवं प्रशासनिक भूमिकाएँ निभाई। ऐसा प्रतीत होता है कि इस जाति के कई सुयोग्य राजकर्मी राज्य वंशों एवं राज्यपरिवारों में व्याप्त पारस्परिक स्पर्धाओं और महत्वाकांक्षाओं के बदलते हुए राजनैतिक माहौल में शासकीय स्थिरता के सर्वाधिक विश्वसनीय और संतुलनकारी शक्ति-केन्द्र सिद्ध हुए। मध्ययुगीन रियासतों में अक्सर राजा को अपने परिवार के सदस्य और नजदीकी रिश्तेदारों के षड्यंत्रों से सावधान रहना पड़ता था और ऐसी स्थिति में ओसवाल जाति के अभिजात मुत्सद्दी वर्ग को शासन का कार्यभार सौंपने में राजकीय असुरक्षा कम होती थी। इस मुत्सद्दी जाति की नीतिज्ञता एवं व्यवहार-कुशलता का लोहा सब मानते थे। उनकी स्वामिभक्ति एवं राज्यनिष्ठा बेजोड़ थी। जनमानस में उनकी साख बहुत ऊँची थी। वे बहुधा सामान्य जन के दृष्टिकोण का राज्य प्रशासन में प्रति-निधित्व भी करते थे। उनमें से कई सैन्यसंचालन में भी निपुण थे। कई ओसवाल परिवारों को बहुत जागीरें मिली हुई थी और सम्मान और सिरोपाव की दृष्टि से वे सामन्ती समाज की प्रथम पंक्ति में बैठते थे। उनकी भाषा, बोलचाल, वेशभूषा, अदब-कायदा और रहन-सहन राज्यदरबार के अनुरूप हो चला था। उनमें से कई वंशानुगत रूप से दीवान, प्रधान, फौज बख्शी, मंत्री, राजदूत एवं उच्चाधिकारी हुए। यह क्रम कई

सदियों तक चला ! राज्य परिवार, व्यापारी वर्ग और सामान्यजन के बीच, राजकर्मी मुत्सद्दी-ओसवाल परिवारों की मध्यस्थता, उनका प्रभाव, उनकी मान्यता और उनकी प्रतिष्ठा परंपरागत वर्ण-व्यवस्था के वास्तविक एवं व्यवहारिक संशोधन को प्रमाणित करते हैं। वर्ण-व्यवस्था की यह संशोधन प्रक्रिया भारतीय समाजशास्त्र और इतिहास के मर्म को समझने के लिए बहुत महत्व की है। ओसवाल जाति के अतिरिक्त भी कई भारतीय जातियाँ ऐसी हैं, जो परम्परा से वैश्य या वणिक वर्ग की मानी गयी, तथापि उनके सदस्य वाणिज्य और व्यापार के अतिरिक्त दूसरी जीवन-चर्याओं में संलग्न हुए एवं अग्रणी रहे। ब्राह्मणों और वैश्यों में कई राजा और सेनापति हुए। क्षत्रियों और वैश्यों में कई विद्वान, विचारक और लेखक हुए। कई ब्राह्मण सफल वणिक हुए। वस्तुतः इन तीन वर्णों से बाहर भी कई भारतीय और भारतीयेतर जातियाँ रहीं हैं, जिनकी उत्पत्ति किसी वर्ण विशेष की मूलधारा से प्रमाणित नहीं होती किन्तु जिन्होंने अपना व्यवसाय, वर्ग और वर्ण स्वयं चुना या बनाया। सच तो यह है कि वर्ण और वर्ग के प्रतिबन्ध व्यक्ति की प्रतिभा और स्वतन्त्रता को बन्दी नहीं बना सके।

ओसवाल जाति की प्रतिभा व्यापार और वाणिज्य में विशेष रूप से उजागर हुई। विशेषतः ओसवाल व्यापारियों ने विपुल संपदा ही नहीं, प्रतिष्ठा भी अर्जित की। उस समय के महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय एवं भारतीय वाणिज्य-मार्गों के केन्द्रस्थलों में उनका प्राधान्य था। उदाहरणतः जैसलमेर कई सदियों तक एक प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र था। जैसलमेर में ओसवाल श्रेष्ठियों की हवेलियाँ आज भी उनकी समृद्धि, सुरुचि और कलानुरक्ति की साक्षी हैं। सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में मुर्शिदाबाद-अजीमगंज-जियागंज में ओसवाल जाति के व्यापारियों ने अद्वितीय सफलता प्राप्त की। जगतसेठ इसी जाति के होते थे और उनका असर बंगाल में ही नहीं बल्कि मुगल दरबार में भी जाना-माना जाता था। कई समृद्ध ओसवाल परिवार लेन-देन, बैंकिंग और वाणिज्य के साथ बंगाल और आसपास में जमींदारी में प्रविष्ट हुए और फिर बंगाल में पाट के वाणिज्य में अग्रगण्य रहे। १८३२ में कर्नल जेम्स टॉड ने लिखा था कि "समूचे भारत में नब्बे प्रतिशत बैंकर और व्यापारी मरुदेश के हैं और वे मुख्यतया जैन हैं।" प्रवासी ओसवाल जाति मुगलकाल में देशभर में फैल गई थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी और ब्रिटिश साम्राज्य में वाणिज्य का विशेष विस्तार हुआ और उसके साथ-साथ ओसवाल जाति के व्यापारियों ने भी अपने कार्यक्षेत्र को बढ़ाया। आयात और निर्यात के सभी क्षेत्रों में उनका वर्चस्व था। न केवल बंगाल में बल्कि समूचे मध्यप्रदेश-मध्यभारत क्षेत्र में, बम्बई प्रान्त में, बिहार, उत्तर प्रदेश, मराठवाड़ा, आसाम, मैसूर, मद्रास में प्रवासी राजस्थानी और गुजराती ओसवाल जाति के परिवार बड़े और छोटे वाणिज्य के क्षेत्र में कर्ता-धर्ता थे। गुजरात-सौराष्ट्र से कई परिवार अफ्रीका के अन्य देशों में भी व्यापार के लिए गये। इसी वर्ष (जुलाई १९८८) लेस्टर, इंगलैंड में निर्मित भव्य जैन मन्दिर और जैन केन्द्र

के उद्‌घाटन के लिए जब मुझे समर्पण-भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया गया तो यह जानकर सुखद आश्चर्य हुआ कि सौराष्ट्र के एक हिस्से से आये हुए इंगलैंड में बसे 'ओसवाल' जाति के सदस्यों ने लन्दन के पास एक बहुत विशाल जातीय सम्पत्ति खरीदकर वहाँ देरासर बनाया है। किन्तु उनकी 'ओसवाल' जाति की परिभाषा सौराष्ट्र के केवल एक जिले की परिधि तक परिसीमित है, यह जानकर मुझे और भी आश्चर्य हुआ।

इस परिप्रेक्ष्य में यह भी एक गम्भीर समाजशास्त्रीय प्रश्न है कि मूलतः अपने आप को 'ओसवाल' कहने और मानने वाले जाति-समुदायों के मूल उद्‌गम और उन उद्‌गम स्थानों से देश-देशान्तर में प्रवास के प्रयाण-पथ (रूट्स ऑफ माइग्रेशन) क्या थे, वे प्रयाण-पथ और प्रवास-स्थल क्यों और कैसे चुने गये, और कालांतर में उन प्रवासी समुदायों में परस्पर और मूल उद्‌गम-स्रोतों के साथ कितने और कैसे सम्पर्क और सम्बन्ध रहे। कब, कहाँ और क्यों वे सम्पर्क-सूत्र शिथिल या विच्छिन्न हुए? साथ ही यह भी एक प्रश्न है कि उन उद्‌गम-स्रोतों को छोड़ने और क्षेत्र-परिवर्त्तन या 'देशान्तर' का विकल्प चुनने के क्या कारण थे? क्या वे कारण केवल आर्थिक थे और नई सम्भावनाओं के लिए ही प्रेरित थे, या कि उनमें राजनैतिक और समाजशास्त्रीय कारण भी थे? क्या यह सम्भव है कि सामन्ती व्यवस्थाओं में इस महाजन-जाति के मुसाहिब-मुत्सद्दी-वर्ग के अतिरिक्त दूसरों को वह सामाजिक हैसियत नहीं मिली, इसलिए उन्होंने देशान्तर में अपना भाग्य आजमाया? पश्चिमी विद्वानों ने इस संभावना का एक प्रकार से कुछ अतिवादी, निन्दात्मक एवं अवमूल्यनकारी नामकरण कर दिया। प्रकाण्ड समाजशास्त्री मैक्स वेबर के अनुसार हेतु-विज्ञान (एटियोलोजी) की दृष्टि से भारत के कई साहसिक उद्योगी मूलतः 'पारिया-जन' (Pariah) थे, अर्थात् सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक दृष्टि से निम्नवर्ग के और सामाजिक हैसियत से वंचित थे और इसीलिए वे प्रवासी बने। इस प्रस्थापना में एक आंशिक सत्य अवश्य हो सकता है क्योंकि प्रवास का एक मुख्य कारण था, अधिक सम्पन्न आजीविका की खोज। इसका दूसरा पहलू यह भी है कि जिन्हें अपने मूल स्थान में संतोषजनक आजीविका और हैसियत मिल गयी या जिनमें वाणिज्यिक दिलेरी नहीं थी (उदाहरणतः मुत्सद्दी-मुसाहिब वर्ग), वे प्रवासोन्मुख नहीं हुए और इसलिए उनका आर्थिक भाग्योदय भी सामन्ती घेरे में सीमित और अवरुद्ध रहा। इस दृष्टि से शायद मैक्सवेबर का सिद्धांत निराधार हो, किन्तु 'पारिया' शब्द का प्रयोग ओसवाल जाति के एवं अन्य वैश्य-जातियों के प्रवासी उद्योगियों के लिए सर्वथा असंगत और अनुपयुक्त है।

समाजशास्त्रीय विश्लेषण और ऐतिहासिक अनुसंधान की दृष्टि से यह निष्कर्ष और प्रस्थापना विचारणीय है कि उन्नीसवीं शताब्दी के बाद भारतीय अर्थ-व्यवस्था

ज्यों-ज्यों वाणिज्य से उत्पादनशील औद्योगीकरण की ओर उन्मुख हुई, राजस्थानी ओसवाल जाति दूसरी वणिकजातियों की तुलना में पिछड़ती गयी। इसका कारण यह था कि राजस्थानी जैन-ओसवाल जाति में अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धांतों के कारण औद्योगीकरण के प्रति एक उदासीनता और झिझक थी। मैं इस प्रस्थापना से अपने आप को सहमत नहीं पाता, यद्यपि इसमें इस हद तक कोई संदेह नहीं कि उद्योग और वाणिज्य के कुछ क्षेत्र ऐसे हैं, जिनसे प्रत्यक्ष हिंसा या सामिष आहार के कारण अधिकांशतः न केवल जैन बल्कि वैष्णव उद्योगपति भी परहेज करते रहे हैं। किन्तु यदि जैनधर्म के प्रतिबन्ध उद्योग में इतने अवरोधक होते तो गुजरात के ओसवाल-श्रीमाल जैन उद्योग में अग्रणी कैसे हुए? वैष्णव वणिक-वर्ग का औद्योगिक वर्चस्व कैसे स्थापित हुआ? कस्तूरभाई लालभाई के परिवार ने बम्बई, गुजरात में कैसे औद्योगिक कीर्तिमान स्थापित किये? कलकत्ता में सरदारशहर के तेरापंथ जैन सम्प्रदाय के वरिष्ठ श्रेष्ठि चैनरूप संपतराम (दूगड़) का उदाहरण अक्सर यह इंगित करने के लिए दिया जाता है कि जैनधर्म के गहरे संस्कार या किसी धार्मिक प्रतिबोध के कारण उन्होंने अपना धंधा बन्द या सीमित कर दिया और अपने सहयोगियों को हस्तांतरित कर दिया। किन्तु, यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उनके सहयोगी, जिन्होंने उनका व्यापार (जो भारत में उस समय प्रमुख था) लिया, वे भी (जैसे बीकानेर का रामपुरिया परिवार) जैन-परम्परा के मानने वाले थे। यह भी उल्लेखनीय है कि अपरिग्रह के बारे में यद्यपि वैष्णव दृष्टिकोण भिन्न है, किंतु अहिंसा को लेकर वैष्णव-परम्परा और जैन-परम्परा में बहुत साम्य है। वस्तुतः महात्मा गांधी उन दोनों परम्पराओं से समन्वित अहिंसा और अपरिग्रह के सबसे बड़े समकालीन प्रतिनिधि और प्रवक्ता थे। मेरी मान्यता है कि कलकत्ता में ओसवाल जाति के उन्नीसवीं सदी के बाद आपेक्षिक रूप से पिछड़ने का एक कारण यह था कि उनके अग्रणी व्यापारी पहले से ही बहुत सम्भ्रांत और समृद्ध हो चले थे। उनमें से कुछ परिवारों ने जमींदारों की जीवन-शैली अपना ली थी। कई ओसवाल व्यापारी बहुत देखकर चलनेवाले और फूंक-फूंककर कदम रखने वाले थे। उनमें से कई नये उद्योगों के प्रति उदासीन थे और फिर दूसरी वणिक जातियों के प्रतियोगी परिवार एक नई स्फूर्ति और ऊर्जा लेकर सामने आये। वस्तुतः वे दूसरी वणिक जातियाँ भी ओसवाल जाति से भिन्न नही हैं।

ओसवाल जाति का पिछली कुछ सदियों का इतिहास तो प्रामाणिक आधार पर लिखा जा सकता है किन्तु इस जाति के उद्भव की तिथि या कालक्रम निर्धारित करना अत्यंत दुष्कर, यद्यपि रोचक कार्य है, ठीक उस यात्रा की तरह जिसका मार्ग उसके मंजिले-मकसूद से कम नहीं होता। व्यापक रूप से यह मान्यता प्रचलित है कि आचार्य स्वयंप्रभसूरि के प्रतिबोध और प्रभाव से भिन्नमाल (भीनमाल) में एक वृहत् समुदाय ने जैन धर्म अंगीकार किया और वे लोग 'श्रीमाल' अभिहित हुए। भिन्नमाल को पहले

श्रीमालनगर के नाम से जाना जाता था। प्रचलित लोककथा के अनुसार भिन्नमाल के राजा के छोटे भाई उत्पलदेव (उप्पलदेव) और मंत्री के छोटे भाई उहड़ ने आधुनिक जोधपुर के पास 'उएस' भूमि पर 'उएसपट्टण' या उकेशपुर या उपकेशपुर जिसे ओसिया के नाम से जाना जाता है, नाम का नगर बसाया, जहाँ भिन्नमाल से सभी वर्णों के कई सहस्र लोग गये। आचार्य स्वयं प्रभसूरि के पट्टधर आचार्य रत्न प्रभसूरि ने 'उएस' भूमि में अपने गुरु की परंपरा का निर्वाह किया और बारह योजन में फैले हुए भूखंड में एक बड़े जन-समुदाय को प्रतिबोध देकर जैन परंपरा में दीक्षित किया। इस प्रकार भीनमाल और ओसिया इन दो नगरों के बीच श्रीमाल और ओसवाल जातियों का प्रादुर्भाव और नवोन्मेष हुआ। प्रारंभ से ही उनके बीच अतरंग सौहार्द और पारस्परिकता का संबंध बना। ओसिया में आचार्य रत्नप्रभसूरि के उद्‌बोधन के प्रभाव में नामान्तर से 'उपकेशपुर', 'उएसपट्टण' या ओसिया के राजा उत्पलदेव, उनके मंत्री उहड़ एवं प्रजावर्ग ने समवेतरूप से जैनधर्म परंपरा को स्वीकार किया और परिणामतः वर्ण व्यवस्था से परे हट कर ओसवंशीय महाजन जाति की संरचना हुई, जिसमें विभिन्न वर्ण और वर्ग सम्मिलित हुए। भिन्नमाल से आये हुए श्रीमाल भी उस समूह में रहे होंगे। किन्तु प्रश्न यह है कि आचार्य स्वयंप्रभसूरि एवं आचार्य रत्नप्रभसूरि का समय क्या था ?

श्री भूतोड़िया ने चौदहवीं शताब्दी में रचित 'उपकेशगच्छ चरित्र', 'उपकेश गच्छ पट्टावली' एवं 'नाभिनंदन जिनोद्धार' यति श्रीपालचन्द्रजी द्वारा रचित 'जैन संप्रदाय शिक्षा' तथा यति श्री रामलालजी द्वारा रचित पुस्तक 'महाजन वंश मुक्तावली' तथा भाटों एवं भोजकों के उद्धरणों और कवित्तों का विश्लेषण करते हुए यह बताया है कि आचार्य स्वयंप्रभसूरि भगवान पार्श्वनाथ के पाँचवें पट्टधर थे और आचार्य रत्नप्रभसूरि छठे पट्टधर थे। इस मान्यता के अनुसार श्रीमाल-ओसवाल जातियों की उत्पति ईसापूर्व पाँचवीं शताब्दी में ठहरती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि श्रीमाल-ओसवाल जातियाँ भगवान पार्श्वनाथ की परंपरा से अधिक निकट हैं और यह भी संभव है कि कालांतर में हुए दिगम्बर-श्वेताम्बर पृथकत्व में इस परंपरा का कुछ प्रभाव रहा हो। किन्तु श्री भूतोड़ियाजी के ईसापूर्व पांचवीं शताब्दी-संबंधी निष्कर्ष का मुख्य आधार है— कुछ बही-भाटों एवं चारणों द्वारा प्रयुक्त शब्द 'सम्वत बीये बाईसे' एवं 'वीरात् ७० वर्षे'। अन्य बही-भाटों एवं चारणों ने ओसवाल जाति की उत्पत्ति को आबूपर्वत पर यज्ञ के अग्निकुण्ड से प्रकट चार क्षत्रियवीरों के साथ जोड़ते हुए यह बताया है कि उनमें से एक परमारवंश के पूर्वज हुए और उसी वंश में जूनागढ़ में उपलदेव का जन्म हुआ और उन्होंने कालांतर में ओसिया में एक नया राज्य स्थापित किया; सर्पदंश से मृत उनके पुत्र भगवान सिंह को रत्नप्रभसूरि जी ने पुनर्जीवित किया और इसलिए वहाँ के सब लोगों ने शैवमत छोड़कर जैनधर्म अंगीकार किया।

इस प्रकार की कई लोककथाएँ और किंवदन्तियाँ बही-भाटों एवं चारणों के छन्दों और कवित्तों में मिलती हैं किन्तु यह सर्वविदित है कि ये छंद, कवित्त इत्यादि पिछले कुछ तीन सौ चार सौ वर्षों से अधिक पुराने नहीं हैं और वे जिस भाषा और लहजे में लिखे गये हैं, उस आधार पर ओसवाल जाति की उत्पत्ति के विषय में वैज्ञानिक रूप से ईसापूर्व पाँचवीं शताब्दी का कालनिर्णय उचित नहीं प्रतीत होता। यह सही है, लोक-साहित्य की परंपरा स्मृतियों और मान्यताओं की मंजूषा है किन्तु जो कथानक है, घटना-क्रम हैं, वे ओसवाल जाति के उद्भव के लिए ईसापूर्व की पाँचवीं शताब्दी का सुनिश्चित संकेत नहीं देते। मेरे विचार में जैन ओसवाल जाति के उद्भव का समय निश्चित रूप से नैणसी मूथा की पुस्तक 'मारवाड़ रे परगना री विगत' में दी गई जैन देरासर की प्रतिष्ठा के लिए दिये गये वर्ष संवत् १०२२ से पूर्व का रहा होगा किन्तु अब तक उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर यह आश्वस्त होकर नहीं कहा जा सकता कि यह तारीख भगवान महावीर के परिनिर्वाण के ७० वर्ष बाद ही पड़ती है। इस कालक्रम के निर्णय में सचिया माता का मंदिर एवं दूसरे पुरातात्विक सूत्र अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, ऐसी मेरी मान्यता है। मुझे यह भी लगता है कि देवी के अभिशाप, योगविद्या से उत्सृष्ट मायावी सर्प या वास्तविक नाग द्वारा राजकुमार या मंत्रीपुत्र को काटना और जैन आचार्य द्वारा उनका बचाया जाना, कुछ ऐसी किम्वदन्तियाँ या स्मृतियाँ है जिनकी उलझनों में कहीं ओसवाल जाति की उत्पत्ति के कालक्रम का गूढ़ तथ्य भी छिपा हुआ है। इन सब तथ्यों और प्रस्थापनाओं का अध्ययन मुझे अत्यावश्यक प्रतीत होता है। सामाजिक रूप से अतीत से भी अधिक वर्तमान और भविष्य पर विचार करना आवश्यक है क्योंकि हमारे समकालीन भारत में आज भी अनेकता में एकता का सपना अधूरा है, जो अनेकताओं और उनके अतीत की अस्मिताओं को सर्वथा नकारने से पूरा नहीं हो सकता।

वस्तुतः ओसवाल जाति के उद्भव और उत्कर्ष को जानने, समझने और सत्यापित करने के लिए इतिहास, नेतृत्व, पुरातत्व, साहित्य, कला, संस्कृति, धर्म, संप्रदाय, अर्थ, समाजशास्त्र और राजनीति का समन्वित एवं सम्मिश्रित विश्लेषण और विवेचन अनिवार्य हैं। श्री भूतोड़ियाजी ने इस पुस्तक में गहरी एवं बहुमुखी जिज्ञासाओं को जगाया है। उन जिज्ञासाओं का समग्र-सम्पूर्ण दृष्टि से संपन्न समाधान सुझाने का भगीरथ प्रयास बरसों तक इस विषय के शोध, मंथन और बहुआयामी अवगाहन और समन्वय की अपेक्षा करता है। मैं श्री मांगीलालजी भूतोड़िया को हृदय से सविनय, सादर साधुवाद देता हूं और यह आशा करता हूँ कि उन्होंने जो प्रस्थापनाएँ और संभावनाएँ प्रस्तुत की हैं, उन पर निकट भविष्य में, और भी गहरा उत्खनन और अनुशीलन होगा। श्री भूतोड़ियाजी का यह ग्रंथ उस उपक्रम के मार्गदर्शन के लिए एक मशाल की तरह प्रज्ज्वलित रहेगा और जगमगाता रहेगा।

—डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

(भारत के उच्चतम न्यायालय के अधिवक्ता)

भूमिका

अत्यन्त प्राचीन और देश-विख्यात ओसवाल समाज का इतिहास अभी है कहां ? वह तैयार हो रहा है। उसकी एक प्रस्तुति इस ग्रंथ में है। इसीलिए लेखक ने प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है कि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझना और सापेक्षिक सांस्कृतिक परिवेश व्याख्यायित करना लेखन का अंग है।

लेखक ने अपना यथार्थ स्वरूप पहचानने की प्रक्रिया में इतिहास को जीने का प्रयास किया है। वैसे हम सब वर्तमान इतिहास को जीना चाहते हैं। हमारी जिजीविषा में तालमेल बिठाने वाला दर्शन प्राग् ऐतिहासिक काल में ऋषभदेव ने दिया, जो जैनों के प्रथम तीर्थंकर हैं। 'संस्कृति के चार-अध्याय' में श्री रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है कि—"ऋषभदेव का उल्लेख ऋग्वेद में है। विष्णु पुराण और भागवत् का भी कहना है कि दशावतार के पूर्व होने वाले अवतारों में से एक अवतार ऋषभदेव हैं। उनकी परम्परा में जो लोग अहिंसा तथा तपश्चर्या के मार्ग पर बढ़ते रहे, उन्हीं ने जैन धर्म का पथ प्रशस्त किया।" ऋषभदेव मूलतः समाज-वैज्ञानिक थे। उन्होंने हिमालय से हिन्द महासागर तक फैले इस विस्तृत भूभाग में रहने वाली जनता की भाषा-भूषा, रुचि-शुचि का अध्ययन किया और सबके जीवन को निरापद रखने के लिए तीन बातें सिखायीं : (१) असि (शस्त्र) (२) मसि (शास्त्र) (३) कृषि। हर स्त्री-पुरुष से अपेक्षा रखी कि वह उपार्जन में हिस्सा लेने के साथ-साथ शस्त्र-शास्त्र में पारंगत बने।

ऋषभदेव के पुत्र भरत ने इस देश को संगठित किया और भारतवर्ष नाम दिया। उसके बाद असि-संचालन में प्रवीणता-प्राप्त लोग क्षत्रिय बन बैठे। मसि पर आधारित वर्ग ब्राह्मण कहलाने लगा। कृषि में लगने वाले वैश्य हो गये। सब अलग-कबीलों के रूप में कार्य करने लगे। कार्य-विभाजन के अनुरूप उनकी पहचान के लिए मनु ने जाति सूचक नाम रखे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। समय के साथ इन चारों जातियों की इतनी उपजातियाँ हो गयीं कि भारतवर्ष जातियों का 'अजायब घर' बन गया। इतिहासकार स्मिथ के अनुसार "अलग-अलग जातियाँ होते हुए भी भारत में मौलिक एकता रही, उससे रंग, भाषा, वेष-भूषा और पूजोपासना का अतिक्रमण रहा।"

दस हजार वर्ष पूर्व इस भूमण्डल पर रहने वालों की संख्या लगभग तीन करोड़ जनसंख्या बढ़ोतरी की दर ०.१ प्रतिशत थी। जीविकोपार्जन में स्पर्धा का अभाव

था। सब उत्साह पूर्वक काम करते थे। लेकिन वेद-उपनिषद और श्रुति-स्मृति के नाम पर फिर लोग काम से जी चुराने और पुरखों के नाम से प्रतिष्ठा चाहने लगे। उन्होंने शस्त्र-शास्त्र का दुरुपयोग कर बहुसंख्यक समाज को अपनी रियाया बना लिया। रियाया ने समझा कि क्षत्रिय हमारा रक्षण करेंगे और ब्राह्मण शिक्षण देंगे। किन्तु रक्षण-शिक्षण कहाँ हुआ? मात्र बिना खटे खाने वालों की जमात बढ़ती गयी। अरक्षित और अशिक्षित जनता शासित रही। शासक क्षत्रिय नरमेध, अश्वमेध, गोमेध, अजामेध यज्ञ कर अपना प्रभुत्व प्रदर्शित करने लगे। ब्राह्मणों ने उनका भी शोषण किया। हालात यहाँ तक पहुँचे कि उनकी तुष्टि के लिए राजा हरिश्चन्द्र को अपनी पत्नी तारामती तथा पुत्र के साथ पशुओं की भाँति काशी के बाजार में बिकना पड़ा। बिकवाने वालों की ज्यादतियों के खिलाफ किसी का मुँह नहीं खुला। जनता की इतनी बुजदिली देख-सुन-कर कालान्तर में काशी का राजकुमार पार्श्वनाथ उठा और उसनेपु रोहितों से मोर्चा लिया। कमठ के साथ पार्श्वनाथ का ऐतिहासिक संघर्ष हुआ। पार्श्वनाथ की हार हुई—ऐसा श्रद्धालुजन भले ही न मानें, लेकिन यह कटु सत्य है कि उस संघर्ष के परिणामस्वरूप उनका काशी से महाभिनिष्क्रमण हो गया। तब उन्होंने जनशक्ति खड़ी करने के लिए गाँव, नगर, जंगल, पहाड़ों की यात्रा की। वन्य-जातियों को प्रशिक्षित किया। नागजाति उनकी आत्मीयता पाकर निहाल हो गयी। असुर उनके सम्पर्क में आकर आततायीपन छोड़ बैठे। कोल, मुण्डा आदि आदिमजातियों ने भी समाज में स्थान पाया। इस तरह पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण को निकट लाने का और समान हैसियत में काम करने का आधार बना। पार्श्वनाथ ने जैनों के तेइसवें तीर्थंकर के रूप में जन-जागरण का अभियान चलाकर मनुष्य को मनुष्य की हैसियत से जीने की अनुकूलता दी और पशु-पक्षी तथा प्रकृति से आत्मीयता कायम की। उसे इतिहास की पहली धर्माधारित सामाजिक क्रांति कहा जा सकता है।

पार्श्वापत्य आचार्य रत्नप्रभ सूरि ने उस क्रांति के अनुरूप आचार-विचार, खान-पान, रहन-सहन और विधि-विधानों का प्रावधान कर संगठित समाज खड़ा किया, वही 'ओसवाल समाज' है।

ओसवालों की आचार-संहिता में मुख्य बातें निम्न हैं: (१) मांसाहार न करना (२) मद्यपान आदि व्यसनों से दूर रहना (३) भोगभूमि को कर्मभूमि में बदलने की कोशिश करना (४) दान-शील-तप-भावना को दिनचर्या का अंग बनाना। (५) अरि-हंत-सिद्ध-साधु और धर्म की उपासना करना।

ओसवालों का दीक्षा मंत्र है 'णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं'। इस मंत्र से योग्यता प्राप्त करने तथा योग्य व्यक्तियों का आदर करने की शिक्षा मिली। अरिहंतों ने समाज को अविरोधी जीवन-

व्यवहार की दिशा में बढ़ाने का कार्य किया। सिद्धों ने परमहितकारी चिन्तन और चरित्र से सिद्धि प्राप्त करने की विधा स्पष्ट की। तदनुरूप क्रियाशील रहने और रखने की जिम्मेवारी आचार्यों ने ली। पठन-पाठन उपाध्याय करवाने लगे। साधुओं ने सह-जीवन को निरापद रखा। इस तरह सज्जनों का संगठन और सज्जनता का संवर्धन हुआ। समाज में एक दूसरे को सहने की, समझने की आदत बनी। स्याद्वाद-अनेकान्त-वाद के आधार पर जीवन-व्यवहार कर यह समाज तीर्थ बन गया। तीर्थंकर महावीर का स्मरण कर इसीलिए कहा जाता है : 'सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव'।

पार्श्वनाथ के चिन्तन को युगानुरूप आयाम देकर महावीर ने जीवन और जीव-जगत के प्रति सामाजिक दायित्व का बोध कराने के लिए १२ व्रत बनाये, जिनमें पारस्परिक सम्बन्ध, कृषि कार्य, उद्योगों की सीमा, पशुओं के प्रति किये जाने वाले व्यवहार आदि की आख्या है। इन व्रतों के कारण केवल भक्ति, केवल ज्ञान या केवल कर्म से अपना जीवन सफल समझने वालों का मोह भंग हुआ। सबमें समग्र जीवन जीने की अभीप्सा पैदा हुई। 'सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चरित्राणि मोक्ष मार्गः'। समग्र जीवन जीने वालों ने प्रतिदिन स्वाध्याय, समता और सेवा करने का व्रत लिया। व्रतों की कसौटी है : श्रम, सम (समता) और शम (शांति)। इस कसौटी पर खरे उतरने वाले श्रमणों और श्रमणोपासकों ने मनुष्यता को इतना ऊँचा उठाया कि उनका कर्म-कौशल ही योग बन गया एवं योगियों के लिए पत्थर, पहाड़, पेड़, पौधे, पशु, पक्षी आदि विभूति हो गये। भारत का स्वर्ण-काल उन्हीं की उपलब्धि है।

पाँच हजार वर्ष से भी अधिक पुरानी भारतीय संस्कृति का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष असर तत्कालीन मिस्त्री, सुमेरी, इरानी, यूनानी सभ्यताओं पर पड़ा, जिसे इंगित कर ए० म्यूबास ने लिखा है : "भारत विश्व का पालना है। उसने अपनी संतति पश्चिमी देशों में भेजकर भाषा, विधान, नैतिकता, साहित्य और धर्म हमें पैतृक संपत्ति के रूप में प्रदान किये हैं।"

इतिहासकार जानते हैं कि प्लेटो से पूर्व यूनान में पूरी अराजकता व्याप्त थी। उसके गुरु सुकरात का ध्यान सामाजिक-परिवर्तन और ग्रीक युवकों के नव-निर्माण की ओर गया। उसने नैतिकतावाद को आधार बनाकर सामाजिक पुनर्रचना का उपक्रम किया, जो उस समय के चरित्रहीन यूनानी शासकों को स्वीकार नहीं हुआ। फलस्वरूप उन्होंने सुकरात की हत्या कर दी। लेकिन उसके शिष्य प्लेटो को बराबर इसकी चिंता रही कि कैसे ग्रीक को संगठित किया जाय। उसने आदर्श समाज की रूपरेखा बनायी, जिसमें तीन वर्ग रखे : (१) चितक (२) योद्धा (३) दास। प्लेटो ने चितकों के लिए कठोर अनुशासन व विधि-विधान बनाया। योद्धाओं और दासों को भी मर्यादाओं में

बांधा। इस तरह यूनान के परस्पर लड़ने वाले राज्यों को तोड़कर उसने एक विशाल ग्रीक राज्य स्थापित करने की कल्पना की। अपने जीवन काल में वह सफल नहीं हुआ। किन्तु उसके अन्तेवासी अरस्तू ने अपने शिष्य सिकन्दर महान की सहायता से उस कल्पना को चरितार्थ किया। ईसाई धर्म प्रभाव से वह व्यवस्था कालान्तर में टूट गयी। लेकिन प्लेटो और अरस्तू के विचार यूरोप के समाज पर आगे दो हजार वर्षों तक एक ढंग से अपना प्रभाव दिखलाते रहे।

दूसरी ओर अरब भी इस विचार से अप्रभावित नहीं रहे। वहाँ मुहम्मद साहब के बाद जाति-व्यवस्था खड़ी हुई, जो धीरे-धीरे शाखा-प्रशाखाओं में विकसित हुई। भारत आते-आते मुसलमानों में इतना भेद हो गया कि उनके आपसी खान-पान, शादी-विवाह, नमाज के तौर-तरीके, मस्जिदों की बनावट आदि में एक रूपता नहीं रही है। आज हालत यह है कि मुसलमानों की ७२ उपजातियाँ हैं, जिनमें परस्पर रोटी-बेटी का सम्बन्ध नहीं है।

यूरोप में ईसाई धर्म के प्रभुत्व के बाद जब चर्च और पोप का प्रभाव बढ़ा, तब ईसाई समाज में विद्रोह हुआ और प्रोटेस्टेंट अस्तित्व में आये। उनमें इतना विरोध रहा कि वे रणक्षेत्र में अपने विरोधियों को जलती आग में जला देने से भी नहीं चूके। यह धर्माधारित जातीयता का जनून है।

भारत में जातिगत जनून इस सीमा तक नहीं पहुंचा, उसके मूल में ओसवाल है। ओसवालों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सूझ-बूझ को महावीर ने सराहा और स्पृश्यास्पृश्य भावना को नकार दिया।

महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन ने अपनी जीवन-गाथा में विभिन्न जातियों तथा क्षेत्रों के इतिहास का विवरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने यह स्थापना की है कि इन जातियों के विकास का सम्बन्ध मूलतः सामाजिक स्तरीकरण या अस्पृश्यता से नहीं है। वह तो किसी कबीले या कुटुम्ब या वंश के श्रेष्ठ महापुरुषों से है। सामूहिक रूप से विचार करने पर उसका सम्बन्ध उत्पादन प्रणाली से है। लेकिन कालान्तर में ऐतिहासिक और सामाजिक घटना-क्रमों तथा वैचारिक विरोधों के कारण विकृति उत्पन्न हुई और वंश तथा उत्पादन से प्रभूत गोत्रों या कबीलों ने अस्वाभाविक भेद खड़े कर दिये, जिसके चलते समाज-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी और धर्म क्रिया-काण्ड बन कर रह गया।

डा० मोहन लाल तिवारी ने तत्कालीन परिस्थिति का आकलन करते हुए स्पष्ट किया है कि उत्पादन के साधनों तथा अधिकार के पदों पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का विज

हो गये, जो ३० प्रतिशत से अधिक न थे। उन्होंने ७० प्रतिशत शूद्रों को श्रमजीवी दास बना दिया। पश्चिम में दास व्यक्ति रूप में होते रहे लेकिन भारत में समूह का समूह नीची जाति में पैदा हो कर दास बनता रहा है। दासों के समूह ने उत्पीड़िक वर्ग को बहुत आराम दिया। पर देश की पराधीनता का कारण भी वही बना। जिसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय स्वतन्त्र नहीं रह सके और कर्मभूमि को भोगभूमि में बदलने वाली संस्कृति पनप गयी।

एक जातिगत सर्वे के अनुसार माना जाता है कि भारत में छ हजार जातियाँ हैं। उनमें प्रत्यक्ष उत्पादन में भाग लेने वाले ब्राह्मण १ प्रतिशत, क्षत्रिय १' प्रतिशत, वैश्य ७ प्रतिशत और मुसलमान ७ प्रतिशत हैं। ऐसी अनुत्पादक जातियों का भविष्य क्या है ?

भारत जैसे विकासशील देश में १० से १५ प्रतिशत की दर से जनसंख्या बढ़ रही है। उत्पादक घट रहे हैं। ऐसी स्थिति में ८० करोड़ भारतीयों को युगबोध कौन कराये ? श्री मांगीलाल भूतोड़िया ने इस प्रश्न का उत्तर खोजने हेतु वि० पू० ५००० से वि० स० २०३० तक की इतिहास यात्रा की और असि, मसि, कृषि के आचार्य ऋषभ की संतति के रूप में ओसवाल समाज को प्रस्तुति दी है। ओसवाल व्यवछेदक नहीं हैं, समावेशक हैं। 'समानशील व्यसने षु सख्यम्' के अनुसार उन्होंने अपने जैसे रहने-सहने वालों को अपनाया और सबकी पहचान के गोत्र का निर्धारण कर इतिहास की इस अमर बेल को पल्लवित-पुष्पित रखा है।

अमरबेल के संरक्षक ओसवालों ने साहित्य-संगीत, कला-कौशल, व्यापार-व्यवहार, राग-रंग, पर्व-त्यौहार की जड़ें 'जीओ और जीने दो' तथा 'जिलाओ और जीओ' के भाव जल से सींची। उनके ऐतिहासिक योगदान का मूल्यांकन होने से पूर्व वे परंपरा से हटकर खड़ा रहने का साहस खो बैठे और परंपरा से सटकर वैश्य कहलाने लगे। यथा स्थिति वादियों ने संस्कृति के गतिशील रथ को विपरीत दिशा में मोड़कर भले ही जातीय समीकरण कर लिया, किन्तु यह प्रश्न ज्यों का त्यों खड़ा है कि विचार पूर्वक शस्त्र त्यागने, योजना पूर्वक निष्क्रिय चिन्तक बना रहने से असहमति जताने, बिना विवेक के किया जानेवाला व्यापार छोड़ने और सेवा को सर्वोच्च पदों की प्राप्ति का उपाय मानने वालों को जिस दिन 'आत्मबोध' हो जायगा, उस दिन क्या होगा ? यह प्रश्न अपने आप में चेतावनी है और चुनौती भी, जो इस ग्रन्थ का अधिष्ठान है। इस ग्रन्थ के दो खंड हैं। प्रथम खंड में ओसवाल प्रणेता जैन धर्म, जैनाचार्य, तीर्थ और विभिन्न गोत्रों के साथ मनीषियों की चर्चा है। द्वितीय में सहजीवी जमातों, सामाजिक समीकरणों और आरोहों-अवरोहों का विवरण है। यह विवरण इतना सजीव है कि पढ़ते-पढ़ते पाठकों का

हृदय इतिहास की अपेक्षा पूरी करने के लिए मचल उठेगा। जहाँ उन्हें अपनी कमियाँ दिखायी देंगी, वहीं उनसे सबक ले कर आगे बढ़ने की भी स्फूर्ति मिलेगी। ग्रन्थ के एक-एक अक्षर में जीवन-संगीत है। इस संगीत से स्पंदित होकर डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में पाठक स्वयं कह उठेंगे कि "पूर्व कालीन संस्कृति के जो निर्माणकारी तत्व हैं, उन्हें लेकर हम काम में लगें और नये इतिहास का निर्माण करें। इसी प्रकार भूतकाल वर्तमान का सार बन कर भविष्य के लिए उपयोगी बनता है।"

'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' यह ओसवालों का परिचय है। वे कर्मशूर हैं, धर्मशूर भी। वे रणक्षेत्र में जूझ सकते हैं, तो जीवन रण में भी विजयी हो सकते हैं। उनमें राग है, विराग भी। भोग को त्याग से अनुस्यूत रखने तथा विलास को व्यसनों से मुक्त रखने की सीख वे जन्म घूंटी के साथ पाते हैं। जहाँ भी पुरुषार्थ दिखाने का अवसर है, वहाँ पहुँचते हैं और भोर की किरण निकलने से लेकर रात्रि के प्रथम प्रहर तक खटते हैं। औसत आदमी की तुलना में दुगुना खटना उन्हें लाभ देता है तो विध्वंस की जगह विकास परक चिंतन-चर्या से वे शुभ पाते हैं। विद्यालय, औषधालय, धर्म शाला या ऐसी ही अन्य सार्वजनिक संस्थाओं में दान देने से उनको संतुष्टि मिलती है। अतः २१ वीं सदी में कदम रखते समय उन्हें यह याद रखना है कि विचारों की दृष्टि से वे विश्व-मानव हैं, सेवा की दृष्टि से भारतीय हैं, पहचान की दृष्टि से राजस्थानी हैं, प्रत्यक्ष कार्य की दृष्टि से अमुक-अमुक गाँव, नगर या मुहल्लों के निवासी हैं। परस्पर पूरक रहने की दृष्टि से गोत्र-विशेष के हैं। कोई गोत्र, संप्रदाय, भाषा, प्रदेश या देश-दुनिया उनकी मंजिल नहीं है। सब पड़ाव हैं। जहाँ रुक कर वे विश्राम लें और विराट् की ओर अग्रसर होने की अपनी यात्रा जारी रखें क्योंकि उनकी प्रतिबद्धता अहिंसा के साथ है। गांधीजी के अनुसार 'अहिंसा जीवन का ऐसा रास्ता है, जिस पर सारी मनुष्य जाति स्वभावतः परन्तु अनजाने आ रही है।" आने वालों को अपनाना, शाका-हार की वैज्ञानिकता बताना, व्यसनों का परिहार करने में सहयोगी होना, अपने-अपने आग्रहों पर अड़े रहने वालों को दूसरों के विचारों का कद्रदां बनाना तथा आर्थिक, सामाजिक, औद्योगिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों में उत्पन्न हुई, समस्याओं का अहिंसात्मक समाधान सुझाना और पुरुषार्थी जनों, पशु-पक्षियों व प्रकृति को एक दूसरे का शोषक नहीं, पोषक बनाना ओसवाल समाज के लिए ऐतिहासिक कार्य है। यह कार्य करने की प्रेरणा देने में इस ग्रन्थ का उपयोग है।

ग्रंथकार ने ऐतिहासिक साक्ष्यों एवं पारंपरिक स्रोतों के आधार पर उपकेश वंश से ओसवंश के उद्भव का इतिवृत्त उद्घाटित किया है। इससे शोध के नये नये क्षितिज खुलने की संभावना बढ़ी है। भारतवर्ष सैंकड़ों/सहस्त्रों वर्षों बाद हिन्दुस्तान कहलाने लगा। ८वीं से १०वीं सदी पूर्व हिन्दू शब्द रूढ़ कहाँ हुआ था? 'जैन' और 'बौद्ध'

शब्दों के बारे में भी यही माना जाता है। इस लिए ओसवाल वंशावली के आदि स्रोत को खोज निकालना सहज नहीं है। लेकिन अनुमानतः उपासक दशांग, ज्ञाता आदि जैनागमों में महावीर ने जिन उपासकों की चर्चा की और जिन्होंने अपने पारिवारिक दायित्वों वैज्ञानिक को विधियों से विकेन्द्रित किया, वे ओसवाल थे। महावीर निर्वाण से ७० वर्ष बाद संगठित होने वाला यह समाज लंबे अर्सेतक विकासमान होता रहा और इस क्षेत्र में ज्ञान-दर्शन-चरित्र-तप का कीर्तिमान बनाया, जिससे स्पंदित होकर महाकवि माघ ने लिखा हैं :

तुङ्गत्वमिति रानाद्रौ नेदं सिन्ध।वगाहता।
अलङ्घनीयता हेतु रुभयं तन्मनस्विनि ॥

सागर केवल गहरा है। पर्वत मात्र ऊँचा है। उन्हें नापा जा सकता है। किन्तु गहराई व ऊँचाई से समन्वित जीवन जीने वालों को कैसे नापा जाय ? क्रांतदर्शी कवि ने जिन अमाप्य चरित्रों की ओर इंगित किया, उन्हें नापने हेतु अद्यतन पीढ़ी के विधि-वेत्ता ने उपादान जुटा दिये हैं।

'इतिहास की अमर बेल' ओसवाल–जैसी सूझ बूझ वाला यह ग्रन्थ लिख श्री मांगीलाल भूतोडिया ने समाज का गौरव बढ़ाया है। आशा है, पाठक इसे पढ़कर धर्माधारित सामाजिक क्रांति करने वाले ओसवालों का वास्तविक परिचय प्राप्त करेंगे और समझेंगे कि वे महाजन हैं। महाजन जिस पथ से चलते हैं, उसी को भारतीय जनता आदर्श पथ मानती है : 'महाजनो येनगतः स पन्थाः।'

२०/१४ कबीर नगर (दुर्गा कुण्ड)
वाराणसी–२२१००५

—शरद कुमार साधक

स्वकथ्य

इतिहास की अमर बेल :

ओसवाल मूलतः एक जाति नहीं है, जिसकी अविरल धारा का उद्गम कोई एक गंगोत्री हो। इसमें अनेक धाराएँ समाहित हुई हैं। समय-समय पर नया रक्त मिलते रहने से इसकी धमनियों का रक्त प्रवाह कभी अवरुद्ध नहीं हुआ। नयी खाद, नयी भूमि एवं नवीन संस्कृति के संगम से यह पल्लवित-पोषित होती रही है। इसीलिए मैंने इसे 'इतिहास की अमर बेल' कहा है।

मैंने इसे लिखा ही नहीं, जिया है :

जब से ओसवाल इतिहास का विचार मानस में प्रविष्ट हुआ, तभी से वह उसी का होकर रह गया। ग्रंथागारों एवं आँरकिव्ज में घंटों बैठकर पांडुलिपियाँ खोजते आनन्द का पारावार न रहता, जब कोई नया तथ्य दृष्टिगोचर हो जाता—भूख, प्यास, समय—सब गौण हो जाते। राजस्थान के ग्रामांचलों एवं ओसिया नगरी के भग्नावशेषों/शिलालेखों का अवलोकन तीर्थ दर्शन बन गया। तत्कालीन भारत के राज्याकाश पर जगतसेठ-नक्षत्रों का वैभव-उल्लास निहारते, मुगलिया सल्तनत के पिछले मोहरों की बिसात पर राजनीति-पटु भंडारी खींवसी को बादशाह बनाते-बिगाड़ते, मंत्रीश्वर कर्मचन्द बछावत के वंशजों को केसरिया बाना पहनकर कट-मरते एवं वीरांगनाओं को जौहर की ज्वाला में कूदकर सती हो जाते, सेठाणी हरकौर को कुशल व्यवसायी की तरह कुल के अर्थ-साम्राज्य की नकेल सँभालते देखना- अनुभव करना एवं लिखना एक पुण्य-स्नान से कम न था। यह मेरे लिए ध्येय नहीं रहा—मैंने इसे भोगा है, जिया है।

कार्य पूर्ण नहीं हुआ :

इतिहास सहेजने की इस प्रक्रिया में लगातार एक शंका उठती रही है—इतिहास तो स्वयं एक सतत प्रवहमान धारा है। इसे पूर्णता कभी प्राप्त होगी भी? अतीतापेक्षा से मैंने चाहा कि इसके मूल सूत्र एवं तत्व समेटकर उन्हें शब्द निबद्ध कर दूँ, परन्तु मेरी भी सीमाएँ है—समय, अर्थ एवं श्रम सभी की। अनेक मित्रों ने लिखा कि ऐसे वृहद् कार्य में दसों वर्ष लगें, तब भी कम है। भारत के कोने-कोने में बिखरे पड़े ऐतिहासिक तथ्यों के संग्रह हेतु वहाँ पहुँच भी तो

नहीं पाया। किन्तु एक अन्य दायित्व भी था—जिन्होंने ग्रंथ का आरक्षण करवा लिया, उनकी उत्सुकता को अधिक प्रतीक्षारत रखना सम्भव नहीं था। स्यात्, ग्रंथ का यह प्रथम संस्करण उस वृहद् वितान को अगले संस्करण में समेट पाने का हेतु बने।

विद्वानों की समालोचना :

तथ्य से घिरे अगोचर अतीत में विहरते मुझे कठिनाई तब हुई, जब कुछ दिग्गज विद्वानों की अवधारणाओं को तर्क की कसौटी पर सही उतरते नहीं पाया। मेरी लेखनी तनिक रुकी भी, संकोच भी हुआ; परन्तु सत्य-समीक्षा लेखकीय धर्म मानकर मैंने उसे निभाया है। फिर कौन जाने, मैं ही गलत सिद्ध कर दिया जाऊँ। मेरा सही होने का कोई आग्रह भी नहीं। गलतियाँ जो हो गयी हों, ध्यान में आते ही दूसरे संस्करण में उनका परिमार्जन मेरा कर्त्तव्य होगा। आशा है, विद्वत् वर्ग एवं सुहृदयी पाठक मेरी इस अभीप्सा को दष्टिगत रखकर ग्रन्थ का आंकलन करेंगे एवं अपनी प्रतिक्रिया से अवगत करेंगे।

आभार ज्ञापन :

मैं इतिहासकार नहीं हूँ। इतिहास पहले कभी मेरा अध्येय नहीं रहा। साहित्य में रुचि सदा ही रही एवं उसी का उन्मेष था—'शेष-अशेष' का सृजन। 'श्री रायचन्द्र कुण्डलिया स्मृति ग्रन्थ' हेतु लाडनूं में सर्वोदयी लोक सेवक श्री महालचन्द जी बोथरा से हुई एक चर्चा में ओसवाल-इतिहास अध्ययन लेखन का बीज-वपन हुआ। प्रसिद्ध कवि-मनीषी श्री कन्हैयालाल जी सेठिया ने उत्साह ही नहीं दिलाया, समय-समय पर मुझे इस ओर प्रेरित भी किया—एक तरह से वे ही ग्रन्थ के प्रेरणास्त्रोत हैं। आदरणीय डा० रघुवीर सिंह, सर्व श्री बलवंत सिंह जी महता, दलसुख भाई मालवणिया, विजय सिंह जी नाहर, जौहरीमल जी पारख, भंवरलाल जी नाहटा, डा० सागरमल जैन, विनय सागर जी प्रभृति विद्वानों ने मेरे कार्य में रुचि लेकर मार्ग-निर्देशन किया। आत्मीय प्रदीप कुंडलिया ने ग्रंथ के प्रकाशन के बारे में मुझे आश्वस्त कर दिया। बंधुवर श्री शरदकुमार साधक ने पाण्डुलिपि संशोधन, संपादन और मुद्रण का भार अपने कंधों पर लेकर मेरा भार हल्का किया। मेरी धर्मपत्नी किरण तो ग्रन्थ की कल्पना और सृजन में रात दिन सहभागी रही। रेखांकन एवं साज सज्जा में श्री विभूति सेन गुप्त, श्री आशीष नन्दी तथा आवरण चित्र शिल्प में बेटी निर्मला प्रियदर्शी का सहयोग रहा। भारत के उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठ अधिवक्ता डा० लक्ष्मी मल्ल सिंघवी ने आशीर्वाद देकर मुझे उपकृत किया है। इस सहयोग के लिए सदा इन सभी सुहृदयों का आभारी रहूँगा।

—मांगीलाल भूतोड़िया

अनुक्रमणिका

चित्र-सूची

ओसवाल जाति का उद्भव



विक्रम संवत् से ४०० वर्ष पूर्व पार्श्वापात्यिक आचार्य रत्नप्रभ सूरि ने उपकेश पट्टण (ओसिया नगरी) के क्षत्रिय राजा उत्पलदेव को प्रतिबोध देकर उन्हें जैन धर्म अंगीकार करवाया एवं [illegible] ...ित किया।



श्री कर्मचन्द बच्छावत
अध्याय-११ (१४)

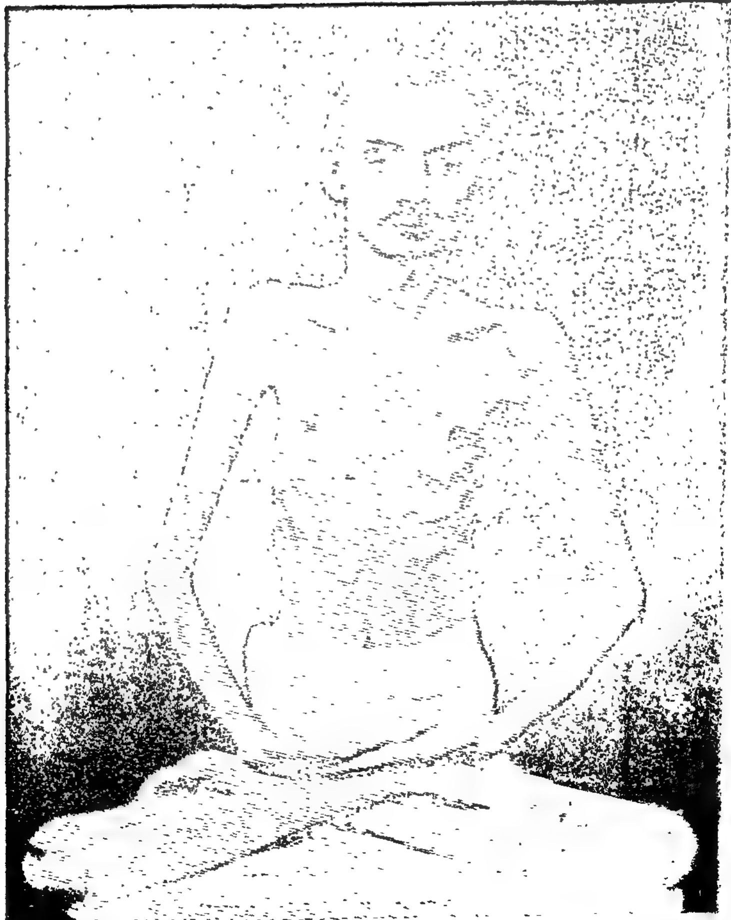


श्री अगरचन्द मेहता
अध्याय-११ (३१)



सिंघी इन्द्रराज जी
अध्याय–११ (३४)

श्रीमद् रायचन्द
अध्याय–११ (४०)





श्री अमरचन्द सुराणा
अध्याय-११ (३५)



अमर शहीद
अमरचन्द बांठिया
अध्याय–११ (३९)



श्रीदेवीलाल सामर
(गंगापार नृत्य नाट्य
में 'राम' की
भूमिका में)
अध्याय–११ (४४)



श्री सोहनलाल दूगड़
अध्याय—११ (४३)



डा० विक्रम साराभाई
अध्याय—११ (४५)

इतिहास की अमर बेल

ओसवाल

काल सरणि

वर्ष

विक्रम पूर्व

५०००	आर्हत संस्कृति (मोहनजोदड़ो के उत्खनन में प्राप्त सामग्री के आधार पर)
३०००	आर्यो का भारत आगमन
८२०-७२०	भगवान पार्श्वनाथ (२३ वें तीर्थंकर)
५४२-४७०	भगवान महावीर (२४ वें तीर्थंकर)
४४८	आचार्य स्वयंप्रभसूरि (पार्श्वनाथ के ५ वें पट्टधर) द्वारा श्रीमाल नगर में क्षत्रियों को प्रतिबोध देकर जैन बनाया जाना जो श्रीमाली कहलाए।
४००	आचार्य रत्नप्रभसूरि (पार्श्वनाथ के ६ वें पट्टधर) ने उपकेश पट्टण (ओसिया) में क्षत्रियों को प्रतिबोध देकर जैन बनाया जो उपकेशीय (कालांतर में ओसवाल) कहलाए। आचार्य के श्रमणों का संघ 'उपदेश गच्छ' कहलाया। उपकेश जाति के अठारह मूल गोत्र स्थापित हुए।
३१०-३००	उत्तर भारत में बारह वर्षीय भयंकर दुष्काल। भगवान महावीर के ८ वें पट्टधर भद्रबाहु का संघ के साथ दक्षिण प्रस्थान। भारत सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का जैन धर्म में दीक्षित हो संघ के साथ दक्षिण प्रस्थान। दुष्काल समाप्ति के बाद आचार्य स्थूलिभद्र द्वारा पाटलिपुत्र में ११ अंगों का संकलन।
११२	कलिंग देश के पार्श्वपात्यिक खारवेल सम्राट् मेघवाहन का राज्यारोहण मगध को पराजित कर आदि जिन प्रतिमा का पुनर्स्थापन।

९७ उपकेश पट्टण (ओसिया) के महावीर मन्दिर में ग्रंथि-छेदन से देवी प्रकोप। उपकेशगच्छीय आचार्य कक्क सूरि द्वारा स्नात्र पूजा एवं देवी के श्राप से ओसवालों का उपकेश पट्टण से पलायन।

१७ जैनाचार्य कालक द्वारा शकों की मदद से उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल का उच्छेद एवं साध्वी सरस्वती (कालक की बहन) का उद्धार। कालक का श्रमण संघ 'भावड़ा गच्छ' कहलाया। सिंध एवं उत्तरी प्रदेशों में बसे उपकेश जाति के लोग 'भावड़ा' कहलाए। पंजाब में अब भी भावड़ा ओसवाल गोत्र है।

० विक्रमादित्य शकों को पराजित कर उज्जयिनी का सम्राट् बना। विक्रम संवत् का प्रणयन।

विक्रम संवत्

१०८ उपकेश जातीय श्रेष्ठि जावड़ शाह द्वारा शत्रुञ्जय तीर्थ का तेरहवाँ उद्धार (धनेश्वर सूरि कृत शत्रुञ्जय महात्म्य के अनुसार समय वि० सं० १८७)

१३६ (१३९) जिन धर्म का श्वेताम्बर-दिगम्बर संघों में विभाजन।

१८७ भावड़ा शाह के पुत्र जावड़ शाह ने शत्रुञ्जय तीर्थ का उद्धार किया (शत्रुञ्जय महात्म्य)।

२२२ आभानगरी के देशल पुत्र उपकेश जातीय श्रेष्ठि जग्गा शाह द्वारा जैन तीर्थों की संघ यात्रा (भाटों की प्रशस्तियों के अनुसार)

२८० आ० मान देव सूरि द्वारा तक्षशिला आदि पश्चिमोत्तर प्रदेशों में प्रतिबोधित भावड़ा ओसवालों में लघु 'शांति-स्तवन' द्वारा महामारी उपद्रव शांत हुआ—अनेक महाजन बनाए।

३३९-३५७ आ० कक्क सूरि के शासन काल में उनके उद्बोधन से भावड़ा मालाशाह ने शत्रुञ्जय तीर्थ का संघ निकाला। लाहौर के श्रेष्ठि रणवीर ने सम्मेद शिखर एवं तक्षशिला के ओसवंशीय करणाट गोत्रीय श्रेष्ठि रावत ने शत्रुञ्जय तीर्थ का संघ निकाला।

३५७-३६० मथुरा में आ० स्कन्दिल एवं वल्लभी में आ० नागार्जुन द्वारा जैन-आगम-वाचना।

३७२ वीरपुर के ओसवाल श्रेष्ठि धवल पि० गोसल शाह गोत्र भूरि ने आ० सिंह सूरि की अध्यक्षता में शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए विशाल संघ निकाला।

४१२ जैन श्वेताम्बर संघ का विभाजन। चैत्यवासी एवं सुविहित मार्गी।

४७० चौरड़िया गौत्रीय गोकुल शाह के पुत्र सोभा ने मरुकोट मलोट से शत्रुञ्जय का संघ निकाला।

५०८ आदित्यनाग गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि 'भैसाशाह' का अटरू ग्राम (कोटा राज्य) के मन्दिर में स्थित शिलालेख।

५१० जैनआचार्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण द्वारा आगम पुस्तकारूढ़ (अंतिम-वाचना)।

५२०-५५८ आ० सिद्ध सूरि (षष्ठ) की अध्यक्षता में वीरपुर से सांखला गोत्रीय ओसवंशीय श्रावकों ने शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए संघ निकाला।

५३०-५८५ आ० हरिभद्र सूरि द्वारा 'समराइच्च कहा' प्राकृत ग्रंथ की रचना जिसमें उएशनगर की समृद्धि, उपकेश जाति के श्रेष्ठि समरादित्य की कथा एवं उपकेश जाति के लोगों का ब्राह्मण कर से मुक्त होने का उल्लेख (कुछ इतिहासकारों के अनुसार हरिभद्र सूरि का समय वि० ७५७ से ७८७ है)

५३५-५५७ तोरमाण हूण का पूरे पश्चिमी भारत पर शासन। भिन्नमाल राजधानी। जैन आचार्य हरिभद्र सूरि से प्रभावित।

५६७ तोरमाण का पुत्र मिहिर कुल राजा बना। जैनों पर अत्याचार। उपकेश जाति के व्यापारियों का गुजरात की ओर पलायन ('कुवलयमाला' के अनुसार]

५९२ (४९२) आ० सिद्धर्षि दिवंगत हुए। उनका 'उपमितिभव प्रपंच कथा' प्राकृत ग्रंथ भारतीय वाङ्मय का प्रथम रूपक ग्रंथ माना जाता है।

६०१-६३१ आ० देवगुप्त सूरि द्वारा डमरोल में पार्श्वनाथ मंदिर की प्रतिष्ठा। स्यालकोट में रांका गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि खेत्ता द्वारा मल्लिनाथ मंदिर की स्थापना।

६१३ गोलेच्छा गोत्रिय भोपत शाह के पुत्र अगरों ने जोगनीपुर (दिल्ली) से शत्रुञ्जय तीर्थ का संघ निकाला।

६३१ स्यालकोट में रांका गोत्रीय शाह खेता ने शांतिनाथ-मंदिर की प्रतिष्ठा की।

६६३ हर्षवर्धन भारत के सम्राट् बने। बौद्ध धर्म को राज्याश्रय।

६९७ दंतकथा के अनुसार आबू पर्वत पर यज्ञ के अग्निकुंड से चार राजपूत कुलों की उत्पत्ति–चौहान,पड़िहार, सोलंकी, परमार।

७०३ सामोली शिलालेख के अनुसार जावर की जस्ते और चाँदी की खानों का स्वामी महाजन श्रेष्ठि जेन्तक मृत्यु को प्राप्त हुआ।

७३२ श्रीमाल श्रेष्ठि पुत्र महाकवि माघ द्वारा संस्कृत महाकाव्य 'शिशुपाल-वधम्' की रचना। इनके चचेरे भाई श्रीमाल गोत्रीय जैन आचार्य सिद्धर्षि द्वारा 'उपमितिभव प्रपंच कथा' नामक वृहद् प्राकृत ग्रंथ की रचना (कुछ इतिहासकार उनका समय पांचवी छठी एवं कुछ नवीं दसवीं सदी मानते हैं)

७५३ दक्षिण में कुमार सेन द्वारा दिगम्बर सम्प्रदाय के 'काष्ठा संघ' एवं मदुरा में रामसेन द्वारा 'माथुरसंघ' की स्थापना।

७६४–७७५ जैनाचार्य उदयप्रभ सूरि द्वारा भिन्नमाल का राजा भाण प्रतिबोधित। विभिन्न जैनाचार्यों द्वारा कुलगुरुओं की मर्यादाएँ निश्चित। राजा भाण एवं अन्य श्रीमाल श्रेष्ठियों की साक्षी। उदयप्रभ सूरि द्वारा भिन्नमाल के ६२ ब्राह्मण श्रेष्ठियों को प्रतिबोध देकर श्रीमाल जाति के ६२ गोत्र निर्धारित।

७९५ उपकेश नगर के ओसवाल श्रेष्ठि जयमल की पुत्री रत्ना बाई से राजा भाण का विवाह एवं पुत्र उत्पन्न होने से साधार्मिक की उद्घोषणा।

८००–९५ जैन–आचार्य बप्पभट्ट सूरि ने आम राजा की वणिक–रानी के पुत्रों को जैन बनाकर उनका 'राज–कोष्ठागार' गोत्र निर्धारित किया।

८०२ पाटण की स्थापना के समय भिन्नमाल नगर से उपकेश जाति के लोगों को आमंत्रण देकर पाटण में बसने के लिए ले जाया गया। वे अब भी वहीं वास करते हैं।

८३५ जैनाचार्य उद्योतन सूरि द्वारा ८४ गच्छों (मय वृहद्गच्छ) की स्थापना एवं 'कुवलय माला' ग्रंथ की रचना, जिसमें तोरमाण हूण एवं उसके पुत्र मिहिरगुल के भिन्नमाल पर शासन का विवरण तथा मिहिरगुल के अत्याचार से पीड़ित उपकेश वंशीय श्रावकों के गुर्जर देश चले जाने का उल्लेख है। (कुछ इतिहासकार उद्योतन सूरि का समय वि० ९९४ मानते हैं)।

८४५–८७७ आदि शंकराचार्य काल–बद्रिकाश्रम, श्रृंगेरी, द्वारिका एवं पुरी में पीठों की स्थापना।

८९१ आ० देव गुप्त सूरि के चातुर्मास में गोसलपुर के ओसवाल श्रेष्ठि आर्य गोत्रीय भानुजी शाह के पुत्र कावड़ ने ८४ न्यातों का जीमनवार किया।

९५४ 'गोमाट्टसार' आदि प्रसिद्ध जैन शास्त्रों के रचयिता दिगम्बर आ० नेमिचंद सूरि द्वारा ओसवालों के बरड़िया गोत्र की स्थापना।

९९० श्रवण बेलगोला में गोम्मटेश्वर (बाहुबलि) की ५७ फीट ऊँची प्रतिमा की स्थापना।

१०२६–७२ सुविहित मार्गीय आ० वर्धमान सूरि द्वारा ओसवालों के संचेती, लोढ़ा, पीपाड़ा आदि गोत्रों की स्थापना। इन्हीं के उपदेश से पोरवाल श्रेष्ठि विमल शाह ने आबू तीर्थ पर १९ करोड़ रुपये खर्च कर भव्य मन्दिरों का निर्माण करवाया।

१०५७-११०७ चन्देल राजाओं द्वारा खजुराहो के मन्दिरों का निर्माण।

१०६७–८१ महमूद गजनी के भारत पर २४ हमले, अरबों द्वारा लूट एवं हिन्दू देवी प्रतिमाओं को विनष्ट करना।

१०७२-११३५ आचार्य अभयदेव सूरि द्वारा ओसवालों के पगारिया आदि गोत्रों की स्थापना।

१०७४ आ० जिनेश्वर सूरि से 'खरतर गच्छ' का उद्भव। वे ओसवालों के श्रीपति, तिलेरा गोत्रों के संस्थापक एवं भंसाली, चील, मेहता गोत्रों के उद्बोधक थे।

११०८ भिन्नमाल के नाहटा गोत्रीय भैंसाशाह ने शत्रुञ्जय तीर्थ का संघ निकाला। अपना सिक्का चलाया (कई इतिहासकार उन्हें डीडवाना का निवासी बताते हैं)।

११३२-१२११ आ० जिनदत्त सूरि (खरतर गच्छीय) प्रथम दादा आचार्य द्वारा एक लाख ३६ हजार जैन बनाने का कीर्तिमान–टांटिया, कोठारी, सेठिया, चोरड़िया आदि अनेक ओसवाल गोत्रों के संस्थापक।

११४५-१२२९ ओहढ़ (ओसवाल ?) गोत्रीय आ० हेमचन्द्र सूरि द्वारा पाटण सम्राट् सिहराज जयसिंह एवं कुमार पाल को उद्बोधन। 'त्रिषष्टि-शलाका पुरुष चरित्र' की रचना। ओसवालों के सांखला, सुराणा आदि गोत्रों की स्थापना।

११५० श्रीमाल श्रेष्ठि उदयन का निधन। उदयन चालुक्यराज सिद्धराज एवं कुमारपाल का मंत्री/मुख्य सामंत था।

११५६–६७ आ० जिन वल्लभ सूरि द्वारा विधि चैत्यों की स्थापना एवं ओसवालों के चोपड़ा, बांठिया आदि गोत्रों की स्थापना।

११६९-१२३६ आ० आर्यरक्षितसूरि द्वारा अंचल गच्छ (विधिपक्ष) की स्थापना श्रावक यशोधन भणशाली द्वारा महोत्सव समायोजन। सिंध में ओसवालों के महीपाल एवं सहसगुणा गांधी गोत्रों की स्थापना।

११९७-१२२३ ओसवंशीय मणिधारी खरतर गच्छीय प्रभावी दादा आ० जिनचन्द सूरि, जिन्होंने जैनेतर लोगों को प्रबोध देकर ओसवालों के छाजेड़, मिन्नी, खजांची, श्रीश्रीमाल, कोठारी, दूगड़ आदि अनेक गोत्रों की स्थापना की।

१२००-१२३० सम्राट् कुमार पाल का शासन काल। आ० हेमचंद्र सूरि के प्रभाव से जैनधर्म अंगीकार करने की घोषणा। १४४० भव्य जैन मन्दिरों का निर्माण। २१ शास्त्र ग्रंथागारों का निर्माण।

१२०२–१२५८ ओसवाल कोट्याधिपति द्रोण के पुत्र अंचल-गच्छीय आ० जयसिंह सूरि जिन्हें सिद्धराज जयसिंह ने 'युग प्रधान' की पदवी दी। ओसवालों के अनेक गोत्रों—हथुड़िया, जाल्हा, लोलड़िया, मीठड़िया, नागड़ा, भुमणीया, चोखेड़िया, लालान, कटारिया, देवड़ा, नीसर, राठोड़, छाजेड़ आदि की स्थापना।

१२०५ श्रीमाल गोत्रीय श्रेष्ठि उदयन का निधन। वे सम्राट् जयसिंह सिद्धराज द्वारा खम्भात के शासक बनाए गए थे। सम्राट् ने उनके पुत्र 'चाहड़' को गोद भी लिया था। कुमारपाल जब सम्राट् बना तो उसने उदयन के ज्येष्ठ पुत्र बाघभट्ट को अपना मंत्री नियुक्त किया।

१२३४–१२९८ श्रीमाल गोत्रीय अंचल गच्छीय आ० धर्मघोष सूरि पदासीन। ओसवालों के अनेक गोत्रों 'देवानंद सरवा, गोठी, गोसलिया, फफोलिया डोडिया लेचा, हरिया' की स्थापना।

१२७५–१३०३ पोरवाल श्रेष्ठि वस्तुपाल तेजपाल का काल। दसा-वीसा प्रभेद की शुरुआत।

१२८५ जैन श्वेताम्बर निर्ग्रन्थ शाखा के आ० जगचन्द्र सूरि को आजीवन आयाम्बिल तप करने से 'तपा'-विरुद-फलतः तपागच्छ की उत्पत्ति।

१३१२–१५ श्रीमाल गोत्रीय दानवीर जगडूशाह ने महादुष्काल में लाखों मन अनाज वितरित कर 'जग नो जीवाडण हार' विरुद पाया।

१३२० मांडवगढ के ओसवाल श्रेष्ठि मंत्रीश्वर पेथड़ कुमार ने ८४ विभिन्न नगरों में जिन मन्दिरों का निर्माण कराया एवं ३६००० स्वर्ण मुद्राओं से आगम पूजा की।

१३२७–८० श्रीमाल गोत्रीय शाह ठक्कर फेरू दिल्ली के बादशाह गयासुद्दीन तुगलक का खजांची बना (कुछ इतिहासकारों ने उन्हें अलाउद्दीन खिलजी का भंडारी बताया है) विश्व प्रसिद्ध ज्योतिष, गणित, वास्तु, मुद्रा, धातु विषय शास्त्रीय ग्रंथों की रचना की। रत्न परीक्षा एवं द्रव्य परीक्षा प्राकृत ग्रंथ शाह फेरू की ही देन है।

१३३७-१३८९ छाजेड़ गोत्रीय सिवाना के खरतर गच्छीय तीसरे दादा आचार्य युग प्रधान जिन कुशल सूरि, जिन्होंने पोरवाल श्रेष्ठि तेजपाल को उद्‌बोधन दिया एवं ओसवालों के बावेल, संघवी, जड़िया, डागा गोत्रों की स्थापना की।

१३६९–९३ पाटण के वेदमुहता गोत्रीय श्रेष्ठि देशल शाह के पुत्र समराशाह ने अलाउद्दीन खिलजी द्वारा नष्ट किए गए शत्रुञ्जय तीर्थ के मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया। दिल्ली के बादशाह सुलतान कुतुबुद्दीन एवं गयासुद्दीन तुगलक उसका बहुत सम्मान करते थे। वि० स० १३९३ में उपकेश गच्छीय आ० कक्कसूरि ने 'नाभिनन्दन जिनोद्धार' ग्रंथ की रचना समराशाह को नायक बनाकर की।

१३८९-१४४९ लाडनूँ के श्रीमाल (ताम्बी) गोत्रीय खरतर गच्छीय आ० जिनप्रभसूरि द्वारा बादशाह मुहम्मद तुगलक को प्रतिबोध। 'विविध तीर्थ कल्प' ग्रंथ की रचना।

१४२६–७१ पोरवाल वंशीय अंचल गच्छीय आ० मेरुतुंग सूरि पदासीन। मंत्र प्रभावक चमत्कारी योगी।

१४४९-१५१४ छाजेड़ गोत्रीय ओसवाल, खरतर गच्छीय आ० जिनभद्र सूरि जिन्होंने अनेक पुस्तक-भंडारों की स्थापना की एवं जो भंडारी गोत्र के उद्‌बोधक थे।

१४७२-१५४६ ओसवाल वंश के दफ्तरी गोत्रीय स्थानकवासी सम्प्रदाय के जनक लोकाशाह, जिन्होंने चैत्य परम्परा एवं मूर्ति पूजा का विरोध किया।

१४७८-१४८० पोरवाल श्रेष्ठि शाह हेमू (हेमराज) भारत का सम्राट् बना।

१४८२ ओसवाल श्रेष्ठि मीठड़िया गोत्रीय मेघाशाह द्वारा आचार्य मेरु तुंग सूरी के उद्‌बोधन से गौड़ी पार्श्वनाथ तीर्थ की स्थापना।

१४८८-१५४५ ओसवाल श्रेष्ठि बोथरा गोत्रीय बच्छराज एवं अन्य मुत्सद्दियों के सहयोग से राव बीकाजी ने बीकानेर राज्य की नींव रखी एवं बच्छ राज को अपना प्रधान मंत्री बनाया।

१४९३-१५५१ ओसवाल श्रेष्ठि नरोजी भंडारी की सहायता से राव जोधाजी द्वारा जोधपुर की स्थापना।

१५०५-७२ तारण स्वामी द्वारा दिगम्बर परम्परा में मूर्ति पूजा विरोधी तारण समाज की स्थापना, जो कालांतर में 'तेरहपंथी' कहलाए-उनके विरोध स्वरूप दिगम्बर मत के 'बीसपंथी', 'तोतापंथी' आदि सम्प्रदाय बने।

१५१५-१५३१ राव जोधाजी ने भंडारी नरोजी की मदद से जोधपुर राज्य की नींव रखी एवं उन्हें अपना दीवान प्रधान बनाया।

१५३१ लोका गच्छ की उत्पत्ति, जो कालांतर में ढूँढ़िया, स्थानक वासी, बाईस टोला नामों से प्रसिद्ध हुआ।

१५४७ श्रीमाल श्रेष्ठि जावड़ शाह ने माण्ड के भव्य जैन मन्दिरों में १०४ प्रतिमाएं प्रतिष्ठित कीं। वे राज्य के कोषाध्यक्ष थे।

१५७३-१६११ बच्छावत गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि मंत्रीश्वर कर्मचन्द बीकानेर राज्य के प्रधान नियुक्त हुए। अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की। सम्राट् अकबर उनसे बहुत प्रभावित थे। युगप्रधान आ० जिनचन्द्र सूरि के बीकानेर पधारने पर अतुल धन राशि खर्च की।

१५८२ बाबर भारत का सम्राट् बना।

१५८७ चित्तौड़ के राज कोष्ठागार गोत्रीय (कुछ इतिहासकारों के अनुसार डोसी गोत्रीय) ओसवाल श्रेष्ठि कर्माशाह द्वारा शत्रुञ्जय तीर्थ का जीर्णोद्धार।

१५८५-१६७० ओस वंश के रोहड़ गोत्रीय खरतर गच्छ के चतुर्थ दादा आ० जिनचन्द्र सूरि जिन्हें सम्राट् अकबर ने 'युग प्रधान' घोषित किया, ओसवालों के पींचा गोत्र के उद्‌बोधक।

१६०४ ओसवंशीय लोढ़ा गोत्रीय श्री भाव देव सूरि बड़ गच्छ के आचार्य पदासीन। चमत्कारी संत।

१६०४-५६ ओसवाल श्रेष्ठि कावड़िया गोत्रीय दानवीर भामाशाह उदयपुर राज्य के दीवान नियुक्त हुए। राणाप्रताप जब जंगलों में भटक रहे थे तब अपना समस्त कोष उन्हें अर्पित कर खोया हुआ मेवाड़ राज्य पुनः प्राप्त करने में वे सहायक बने।

१६१०-१६५२ ओसवाल कुराँ गोत्रीय तपागच्छीय प्रभावक आचार्य हीर विजय सूरि–बादशाह अकबर द्वारा 'जगद्‌गुरु' की उपाधि से विभूषित।

१६१३ हेमू (हेमराज) (जाति ढूसर या अगरवाल) दिल्ली और आगरा फतह कर अल्प काल के लिए भारत का सम्राट् बना।

१६१३-६२ अकबर भारत का सम्राट् बना। पाश्चात्य इहिसकारों के अनुसार सं० १६३७-३८ में उसने जैन धर्म अंगीकार कर लिया था।

१६३५ श्रीमाल गोत्रीय धनकुबेर राजा भारमल राक्यान, वैराट की तांबे की खानों के एकछत्र स्वामी, बादशाह अकबर द्वारा 'राजा' की पदवी से सम्मानित।

१६४६-१७१६ अहमदाबाद के ओसवाल श्रेष्ठि शांतिदास जौहरी (श्री कस्तुर भाई लाल भाई के पूर्वज) द्वारा शत्रुञ्जय तीर्थ में जिन मन्दिरों का निर्माण तथा पुनरुद्धार। बादशाह अकबर द्वारा सम्मानित महारानी जोधा बाई के राखीबन्द भाई, बादशाह जहाँगीर एवं शाहजहाँ द्वारा सम्मानित, जैन तीर्थों के रक्षक।

१६४९ खम्भात के ओसवाल श्रेष्ठि तेजपाल सोनी द्वारा शत्रुञ्जय तीर्थ का पुनरुद्धार।

१६४८-१७१७ श्रीमाल गोत्रीय अंचल गच्छीय आ० कल्याण सागर सूरि पदासीन। बादशाह जहाँगीर के सम्मुख आकाश गामिनी विद्या का चमत्कार १६७२ में युगप्रधान की पदवी।

१६५५-१६८४ थाहरूशाह (भंसाली) ने लोद्रवा (जैसलमेर) में प्रसिद्ध पार्श्वनाथ मन्दिर बनवाया एवं शत्रुञ्जय व सिद्धांचल तीर्थों के संघ निकाले, बादशाह अकबर द्वारा सम्मानित हुए एवं रायजादा का खिताब मिला।

१६५८ ओसवाल वंशीय कुँरा गोत्रीय खरतर गच्छ के आ० हीर-विजयजी सम्राट् अकबर द्वारा 'जगदगुरु' की उपाधि से विभूषित।

१६६०-१७३१ योगीसम्राट् आनन्दघन के स्तवन और चौबीसी ने जैन साधना और भक्ति-उपासना को नये आयाम दिए।

१६६८-१६७६ भद्रावती में लालन गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि वर्धमान शाह एवं पद्मसिंह शाह का उद्भव। शत्रुञ्जय तीर्थ की संघ यात्रा। जैन मन्दिरों का निर्माण। चीन देश से व्यापार। वर्धमान शाह जाम नगर राज्य के मंत्री नियुक्त हुए।

१६७० आगरा के ओसवाल श्रेष्ठि कुँवरपाल सोनपाल लोढा सम्मेद शिखर का संघ समायोजन।

१६८२ जेसलमेर के भंसाली गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि थाहरूशाह द्वारा शत्रुञ्जय तीर्थ पर २४ तीर्थंकरों एवं १४५२ गणधरों के चरण युगल स्थापित।

१६८४ शाहजहाँ भारत का बादशाह बना।

१७०४ ओसवाल बोहरा गोत्रीय स्थानकवासी आ० ऋषि लव जी ने क्रियोद्धार कर नई दीक्षा ली एवं मुखपत्ती का सर्वप्रथम चलन किया।

१७१२–८० ओसवंशीय मुणोत गोत्रीय स्थानकवासी आ० भूधर जी, जिन्होंने जाटों में धर्म प्रचार किया।

१७१४–२३ ओसवाल मुत्सद्दी महणोत गोत्रीय नैणसी मारवाड़ राज्य के दीवान नियुक्त हुए–अनेक लड़ाईयों में विजयश्री प्राप्त की–'मुणोत नैणसी की ख्यात' प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ की रचना।

१७३१– ओसवंशीय योगी सम्राट् आनन्दघन का महाप्रयाण।

१७३८-१७४९ ओसवाल श्रेष्ठि संघवी दयालदास उदयपुर राज्य के प्रधान बने एवं मुगल बादशाह औरंगजेब को सन्धि करने पर मजबूर कर दिया। मुगल सेना उनसे थरथर कांपती थी।

१७४७–५७ जॉब चारनाक ने कलिकत्ता आदि ३ ग्राम खरीद कर अंग्रेज साम्राज्य की नींव डाली।

१७६१–७१ ओसवाल श्रेष्ठि गेहलड़ा गोत्रीय सेठ मानकचन्द के सहयोग से दीवान मुर्शिदकुली खाँ ने मुर्शिदाबाद शहर बसाया। दिल्ली के बादशाह फर्रूखशियार द्वारा माणकचन्द को 'जगत-सेठ' को पदवी दी गई। बंगाल-बिहार-उड़ीसा में जगत सेठ की टकसाल के सिक्कों का चलन।

१७६६–८० ओसवाल मुत्सद्दी भण्डारी खींवसी जोधपुर राज्य के दीवान एवं प्रधान बनाए गए–मुगल बादशाह फर्रूखशियार आपसे बहुत प्रभावित था–बड़े कूटनीतिज्ञ थे–हिन्दुओं पर लगा जाजिया कर माफ

करवाया। मुहम्मद शाह को दिल्ली के तख्त पर बैठाने में आपका प्रमुख हाथ था।

१७६६-१८४६ ओसवंशीय बल्लावत (बाफणा) गोत्रीय स्थानकवासी आ० रघुनाथ जी पदासीन, जिन्हें यतियों एवं पोतियावंध वालों ने अनेक कष्ट दिए।

१७७१-१८०९ ओसवाल श्रेष्ठि गेहलड़ा गोत्रीय जगतसेठ फतहचन्द का बंगाल की राजनीति में योगदान। मरहठों द्वारा जगत-सेठ की कोठी से दो करोड़ की लूट।

१८०३-१८४५ ओसवंशीय बल्लावत (बाफणा) गोत्रीय स्थानकवासी आ० रघुनाथजी को यतियों एवं पोतियावंध सम्प्रदाय का भारी विरोध सहना पड़ा।

१८१३-१८२० ओसवाल श्रेष्ठि गेहलड़ा गोत्रीय जगतसेठ महताबचन्द द्वारा बंगाल के नवाब सिराजुद्दोला का विरोध। मीर जाफर द्वारा अंग्रेजों को कलकत्ता में टकसाल खोलने की इजाजत। अंग्रेजों का प्रभुत्व। मीरकासिम के हुक्म पर जगत सेठ की गंगा में डुबोकर हत्या कर दी गई।

१८१७-१८६० ओसवंशीय सकलेचा गोत्रीय आ० भीखण जी ने स्थानकवासी आ० रघुनाथजी के पास दीक्षा लेकर विद्रोह किया एवं तेरापंथ धर्मसंघ की के प्रथम आचार्य बने।

१८१९– जैन श्वेताम्बर तेरापंथ की भिक्षुस्वामी द्वारा स्थापना।

१८२२-१८५७ ओसवाल श्रेष्ठि मेहता अगरचन्द महाराणा अरिसिंह एवं भीमसिंह द्वारा मेवाड़ राज्य के दीवान नियुक्त हुए। अनेक लड़ाईयाँ लड़ीं एवं मांडलगढ़ किले का विकास किया।

१८३८–९२ बम्बई में नाहटा गोत्रीय सेठ मोतीचन्द शाह का ईरान, इराक, चीन आदि देशों से व्यापार, शत्रुञ्जय तीर्थ एवं भायखला में भव्य मन्दिरों का निर्माण, करोड़ों का दान।

१८४४– महिला रत्न विदुषी रत्नकुंवर बीबी का भक्ति काव्य 'प्रेमरत्न' प्रकाशित हुआ। वे जगत सेठ एवं राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के खानदान से सम्बन्धित थीं।

१८५१-१९०८ बाफणा गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि जोरावरमलजी बाफणा–उदयपुर, बीकानेर, जोधपुर, जैसलमेर इन्दौर आदि रियासतों एवं अंग्रेजो के

खजाने के एकमात्र प्रबन्धक। राज्यों को बहुमूल्य सेवाएँ दीं। जैन तीर्थों के लिए संघ समायोजन किया। जैसलमेर स्थित पटवों की प्रसिद्ध हवेली बनवाई।

१८६०–७२ ओसवाल श्रेष्ठि अमरचन्द सुराणा बीकानेर राज्य के सेनानायक एवं दिवान नियुक्त हुए। अनेक विद्रोहों का शमन किया पर अन्ततः दरबार ने उनकी हत्या करवा दी।

१८६४–७२ ओसवालवंशीय इन्द्रराज जी सिंघी ने जोधपुर को जयपुर नरेश की फौज के घेरे से मुक्त कराया एवं राज्य के प्रधान दिवान नियुक्त हुए, अनेक लड़ाईयाँ जीतीं एवं अन्ततः राज्य की सेवा करते हुए पिण्डारी सरदार अमीरखाँ के हाथों छल से मार डाले गए।

१८६७ कलकत्ता में जैन संघ द्वारा दादा बाड़ी का निर्माण एवं चार दादा आचार्यों (खरतर गच्छीय) की चरण पादुकाएँ स्थापित।

१८८८ ओसवंशीय हिन्दूमलजी बैद बीकानेर के महाराजा द्वारा 'महाराव' की पदवी से सम्मानित किए गए।

१९०१–२० अहमदाबाद के ओसवाल श्रेष्ठि हठीसिंह की पत्नी सेठानी हरकौर द्वारा करोड़ों के व्यापार का कुशल संचालन, बावन जिनालयों वाले विशाल मन्दिर का निर्माण, तीर्थों का संघ समायोजन।

१९०८-१९३८ ओसवंशीय गोलछा गोत्रीय तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य जीतमलजी आचार्य पद पर आसीन। उन्होंने भिक्षु संघ को मर्यादाओं में बांधकर भव्यता प्रदान की।

१९१४ ग्वालियर में बांठिया गोत्रीय अमर शहीद अमरचन्द द्वारा सन् सत्तावन के विद्रोहियों–झाँसी की रानी एवं तात्या टोपे के लिए खजाना अर्पित। विद्रोह समाप्त होते ही अंग्रेजों ने उन्हें फाँसी पर लटका दिया।

१९२४–५७ श्रीमाल गोत्रीय श्रीमद् रायचन्द का अवतरण। १९ वर्ष की वय में शतावधान। गृहस्थ महायोगी। गांधी जी के प्रेरक मुक्त पुरुष।

१९३१–४४ ओसवाल जातीय गोखरू गोत्रीय श्री शिवप्रसाद अंग्रेज सरकार द्वारा 'सितारे हिन्द' एवं पुश्तैनी 'राजा' की पदवी से विभूषित हुए।

१९३६ मुनि मोहनलाल जी के प्रयत्नों से ओसिया के खंडहरों में विलुप्त महावीर मन्दिर की खोज एवं पुनः ओसिया तीर्थ-क्षेत्र के रूप में पूजित ।

१९४६–९९ ओसवाल समाज में देशी-विलायती विवाद । समाज-बहिष्कृति व अनर्गल प्रलाप ।

१९५२-२०२५ ओसवंशीय श्रेष्ठि सोहन लाल जी दूगड़ । औघड़ दानी, अनेक सामाजिक प्रवृत्तियों के लिए तन-मन-धन से सहायक ।

१९६८-२०२६ ओसवाल कुल दीपक श्री देवीलाल सामर लोक कलाओं, एवं लोक कथाओं के संरक्षण, संवर्धन के लिए पूर्णतः समर्पित—भारत सरकार द्वारा 'पद्म श्री' अलंकरण से सम्मानित ।

१९७२-२०२१ ओसवाल वंशीय रायबहादुर सिरेमल जी बाफणा—इन्दौर राज्य के होम मिनिस्टर एवं ११ वर्ष बाद प्राइम मिनिस्टर नियुक्त हुए—नाईट (सर) (१९९३) C. I. A. (१९८८) एवं वजीर-उद्दौला की उपाधियों से सम्मानित हुए। इन्दौर राज्य के विकास का श्रेय उन्हीं को है ।

१९७६-२०२९ ओसवाल श्रेष्ठि डा० विक्रम साराभाई—भारत सरकार के 'नाभिकीय अनुसंधान केन्द्र' के प्रवन्धक एवं एटॉमिक एनर्जी कमीशन के अध्यक्ष । अनेक अलंकरणों से विभूषित ।

१९७७ जोधपुर से श्री किशन लाल जी बाफना द्वारा 'ओसवाल' मासिक पत्रिका का शुभारम्भ ।

१९८१-२०१० बीसा श्रीमाल गोत्रीय तपागच्छीय आचार्य विजय वल्लभ सूरि—जिनकी निश्रा में जैन जातियों का परस्पर बेटी-बेटों के रिश्ते करने का प्रस्ताव पास हुआ ।

१९८४ कलकत्ता में ओसवाल नवयुवक समिति की स्थापना । 'ओसवाल नवयुवक' पत्रिका का प्रकाशन ।

१९८९ प्रथम अखिल भारत वर्षीय ओसवाल महा सम्मेलन अजमेर में हुआ । ओसवंशीय श्रेष्ठि पूर्णचन्द जी नाहर ('एपिटोम ऑफ जेनिजम' एवं 'जैन लेख संग्रह' के लेखक) सम्मेलन के अध्यक्ष निर्वाचित ।

१९९१ द्वितीय अखिल भारत वर्षीय ओसवाल महा सम्मेलन फिर अजमेर में हुआ । आगरा के कांग्रेसी नेता ओसवाल श्रेष्ठि अचल सिंह जी

सभापति निर्वाचित। श्री सुख सम्पतराय जी भण्डारी का वृहद् 'ओसवाल जाति का इतिहास' प्रकाशित हुआ।

१९९२ तृतीय अखिल भारत वर्षीय ओसवाल महा सम्मेलन मन्दसौर में—जामनेर के ओसवाल श्रेष्ठि राजमल जी ललवानी अध्यक्ष निर्वाचित।

१९९३ ओसवंशीय खटेड़ गोत्रीय तेरापंथ के नवम् आचार्य तुलसी ने संघ की बागडोर सम्भाली। आपके समय में संघ ने अभूतपूर्व प्रगति की। आगम शोध, साहित्य निर्माण, अणुव्रत अभियान, विश्व भारती संस्थापन, ७७६ दीक्षाएँ शासन के कीर्तिमान हैं।

१९९४ चतुर्थ अखिल भारत वर्षीय ओसवाल महासम्मेलन कलकत्ता में। जयपुर के ओसवाल श्रेष्ठि गुलाबचन्द जी ढड्ढा अध्यक्ष निर्वाचित। 'ओसवाल सुधारक' पत्रिका का नाम बदल कर 'ओसवाल' नाम से कलकत्ता से प्रकाशन शुरू हुआ, जो १९९५ में भग्न हृदय के 'साधुत्व' लेख के प्रकाशन पर उठे विवाद के कारण बंद हो गया।

१९९६ पंचम अखिल भारत वर्षीय ओसवाल महासम्मेलन पुष्कर में। जबलपुर के श्री मोतीलाल जी भूरा अध्यक्ष निर्वाचित। विधान स्वीकृत। लेकिन इस सम्मेलन के वाद समस्त भारत के ओसवाल समाज को एक मंच पर लाने का कोई राष्ट्रीय प्रयास नहीं हुआ।

१९९७ श्री भंवरमल जी सिंघी के सम्पादकत्व में 'तरुण ओसवाल' का प्रकाशन शुरू।

२००३ ओसवंशीय चोपड़ा गोत्रीय स्थानकवासी संत आत्माराम जी आचार्य पद पर आसीन।

२००४ ओसवाल नवयुवक समिति द्वारा कलकत्ता में 'बालिका विद्या भवन' की स्थापना।

२००९ आ० आत्माराम जी को सादड़ी सम्मेलन में समस्त स्थानकवासी श्रमण संघ का प्रमुख चुना गया।

२००९ ओसवंशीय गुगलिया गोत्रीय स्थानकवासी आचार्य आनन्द ऋषि को सादड़ी सम्मेलन में समस्त स्थानकवासी श्रमण संघ का उपाचार्य चुना गया।

२०१० वडाला एवं सेठिया गोत्रिय श्री शरदकुमार साधक तथा श्री सतीशकुमार के सहयोगी ओसवाल युवकों द्वारा धार्मिक क्रान्ति सम्मेलन—सेमिनार।

२०१४ ओसवाल नवयुवक समिति कलकत्ता के 'ओसवाल भवन' की आधारशिला रखी गई, जो कालान्तर में समाज की अनेक प्रवृत्तियों का केन्द्र वन गया।

२०२२ श्रीमती मृणालिनी साराभाई (डा० विक्रम साराभाई की धर्म-पत्नी) को भारत सरकार द्वारा 'पद्मश्री' अलंकरण से सम्मानित।

२०२६ डा० मोहन सिंह मेहता को भारत सरकार ने 'पद्म विभूषण' से विभूषित किया।

२०२८ वम्वई में ओसवाल मित्र मंडल की स्थापना।

२०२९ डा० विक्रम साराभाई को भारत सरकार द्वारा मरणोपरांत 'पद्म विभूषण' अलंकरण से सम्मानित किया गया।

२०३० डा० दौलत सिंह कोठारी को भारत सरकार ने पद्म विभूषण' अलंकरण से विभूषित किया।

नोट : आचार्य शब्द का संक्षिप्त रूप आ० है।



इतिहास को अमर बेल ओसवाल

न हि तुष्यामि पूर्वेषां
शृण्वानश्चरितं महत् ।

मैं अपने पूर्वजों के महान चरित्र को सुनते हुए अघाता नहीं —महाभारत

•

1 | ओसवाल प्रणेता : जैनधर्म

इतिहास समय के अजस्र प्रवाह में पीछे लौटकर अपने मूल को पहचानने की प्रक्रिया है। इसीलिए यह आनन्ददायी है और प्रेरणास्पद भी। 'मैं ओसवाल हूँ'—मात्र यह जानना किसी के लिए काफी नहीं होता। मैं कहाँ से आया हूँ, मेरी जड़ें कहाँ हैं आदि प्रश्न जिज्ञासु को इतिहास जानने की ओर उन्मुख करते हैं। अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझना और अपने सांस्कृतिक परिवेश को व्याख्यायित करना अपने शुद्ध स्वरूप को पहचानने की प्रक्रिया के अंग हैं।

विषय-प्रवेश

भारत में कश्मीर से कन्याकुमारी एवं कच्छ से अरुणाचल प्रदेश तथा इन सीमाओं के भी पार फैले ओसवाल समाज का इतिहास बड़ा मनोरम और शौर्यपूर्ण है। आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व संस्थापित यह समाज समय-समय पर भारत की राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति को प्रभावित करता रहा है। बड़े-बड़े दिग्गज इतिहास पुरुषों ने इस समाज में जन्म लिया। किसी भी जाति के इतिहास में इससे बढ़ कर गौरवपूर्ण बात और क्या होगी कि वह भारत जैसे महादेश के आधे से अधिक आर्थिक संसाधनों की सैंकड़ों नहीं, अपितु हजार वर्षों तक मालिक बनी रहे। जब देश भयंकर दुष्काल से त्राहि-त्राहि कर रहा था तो जग्गा शाह (संवत् २२२) एवं जगडू शाह (सवंत् १३११) जैसे ओसवाल धन कुबेरों ने जगह-जगह मुफ्त भोजन शालाएँ खुलवा दी एवं 'जग रा पालनहार' जैसे विरुद पाए। अठारहवीं सदी के भीषण अकाल में राहत पहुँचाने वाला ओसवाल जाति का जगत सेठ घराना ही था। राणा प्रताप की संकट की घड़ी को अपनी दानवीरता से विजय में बदल देने वाला नर पुंगव भामाशाह इसी कुल की शान था। देशी राजघरानों के इतिहास पर सदियों तक छाए रहने वाले अधिकांश मंत्री, प्रधान, कोषाध्यक्ष एवं सेनाध्यक्ष ओसवाल श्रेष्ठि ही रहे। मुसलमान बादशाहों को प्रभावित कर अनेक राजनैतिक एवं सामाजिक परिवर्त्तनों के सूत्रधार मुणोत नैणसी, बछावत कर्मचन्द एवं भंडारी खींवसी जैसे नीति कुशल योद्धा ओस वंशीय ही थे। सरस्वती के अनन्य पुजारी एवं संस्कृत महाकाव्य 'शिशुपाल वधम्' के रचयिता महाकवि माघ का श्रीमाल वंशी ओसवाल होना सिद्ध प्राय है। लोक कलाओं के उन्नायक श्री देवीलाल सामर जैसे कला मर्मज्ञ इसी जाति में उत्पन्न हुए। भारत को अंतरिक्ष एवं परमाणु ऊर्जा विज्ञान के अन्तर्राष्ट्रीय फलक पर प्रस्थापित कर विश्व के अग्रणी देशों की कोटि में लाने वाले डा० विक्रम साराभाई जैसे नर रत्न इसी कुल के दीपक थे। परन्तु इतिहासकारों ने सही परिप्रेक्ष्य में कभी इस बहुमूल्य अवदान को रेखांकित नहीं किया!

भारत में इतिहास लेखन की परम्परा पाश्चात्य विद्वानों ने प्रचलित की। इससे पूर्व जो रचा गया, वह पौराणिक आख्यायिका की कोटि में रखा जा सकता है। उसे प्रामाणिक इतिहास नहीं माना जाता। ओसवाल समाज के गौरवमय अतीत को सर्वप्रथम प्रकाशित करने वाले भी विदेशी इतिहासज्ञ ही थे। उन्नीसवीं सदी के शुरू में यह श्लाघ्य प्रयत्न किया भारत में ब्रितानवी सरकार के पालिटिकल एजेण्ट कर्नल जेम्स टॉड ने। उन्होंने सन् १८२९ में प्रकाशित अपने ग्रन्थ 'एनाल्स एण्ड एन्टीक्वीटीज ऑफ राजस्थान' में ओसवालों को तत्कालीन भारत की सर्वाधिक वैभवशाली एवं सर्वाधिक लक्षाधिपतियों वाली ८४ व्यवसायिक जातियों में अग्रणी माना है। कर्नल टॉड के अनुसार १९ वीं सदी में ओसवाल जाति के कुल एक लाख परिवार हिन्दुस्तान की आधी सम्पदा के मालिक थे।

उस समय तक भारत के विभिन्न राज्यों में ओसवाल जाति के ही श्रेष्ठि कोषाध्यक्ष, दीवान एवं न्यायाधीश मनोनीत होते थे। बीसवीं सदी के शुरू में जाति के गौरव की रक्षा के लिए इतिहास लेखन के अनेक प्रयत्न हुए। परन्तु काल की अतल गहराईयों में छिपे ढाई हजार वर्षों के इस अनमोल इतिहास को संकलित कर सकना आसान नहीं है।

जैनधर्म की प्रासंगिकता :

ओसवाल मूलतः क्षत्रिय हैं। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। वे अपनी पहचान प्रायः खो बैठे हैं। अब वे एक व्यवसायी कौम बन कर रह गये हैं। वर्तमान सन्दर्भों में उन्हें वैश्य मान लिया जाता है। इस सामाजिक रूपान्तरण को सही परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करना इतिहास लेखन का अभिप्रेय भी है ताकि हमारा भविष्य-पथ आलोकित रह सके। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र आदि वर्णों के बाह्य विभेद को मैं महत्व नहीं देता। किन्तु मनुष्य के सामाजिक एवं आत्मिक विकास में आनुवंशिक तत्वों की भूमिका नकारी नहीं जा सकती। उन्हें समझने से हमारा आगे का मार्ग प्रशस्त होगा।

ओसवालों के प्रणेता जैनाचार्य रहे हैं। तत्कालीन परिस्थितियों में जैनाचार्यों से प्रतिबोधित होकर क्षत्रिय राजवंशी लोग हजारों की संख्या में जैन बने। अहिंसा व्रत एवं निरामिष आहार ने उनकी जीवन पद्धति को प्रभावित करना शुरू किया। परन्तु उनकी सामाजिक स्थिति तत्काल नहीं बदल गई। शनैः शनैः जब रूपान्तरण हुआ, तब भी क्षत्रिय–संस्कार एवं शैव, शाक्त या वैष्णव धर्मी विधि-विधान, पूजा-पाठ, रीति-रिवाज, त्योहार–सभी उनके चरित्र का एक हिस्सा बने रहे। राजकीय परिधि से वे १७वीं/१८वीं शताब्दी के बाद ही विलग हुए। खेती एवं व्यापार जैसे वैश्य कर्म अपनाकर भी उन्होंने अपना क्षत्रियत्त्व नहीं खोया। उसकी झलकियों से इतिहास भरा पड़ा है। जब राजकीय प्रणाली में जीवन पद्धति सुगम न रही तो वे पूर्णतः वैश्य-कर्म की ओर उन्मुख हुए। मध्यकालीन जैनाचार्यों द्वारा इतर जाति एवं अन्य वर्णों के लोगों को प्रतिबोध देकर जैन धर्म अंगीकार करवाने एवं उन्हें ओसवाल जाति में सम्मिलित करने से रूपान्तरण की यह प्रक्रिया तीव्र तर हो चली।

ओसवाल समाज का उद्भव जैन धर्म की प्रभावना के लिए हुआ। जैन धर्म का ज्यों-ज्यों अभ्युदय ह्रास हुआ, त्यों-त्यों इस समाज ने भी उत्थान और पतन देखे। दोनों के स्रोत, प्रवाह-पथ, बिम्ब व फलश्रुतियां समान ही नहीं, एक दूसरे पर आधारित एवं आश्रित भी रही हैं। जैनों के चौबीसों तीर्थकर क्षत्रिय थे। ओसवाल जाति का उद्भव स्रोत भी क्षत्रिय है। जैनधर्म की विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्ति, हिन्दू और मुस्लिम धर्मावलम्बियों के जैन धर्म पर आक्रमण आदि सभी पहलू ओसवाल समाज पर भी अपना प्रभाव डालते रहे हैं।

विभिन्न जैन सम्प्रदायों के धर्माचार्य अधिकांशतः ओसवाल हुए हैं। ओसवालों के सैकड़ों गोत्रों की प्रस्थापना में उन आचार्यों का प्रमुख योगदान रहा है। ओसवाल समाज की दैनन्दिन जीवन सरणि पर जैन सिद्धान्तों का अमिट प्रभाव परिलक्षित है। अतः जैन परम्परा के इतिहास का विहंगम पर्यवलोकन यहाँ समीचीन होगा। जैन धर्म सृष्टि का आदि धर्म माना जाता है। उसकी अवधारणाएँ हमें अपना मूल स्वरूप निर्धारित करने में सहायक होंगी।

सृष्टि का स्वरूप :

जैन दर्शन के अनुसार यह जगत अनादि और अनन्त है। सृष्टि का न कोई कर्ता है, न हन्ता। इस शाश्वत जगत में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। सत् का कभी नाश नहीं होता एवं सर्वथा असत् कुछ भी नहीं है। तत्व (द्रव्य) का लक्षण ही सत् है एवं उसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (ध्रुव) होता रहता है। तत्व मूलतः दो हैं—'जीव और अजीव।' जो चेतना युक्त है, वह 'जीव' एवं जो सर्वथा अचेतन है, वह 'अजीव' कहलाता है। चैतन्य का अर्थ है उसमें सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता की अनुभूति करने की क्षमता है, ज्ञान-दर्शन का उपयोग है। इन्द्रिय, बल, आयु और श्वांस इसके लक्षण हैं। ऐसे चैतन्य जीव की पाँच जातियाँ हैं :

एकेन्द्रिय : जिनमें स्पर्श (शरीर) इन्द्रिय होती है, वह स्पर्श से ही जानी जा सकती हैं। इनके पाँच प्रकार हैं : पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति। जो हमारी आँखों से दृष्टिगोचर हैं, वे 'बादर'—एवं जो नहीं दिखाई पड़ते, वे 'सूक्ष्म' कहलाते हैं। पांचों प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों का यही स्वरूप है। ये हलन-चलन नहीं करते अतः इन्हें 'स्थावर' भी कहते हैं।

द्वीन्द्रिय : जिनमें स्पर्श (शरीर) एवं रसन (जीभ)–दो इन्द्रियां होती हैं, जैसे शंख, जोंक, घुन, लट आदि।

त्रीन्द्रिय : जिनमें स्पर्श, रस एवं घ्राण (सूँघना)-ये तीन इन्द्रियां होती हैं जैसे-चींटी, जूं आदि।

चतुरिन्द्रिय : जिनमें स्पर्श, रस, घ्राण एवं चक्षु (आँख)–ये चार इन्द्रियां होती हैं जैसे—मक्खी, मच्छर, भौंरा आदि।

पंचेन्द्रिय : जिनमें स्पर्श, रस घ्राण, चक्षु एवं श्रोत्र (कान)-ये पांचों इन्द्रियां होती हैं जैसे-गाय, घोड़ा, कबूतर, आदमी आदि।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीव हलन-चलन करने में समर्थ हैं अतः 'त्रस' कहलाते हैं। किन्तु चेतना एकेन्द्रिय जीवों में भी है अतः पृथ्वी और वृक्ष आदि भी मनुष्य की तरह दुःख-सुख, आघात-प्रतिघात आदि का अनुभव करते हैं।

अजीव चेतना-रहित होता है, जड़ है, अतः उसमें दुःख सुख की प्रतीति नहीं होती। अजीव के पांच भेद हैं : धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। इनमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये चारो अमूर्त हैं, अरूप हैं, इनमें रस, गंध और स्पर्श नहीं है, न ये दिखाई देते हैं। किन्तु पुद्गल, पांचवां अजीव-भेद मूर्त है, रूपी है।

धर्म : जीव और पुद्गल के गति (motion) सहायक तत्व को धर्म कहते हैं इसी माध्यम से उनमें गतिशीलता आती है।

अधर्म : जीव और पुद्गल को स्थिर रखने में सहायक तत्व अधर्म कहलाता है, इसी की सहायता से वे एक जगह ठहर सकते हैं।

आकाश : जो पदार्थ को आश्रय देता है यानि पदार्थ जिसमें अवस्थित है, उसे आकाश (space) कहते हैं। यह अनन्त है। इसी के एक क्षेत्र में जीव अजीव द्रव्य टिके हुए हैं—इसे लोक-आकाश कहते हैं। शेष को अलोक आकाश। अनन्त आकाश का वह भाग जो लोक कहलाता है, शास्त्रों में इसे पुरुषाकार माना है, वही हमारी दुनिया है। इसी के मध्य भाग को मध्य लोक कहते हैं। मध्य लोक के ठीक मध्य में जम्बू द्वीप (यूरेशिया) है। जम्बू द्वीप के केन्द्र में सुमेरु पर्वत है। चारों ओर लवण समुद्र है। जम्बू द्वीप के एक भाग में भरत (भारत) क्षेत्र है, जो उत्तर में हिमवंत (हिमालय) पर्वत एवं तीन ओर लवण समुद्र से वेष्ठित है।

काल : द्रव्यों के पर्याय में जो परिवर्तन व परिणमन होता है उनका सूचक है काल। काल अनादि-अनन्त है। नवीन-पुरातन, बाल-वृद्ध, दिन-रात आदि का बोध काल क्रम से होता है। निरन्तर प्रवहमान चक्र होने से यह मात्र वर्तमान का द्योतक है, परन्तु द्रव्यों के अवस्था-सापेक्षतः इसकी तीन अवस्थाएं हैं : भूत, भविष्य और वर्तमान। इसके सबसे छोटे अविभाज्य अंश को 'समय' कहते हैं एवं सबसे बड़ी व्यवहार्य इकाई है 'कल्प'। प्रत्येक कल्प स्थूलतः संख्यातीत वर्षों का होता है। एक कल्प के दो विभाग होते हैं-अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। अवसर्पिणी में उत्तरोत्तर समाज का ह्रास एवं अवनति होती है तथा उत्सर्पिणी में उत्तरोत्तर विकास और उन्नति होती है। प्रत्येक अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी को भागों में बांटा जा सकता है। अवसर्पिणी काल का क्रम इस प्रकार होगा—

सुखमा-सुखम, सुखमा, सुखमा-दुखम, दुखमा-सुखम, दुखमा, दुखमा-दुखम।

उत्सर्पिणी काल क्रम ठीक इससे उल्टा-दुखमा-दुखम से शुरू होकर सुखमा-सुखम तक। सुखमा-सुखम यानि सुख ही सुख, जीव के सर्वोच्च विकास का प्रतिमान है। दुखमा-दुखम उसके आत्यंतिक पतन का प्रतीक। काल चक्र

इसी क्रम को दुहराता रहता है। शास्त्रों के अनुसार वर्तमान में अवसर्पिणी का पांचवा भाग 'दुखम' काल चल रहा है।

प्रागैतिहासिक युग :

अवसर्पिणी के प्रथम तीन कालों (सुखमा-सुखम, सुखमा, सुखमा-दुखम) में जीवन अत्यन्त, सरल एवं प्राकृतिक था। लोगों की आवश्यकता पूर्ति कल्पवृक्ष स्वतः कर देते थे। कोई द्वन्द्व या संघर्ष नहीं था। तीसरे काल के अवसान के समय शंका एवं समस्याएं उत्पन्न होने लगीं। इसी काल में कुलकरों (मनु) का प्रादुर्भाव हुआ। एक के बाद एक चौदह मनु हुए। इस वक्त तक मनुष्य समूहों (कबीलों) में रहने लगा था एवं उनका नायक 'मनु' कहलाया। पाषाणयुगीन चौदह मनु निम्न हैं :

प्रथम मनु प्रतिश्रुत—जिन्होंने मनुष्य जाति को चन्द्र और सूर्य की भक्ति का रहस्य बताया।

दूसरे मनु सन्मति —जिन्होंने नक्षत्रों और तारिकाओं का ज्ञान दिया।

तीसरे मनु क्षेमंकर—जिन्होंने वन्य पशुओं से निर्भयता व उन्हें पालतू बनाना सिखाया।

चौथे मनु क्षेमंधर—जिन्होंने हिंसक पशुओं (सिंह आदि) से रक्षा के लिए दण्ड पाषाण का प्रयोग सिखाया।

पांचवे मनु सीमंकर—जिन्होंने कल्पवृक्षों के अधिकांशतः नष्ट हो जाने से प्रत्येक आवासीय जन समूह का क्षेत्र निर्धारित कर दिया एवं अपराधी के के दण्डार्थ 'हाकार' (हा) शुरू किया।

छठें मनु सीमंधर—जिन्होंने वैयक्तिक सम्पत्ति की अधिकार सीमा नियत की।

सातवें मनु विमल वाहन—जिन्होंने हाथी, अश्व आदि पशुओं को पालतू बना कर सवारी के लिए उपयोग करना सिखाया।

आठवें मनु चक्षुष्मान—इनके पूर्व तक भोग भूमिज युगलिया स्त्री-पुरुष अपनी युगलिया सन्तान (एक साथ जन्में भाई बहन) को जन्म देकर मर जाते थे एवं युगलिया सन्तान कालान्तर में स्त्री-पुरुष की तरह जीवन-यापन करते थे। चक्षुष्मान के समय से वे युगलिया सन्तान उत्पन्न करने के बाद भी जीवित रहने लगे।

नवें मनु यशस्वन—जिन्होंने युगलिया दम्पत्ति को सन्तान से स्नेह करना सिखाया।

दसवें मनु अभिचन्द्र—जिन्होंने सन्तान का लालन पालन करना सिखाया।

छठे से दसवें मनु तक अपराधी के दण्डार्थ 'माकार' (मत करो) विधि का प्रचलन रहा।

ग्यारहवें मनु चन्द्राभ—जिन्होंने लोगों के लिए अति शीत, तुषार एवं वायु के प्रकोप से बचने की विधियां इजाद क ।

बारहवें मनु मरुदेव—इनके समय तक पृथ्वी का मौसम अनायास विकराल होने लगा था। मरुदेव ने मेघ-गर्जन, बिजली आदि के प्रकोप से बचने की विधियां बतायीं एवं कर्म करने की शिक्षा दी।

तेरहवें मनु प्रसेनजित—जिन्होंने-सद्यजात शिशु की जरायु हटाने एवं शिशु पालन की सुचारु विधियां इजाद कीं।

चौदहवें मनु नाभिराय—जिन्होंने क्षुधानिवारणार्थ स्वतः उत्पन्न शालि, जौ, तिल आदि भक्षण के प्रयोग बताए।

अन्तिम चार मनुओं के समय अपराधी के दण्डार्थ 'धिक्कार विधि' का प्रचलन हो गया था।

धर्म-तीर्थ प्रवर्तन :

अवसर्पिणी का तीसरा काल (सुखमा-दुखम) समाप्त होते होते युगलिया-व्यवस्था क्षीण होने लगी। यहीं से हमारा अनुश्रुतिगम्य इतिहास शुरू है। यहीं से धर्म तीर्थ का प्रवर्तन हुआ। इस युग के प्रथम नायक थे—चौदहवें मनु नाभिराय और उनकी युगलिया पत्नि मरुदेवी की युगलिया सन्तान 'ऋषभ'। ऋषभ की युगलिया पत्नि सुनन्दा थीं। सुमंगला के युगलिया पति की अकाल मृत्यु से युगलिया परम्परा भंग हुई और ऋषभ देव ने सुमंगला को भी अपनी पत्नि बनाया एवं सर्वप्रथम विवाह की प्रणाली प्रचलित की। ऋषभ के भरत, बाहुबलि आदि १०० पुत्र एवं ब्राह्मी और सुन्दरी—दो पुत्रियां हुईं।

हिन्दू धर्म में भी ऋषभ को विष्णु के प्रमुख अवतारों में माना गया है। पाँच सहस्र वर्ष पूर्व की सिन्धु घाटी-सभ्यता के अवशेषों के उत्खलन में प्राप्त कार्योत्सर्ग की नग्न मृण्मुद्राओं को पुरातत्व वेत्ता ऋषभ-उपासना से जोड़ते हैं। कुछ तो पौराणिक देवता शिव की कल्पना का आधार भी ऋषभ को ही मानते हैं। दोनों का प्रतीक चिन्ह वृषभ है एवं निर्वाण स्थल-कैलाश। ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती सम्राट् हुए। उन्हीं के नाम पर इस देश का नाम भारत हुआ।

कालान्तर में हुए २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती सम्राट्, ९ वासुदेव, ९ प्रति वासुदेव एवं ९ बलदेव—इन्हें शास्त्रों में 'त्रिषष्टि शलाका' पुरुष कहा गया है।

चौबीस जैन तीर्थंकरों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

तीर्थकर-नाम	पिता-माता	जन्मस्थान	वंश	निर्वाण स्थल
१. ऋषभदेव[१]	नाभि-मरुदेवी	अयोध्या	इक्ष्वाकु क्षत्रिय	कैलाश
२. अजितनाथ	जितशत्रु-विजया	अयोध्या	,,	सम्मेदशिखर
३. संभवनाथ	दृढ़राज-सुवेणा	श्रावस्ती	,,	सम्मेदशिखर
४. अभिनन्दन	संवर-सिद्धार्था	अयोध्या	,,	सम्मेदशिखर
५. सुमतिनाथ	मेघरथ-मंगला	अयोध्या	,,	सम्मेदशिखर
६. पद्मप्रभु	धर-सुसीमा	कोशाम्बी	,,	सम्मेदशिखर
७. सुपार्श्वनाथ	सुप्रतिष्ठ-पृथ्वीषेणा	वाराणसी	,,	सम्मेदशिखर
८. चन्द्रप्रभ	महासेन-लक्ष्मणा	चन्द्रपुर	,,	सम्मेदशिखर
९. पुष्पदन्त	सुग्रीव-जयरामा	काफंदी	,,	सम्मेदशिखर
१०. शीतलनाथ[२]	दृढ़रथ-सुनन्दा	भद्रपुर	,,	सम्मेदशिखर
११. श्रेयांसनाथ	विष्णु-नन्दा	सिंहपुर (सारनाथ)	,,	सम्मेदशिखर
१२. वासुपूज्य	वसुपूज्य-जयावती	चम्पापुर भागलपुर	,,	मन्दारगिरी
१३. विमलनाथ	कृतवर्मा-सामा	काम्पिल्य	,,	सम्मेदशिखर
१४. अनन्तनाथ	सिंहसेन-सुयपा	अयोध्या	,,	सम्मेदशिखर
१५. धर्म नाथ	भानु सुप्रभा	रत्नपुर	कुरु	सम्मेदशिखर
१६. शांतिनाथ[३]	विश्वसेन-ऐरा	हस्तिनापुर	कुरु	सम्मेदशिखर
१७. कुंथुनाथ[४]	सूरसेन-श्रीकान्ता	,,	कुरु	सम्मेदशिखर
१८. अरनाथ[५]	सुदर्शन-मित्रसेना	,,	सोम	सम्मेदशिखर
१९. मल्लिनाथ	कुंभ-प्रजावती	मिथिला	इक्ष्वाकु	सम्मेदशिखर
२०. मुनिसुव्रत[६]	सुमित्र-सोमा	राजगृह	हरि	सम्मेदशिखर
२१. नमिनाथ	विजय-वप्रा	मिथिला	इक्ष्वाकु	सम्मेदशिखर
२२. अरिष्टनेमि[७]	समुद्रविजय-शिवा	शौरिपुर	हरि	गिरनार
२३. पार्श्वनाथ	अश्वसेन-त्रिशला	काशी	उरग	सम्मेदशिखर
२४. महावीर	सिद्धार्थ-त्रिशला	कुण्डग्राम	ज्ञातृ	पावापुरी

१. असि-मसि-कृषि आदि कलाओं का ज्ञान कराया २. वैदिक आचार्यों का प्रवेश एवं ब्राह्मण-पूजा का प्रारम्भ ३. ४. ५. चक्रवर्ती सम्राट् ६. अयोध्यापति राजाराम के समकालीन (रामायण काल) ७. श्री कृष्ण के समकालीन (महाभारत काल)
* वृषभ, हस्ति, अश्व, वानर, चक्रवाक, पद्म, स्वस्तिक, चन्द्रमा, मगर, श्रीवत्स, गैंडा, महिष, वराह, श्येन, वज्रदंड, हिरण, अज, मत्स्य, कलश, कच्छप, नीलकमल, शंख, सर्प, सिंह—ये क्रमशः २४ प्रतीक २४ तीर्थंकरों के हैं ।

श्रमण परम्परा की ऐतिहासिकता

भारत की प्राचीन संस्कृति में दो धाराएँ स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं—प्रथम है आर्हत यानि श्रमण-संस्कृति और दूसरी है बार्हत यानि ब्राह्मण संस्कृति। आर्हत मूलतः पुरुषार्थ वादी हैं। बार्हत ब्रह्मवादी हैं। वे वैदिक सभ्यता के जनक हैं एवं यज्ञों के उपासक हैं। उनका समूचा दर्शन प्रवृत्ति मूलक है, जब कि श्रमण संस्कृति निवृत्ति मूलक। इतिहासकारों का मानना है कि भारत की मूल संस्कृति आर्हत है। बार्हत मूलतः आर्य थे जो लघु एशिया एवं मध्य एशिया से उठ कर त्रेता युग के प्रारम्भ में ईसा से २००० वर्ष पूर्व भारत के पश्चिमोत्तर खैबर दर्रे से होकर भारत आए एवं सिंध व पंजाब के विभिन्न प्रदेशों में बसे। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के अनुसार (भूगोल हस्तामलक) ढाई हजार वर्ष पूर्व विश्व का अधिकांश भाग आर्हत धर्म का उपासक था। कल्पसूत्र में वर्णित तथ्यों के आधार पर ऋषभ ने तीन वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) की स्थापना एवं कैवल्य के उपरान्त उनके पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् भरत ने व्रतधारी श्रावकों को जिनेऊ (जनेउ) देकर ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की। यह जनेउ की परम्परा व्रतधारी जैनियों में अब भी कहीं कहीं प्रचलित है।

मोहन जोदड़ो और सिन्धु घाटी के उत्खनन में ईसा से ३००० वर्ष पूर्व की जिस सभ्यता के चिन्ह मिले हैं, वे आर्हत-उपासक थे। ऋषभ की नग्न कायोत्सर्ग मुद्रा में मिली पाषाण मूर्तियाँ इस बात की पुष्टि करती हैं। उत्खनन में यज्ञों या वैदिकसभ्यता के कोई चिन्ह नहीं मिले। वेदों का रचना काल ईसा से १५०० से ९०० वर्ष पूर्व माना जाता है।

उत्खनन में शैव संस्कृति के जो चिन्ह मिले हैं, वे भी वैदिक संस्कृति से मेल नहीं खाते। वैसे भी शिव वैदिक आर्यों के देव नहीं थे। पौराणिक ब्राह्मणों ने तो शिव को मायावी, क्रोधी आदि बीभत्स रूपों में चित्रित किया है। शिवलिंग मूलतः शक्ति की उर्ध्वावस्था का प्रतीक था। वैसे भी ऋषभ और शिव की समानताएँ अनेक हैं—कैलाश दोनों का सिद्ध क्षेत्र माना जाता है एवं वृषभ दोनों का वाहन। स्कंध पुराण का निम्न श्लोक इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है :

कैलाशे पर्वते रम्ये, वृषभोऽयं जिनेश्वरः।
चकार स्वावतारं यः सर्वज्ञः सर्वगः शिवः॥

जैन धर्म की प्राचीनता एवं उसे आदि धर्म मानने में अब किसी को सन्देह नहीं रहा है। एक जमाना था, जब भगवान पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता भी संदिग्ध मानी जाती थी। ऋग् वेद में 'ॐ त्रैलोक्य प्रतिष्ठानां, चतुर्विंशति तीर्थंकराणां', यजुर्वेद में 'ॐ नमोऽर्हन्तो ऋषभो' आदि उल्लेखों एवं महाभारत, नागपुराण, शिव पुराण, योग वाशिष्ट, माहिम्न स्तोत्र, मनुस्मृति आदि में जिनेश्वर या निर्ग्रन्थ के नाम से अनेक उल्लेखों ने जिनधर्म को विश्व का आदि धर्म स्थापित कर दिया है। बीसवें जैन तीर्थंकर

मुनिसुव्रत जो मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र के समकालीन थे एवं बाइसवें जैन तीर्थंकर नेमिनाथ श्री कृष्ण के समकालीन माने जाते हैं।

भगवान महावीर का धर्म चक्र :

भगवान महावीर से २५० वर्ष पूर्व तेइसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ (ईसापूर्व८७७-७७७) हुए, जिनके शिष्य हजारों की संख्या में भगवान महावीर के समय भी विद्यमान थे। यथा—केशीकुमार, काल शिवेसी, आनन्द, गांगयामुनि एवं केशी श्रमणाचार्य अपने अपने सैंकड़ों शिष्यों के साथ उस समय भारत भूमि पर विचरण कर रहे थे, जिनमें से अनेक भगवान महावीर के शासन में शामिल हो गए। समकालीन श्रमण परम्परा के अन्य पाँच विशाल सम्प्रदाय भी भारत भूमि पर विद्यमान थे। इनमें कुछ सम्प्रदाय महावीर के संघ से भी अधिक विस्तृत थे। इन पांच सम्प्रदायों का नेतृत्व क्रमशः (१) पूरण काश्यप (२) मंखलि गोशालक (३) अजित केश कंबंलि (४) पकुध कात्यायन और (५)-संजय वेलटिठ पुत्र कर रहे थे। परिस्थितियों वश ये सभी अपना अस्तित्व बनाए न रख सके।

भगवान महावीर का जन्म ईसा पूर्व ५९९ में हुआ एवं निर्वाण ईसा पूर्व ५२७ में। भारत में उस समय मगध सम्राट् श्रेणिक सर्वशक्तिमान थे, अन्य राज्य अंग (दधि-वाहन) वैशाली (चेटक) कौशल (लच्छवी) आदि भी कम न थे। अधिकांश तत्कालीन राज्यों ने जैनधर्म को राज्याश्रय दिया। वीर निर्वाण के बाद गणधर गौतम मात्र एक महीने जीवित रहे। उनके बाद सुधर्मा स्वामो (ईसा पूर्व ५२७ से ५०७) एवं तत्पश्चात् जम्बू स्वामी (ईसा पूर्व ५०७ से ४६३) महावीर के पट्टधर हुए। ये ही तीन सर्वज्ञ केवली थे। उनके बाद प्रभव, शयम्भव, यशोभद्र, सम्भूति विजय एवं भद्र-बाहु—ये पाँच श्रुत केवली हुए। उनके पट्टधर स्थूलिभद्र (ईसा पूर्व ३५७ से ३०८) केवल पाठ की दृष्टि से श्रुत केवली थे, अर्थ सन्दर्भ से नहीं।

आगम वाचनाएँ :

भगवान महावीर के निर्वाण से १६० वर्ष बाद (ईसा पूर्व ३६७ वर्ष) उत्तरी भारत में बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। जिन-संघ छिन्न भिन्न हो गया। भद्रबाहु स्वामी ने हजारों श्रमणों के दिगम्बर संघ के साथ दक्षिणी भारत की ओर प्रस्थान किया। तत्कालीन मगध सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने भद्रबाहु स्वामी से जिनधर्म अंगीकार ही नहीं किया, अपने पुत्र सिंहसेन को राज्य देकर प्रव्रज्या भी ली एवं आचार्य भद्रबाहु के साथ ही दक्षिण गए—ऐसा श्रवण बेल गोला के शिलालेखों एवं प्राचीन ग्रन्थों से प्रतीत होता है। श्वेताम्बर मत के अनुसार चन्द्रगुप्त को प्रव्रज्या देने वाले भद्रबाहु द्वितीय थे, जो वराह-मिहिर के भाई थे एवं वह चन्द्रगुप्त भी मौर्य सम्राट् न होकर अवन्ती का राजा था। दुर्भिक्ष मिटने के बाद धीरे-धीरे श्रमण संघ पाटलिपुत्र में फिर एकत्रित हुआ एवं आगम

वाचना प्रारम्भ हुई। अब तक शास्त्रों को कंठस्थ रखने की ही परम्परा थी। इस प्रथम वाचना में ग्यारह अंग संकलित कर लिए गए। बारहवें अंग की वाचना भद्रबाहु स्वामी से ली गई, पर वह अधूरी रही। महावीर स्वामी के पन्द्रहवें पट्टधर वज्र स्वामी (सन्-२६–५७) अन्तिम दस पूर्व ज्ञान के ज्ञाता थे। उनके पश्चात् विस्मृति का क्रम बढ़ता ही गया।

जैन आगमों की दूसरी वाचना ईसवी सन् ३०० के लगभग मथुरा में आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में हुई। इसी समय वल्लभी में आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में भी वाचना हुई एवं अंगों-उपांगों का संकलन किया गया। आगमों को सर्वप्रथम पुस्तकारूढ़ किया वीर निर्वाण के ९८० वर्ष पश्चात् लोहित सूरि के शिष्य देवर्द्धिगणी क्षमा श्रमण ने ईसवी सन् ५४३ में। वल्लभी में यह आगमों की तीसरी वाचना थी। उन्होंने आगमों का व्यवस्थित लेखन किया। आगमों के वर्तमान उपलब्ध संस्करण उन्हीं के लिखे हैं। इसके पश्चात् अब तक कोई वाचना नहीं हुई।

मतान्तर : श्वेताम्बर-दिगम्बर संघ

तीर्थंकर महावीर नग्नता के पक्षधर थे। दिगम्बर मत चौबीसों तीर्थंकरों को नग्नता का पक्षधर मानता है, पर श्वेताम्बर ऐसा नहीं मानते। महावीर के संघ में सचेल (श्वेत वस्त्र पहनने वाले) और अचेल कोई वस्त्र न पहनने वाले नग्न दोनों प्रकार के श्रमण थे। आचारांग सूत्र में दोनों प्रकार के श्रमणों के मोह विजय का वर्णन है। उत्तराध्ययन सूत्र में दोनों प्रकार के श्रमणों का उल्लेख है। अचेल जिन कल्पिक एवं सचेल स्थविर कल्पिक होते थे। परन्तु इस सम्बन्ध में सैद्धान्तिक मतभेद शुरू हुआ जम्बू स्वामी के समय से। उनके बाद की पट्टावलियाँ विभिन्न मतों की भिन्न भिन्न हैं। दिगम्बर मत के अनुसार जम्बू स्वामी के बाद विष्णु, नन्दीमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पांच श्रुत केवली हुए। पर दोनों ही मत भद्रबाहु स्वामी को सम्पूर्ण द्वादशांगी का धारक मानते हैं। माथुरी वाचना में आगमों का जो रूप स्थिर हुआ, उसे अचेल समर्थकों ने अस्वीकृत कर दिया। इस तरह ईस्वी सन् ८२ के आस-पास संघ दो मुख्य शाखाओं में विभक्त हो गया-दिगम्बर और श्वेताम्बर। सूत्रों के अर्थ-भेद के कारण कालान्तर में इन मतों में भी विभिन्न गच्छों का जन्म हुआ एवं उन गच्छों के भी अनेक फिरके हो गए। सैद्धान्तिक मतभेद के मुख्य तीन मुद्दे थे–केवली आहार नहीं करते, स्त्रियों की मुक्ति नहीं होती, अपरिग्रह व्रत में श्वेत वस्त्र भी अमान्य हैं।

यापनीय संघ

दिगम्बर श्वेताम्बर मतभेद की परिणति स्वरूप एक तीसरे समन्वयात्मक सम्प्रदाय का जन्म हुआ, जो यापनीय संघ नाम से प्रसिद्ध हुआ। दिगम्बर आचार्य देवचन्द्र रचित

'दर्शनसार' ग्रन्थ के अनुसार यापनीय संघ का प्रादुर्भाव वि० सं० २०५ में हुआ। उसी ग्रन्थ में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का उद्भव वि० सं० १३६ में हुआ—लिखा है यानि मतभेद जनित अलगाव से करीब ७० वर्ष बाद यह समन्वय मूलक अभियान शुरू हुआ। स्व० पं० नाथूराम प्रेमी के अनुसार यापनीय मुनि नग्न रहते थे एवं हाथ में मोर की पिच्छि रखते थे, जिससे समायनुसार नग्नता ढ़कने का काम लेते थे। वे तीर्थंकरों की नग्न मूर्ति की पूजा करते थे। ये सभी बातें दिगम्बर मत वालों से मिलती थीं। परन्तु स्त्री का इसी भव में मोक्ष भी मानते थे एवं केवली की आहार भुक्ति भी मानते थे, आवश्यक, दशवैकालिक आदि आगम ग्रन्थों का पठन पाठन भी करते थे—इस दृष्टि से वे श्वेताम्बरों के अधिक नजदीक थे। यापनीय आचार्य शाकटायन ने मुनि-वस्त्र-पात्र ग्रहण का कारण सापेक्ष माना है। इस तरह यापनीय संघ श्वेताम्बर-दिगम्बर मान्यताओं का समन्वय था। ईसा की १५ वीं सदी तक यापनीय संघ का वर्चस्व रहा एवं कालान्तर में क्षीण हो गया।

मुनि कल्याण विजय जी ने अपने प्रबंध 'वीर निर्वाण संवत और जैन काल गणना' में नवीनतम शोधों का उल्लेख किया है। उड़ीसा की गिरी-गुफाओं में प्राप्त सम्राट् खारवेल के ईसा पूर्व १५२ वर्ष के उत्कीर्णित शिलालेख एवं हिमवंत स्थविरावली के अनुसार सम्राट् के निमंत्रण पर कुमारीपर्वत पर एक वृहद् श्रमण सम्मेलन आयोजित हुआ, जिसमें अनेक प्रसिद्ध जैनाचार्य उपस्थित थे—जैसे उमास्वाति, श्यामाचार्य, बल्लिसह आदि। उन्होंने द्वादशांगी का संकलन किया और उन्हें भोजपत्र, ताडपत्र एवं वल्कल पर लिपि बद्ध किया।

श्वेताम्बर मूर्ति पूजक सम्प्रदाय

ईसा की पांचवी शताब्दी में श्वेताम्बर मूर्ति पूजक मत दो भागों में विभक्त हो गया—चैत्यवासी और सुविहित मार्गी। चैत्यवासी परम्परा के शिथिलाचार ने क्रियोद्वार को जन्म दिया। अनेक आचार्य मूल चैत्यवासी धारा से पृथक हो क्रियोद्वार में लगे।

चैत्यवासी

जैन परम्परा में वर्षाकाल के अतिरिक्त एक स्थान पर अधिक निवास वर्जित रहा है। परन्तु बौद्धों की तरह जैनों में भी कुछ प्रभावशाली श्रमण पहले साधना की दृष्टि से और फिर रूढ़ि रूप में चैत्यों (मठों) में स्थायी निवास करने लगे। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में चैत्य विद्यमान हैं। श्वेताम्बर चैत्यवासी यति एवं दिगम्बर चैत्यवासी भट्टारक कहलाते हैं। मुनि कल्याण विजय जी ने इस प्रथा को अति प्राचीन माना है एवं ईस्वी सन् ३५५ में मठों एवं चैत्यों की सुव्यवस्थिति स्वीकार की है। आरम्भ में दिगम्बर भट्टारक भी नग्न रहते थे। आचार्य धर्म सागर के अनुसार मुस्लिम

काल में नग्न यतियों के साथ हो रहे दुर्व्यवहार के कारण उन्होंने चर्या के समय वस्त्र धारण को उचित मान लिया।

बृहद गच्छ

ईस्वी सन् ९३७ में उद्योतन सूरि ने तेलीग्राम के बृहद वट वृक्ष की छाया में सर्वदेव सूरि को सूरि पद प्रदान किया। फलतः अब तक जो श्वेताम्बर श्रमण संघ निर्ग्रन्थ गच्छ के नाम से जाना जाता था, बृहद गच्छ कहलाने लगा। इस गच्छ का प्राचीनतम शिला लेख सिरोही के कोटरा ग्राम में ई० सन् १०८६ का विद्यमान है।

खरतर गच्छ

पाटन (गुजरात) के राजा दुर्लभराज के दरबार में ई० सन् १०१७ में सुविहित मार्गी आचार्य जिनेश्वर सूरि ने पंचासरा पार्श्वनाथ चैत्य के मुख्य अधिष्ठाता सुराचार्य को शास्त्रार्थ में परास्त कर 'खरतर' विरुद पाया अतः खरतर गच्छीय कहलाने लगे। पं० हीरालाल हंसराज ने अपने 'जैनधर्म नो प्राचीन इतिहास' (१९०) में इस सम्बन्ध में एशियाटिक सोसायटी की रिपोर्ट १४८ को उद्धृत करते हुए धर्मसागर उपाध्याय के अनुसार खरतर गच्छ की उत्पत्ति वि० सं० १२ ४ में आचार्य जिनदत्त सूरि से मानी है। वे बड़े 'मगरूर व्यक्ति' थे एवं प्रश्नों के उत्तर तीक्ष्ण शब्दों में देते थे अतः लोग उन्हें 'खरा' कहने लगे। इसी विशेषण से 'खरतर' नाम प्रसिद्ध हो गया। डा० बूलर ने इस मत की पुष्टि की है क्योंकि जिनेश्वर सूरि या उनके शिष्य अभयदेव सूरि के किसी ग्रन्थ में 'खरतर' नाम का उल्लेख नहीं है। कालान्तर में इनके कई गच्छ भेद हो गए हैं यथा—लघु, मधु, बेगड़, आचारीय, भावहर्ष, लघुवाचार्यीय, रंगविजय, श्रीसारीय, पीपालक आदि।

तपा गच्छ

ई० सन् १२२८ में जगचन्द्र सूरि को आजीवन आयाम्बिल तप करने से मेवाड़ के शासक जेत्रसिंह ने 'तपा' विरुद दिया। फलतः निर्ग्रन्थ गच्छ की इस शाखा को तपा गच्छ कहा जाने लगा। कालान्तर में इसकी भी अनेक शाखाएँ हुईं यथा—वृद्ध पौसालिक, लघुपौसालिक, देवसूरि गच्छ, आनन्दसूरि गच्छ, सागर गच्छ, विमल गच्छ, संवेगी, नागौरी, पार्श्वनाथ आदि।

आंचल गच्छ

संवत ११६९ में सुविहित गच्छ का नाम—चालुक्यराज कुमार पाल से सम्बद्ध जनश्रुति के अनुसार आचार्य आर्य रक्षित सूरि के सुश्रावक मंत्री कपर्दी द्वारा अपने वस्त्रांचल से भूमि साफ कर आ० हेम चन्द्र सूरि को वन्दना करने को विधि संगत बताने से उनके गच्छ का नाम आंचल गच्छ पड़ा। श्वेताम्बर मूर्ति पूजकों के कालान्तर में अनेक गच्छ विभेद हुए जिनमें मुख्य हैं—पूर्णमिया, आगमिक, नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति, ब्राह्मण,

कोरण्टक, सांडेराव, नागपुरिया आदि। इनमें से अनेक गच्छों का वर्तमान में लोप हो चुका है परन्तु उपलब्ध शिलालेखों के साक्ष्य से किसी समय उनकी स्थिति स्वयं सिद्ध है।

श्वेताम्बर : अमूर्ति पूजक सम्प्रदाय

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मूल शाखा पुजेरा कहलाती है, जो मूर्ति पूजक है। विक्रम की सोलहवीं सदी में चैत्यवासी परम्परा के यतियों के शिथिलाचार के विरुद्ध क्रांति का शंख फूंका गुजरात के एक सद्‌गृहस्थ ने। चैत्यों के परिग्रह और मूर्तिपूजा के रूढ़ विधानों का खोखलापन लौंका शाह को कचोट गया। उनके अनुयायियों का लौंका गच्छ नाम प्रसिद्ध हुआ। उन्होंने वि० संवत् १५०८ से जिन प्रतिमा का उत्थापन प्रारम्भ किया।

स्थानकवासी

लौंका शाह की प्रेरणा से वि० संवत १५३१ में भाण आदि ४४ व्यक्तियों ने मूर्ति-पूजा विरोधी इस मत की दीक्षा ली। कालान्तर में ढूंढाड़ प्रदेश में अधिक विचरण करने से इस सम्प्रदाय को 'ढूंढ़िया' कहा जाने लगा। इनके निमित्त बने स्थानक में निवास करने के कारण वे स्थानकवासी कहलाते हैं। वि० संवत् १७०९ में यति लवजी ने क्रिया-उद्धार किया। इन्होंने सम्प्रदाय में सर्वप्रथम साधु-साध्वियों के लिए 'मुखपत्ती' का चलन किया। कालान्तर में एक ही समय २२ आचार्यों के २२ समूह होने से उन्हें 'बाईसटोला' भी कहा जाने लगा।

तेरापंथी

विक्रम की उन्नीसवीं सदी में स्थानकवासी सम्प्रदाय के एक श्रमण भीखणजी ने एक आचार्य, एक आचार एवं दान-दया के प्रश्नों को लेकर विद्रोह कर दिया। वि० संवत् १८१७ में उन्होंने आ० रघुनाथ जी से अलग होकर तेरापंथी सम्प्रदाय की नींव रखी। भीखणजी इस सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य थे। उन्हें आचार्य भिक्षु कहा जाता है। तेरापंथी इस सम्प्रदाय ने ओसवाल समाज में अग्रणी स्थान बना लिया।

दिगम्बर सम्प्रदाय

महावीर की नग्न साधना पद्धति का रक्षक दिगम्बर सम्प्रदाय परम्परा की दृष्टि से प्राचीनतम है। परन्तु दिगम्बर परम्पराएँ मूलतः दक्षिणी भारत में ही सुरक्षित रह सकीं। वहीं से ये परम्पराएँ विक्रम की ८वीं ९वीं सदी में उत्तरी भारत आईं।

मूल संघ

दिगम्बर सम्प्रदाय के मूर्तिपूजक संघों में प्राचीनतम मूल संघ है जो ईसा की द्वितीय सदी में कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रवर्तित माना जाता है। कुछ पट्टावलियों में माघनन्दी को इसका संस्थापक कहा गया है। इसे द्रविड़ संघ भी कहते हैं।

काष्ठा संघ

'दर्शनसार' के अनुसार काष्ठा संघ की स्थापना ई० सन् ६९६ में कुमार सेन ने की। अग्रवाल जाति ने इस संघ को अभिप्रेत मूर्तियाँ राजस्थान में प्रतिष्ठित करवाईं।

माथुर संघ

'दर्शनसार' के अनुसार ई० सन् ६९८ में रामसेन ने मदुरा में इस संघ की स्थापना की। राजस्थान में १२वीं सदी में इस संघ से सम्बद्ध अनेक मन्दिरों एवं मूर्तियों की स्थापना हुई।

दिगम्बर अमूर्ति पूजक संघ

तेरहपंथी : ईसा की १५वीं सदी में तारण स्वामी ने मूर्ति पूजा का विरोध किया। उनके अनुयायी तारण स्वामी द्वारा रचित ग्रंथों की पूजा करते हैं। तेरह सिद्धान्तों के अनुसरण के कारण उन्हें तेरहपंथी कहा जाता है। सांगानेर के पं० अमरचन्द बड़जात्या एवं आगरा के पं० बनारसीदास ने इसे बहुत लोकप्रिय बनाया।

गुमानपंथी : जयपुर के पं० टोडरमल के पुत्र गुमानराम ने १८वीं सदी में इस मत की प्रतिष्ठा की।

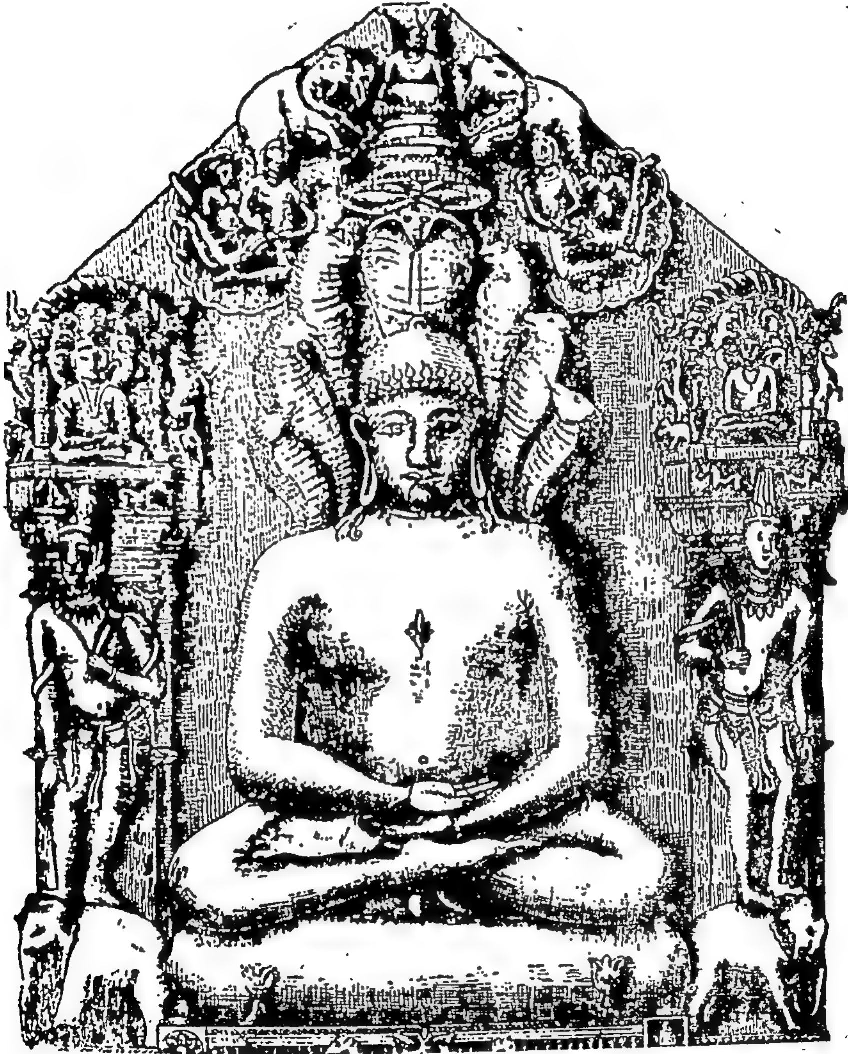
बीसपंथी : मूर्ति पूजक भट्टारक तेरह पंथियों के विरोध में अपनी श्रेष्ठता जतलाने के लिये अपने को 'बीसपंथी' कहने लगे।

तोता पंथी : तेरहपंथी एवं बीस पंथियों में समझौता कराने हेतु नागौर में एक नया सम्प्रदाय बना, जिसे साढ़े सोलह पंथी भी कहते हैं। वर्तमान में इन सम्प्रदयों की स्थिति नगण्य है।

पार्श्वापत्य सम्प्रदायः उपकेश गच्छ

जैन धर्म की तीसरी प्रमुख शाखा पार्श्वनाथ प्रभु के सन्तानियों की है, जिनसे ओसवाल वंश के उद्भव का सीधा सम्बन्ध है। पार्श्वनाथ परम्परा में पार्श्वनाथ भगवान के निर्वाण (ईसा पू० ७७७) के बाद उनके प्रथम पट्टधर हुए शुभदत्त गणधर, द्वितीय थे हरिदत्त सूरीश्वर, तृतीय थे आर्य समुद्र, चतुर्थ थे केशी श्रमण एवं पांचवें पट्टधर थे स्वयं प्रभ सूरि। इस परम्परा के अनेक श्रमण महावीर के संघ में शामिल हो गये। किन्तु अनेक श्रमण ऐसे भी थे, जिन्होंने पार्श्वनाथ की परम्परा कायम रखी और महावीर के संघ में शामिल नहीं हुए। पार्श्व प्रभु के छठें पट्टधर रत्नप्रभ सूरि ने ईसवी पूर्व ४०० में उपकेशपट्टन में महाजन वंश की स्थापना की, जो कालान्तर में ओसवंस के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनका सम्प्रदाय उपकेश गच्छ के नाम से आज भी विद्यमान है। छठें पट्टधर रत्नप्रभ सूरि के बाद इनकी पट्टावली में ३२ वें पट्टधर तक यक्षसूरि,

ककक्सूरि, देवगूरि, सिद्धसूरि एवं रत्नप्रभ सूरि इन पांच नामों की ही पुनरावृत्ति है। तत्पश्चात पहले और अन्तिम नाम को छोड़कर ८५वें पट्टधर तक बाकी तीन नामों की पुनरावृत्ति है। इस पुनरावृत्ति को लेकर अनेक भ्रम हुए हैं। जर्मन विद्वान डा० बालथेर शुब्रिग के अनुसार उपकेश गच्छ की पट्टावली इसी कारण सन्दिग्ध है। कुछ भारतीय इतिहासकारों ने उसी तर्क को दोहराया है। हांलाकि पट्टावलियों में आचार्य-पट्टधरों के



❀ श्री श्रीपार्श्वजिनो जने हितकरश्चिन्तामणिः पातु माम् ❀

वास्तविक (गार्हस्थ्य) नामों का भी उल्लेख है। वस्तुतः अतीत से सम्बन्ध विच्छेद करने वाली नाम बदलने की यह भारतीय परम्परा साधना का एक अंग थी, जिसे नजर अन्दाज कर दिया जाता है।

ओसवंश के उद्‌भव के लिए यही गच्छ जिम्मेदार था। कालान्तर में जैन धर्म के अनेक सम्प्रदायों ने इसके उत्थान एवं श्री वृद्धि में कोई कसर नहीं छोड़ी। उनमें

खरतर गच्छ प्रमुख था। उत्तर भारतीय ओसवालों पर इस समय श्वेताम्बर मत के खरतर गच्छ एवं तेरापंथी सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव है।

प्रमुख जैनागम एवं सूत्र

दिगम्बर मान्यता के अनुसार तीर्थंकरों की वाणी अनाक्षरी होती है। उपदेश की भाषा में वे कुछ नहीं बोलते। उनके रोम रोम से दिव्य ध्वनि निसृत होती है और समवसरण में वही ध्वनि उपस्थित श्रोताओं के लिए उनकी अपनी भाषा में परिणत हो जाती है। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार भगवान महावीर के उपदेश अर्ध मागधी भाषा में हुए। भगवान के उपदेशों को शब्द बद्ध किया—उनके गणधरों ने। भगवान के ११ गणधरों में से ९ गणधर उनसे पूर्व ही निर्वाण प्राप्त कर चुके थे। इन्द्रभूति गौतम जल्द ही कैवल्य को प्राप्त हुए। अतः संघ संचालन का भार आर्य सुधर्मा पर पड़ा। वे ही भगवान की वाणी के सन्देश वाहक बने। द्वादशांग उन्हीं की देन है। ये द्वादशांग (सूत्र/आगम) हैं :

(१) आचारांग (२) सूत्रकृतांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती) (६) ज्ञातांगधर्मकथा (७) उपासक दशांग (८) अन्तकृद्दशांग (९) अनुत्तरोपपातिक दशांग (१०) प्रश्न व्याकरण (११) विपाक (१२) दृष्टिवाद। (यह बारहवाँ अंग विलुप्त हो गया है)।

उक्त द्वादशांगों को समझने के लिए स्थविर आचार्यों ने १२ उपांगों की रचना की :

(१) उववाइय (औपपातिक)
(२) रायपसेणइय (राज प्रश्नीय)
(३) जीवाजीवाभिगम
(४) पण्णवणा (प्रज्ञापना)
(५) सूर्यपण्णति
(६) चन्द्रपण्णति
(७) जम्बूद्वीप पण्णति
(८) णिरयावलिया
(९) कप्पवदंसिया
(१०) पुप्फिया
(११) पुप्पचूलिया
(१२) वण्हिदशा (वृष्णि दशा)

परन्तु अंगों-उपांगों में परस्पर कोई सामञ्जस्य नहीं है।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने श्रमणों के आचार विषयक ६ छेद सूत्रों की रचना की। आचार्य भद्रबाहु इन छेद सूत्रों के प्रणेता कहे जाते हैं : (१) निशीथ (२) महानिशीथ (३) व्यवहार (४) दशाश्रुतस्कंध (५) वृहत्कल्प (६) पञ्चकल्प (कल्पसूत्र)। कालान्तर में भगवान के पूरे आध्यात्म दर्शन को चार मूल सूत्रों में आचार्यों ने ग्रन्थित किया— (१) उत्तराध्ययन (२) दशवैकालिक (आ० शय्यम्भव ने अपने आठ वर्षीय पुत्र मणक की मृत्यु सन्निकट जानकर दशवैकालिक की रचना की थी) (३) आवश्यक निर्युक्ति (४) पिण्ड निर्युक्ति और ओघ निर्युक्ति। इनके सिवाय समय-समय पर आचार्यों ने भाष्य, टीकाएँ एवं स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की। संकट निवारणार्थ रचित 'उवसग्गहरं' स्तोत्र उल्लेखनीय है। अन्य ग्रंथों में प्रमुख हैं :

१. पन्नवणा सूत्र	रचनाकार	श्यामाचार्य	(ईसा पूर्व १५२ वर्ष)
२. तत्त्वार्थ सूत्र	,,	उमास्वाति	(,,)
३. अंग विद्या	,,	वलिस्सह	(,,)
४. आप्त मीमांसा	,,	समन्तभद्र	(ईसा पूर्व प्रथम सदी)
५. न्यायावतार	,,	सिद्धसेन दिवाकर	(ईसा पूर्व प्रथम सदी)
६. नियमसार	,,	कुन्दकुन्द	(ईसा की २री सदी)
७. नन्दी सूत्र	,,	देवर्धिगणि	(ईसा की ५वीं सदी)
८. भक्तामर स्तोत्र	,,	मानतुङ्ग	(ईसा की ५वीं सदी)
९. अनुयोग द्वार	,,	आर्य रक्षित	(ईसा की ५वीं सदी)
१०. सर्वार्थ सिद्धि	,,	पूज्यपाद	(ईसा की ५वीं सदी)
११. योग विन्दु	,,	हरिभद्र	(ईसा की ५वीं सदी)
१२. उपमिति भव प्रपंचकथा	,,	सिद्धर्षि	(ईसा की ६ठी सदी)
१३. कुवलयमाला	,,	उद्योतन	(ईसा की ६ठी सदी)
१४. अष्टशती	,,	अकलंक	(ईसा की ८वीं सदी)
१५. जम्बू द्वीप पन्नति	,,	पद्मनन्दी	(ईसा की १०वीं सदी)
१६. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र	,,	हेमचन्द्र	(ईसा की ११वीं सदी)

सम्प्रदायों की सामान्य स्थिति :

इस कलि काल के वर्तमान धर्म संघों का एक लेखा जोखा हाल ही में 'श्री समग्र जैन चातुर्मास सूचि १९८६' के रूप में श्री बाबूलाल जैन 'उज्ज्वल' के सम्पादन में प्रकाशित हुआ है जिसके अनुसार भारत में विभिन्न जैन संघों की वर्तमान स्थिति इस प्रकार है :

भारत में समस्त जैन श्रमण—९४३६

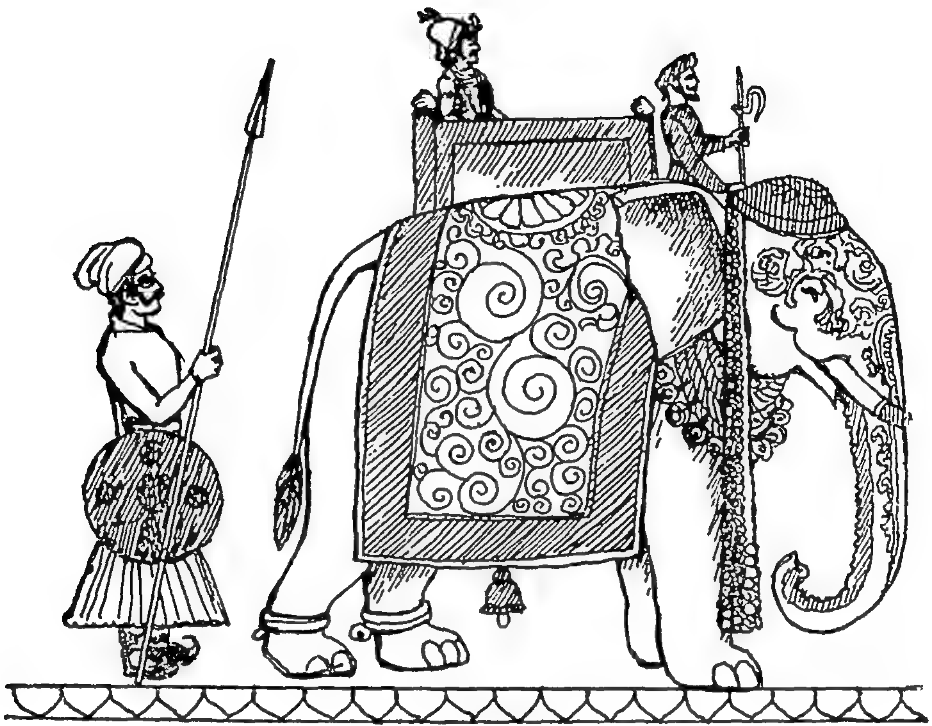
(१) श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय	कुल श्रमण	५७००	(आचार्य—९७)
१. तपागच्छ	श्रमण	४८५९	(आचार्य—८९)
२. अंचलगच्छ	श्रमण	२२४	
३. खरतरगच्छ	श्रमण	२१२	
४. पार्श्वचन्द्रगच्छ	श्रमण	७८	
५. विमलगच्छ	श्रमण	७६	
६. त्रिस्तुतिगच्छ	श्रमण	१२१	
७. अन्य	श्रमण	१३०	
	कुल	५७००	
		(कुल जैनश्रमणों का ६० प्रतिशत)	
(२) स्थानकवासी सम्प्रदाय	कुल श्रमण	२६४९	
१. श्रमण संघ	श्रमण	९२६	(आचार्य—१)
२. स्वतन्त्र सम्प्रदाय	श्रमण	७३६	(आचार्य—३)
३ वृहद् गुजरात सम्प्रदाय	श्रमण	९८७	(आचार्य—५)
	कुल	२६४९	
		(कुल जैनश्रमणों का २८ प्रतिशत)	
(३) श्वेताम्बर तेरापंथी	श्रमण	६९९	(आचार्य—२)
		(कुल जैनश्रमणों का ८ प्रतिशत)	
नव तेरापंथ	श्रमण	२२	
	कुल	७२१	
(४) दिगम्बर सम्प्रदाय	कुल श्रमण	३६६	(आचार्य—१३)
		(कुल जैनश्रमणों का ४ प्रतिशत, जिनमें नग्न—९७)	

सर्वाधिक आज्ञानुवर्ती साधु साध्वियों वाले आचार्य हैं :

१. आचार्य आनन्द ऋषिजी (स्थानकवासी) जिनके नेश्राय में ९२६ संत-सतियाँ हैं।

२. आचार्य रामचन्द्र सूरीश्वर (तपागच्छ) जिनके नेश्राय में ८०६ संत-सतियाँ हैं।

३. आचार्य तुलसीगणि (तेरापन्थ) जिनके नेश्राय में ६९९ संत-सतियाँ हैं।



ओसवाल-उत्पत्ति | २

ओसिया नगर की संस्थापना

आज से करीब २५०० वर्ष पूर्व मरुप्रदेश का श्रीमाल नगर व्यापार का प्रसिद्ध केन्द्र था। अनेक लक्षाधिपति नगर में वास करते थे। यह नगर बहुत प्राचीन माना जाता है। इसका मूल नाम श्रीलक्ष्मी महास्थान यथा श्रीमाल था। लोग कृत और त्रेता युग में इसे रत्नमाल एवं द्वापर में वीर नगरी के नाम से भी पुकारते थे। कलियुग में इसका नाम भिन्नमाल हो गया। २५०० वर्ष पूर्व नगर की सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति का वर्णन करते हुए यति श्रीपालचन्द्रजी ने अपने ग्रन्थ 'जैन सम्प्रदाय शिक्षा' में लिखा है कि उस समय राजसत्ता पर वाममार्गी ब्राह्मणों का प्रभुत्व था। यज्ञ होमादि कार्यो में लाखों पशुओं की बलि दी जाती थी। लोगों में मांस मदिरा एवं व्यभिचार का प्रचलन चरम सीमा पर था। देवी-देवताओं की पूजा एवं भूत पिशाचों के पाखण्ड एवं ठगी से सारा मरु प्रदेश ग्रसित था। उस समय तक जैन और बौद्ध धर्म इस मरुस्थली में नहीं पहुँचे थे। वाममार्गी, कुंडापंथी एवं कांचलिया पंथियों का उद्घोष था :

मद्यं मासं च''' मुद्रा मैथुनमैव च।
एते पंच मकारश्च मोक्षदा हि युगे युगे॥

यति श्री पालचन्द्रजी के अनुसार श्रीमाल नगर के सूर्यवंशी राजा जयसेन के दो लड़के थे : भीमसेन और चन्द्रसेन। राजा जयसेन की मृत्यु पर भीमसेन राजा बना। भीमसेन ने नगर का नाम बदल कर भिन्नमाल कर दिया। भीमसेन अपने ब्राह्मण गुरु के प्रभाव में शिवलिंगोपासक था। उसके दो पुत्र थे : श्री पुँज और उप्पलदेव (उत्पलदे)। यति रामलालजी के संवत् १९६७ में प्रकाशित ग्रन्थ 'महाजन वंश मुक्तावली' के अनुसार "भीनमाल नगरी के परमार राजा भीमसेन के तीन पुत्र थे : उप्पलदेव, आसपाल और आसल।" यह उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर असंगत लगता है। भीनमाल नगरी का अधिपति परमार वंश का कोई राजा नहीं हुआ। यह आबू के परमार राजा उत्पलदेव, जो विक्रम की १०वीं सदी में हुए, के सम नाम-भ्रम से लिखा गया लगता है।

भीमसेन की मृत्यु पर श्री पुँज राजा बना। उसके मन्त्री का नाम था—सुहड़ जिसके छोटे भाई का नाम था उहड़। सुहड़ करोड़पति था। उसके भाई उहड़ को एक लाख मुद्रा चाहिए थी। उस समय भीनमाल नगर में तीन अलग-अलग परकोटों में करोड़पति लखपति एवं अन्य श्रेष्ठि रहते थे। उहड़ ने भाई से एक लाख मुद्राएँ मांगीं। उहड़ की पत्नि ने इस पर ताना कसा, जिससे विचलित हो उहड़ उत्पलदेव के पास गया। उत्पलदेव और उहड़ एक साथ भीनमाल छोड़कर निकल पड़े। रास्ते में उत्पलदेव की भेंट वैराट नरेश संग्राम सिंह से हुई, जिसने उनके नया राज्य बसाने के संकल्प से प्रसन्न होकर अपनी पुत्री की सगाई उत्पलदेव से कर दी। उत्पलदेव आगे बढ़े। राह में उन्होंने कुछ घोड़े खरीद लिए। अन्ततोगत्वा वे ढ़िली (दिल्ली) पहुँचे। वहाँ 'साधु' नामक राजा को घोड़े उपहार में दिये। साधु ने उन्हें बंजर धरती पर नया राज्य बसाने की इजाजत दे दी। ढ़िली (दिल्ली) के 'साधु' राजा से इजाजत लेकर वे मंडोर आए। उसके पास ही जोधपुर से १५ कोस उत्तर में उएस भूमि पर 'उएसपट्टण' नगर बसाया। भीनमाल से चारों वर्णों के हजारों लोग आकर इस नये नगर में बसे।

इस सम्बन्ध में विक्रम की १४वीं शताब्दी में रचित ग्रन्थ 'उपकेश गच्छ चरित्र' में इस प्रकार उल्लेख मिलता है :

अष्टादश सहस्राणि, कुलानां वाणिजं तथा।
तदर्द्धानि द्विजातीनाम् संख्या प्रकृति रपि॥

भाटों का तत् सम्बन्ध में जो कवित्त मिलता है। वह इस प्रकार है :

पंच सहस्त्रविप्र भिन्नमाल से मणिघर साथे मांडिया।
शाह उहड़ ने उपलदे सहित घर बार साथे छांडिया॥

संवत् १३६३ में विरचित 'उपकेश गच्छ पट्टावली' में ओसिया के महावीर मंदिर के निर्माण-प्रसंग में नगर के उद्भव की कथा विस्तार से दी है। जैन शास्त्रों के प्राचीन ग्रंथ भंडार में इस ग्रंथ की विशिष्टता एवं प्रमाणिकता असंदिग्ध है। जैनाचार्य आत्मारामजी (आनन्द विजय जी) ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अज्ञान तिमिर भाष्कर' के दूसरे भाग में सम्पूर्ण पट्टावली प्रकाशित की थी। प्रसिद्ध पाश्चात्य इतिहासकार प्रो० ए०एफ० होर्नल ने 'इण्डियन एण्टिक्वेरी' (१८९०) में इसका अविकल आंग्ल भाषा अनुवाद टिप्पणियों के साथ प्रकाशित करवाया था। पट्टावली में दिए हुए विवरण के अनुसार "राजा भीमसेन के दो पुत्र थे : श्रीपुञ्ज और सुर सुन्दर। श्रीपुञ्ज का पुत्र उत्पल कुमार। राजा ने कनिष्ठ पुत्र सुर सुन्दर को युवराज मनोनीत किया। कुछ ग्रन्थकारों के अनुसार श्री पुञ्ज ने पार्श्वनाथ संतानीय पांचवे पट्टवर स्वयं प्रभ सूरीश्वर से जैन धर्म अंगीकार कर लिया था, इसी कारण उन्हें राजगद्दी से वंचित कर दिया गया। राज्य के मंत्रीश्वर थे दो श्रेष्ठि भ्राता-उहड़ और उधरण। उड़ह ९९ लाख की सम्पदा का स्वामी था। उधरण के पास १८ करोड़ की सम्पदा थी। उहड़ किले के बाहर रहता था। कार्यवश भाई से एक लाख उधार मांगे। न मिलने पर वह उत्पल कुमार के साथ नया शहर बसाने निकल पड़ा।" आगे की कथा उपरोक्त कथानक के समान ही है।

कालान्तर में इस नगर ने बहुत उन्नति की। उएसपट्टण का उकेशपुर (प्राकृत में) या उपकेशपुर (संस्कृत में) के नाम से भी ग्रन्थों एवं शिलालेखों में उल्लेख मिलता है। 'उपकेश गच्छ चरित्र' में इस नगर की स्थापना की उक्त कथा विस्तार से दी गयी है। श्री कक्क सूरी कृत 'नाभिनन्दन जिनोद्धार' ग्रन्थ में भी उपकेशपुर की समृद्धि एवं विस्तार का वर्णन है। दोनों ग्रन्थ विक्रम की १४वीं शताब्दी में लिखे हुए हैं। कालान्तर में 'उएस' शब्द 'ओसिया' में रूपान्तरित हो गया।

ग्रन्थागारों एवं हस्तलिखित ग्रन्थ भण्डारों में उपलब्ध भाटों/भोजकों के कवित्तों/गुटकों में भी ओसिया नगर की संस्थापना-कथा विस्तार से वर्णित है। यति श्री पालचन्द्र जी एवं यति श्री रामलाल जी के कथानक भाटों/भोजकों के कवित्तों पर आधारित हैं। श्रेष्ठि उहड़ की भाभी का ताना (मोसा) प्रायः सभी कवित्तों में ओसिया नगरी की संस्थापना का कारण बना है। राजस्थान के बही भाट अपने कथानक में 'पनघट की एक चुहल' की वजह से उपलदेव को मिले देश निकाले को ओसिया बसाने का कारण बताते हैं। भाटों/भोजकों के अनेक कवित्तों एवं वही भाटों के कथानक का सविस्तार वर्णन ग्रन्थ के अन्य अध्याय में किया जा रहा है।

ओसवालों की उत्पत्ति-कथा :

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पहले पट्टधर थे श्री शुभदत्त गणधर, द्वितीय पट्टधर थे श्री हरिदत्त सूरीश्वर, तीसरे थे श्री आर्य समुद्र सूरीश्वर एवं चौथे पट्टधर थे श्री केशी

श्रमण सूरीश्वर, जो भगवान महावीर के समकालीन थे। पार्श्वनाथ के पांचवें पट्टधर श्री स्वयंप्रभ सूरीश्वर मरु प्रदेश पधारे थे। उन्होंने वहाँ लाखों लोगों को प्रतिबोध दे जैन धर्म अंगीकार करवाया था। वे श्रीमाल जाति के संस्थापक माने जाते हैं। इन्होंने विद्याधर रत्नचूड़ को दीक्षा दी, जो रत्न प्रभ सूरि नाम से महावीर प्रभु के निर्वाण के ५२ वर्ष पश्चात् पार्श्वनाथ के छठे पट्टधर हुए।

भगवान महावीर के निर्वाण के ७० वर्ष पश्चात् यानि विक्रम संवत् से ४०० वर्ष पूर्व श्री रत्नप्रभ सूरि ५०० मुनियों के साथ उपकेशपुर पधारे। नागरिकों एवं राजा उत्पलदेव के चामुण्डा देवी के भक्त एवं वाममार्गी होने की वजह से जैन साधुओं को भिक्षा बड़ी कठिनता से मिलती थी। लोग जैन आचार-विचार से सर्वथा अनभिज्ञ थे। अतः सूरिजी ने श्रमणों को वहाँ से विहार करने का हुक्म दिया। किन्तु, देवी चामुण्डा की प्रार्थना पर सूरिजी ने ४६५ श्रमणों को गुजरात प्रदेश की ओर विहार करवा दिया एवं ३५ श्रमणों सहित उपकेशपुर में चातुर्मास किया। 'उपकेश गच्छ चरित्र' में इसका उल्लेख इस प्रकार है :

शासनदेव्या कथितं- भो आचार्य ! अत्र
चतुर्मासकं कुरु, तत्र महालाभो भविष्यति
गुरु : पञ्चत्रिंशत् मुनिभि : सह स्थित :।

उपकेशपुर के राजा उत्पलदेव और मंत्री उहड़ जनता में लोक प्रिय थे। एक समय मंत्री-पुत्र को साँप ने डस लिया। लूणाद्रि पहाड़ी के पास आचार्य के पाद-प्रक्षालन कर जल छिड़कने से मंत्री-पुत्र जीवित हो उठा। जनता में आचार्य का जय जय कार हुआ। उपदेशों से प्रभावित हो १ लाख ८४ हजार क्षत्रियों ने जैन धर्म स्वीकार किया। इस तरह आचार्य ने महाजन वंश की स्थापना की। ये कालातंर में ओसवाल कहलाए।

'महाजन वंश मुक्तावली' के लेखक यति रामलालजी के अनुसार आचार्य रत्नप्रभ सूरि ने ५०० श्रमणों को गुर्जर प्रदेश की ओर विहार करवाया एवं स्वयं एक शिष्य के साथ ओसिया पट्टण पधारे। 'महाजन वंश मुक्तावली' में पुनर्जीवन प्रदान करने की कथा इस प्रकार है :

'जब कहीं भिक्षा न मिली तो शिष्य ने किसी गृहस्थ का रोग औषधि से मिटाकर एवज में भिक्षा लेकर निर्वाह किया, आचार्य को मालूम होने पर उन्होंने शिष्य को उपालम्भ दिया एवं विहार करने की तैयारी की। तब सचिया देवी ने साक्षात् प्रकट हो विनती की— आप इस प्रजा को लब्धि मंत्र से धर्म की शिक्षा दो। गुरु ने चेले को भेज नगर में से एक रूई की पूणी मंगवाई। दशम विद्या प्रवाद पूर्व में लिखे मंत्र से उस पूणी का साँप बनाकर आज्ञा दी—'जिससे दया धर्म की वृद्धि हो, ऐसा कर।' वो साँप भरी सभा में बैठे राजा उपलदेव के पुत्र को जा के काट गया। राजा ने विष वैद्य, गारुड़ी, जोगी, ब्राह्मण, मंत्र-

वादी व चिकित्सकों से बहुत चिकित्सा कराई, पर विष विस्तार पाता गया। कुमार मृतक तुल्य हो गया। नगर में हाहाकार मच गया। उसे मरा जान श्मशान को ले चले। तब गुरु की आज्ञा से चेले ने रथी रोकी और कहा—"तुम इस रथी को मेरे गुरु के पास ले चलो, वे अभी कुंवर को जीवित कर देंगे"। राजा व प्रजा सब वहाँ पहुँचे, जहाँ आचार्य जी महाराज विराजमान थे। विनती की। तब गुरु बोले–"हे राजेन्द्र, तुम सब लोग जैन धर्म अंगीकार करो तो पुत्र अभी ठीक हो जायगा।" राजा प्रजा ने 'तथास्तु' कहा। गुरुजी ने योग विद्या से पूणिया साँप को बुलाया। वह तुरंत आकर डंक चूसने लगा और जहर उतार कर फिर अदृश्य हो गया। कुमार आलस मोड़कर बैठा हो गया। गुरु से अमृत-रूप जिनवाणी सुनकर सवा लाख राजपूतों के साथ राजा ने जैनधर्म अंगीकार किया।

उपरोक्त कथा में कई बातें लोगों को चमत्कृत करने के लिए गढ़ी गई लगती हैं जैसे रूई की पूणी वाली बात। उपकेश गच्छ चरित्र, जो संवत् १३९३ में लिखा गया था, में इसका उल्लेख नहीं मिलता। इसमें भाट/भोजकों के कथानकों का सा लहजा साफ जाहिर होता है।

उपकेश गच्छ पट्टावलि के अनुसार राजा उपलदेव की कन्या सौभाग्य देवी का विवाह मंत्रीश्वर उहड़ के पुत्र त्रिलोक सिंह से हुआ था। एक रात उन्हें सर्प डस गया। सौभाग्य देवी सती होने को तैयार हुई। तब आचार्य के चरण प्रक्षालन कर जल के छीटे देने से वह सहसा जीवित हो गया।

यथा—

मंत्रीश्वर ऊहड़ सुतः भुजंगेन दष्टः
तस्य स्त्री काष्ट भक्षणे श्मशाने आयात।
प्रासु जलमानीय गुरुचरणौ प्रक्षाल्य तस्य छंटितः।
सहसात्कारेण संजीव भुवः।

जो भी हो, इसी तरह का कथानक अन्य ग्रंथों में मिलता है। इतना निर्विवाद है कि क्षत्रिय राजा उपलदेव ने आचार्य रत्नप्रभ सूरि से प्रतिबोध पाकर जैन धर्म अंगीकार किया। ब्राह्मणों की प्रचलित वर्ण व्यवस्था के बाहर 'महाजन वंश' की स्थापना उन्हीं क्षत्रियों के १८ गोत्रों से हुई। उल्लेख है कि राजा उत्पल देव के साथ उकेश पट्टण के सभी वर्णों के प्रजाजन सवा लाख घर जैन बने एवं महाजन वंश में शामिल हुए।

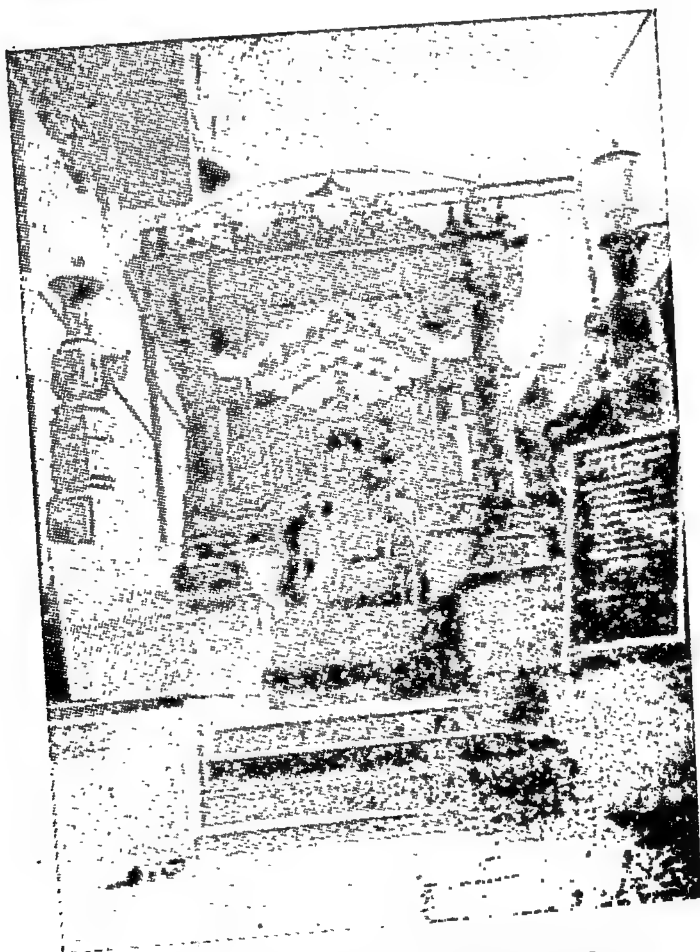
सपाद लक्ष श्रावकाणां प्रतिबोध कृतः

—उपकेश गच्छ चरित्र

श्री रत्नप्रभ सूरि वीरात् ८४ वें वर्ष में स्वर्ग सिधारे। इन १४ वर्षों में उन्होंने अनेक जैनी बनाए। पट्टावलिकारों के अनुसार यह संख्या ३८४००० थी। मृत्यु पूर्व उन्होंने अपना पट्टाधिकार उपाध्याय वीर धवल को देकर उनका नाम यक्ष देव सूरि रखा।

यति श्री पालचन्द्रजी के 'जैन सम्प्रदाय शिक्षा' (प्रकाशन ई० सन् १९१०) एवं रावत शेरसिंह जी के 'जैन क्षत्रिय इतिहास' (प्रकाशन ई० सन् १९१३) में भी उपकेश जाति-उद्भव की कथा है, जो महाजन वंश मुक्तावली की कथा से मिलती-जुलती है। यह धर्म रूपान्तर एक ही दिन में हुआ हो-ऐसा उल्लेख कहीं नहीं है। राजा के साथ उसकी प्रजा का धर्म परिवर्तन असम्भव नहीं है। पाँचवीं छठी शताब्दी में तो ऐसे उदाहरण हैं जब पूरी राज्याश्रयी प्रजा ने जैन धर्म छोड़कर हिन्दू धर्म ग्रहण किया है। खरतर गच्छ के अनेक ग्रंथों में १४वीं से १६वीं शताब्दी के बीच प्रभावी आचार्यों द्वारा लाखों लोगों को प्रतिबोधित कर जैन बनाने का उल्लेख हैं।

कुलदेवी सचिया माता :



ओसिया में महावीर मन्दिर के समीप ही स्थित
सचिया माता का भव्य प्राचीन मन्दिर

इससे पूर्व उपकेशपुर में चामुंडा देवी (महिषासुर मर्दिनो) के मन्दिर में नवरात्रि पर्व के अवसर पर भैंसों एवं बकरों की बलि चढ़ाई जाती थी। आचार्य रत्न प्रभ

सूरि ने यह पशु बलि बन्द करवा दी एवं लड्डू आदि मिष्ठान्नों का प्रसाद चालू करवाया। कहते हैं इससे देवी नाराज हो गई और उसने आचार्य की आँखों में तकलीफ पैदा कर दी। आचार्य शान्ति से यह तकलीफ सह गए तो देवी ने विचलित होकर क्षमा मांगी और निवेदन किया कि—"आज से मेरे मन्दिर में पशु बलि नहीं होगी, तभी मैं सच्ची देवी कहलाऊँगी।" उसी समय से चामुण्डा देवी जन मानस में 'सचिया माता' के नाम से अङ्कित हुई। आज भी ओसिया में चामुण्डा देवी का वह मन्दिर 'सचिया देवी का मन्दिर' नाम से विख्यात है। ओसवालों की वह कुल देवी मानी जाती है। अनेक ओसवाल परिवार अपने बालकों का मुण्डन संस्कार करवाने वहाँ जाते हैं।

ओसिया के महावीर मन्दिर का निर्माण :

उप्पलदेव के मन्त्रीवर उहड़ ने जैन धर्म अंगीकार कर उपकेश पट्टण में महावीर मन्दिर का निर्माण करवाया। उस मन्दिर में चामुण्डा देवी द्वारा वेलु रेत एवं दूध के मिश्रण से तैयार की गई महावीर की मूर्ति स्थापित की गई। कहते हैं वह मूर्ति जमीन से खोद कर निकाली गई एवं चामुण्डा देवी के निर्धारित समय से पहले निकाल लेने के कारण मूर्ति के वक्षस्थल पर दो ग्रन्थियाँ रह गयीं।

एक अन्य जनश्रुति के आधार पर मन्दिर निर्माण की कथा कुछ इस प्रकार है—अहड़ नामक धनिक व्यक्ति उन दिनों वहाँ एक महादेव मन्दिर का निर्माण करवा रहा था। दुर्योग से दिन में जितना निर्माण होता, रात को ढ़ह जाता। अन्ततः वह आचार्य के पास आया। आचार्य ने उसे महावीर मन्दिर बनवाने की प्रेरणा दी। तब से कार्य बिना विघ्न प्रगति करता गया और जिनालय बनकर सम्पूर्ण हुआ। तब मूर्ति निर्माण की बात उठी। कुछ समय से एक गाय लूणाद्रि की पहाड़ी के समीप स्वयमेव दूध की धार छोड़ती थी। यह देख सभी आश्चर्य चकित थे। लोगों के अधिक आग्रह पर उस स्थान पर खुदाई में जिन प्रतिमा प्राप्त हुई। आचार्य के अनुसार वह दूध और रेत से बनी थी। उस मूर्ति के वक्ष पर दो गांठे थीं। आचार्य ने उनका कारण मूर्ति का समय से पूर्व उत्खनन बताया। मन्दिर में इसी जिन प्रतिमा की स्थापना आचार्य ने करवाई।

उपकेशपट्टण के महावीर मन्दिर में मूर्ति स्थापना के समय ही कोरंटनगर के नव निर्मित महावीर मन्दिर में भी मूर्ति स्थापना का कार्य सम्पन्न हुआ। कहते हैं रत्नप्रभ सूरि ने अपने दो रूप बनाकर उपकेशपट्टण एवं कोरंटनगर दोनों जगह एक ही समय उपस्थित रह कर मूर्तियों की स्थापना करवाई।

निज रूपेण उपकेश प्रतिष्ठा कृता। वैक्रय रूपेण कोरंटके प्रतिष्ठा कृता। श्रद्धैः द्रव्य व्यय कृतः।

—उपकेश गच्छ पट्टावलि

उपकेशे च कोरंटे तुल्य श्री वीर बिंबयाः।
प्रतिष्ठा निर्मिता शक्त्या श्री रत्नप्रभ सूरिभिः ॥

—उपकेश गच्छ चरित्र



ओसिया के महावीर मन्दिर की मूल प्रतिमा : कहते हैं वालू और दूध से निर्मित इस प्राचीन प्रतिमा की पार्श्वनाथ संतानीय आचार्य रत्न प्रभ सूरि ने वीरात् ७० यानि विक्रम संवत् के प्रारम्भ से ४०० वर्ष पूर्व इसी मन्दिर में प्रतिष्ठा की थी।

यति श्री रामलालजी ने महाजन वंश मुक्तावली में ओसिया और भीनमाल के मन्दिरों में एक ही मूहूर्त में रत्नप्रभसूरि द्वारा भगवान महावीर की मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाने का उल्लेख किया है। कोरंट नगर भीनमाल से थोड़ी ही दूर था, शायद इसीलिए कोरंट की जगह भीनमाल लिखा गया है।

ओसिया के मन्दिर में प्रतिष्ठापित भगवान महावीर की यह मूर्ति बड़ी ही चमत्कारी थी। मुनि आत्मारामजी (आ० आनन्द विजय) ने अपने ग्रंथ 'अज्ञान तिमिर भाष्कर' में उपकेश गच्छ पट्टावलि का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ओसनगरी के महावीर मन्दिर में कभी करोड़ों की लागत की चमत्कारी मूर्ति प्रस्थापित थी!

सेवग/भोजकों की उत्पत्ति-कथा :

उस समय मन्दिरों में पूजा के लिए ब्राह्मण ही नियुक्त किए जाते थे। परन्तु क्षत्रियों ने जब जैन धर्म अंगीकार कर लिया तो ब्राह्मणों ने उन मन्दिरों में पूजा कराने एवं भोज में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। महाजन वंश मुक्तावली के अनुसार तब राजा ने कुछ ब्राह्मणों को बुलाकर कहा-'अगर जैन धर्म की श्रद्धा धारण करो तो तुम्हारे मरणे-परणे लाग बाग हम लोग देंगे।' पाँच हजार ब्राह्मणों ने इसे मंजूर किया। महाजनों के साथ भोजन करने से वे भोजक कहलाए। इनकी १६ जातियाँ ब्राह्मणों के तीन गोत्रों से मिलकर बनी हैं। इस लोगों को जैन मन्दिरों की सेवा (पूजा) करने के कारण 'सेवग' भी कहा जाता है। सेवगों/भोजकों का तभी से महाजन कौम के साथ सम्बन्ध चला आया है।

कर्नल जेम्स टॉड ने अपने राजस्थान के इतिहास में लिखा है कि २००० वर्ष पूर्व जैसलमेर के परमार राजा देवसेन ने यज्ञ करवाने हेतु १६ ब्राह्मणों को बुला कर यज्ञ सम्पन्न करवाया। जैसलमेर के निकट 'भोजगां' ग्राम बसा कर उन्हें प्रदान किया। 'वैश्य कल्प द्रुम' नामक ग्रंथ में उल्लेख है कि यदु वंश के नष्ट हो जाने पर मारवाड़ में यज्ञ हेतु भोजग लाए गए। ये वैश्यों के आश्रित गायक नहीं थे वरन् उनके गुरु थे। 'जाति भाष्कर' ग्रंथ में भी भोजगों की उत्पत्ति को वैश्यों के जैन धर्म अंगीकार करने से जोड़ा गया है।

सेवगों की ख्यात में उन्हें शाक द्वीपीय ब्राह्मण बतलाया गया है। उनके अनुसार वह अति प्राचीन जाति है, जिनकी श्रेष्ठता का उल्लेख वेद, पुराण और महाभारत में है। राजस्थान में शाक द्वीपीय ब्राह्मणों को सेवग या भोजक नाम से जाना जाता है।

बीकानेर के महाराजा गंगासिंह के समय ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को लेकर उठे विवाद में महाराजा द्वारा भोजकों को सम्मानित किया गया था। वर्तमान में जैसे जैसे मन्दिरों का सेवा कार्य धीमा पड़ा, इस जाति ने युगानुरूप प्रगति की है। अब भोजक कुल में डाक्टर, न्यायाधीश, शिक्षक, व्यवसायी, राजनेता—सभी हैं।

सेवग-भोजकों द्वारा ओसवालों की वंशावलियाँ रखने का प्रचलन प्राचीन समय से रहा है। ओसवाल श्रेष्ठियों के यश-गायक के रूप में वे राजस्थान के कोने कोने में पहचाने जाते हैं। उनकी प्रशस्ति में लिखे छन्द/कवित्त ग्रंथ भण्डारों में उपलब्ध हैं।

ग्रंथि छेदन प्रकोप एवं ओसवालों का पलायन :

ओसिया स्थित इस महावीर मन्दिर की स्थापना के ३०३ वर्ष बाद विक्रम संवत् से ९७ वर्ष पूर्व ग्रंथि छेदन की घटना हुई। कुछ उत्साही श्रावकों ने मूर्ति के वक्ष-स्थल की दो ग्रंथियों को अशोभन जान कर भंग करने की कोशिश की। इस से बड़ा देवी प्रकोप हुआ। पूरा उपकेशपट्टण इस उपद्रव से प्रभावित हुआ। तब संघ ने निमंत्रण भेजकर उपकेश गच्छ के तेरहवें पट्टधर आचार्य कक्क सूरि को बुलवाया। आचार्य ने वहाँ स्नात्र पूजा करवाई। 'उपकेश गच्छ चरित्र' में इसका उल्लेख इस प्रकार है :

श्री माण्डव्य पुरे प्रेषित् सविज्ञप्रिय मौष्टिकम्।
संघः श्री कक्क रिणा माकारण सूकृते रयात्।।

स्नात्र पूजा में महाजन वंश के १८ गोत्रों के स्नात्रीय बनने का उल्लेख भी उक्त ग्रंथ में है। नौ एक तरफ, नौ दूसरी तरफ। उक्त पूजा से उपद्रव तो शांत हो गया, परन्तु देवी के अभिशाप स्वरूप महाजनों को उपकेश पट्टण छोड़ना पड़ा। इस घटना एवं पलायन के बाद ही महाजन वंश के लोगों के लिए 'उपकेशीय' नाम का व्यवहार प्रचलित हुआ होगा, जो कालांतर में 'ओसवंशीय' में रूपान्तरित हो गया। बहुत सम्भव है उक्त घटना के बाद नगर की अभिवृद्धि रुक गई हो! जहाँ लाखों जैनी ओसवाल (महाजन) वास करते थे, वहाँ कालांतर में मन्दिरों की निगरानी रखने वाला भी कोई न रहा। उक्त ग्रंथि छेदन की घटना का सविस्तार वर्णन 'नाभिनन्दन जिनोद्धार' ग्रंथ में मिलता है।

वर्तमान ओसिया :

ओसिया ग्राम आज जोधपुर (राजस्थान) शहर से उत्तर-पश्चिम दिशा में ३२ मील दूर अवस्थित है। चन्द हजार की आबादी वाला यह ग्राम कभी उपकेश पट्टण के नाम से विख्यात रहा होगा—यह अन्दाज सहज ही ओसिया में तथा इसके चारों ओर मौजूद खण्डहरों से लगाया जा सकता है। पुरातत्त्व वेताओं के लिए ऐसे अनेक प्रमाण आसपास की भूमि पर बिखरे पड़े हैं। वर्तमान ग्राम से ११ मील दूर पर जो 'तिवरी ग्राम' इस समय अवस्थित है, वह प्राचीन ओसिया नगरी का 'तेलीवाड़ा' रहा हो, यहाँ से ६ मील दूर स्थित 'पण्डित जी की ढाणी' कभी इसी नगर का एक भाग 'पण्डित पुरा' रहा हो, ६ मील दूर स्थित 'खेता सर' इसी नगर का 'क्षत्रीपुरा' रहा हो, २४ मील दूर स्थित 'लोहावट' इस नगर की लुहारों की बस्ती हो, यह बहुत सम्भव है। इस नगर से २० मील दूर स्थित घटियाली ग्राम को प्राचीन ओसिया का प्रवेश द्वार माना जाता है। घटियाली के उत्खनन में अनेक प्राचीन चिन्ह मिले हैं। यहाँ कभी १०८ जैन-मन्दिर थे, जिनमें से मात्र एक महावीर स्वामी का मन्दिर बचा है। दस बारह मन्दिरों के अवशेष भी दृष्टिगोचर होते हैं। इन्हीं खण्डहरों से प्राचीन नगर के विस्तार का अन्दाज लगाया जा सकता है। तत्कालीन उपकेश नगर के बारह योजन लम्बा और नौ योजन चौड़ा बसा होने का उल्लेख ग्रंथों में पाया जाता है।

जिस महावीर मन्दिर में ओसवाल जाति के संस्थापक श्री रत्नप्रभ सूरि द्वारा भगवान महावीर की मूर्ति की प्रतिष्ठा किए जाने का उल्लेख ग्रंथों में है, ओसिया का वह महावीर मन्दिर अब भी विद्यमान है। कालांतर में अनेक बार इस मंदिर का का जीर्णोद्धार हुआ है। इसी मन्दिर में जिनदास श्रावक द्वारा निर्मित रंगमंडप पर संवत् १०१३ का एक शिलालेख है, जिसमें प्रतिहार साम्राज्य के संस्थापक महाराजा वत्सराज की प्रशस्ति है। संवत् १०३५ में निर्मित कलात्मक तोरण थंभ मन्दिर के तत्कालीन उत्कर्ष की कथा कहते लगते हैं। ओसिया के दक्षिण पूर्व में एक किलोमीटर पर निर्मित मन्दिर में आचार्य रत्नप्रभ सूरि के शिष्य श्री कक्क सूरि के चरण-चिन्ह उत्कीर्णित हैं।

मन्दिर बहुत विशाल था। इसका कुछ अन्दाजा वर्तमान मन्दिर के मुख्यद्वार के सामने वाली भूमि के उत्खनन में पाई गई सीढियों से लगाया जा सकता है, जो सामने वाला आम रास्ता पार कर सामने बने मकानों के नीचे तक पायी गई हैं। इससे इतना तो प्रकट ही है कि प्राचीन समय में जमीन की सतह वर्तमान जमीन की सतह से बहुत नीची थी। मंदिर का वर्तमान द्वार उन सीढ़ियों के अंतिम छोर से बहुत ऊपर है। हो सकता है मंदिर का अधिकांश हिस्सा ही जमीन में नीचे दबा पड़ा हो और उसके साथ ही मन्दिर का प्राचीन इतिहास भी।

मूल मन्दिर में आदिनाथ भगवान की सुन्दर प्रतिमाएँ जनश्रुति के आधार पर २२०० वर्ष पूर्व राजा सम्प्रति के काल की बतायी जाती हैं—हांलाकि उनके 'पव्वासन' पर एक ओर सं० १५५१ उत्कीर्ण है।

विक्रम संवत् १७२० में जोधपुर राज्य के दीवान मुणोत नैणसी ने समस्त राज्य में मृर्दुमशुमारी करवाई एवं राज्य के मन्दिरों, कुओं आदि की विस्तृत रिपोर्ट तैयार की जो 'मारवाड़ रा परगना री विगत' नाम से विख्यात है। इसमें ओसिया जी के 'महावीर मन्दिर' एवं 'सचिया माता के मन्दिर' का भी उल्लेख है। मुणोत नैणसी ने जनश्रुति के आधार पर 'वि० सं० १०३३ में प्रतिष्ठा हुई' लिखा है एवं एक अन्य काले पत्थर के लेख का समय "पढ़ा नहीं जा सकता"—ऐसा लिखा है। इस आधार पर मन्दिर के सर्वप्रथम निर्माण के समय पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। वि० सं० २०२५ में राजस्थान प्राच्य विद्या संस्थान जोधपुर द्वारा प्रकाशित नैणसी के 'मारवाड़ रा परगना री विगत' में उक्त मन्दिरों के सन्दर्भित उल्लेख निम्न हैं :

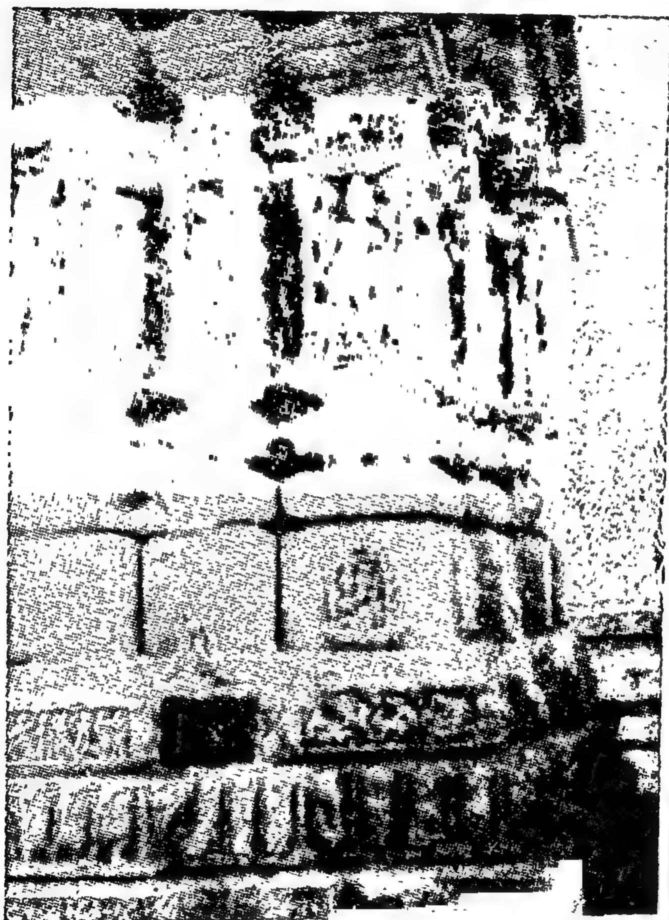
१४०– ओसियां महावीर जी रौ देऊरो सं० १०३३ प्रतिषटा हुई सुनांवो। तोरण सांमो कालो भाटो छै तिण में लीय करणांटी आखर छै। तिण नीचे ओली लिखी के जिण र सव्रतम् मंडीयो छो सुवंचे छै नै। पोल ऊपर नं मंडप देउरौ सुहड़ सेठरौ करायौ।

१४१– ओसियां श्री सचीया जी माताजी रौ देअरौ सुपलराव पंवार रौ करायो। कांमदार सुहड़ सेठ देहरा दो लां कोट करायौ जिंण में कीरौड़ी धन लखेस रो कोट मांय रैता। ५०८ देहुरा हुता। बारे १२ कोस में वसती हुती।

जिन दास श्रावक द्वारा निर्मित रंगमंडप के संवत् १०१३ के लेख के अलावा मन्दिर में उत्कीर्णित निम्न लिखित अन्य शिलालेख भी दृष्टव्य हैं :

१. तोरण द्वार का लेख—वि०सं० १०३५ आषाढ़ सुदि १

२. रंगमंडप के स्तम्भ का लेख—वि० सं० १२३१ माघ सुदि ५



ओसिया महावीर मन्दिर के प्रांगण में स्थापत्य कला के बेजोड़ नमूने, जो खजुराहो के मध्य कालीन मन्दिरों से कई शताब्दी प्राचीन हैं।

३. मंदिर के लेख—वि० सं० ११८० चैत्र सुदि ८
—वि० सं० ११३४ मिगसर वदी ७

४. जिनालय का लेख—वि० सं० १२०७

५. मूर्तियों के लेख—वि० सं० १०८८
—वि० सं० १२३४

कालांतर में ओसिया में अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ । बहुत थोड़ी आबादी वाला यह ग्राम अब भी अपने भग्नावशेषों के लिए प्रसिद्ध है । मध्य प्रदेश के खजुराहो की भांति स्थापत्य एवं मूर्तिकला के लिए ओसिया महत्वपूर्ण है । यहाँ भी हिन्दू और जैन मन्दिरों का समूह है, जो खजुराहो के मध्यकालीन मन्दिरों से कई शताब्दी प्राचीन है । खजुराहो की तरह यहाँ भी मिथुन दृश्यों की झांकी प्रचुर मात्रा में देखने को मिलती है । यह समय जिनालय के उत्कर्ष का होना चाहिए । खजुराहो के वास्तुशिल्प से इस खंडहरों की समानता को देखते हुए आ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने उन्हें आठवीं/नवीं शताब्दी के बाद में निर्मित माना है ।

आठवीं शताब्दी में यहाँ प्रतिहारों का साम्राज्य था । उस समय के बने अनेक मन्दिर (१२) आज भी विद्यमान हैं, जो उस समय की उच्चतम भवन निर्माण कला के परिचायक हैं । प्रतिहार राजा वत्सराज की प्रशस्ति उत्कीर्णित एक शिलालेख ओसिया मन्दिर में विक्रम संवत् १०१३ का अब भी विद्यमान है, जिसमें श्रावक जिनदास द्वारा रंगमंडप बनवाए जाने का उल्लेख है । वि० सं० १०३२ में निर्मित कलात्मक तोरण द्वार मन्दिर के प्रांगण में सुरक्षित हैं । अतः बहुत संभव है प्रतिहारों के राज्य-काल में प्राचीन मन्दिर का जीर्णोद्धार हुआ हो । प्रतिहारों की शक्ति का ह्रास हो जाने पर ओसिया विशाल चौहान राजा कुमार सिंह के शासन में था । इस समय तक यह नगर बहुत फैल चुका था । विक्रम संवत् १२५२ में तुर्की सेना इस प्रदेश से गुजरी एवं नगर को तहस-नहस कर डाला । वहाँ के प्रमुख निवासी ओसवाल इसे छोड़ कर दूर-दूर पलायन कर गए । ओसवालों के इस नगर से चले जाने के बारे में और भी किंवदंतियां प्रचलित हैं । कहते हैं सचिया देवी के श्राप के कारण कोई भी ओसवाल ओसिया में स्थायी रूप से नहीं रह सकता । उपकेश गच्छ प्रबन्ध में वर्णित महावीर मन्दिर की ग्रंथि छेदन की घटना स्वरूप भी ओसवालों को ओसिया छोड़ने पर बाध्य होना पड़ा ।

यहाँ के हरिहर मन्दिरों में विष्णु की प्रतिमा है । नवग्रहों के अंकन के अतिरिक्त भीगी वेणियों से जल निचोड़ती एक सुन्दरी विशेष रूप से दर्शनीय है । इन मन्दिरों में शिव, कुबेर, गणेश की कलात्मक प्रतिमाओं के अतिरिक्त कृष्णलीला के चित्रों का सजीव अंकन हुआ है । महिषासुरमर्दिनी की अनेक मूर्तियां हैं । ये मन्दिर समूह गांव के बाहर स्थित हैं । यहाँ के प्राचीन मन्दिरों में सूर्य मन्दिर कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है, जो दसवीं सदी में निर्मित हुआ प्रतीत होता है । पिप्पलाद भारत का मन्दिर गांव के समीप ही है । मन्दिर के स्तम्भ बड़े ही कलात्मक हैं । इसके गर्भगृह में कुबेर, महिषासुर मर्दिनी एवं गणेश की विशाल प्रतिमाएँ हैं । सचियामाता का मन्दिर ग्राम के मध्य ऊँची पहाड़ी पर स्थित है । मन्दिर का अनेक बार जीर्णोद्धार हुआ है, ऐसा शिलालेखों से सिद्ध होता है । देवी की प्रतिमा में महिषासुर मर्दिनी का ही स्वरूप है । मन्दिरों के बाह्य भागों पर पौरा-

णिक कथाएँ उत्कीर्णित हैं। अनेक ओसवाल परिवार अपने बालकों का मुण्डन संस्कार करवाने यहाँ आते हैं। अब यह मन्दिर भव्य आकार एवं प्रतिष्ठा अर्जित कर चुका है।

ओसिया के जैन मन्दिरों में महावीर का मन्दिर विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। यहाँ श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्रमुखता थी–ऐसा मूर्तियों एवं मन्दिरों के बाहरी व भीतरी



ओसिया में प्राचीन मन्दिरों के भग्नावशेष : भीगी वेणी से जल निचोड़ती सद्यस्नाता

भागों पर उत्कीर्णित सामाजिक जीवन के दृश्यों से विदित होता है। भग्नावशेषों के समीप ही एक पुरानी सरकारी तख्ती अब भी दृष्टिगोचर होती है जिसमें सन् १८५४ (V.S.-1911) की एक अंग्रेज सुपरिन्टेंडेंट की चेतावनी, जिसके अनुसार तब वह 'ऋषभ नाथ मन्दिर' के नाम से जाना जाता था और वहाँ किसी पक्षी या जानवर को मारने की मनाही की गई है।

अभी भी बरसात के दिनों में बच्चों को मिट्टी में सने प्राचीन सिक्के मिल जाते हैं। ये सिक्के वजन में ३-४ मासा चाँदी के होते हैं। सिक्के के एक तरफ गर्दभ अंकित होता है। एक जनश्रुति के अनुसार विक्रम पूर्व १७ वर्ष में इस प्रदेश पर राजा गर्दभिल्ल का शासन था। शकों से पराजित होने के बाद उसके वीर पुत्र विक्रमादित्य ने बड़े होकर शकों को हराया और स्वयं सम्राट् बना एवं इस खुशी में विक्रम संवत् का प्रणयन हुआ। अतः इससे ओसिया नगरी का विक्रम-पूर्व काल में उन्नत नगर होना सिद्ध होता है।

इस तरह वर्तमान ओसिया उजड़ कर भी अपनी अनेक सदियों की कहानी कहने में समर्थ है। हिन्दू, जैन, शैव, शाक्त-अनेक धर्मों की समन्वित गाथा ओसिया के खण्डहरों से अब भी ध्वनित हो रही है।

ओसिया तीर्थ का पुनरुद्धार :

एक समय ऐसा भी आया जब ओसिया का महावीर जिनालय लुप्त प्रायः था, वहाँ चमगादड़ों का निकास था। पूजा होती थी तो मात्र पूनीया बाबा की। आस-पास के क्षेत्र वासी उसी के भक्त थे। कहते हैं जोधपुर के राजवंशी भी पूनिया बाबा के भक्त थे। विक्रम संवत् १९३६ में मुनि मोहनलाल जी के अथक प्रयत्नों से यह क्षेत्र पुनः जैन तीर्थ क्षेत्र के रूप में पूजित हुआ। मुनि महाराज की प्रेरणा से जोधपुर के तत्कालीन दीवान कुन्दनमल जी ने इस महावीर मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया। सं० १९३६ से १९५० तक दीवान जी इसकी व्यवस्था का निरीक्षण करते रहे। कहते हैं महावीर स्वामी की बालू रेत एवं दूध से बनी मूर्ति विशाल प्रस्तर शिला से ढकी रहने के कारण सुरक्षित रह गई थी। मूर्ति की आशातना मिटने से क्षेत्र का भी उदय काल आरम्भ हुआ।

संवत् १९५१ में फलौदी के श्री फूलचन्दजी गोलेछा ने तन-मन-धन से तीर्थ की सेवा करने का संकल्प लिया। तब से वहाँ प्रतिवर्ष फाल्गुन शुक्ला ३ को मेला लगता है। संवत् १९७२ में रत्नविजयजी महाराज की प्रेरणा से यहाँ श्री वर्द्धमान जैन विद्यालय एवं छात्रावास की स्थापना हुई। वर्तमान में ५०० छात्र विद्यालय में शिक्षा ग्रहण करते हैं।

संवत २०२६ से मन्दिर के जीर्णोद्धार का कार्य पुनः शुरू हुआ, जो निरंतर चल रहा है। यह जीर्णोद्धार सेठ आनन्दजी कल्याणजी की पेढ़ी, अहमदाबाद की तरफ से लाखों रुपया खर्च कर किया जा रहा है। वर्तमान में तीर्थ का प्रबंध सेठ श्री मंगलसिंह जी रतनसिंह जी देव की पेढ़ी ट्रस्ट के सुपुर्द है। इस ट्रस्ट के ९ ट्रस्टी हैं।

संवत् २०३२ में शापमुक्ति के लिए उपधान तप की आराधना करवाई गई। परन्तु अब भी वहाँ ओसवालों का एक भी घर नहीं है। कहते हैं कोई ओसवाल यहाँ रात-बासी रहने की हिम्मत नहीं करता। परन्तु यह भ्रम शनैः शनैः दूर हो रहा है।

वर्तमान में शिक्षण संस्था एवं उसके छात्रावास में ८० छात्र ओसवाल हैं, जो वहाँ निरतंर वास करते हैं। संस्था के पदाधिकारी अधिकांशतः ओसवाल हैं, जो मंदिर से संलग्न धर्मशाला एवं गाँव के अन्य भागों में रहते हैं। तीर्थयात्रियों में अधिकांशतः ओसवाल ही होते हैं, जो रात भर धर्मशाला में ही रुकते हैं। कभी कभी तो दो-दो तीन-तीन दिन तक। धर्मशाला के आवास-रजिस्टर की निम्न आवृत्तियाँ उल्लेखनीय हैं :

- श्री गजराज मेहता–आये: १४-१०-८६ रात १२ बजे
  गये : १५-१०-८६ सुबह ९ बजे
- श्री सरोज कुमार हीरालाल बोरदिया–आये : १४-१०-८६ की रात
  –गये : १५-१०-८६
- श्री महेन्द्र जी गावूदान जी चोरड़िया–आये : १६-१०-८६ की रात
  –गये : १७-१०-८६
- नेमीचन्द्र जी हंसराज जी कावड़िया, जलगाँव–आये : १८-१०-८६ शाम
  –गये : १९-१०-८६

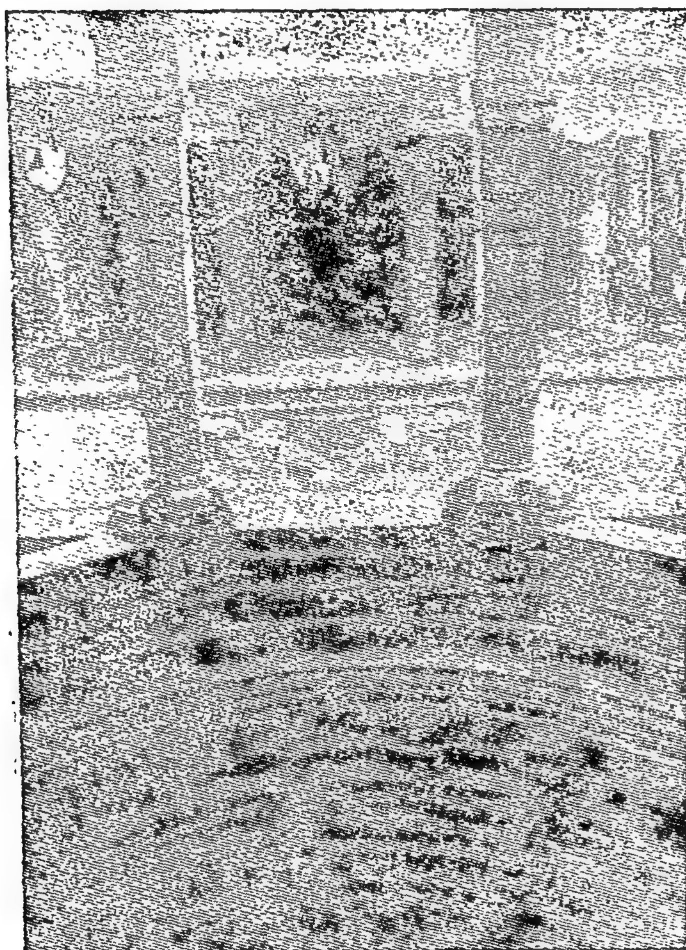
ऐसी ही अनेक आवृत्तियाँ आवास रजिस्टर में दर्ज हैं। अतः रात-वासी न रह सकने वाली बात मात्र भ्रांत धारणा है।

प्राचीनता सम्बंधी नई शोध :

ओसिया एक प्राचीन नगर है–इसमें कोई सन्देह नहीं। कुछ इतिहासकारों ने भले ही भ्रम वशात् नगर के ८ वीं सदी पूर्व बसे होने में शंका व्यक्त की हो, परन्तु नई शोध-साक्ष्य के आधार पर ईस्वी द्वितीय शताब्दी में नगर का समृद्धि शाली होना सिद्ध हो चुका है।

प्रसिद्ध पुरातत्त्व वेत्ता श्री डी० आर० भंडारकर ने आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया (१९०६-७) में प्रकाशित पश्चिमी प्रदेश के वार्षिक शोध विवरण के आधार पर ओसिया को प्राचीन हिन्दू परम्परा से जोड़ा है। भंडारकर के आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया (१९०८-९) में प्रकाशित ओसिया के प्राचीन मन्दिर आलेख के अनुसार 'ओसिया' नामकरण से पूर्व यह शहर मेलपुर पट्टण के नाम से जाना जाता था। 'ढूँढ़ली मल्ल' नाम के एक जैन संत नगर में पधारे। उनके चरणचिन्ह अब भी पार्श्ववर्ती पहाड़ी पर मौजूद हैं। जब नगर में कहीं उन्हें भिक्षा न मिली तो उन्होंने नगर को श्राप दे डाला, जिसके फलस्वरूप नगर उजड़ कर जमींदोज हो गया। शताब्दियों बाद परमार वंशीय राजकुमार उप्पलदे पड़िहार राजा की शरण आया। राजा ने उसे मेलपुर पट्टण के खंडहरों में भेज दिया। उप्पलदे ने यहाँ शरण ली एवं इसे फिर से आबाद किया। उप्पलदे ने इसका नाम नवनेरी

नगरी रखा। परन्तु यहाँ 'ओसला' (शरण) लेने के कारण उसे ओसिया कहा जाने लगा। इसी उप्पलदे ने यहाँ सचिया माता का मन्दिर बनवाया। कुछ वर्ष पश्चात् हेमाचार्य के शिष्य एक जैन यति रतन प्रभु यहाँ आए। उन्होंने एक मायावी सर्प का डर दिखा कर लोगों को जैन बनाया। इससे क्रुद्ध होकर सचिया माता ने उन्हें श्राप दिया। ओसवाल भाग खड़े हुए।



ओसिया के महावीर मन्दिर का रंग मंडप : जिस पर अनेक प्राचीन लेख खुदे हुए हैं।

श्री भंडारकर के 'आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया' में प्रकाशित उक्त विवरण का आधार मात्र जनश्रुति है। उन्होंने किसी आधारभूत साक्ष्य का उल्लेख नहीं किया। 'ढूँढलीमल्ल' नामक जैन संत का उल्लेख परवर्ती श्वेताम्बर सम्प्रदाय 'ढूंढ़िया मत' के साधुओं से पूर्ववर्ती पार्श्व संतानीय रत्न प्रभ सूरि के वस्त्र एवं धर्म साम्य के कारण इतर धर्मावलम्बियों में प्रचलित हुआ होगा। उप्पलदे के 'परमार' वंशी होने एवं

'रत्न प्रभु' के हेमाचार्य का शिष्य होने सम्बंधी उल्लेखों का आधार भी मात्र जन श्रुति लगता है। श्री भंडारकर के उक्त विवरण को ही परवर्ती इतिहासकारों ने आधार मान कर ओसवालों की उत्पत्ति सम्बंधी ८ वीं/९वीं शताब्दी की धारणा की संरचना की होगी।

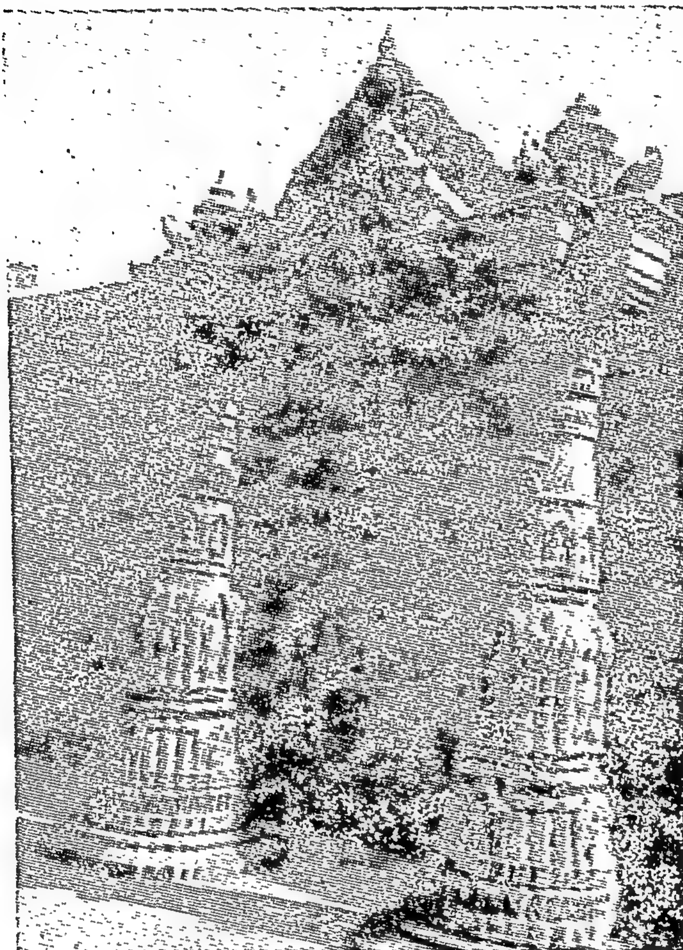
उक्त आलेख में श्री भंडारकर ने महावीर मन्दिर के नल मंडप (रंग मंडप ?) में स्थित २८ पंक्तियों के वृहद् शिलालेख का उल्लेख भी किया है, जिसमें रावण-संहारक श्री राम के भ्राता लक्ष्मण के वंशजों के प्रतिहार (Door keeper) वंश में हुए राजा वत्सराज की प्रशस्ति है, जिन्होंने मन्दिर की प्रतिष्ठापना करवाई। उकेश नगर के मध्य में स्थित महावीर मन्दिर के रंग मंडप के निर्माण कर्त्ता जिन्दक नामक व्यापारी का विक्रम संवत् १०१३ में जीर्णोद्धार कराने का उल्लेख भी शिलालेख में है। श्री भंडारकर के अनुसार यह मन्दिर सन् ७७०-८०० काल में अवश्य ही मौजूद रहा होगा। संवत् १०१३ वाला उक्त शिलालेख अब भी मन्दिर में अवस्थित है। पुरातत्व वेत्ता श्री पूर्णचन्द्र जी नाहर ने अपने 'जैन लेख संग्रह' ग्रंथ में इसे सम्पूर्ण (लेखांक ७८८) प्रकाशित किया है।

एक और उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इस शिलालेख में 'संवत्सर दशशत्या-मधिकायां वत्सरै स्त्रयो दशाभिः फाल्गुन शुक्ला तृतीया' आदि शब्दों का प्रयोग संवत् को असंदिग्ध रूप से विक्रम संवत् नहीं स्थापित करता। संवत् १०१३ को नन्दिवर्धन संवत् मानें तो इसका विक्रम संवत् ५०१ आता है और वीर संवत् मानें, जो भगवान महावीर के निर्वाण समय से शुरू होता है, तो वह विक्रम संवत् ५४३ आता है। भारत देश में विभिन्न संवतों का प्रचलन समय समय पर होता रहा है। अतः निश्चित समय स्थापित करने के लिए अन्य साक्ष्यों का सहारा अत्यावश्यक हो जाता है।

प्रतिहार शासक वत्सराज का समय विक्रम की ६ ठी सदी होना चाहिये। उद्योतन सूरि रचित 'कुवलयमाला' में प्रतिहार शासक वत्सराज का उल्लेख है। कुवलय-माला का रचना काल विक्रम की ६ ठी सदी माना जाता है। आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया मैसूर के एपीग्राफिस्ट डा० के० वी० रमेश ने अपने एक लेख १९७२ में ओसिया स्थित हरिहर मन्दिर के आंगन में सुरक्षित वि० सं० ८०३ और ८१२ के दो स्मारक लेखों का उल्लेख किया है। निःसन्देह ओसिया उस समय एक समृद्ध नगर रहा होगा।

महावीर मन्दिर के प्रांगण में सुरक्षित प्रसिद्ध तोरण पर उत्कीर्णित संवत १०३५ के प्रतिष्ठा लेख के कुछ अंश श्री पूर्णचन्द्र जी नाहर ने जैन लेख संग्रह (लेखांक ७८९) में प्रकाशित किए हैं। श्री भण्डारकर ने भी उक्त अंश में उत्कीर्णित पाठ 'सं० १०३५ आषाढ़ सुदि १० आदित्य वारे स्वाति नक्षत्रे श्री तोरणं प्रतिष्ठापितमिति' के आधार पर

तोरण द्वार की मात्र स्थापना तिथि दी थी। परन्तु यह पाठ तोरण पर उत्कीर्णित अभिलेख का एक अंश मात्र था। चण्डीगढ़ पंजाब विश्वविद्यालय के पुरातत्त्व विभाग के प्रो॰ देवेन्द्र हाण्डा ने तोरण के स्तम्भ की अष्ट कोणात्मक पट्टिका पर उत्कीर्णित अभिलेख के पूर्व अंश को 'ओसिया की प्राचीनता' आलेख के साथ 'कर्मयोगी श्री



ओसिया के महावीर मन्दिर में सुरक्षित प्राचीन तोरण, जिस पर संवत् १०३६ का लेख उत्कीर्ण है।

केसरीमल जी सुराणा अभिनन्दन ग्रंथ (१९८२)' में प्रकाशित किया है, जिसमें "याते संवत्सराणां सुरमुनि सहित विक्रम......गुरौ शुक्लपक्षे पंचम्याम्......स कीर्तिकार ......कषह देवयशः संघ सोनशिखे...." आदि पाठ दृष्टव्य हैं। प्रो० हाण्डा के अनुसार 'सुरमुनि' पाठ से–'सुर' यानि ३३ और मुनि यानि ७–यानि 'विक्रम संवत् ७३३ में निर्मित' अर्थ अभिप्रेय है। प्राचीन काल में संख्या सूचक सांकेतिक शब्दों का प्रयोग संवत् देने के लिए प्रचलित था एवं उन्हें उलट कर पढ़ा जाता था। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ

श्री गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा ने 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' (१५१) में इसकी पुष्टि की है। अस्तु, संवत् ७३३ से पूर्व अवश्य ही ओसिया समृद्ध नगर रहा होगा।

प्रो० हाण्डा ने ओसिया स्थित श्री वर्द्धमान जैन उच्च माध्यमिक विद्यालय की नींव खोदे जाते वक्त मिले उन सिक्कों का भी जिक्र किया है, जो अरब शासक अहमद के समय के हैं। ८ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में ओसिया पर अरबों का आक्रमण हुआ था। ये सिक्के ओसिया के सेठ मंगलसिंह रतनसिंह देव की पेढ़ी ट्रस्ट में सुरक्षित हैं।

ओसिया के उत्खनन में कुछ ऐसे संचयन भांड मिले हैं, जिन पर ब्राह्मी लिपि के अभिलेख हैं। प्रो० हाण्डा के अनुसार ये भांड ईसा की दूसरी/तीसरी शताब्दी के हैं। इससे ओसिया की प्राचीनता सिद्ध होती है। बरसात के दिनों में मिट्टी में सने चाँदी के ३/४ मासा के ऐसे सिक्के भी प्राप्त होते रहते हैं जिनके एक ओर गर्दभ चिन्ह अंकित है। एक जनश्रुति के अनुसार विक्रम पूर्व १७ वर्ष में इस प्रदेश पर उज्जैन सम्राट् गर्दभिल्ल का शासन था। इससे भी ओसिया की प्राचीनता प्रमाणित होती है।

●



ग्रन्थागारों एवं बही भाटों के उत्पत्ति-कथानक | २

नाहर ग्रन्थागार में उपलब्ध

ओसवाल–उत्पत्ति सम्बंधी गुटके/छन्द

प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता एवं इतिहासकार श्री पूरणचन्द्र जी नाहर के विशाल ग्रंथागार में संग्रहित प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों के भंडार में एक अनाम कवि/भाट का गुटका मिला है। वह है तो अधूरा, परन्तु ओसवालों की उत्पत्ति कथा एवं कीर्ति का व्याख्याता है। गुटके के अनुसार भीनमाल के राजा भीम के दो पुत्र थे : सुर सुन्दर और उपलराव। राजा भीम की मृत्यु पर सुर सुन्दर गद्दी पर बैठा। उसी राज्य के मंत्रीश्वर के भी दो पुत्र थे–धरण और ऊहड़। एक दिन धरण की पत्नि ने देवर ऊहड़ को ईर्ष्यावश उपालम्भ दे डाला। बस ऊहड़ को भावज की बात लग गई। वह राज पुत्र ऊपलराव के पास गया। दोनों ने नया दुर्ग बसाने की योजना बनाई।

उक्त कथा में यति रामलाल जी द्वारा उल्लिखित एवं 'उपकेश गच्छ पट्टावलि' के कथानक से बड़ा साम्य है। भाटों के कवित्तों में प्रायः यही कथा दोहराई जाती है। नाहर जी के ग्रंथागार में उपलब्ध उक्त गुटका इस प्रकार है :

कवित्त

श्री सुरसती देज्यो मुदा आसै बहुत विशाल
नासै सब संकट परो, उत्पति कहुँ उसवाल ॥१॥

देश किसै किण नगर में, जात हुई छै एह
सुगुरु धरम सिखावियो, कहिस्यु अब ससनेह ॥२॥

पुर सुन्दर धाम वसै सकलं, किरन्यावत पावस होय भलं
चऊटा चउराशि विराज खरै, पगभेलय जोर सुग्यान धरै ॥१॥

भिनमाल करै नित राजपरं, भल भीम नरेन्द्र उपंति वरं
पटराणी के दोय सुतन्न भरं, सुर सुन्दर ऊपल मत्त धरं ॥२॥

अलका नगरी जिह रीत खरी, अठवीस ववाकरी सोभ धरी
तस नारी वसै वहु सुख करी, दुख जाव न पासै सुदूर टरी ॥३॥

त्रिय सुन्दर ओपम फूल कली, कनआ मयसुँ उतरी विजली
मुगताम्वर जेम चलै पधरं, वहुरूप भलो मनु कामहरं ॥४॥

सुर सुन्दर जेठ सहोदर छै, लघु ऊपल राव जोधार अछै
सुर लोक में भीम गया पधरा, भिनमाल को राज बड़ो जुकरा ॥५॥

पुन दोय सहोदर मित्र भला, सम रूप मयंक सुधार कला
नलराज मनमथ रूप जिसा, महिरांण अथग्ग सोभाय इसा ॥६॥

किरणाल तपै पुन भाग भलं, अरिदूर भजै इक आप वलं
अंगराग उदार दीपंति खरा, किल छात पंवार मुगट्ट खरा ॥७॥

दुरग मांहि मंत्री तणा वेटा दोय सरूप
वड़ो दुरग मांहि रहै रुपिया कोड अनूप ॥१॥

सहर मांहि छोटो वसै लाख घाट छै कोड
वडै भ्रात नै इम कहै करु कोड री जोड़ ॥२॥

एक लाख देवै खरा दुरग वसूं हूं आय
वलती भोजाई कहै वचन सुनो चित लाय ॥३॥

देवरजी सुण ज्यों तुम्हें किसो कोट छै सून
या दिण आया ही मरै राखो ये सव मून ॥४॥

वड़ऊ धरण बखाणीयै छोटो ऊहड़ जांण
उठोयो वचन सुणीकरी लघु बंधव हरिराण ।।५।।
कोप अंग तिण वेल घण नयो बसाउ द्रंग
एम कही आयो सहर बहुलो पोरस अंग ।।६।।
उपल नै पासै जइ वदे पाछली बात
भोजाई मोसो दियो सुवालो मुज तात ।।७।।

नाहर जी के कलकत्ता स्थित ग्रन्थागार से कुछ और छन्दों का उल्लेख मिलता है, जिसमें 'भोजकों के दफ्तर से ओसवालों की उत्पत्ति' दर्शाई गई है। इन छन्दों में पूरा कथानक विस्तार से दिया गया है। श्रीमाल गाँव में पँवार राजादे शल दे राज्य करते थे। उनके एक पुत्र का नाम ऊपल था। इसी गाँव में ऊहड़ रूहड़ दो श्रेष्ठि भ्राता वास करते थे। रूहड़ एक दिन अपनी भावज के ईर्ष्या वचनों से त्रस्त हो ऊपल के पास आया। दोनों ने मिल कर नया नगर बसाने की ठानी। दोनों मंडोवर आए। देवी की आराधना कर वहाँ नई नगरी बसाई। वहाँ रत्नप्रभु सूरि पधारे। भिक्षा न मिलने से शिष्य की प्रार्थना पर गुरु ने रूई का सांप निर्मित क्रिया, जिसने कुँवर को डस लिया। शिष्य की प्रार्थना पर गुरु ने उसे पुनः जीवित किया एवं प्रतिबोध दिया। इस तरह चार लाख क्षत्रियों को प्रतिबोध दे रत्न प्रभु सूरि ने ओसवाल जाति की स्थापना की। इस कथा के साथ संवत् 'वीये बाई से' में राजपूत कौमों से ओसवालों के १८ गोत्र बनने एवं भोजकों की उत्पत्ति का उल्लेख कवित्त में है। पूरा छन्द इस प्रकार है :

भोजकों के दफ्तर से ओसवालों की उत्पत्ति

श्रीमाल बसै दोय सेठ भले निधि उहड़ रूहड़ भाई।
निनानु रूहड़ सो लाख उहड़ सवाई।।
उहड़ इच्छा उपनी कोट में बास करीजै।
विनती करी बोरसु दाम लख उधारा दीजै।।
बसै कोट थाहीं विना भोजाई मुख भाखियो।
मरण भलो ध्रग मांगणों हृदय में गूसो राखियो।। १।।

सहर बसै श्रीमाल गांव चोबीस गिरी दे।
राज करै पौंवार दूठ राजा देशल दे।।
देशल सुत दस दोय उपल ओमादिख दाखीजै।
बिजो पढ़ा दिये दूण उपल दो सेर जवार दीरीजै।।
एक दिन कंवर उपल कने कर जोड़ रूहड़ कहैं।
पुर सूँ अलग पड़ पगल तो राव तुम मो पासे रहैं।। २।।

सूरज उगे सासता कवर नित गोट करावे।
रूड़े चित रावतां आवतां आवश्र बनावे॥
बांण वंका अनभंग ठाठ घोड़ां गज ठट्ठां।
आठ पोर उदमाद बनावे निज गुण ठट्ठां॥
राज रे काज मारे रखै ओ तो दाणव ऊठियो।
कवर प्रधान एको करे दुष्ट जान देसाटो दियो॥ ३॥

गाड़ी सहस गुणतीष रथ वल शेष इग्यार।
अश्वं सहस अठार प्रगट पाय गाण पाले॥
उँट सहस पचीस तीस हाथी मध झरंता।
दस सहस दुकान कुंवर व्योपार करंता।
पान से शेष विप्र मघा मिलकर साते मंडीया।
सेट तो उहड़ उपर छन्तों एता छंडीया॥ ४॥

सकल ओचालो सहित ऊपल मंडोवर आवे।
मंडोवर रो धनी देश पुर मैल देखावे॥
नाय बसे नव तेरी वडम आप बसावो।
इस मंडोवर अखे कंवर जी राज करावो॥
मंगा विप्र तरे कयो एक अर्ज सुनोजिये।
बस जाय सहर उपल वसे कोई उपाय करीजिये॥ ५॥

मगा विप्र तिन समय एक मन सक्त अराधे।
सुप्रसन हुई सक्त आराकेन अराधे॥
जद कयो कर जोड़ तवे एक राकस चावो।
माजी जिनने मार वस्तियां सहर वसावो॥
मारियो तवे मरता मुखां करुणाकर वोसे कयो।
मोय नाव नग्र वसे देवी केता वर दियो॥ ६॥

पिंडत जोशी पूछ तुर्त वसी नव तेरी।
वस्ती वसत कर विच करे सेवा सिव केरी॥
देवी रे वरदान पुत्र राजस फल पायो।
जिनरो नाम जैंचंद्र वर्ष पंदरे परनायो॥
निकट राज ओस्यां नगर कै भूप उपल करें रतन सूर।
प्रभु आयो ओसियां नगर अया ईनीज अवसर॥ ७॥

नरखा सहर विचार प्रथम गुरु शिष्य पठायो।
शिष्य फिर आयो पुर सकल आहर किणी न पायो॥

अति हुये उदास परम मन में पिछतायो।
बदे मधुर सुबैन विप्र भोजन बैरायो ॥
सिव धर्म रहा जाने सको जाने न धर्म जैन रो।
सिष्य कयो रतनसूर प्रभुने कोई उपाव धर्म रो करो ॥ ८ ॥
सिष्य तनी कथ सुने केदर गुरु को पज कीनो।
आनो पुनी एक दुये शिष्य जेठो दीनो ॥
जेठे चेले जाय लोग कर पुणी लायो।
कर माया कारणी विष पिलो बनायो ॥
सेठ सुत कवर सुतां सुख सेज में मज देवारों मालीये।
पी गयो सास पिलो पनंग धरती ताते जालीये ॥ ९ ॥

दोवड़ी रती दिराय आण जिराण उतारी।
बड़ा जेठ जेठव पति उपर जदों अधिकारी ॥
गुरु पठायो शिष्य शिष्य किरत कई सारी।
क्यु जलावो जीव ने जिवावे जड़ी हमारी ॥
आनीया कवर गुरु आगले कवरा ने जीवत किया।
एक एक सारे नगर देशल सुत गुरु ने दिया ॥ १० ॥
प्रथम साख पवार साख गेलोत श्रृंगारा।
रिन थम्बर राठोड़ बसु चौवान बड़ाला ॥
भाटी दैया बुलं कावा पडियाला।
वोडौव हाडा जादव गोड़ मोयल गोयल मकराणा ॥
तुअर भूप खरबर तनो लेता पटा लाखरा।
एक दिन इतरा ओसवाल हुआ इतनी साखरा ॥ ११ ॥

सावण पख सुतात संबत् विये न बाईसे।
अर्क वार अठम ओसवाल हुआ उपदेशे ॥
इष्ट चावंड अराधे जड़ी मात कवर जिवायो।
देवी जिनरो दिवस नाम जद साचल पायो ॥
चार सहस राजस कुली श्रावग ज्ञानी समापिया।
रतन सूर प्रभु ओसियां नगर ओसवाल थिर थापिया ॥ १२ ॥

विप्रां कियो विचार एरा शिव धर्म उथापे।
सिताब जांदीया किन करे जुअर के तांई ॥
ऊपर करवा आप चढ़ साचल आई।
सिची आइ बिचै मुनिवर सबे प्रगटसच प्रीतपाल का ॥
जे कदे विरचे ओसवंश तो करसी गट को कालका ॥ १३ ॥

आठो पोहर उनमाद भणां उगडा गुज भटां
राज रे काज मारै रवै ओतो दाणव उठीयो
कुंवरा राव उखी नएको करे दुष्ट जाणि देसो दीयो ॥ ३ ॥
आठ सहस असवार रथ सहस इग्यारह
गामी सहन्ना गुणतीत पायकपालां नहीं पार है।
उठीसह सहस अठारह तीस हाथी मद झरंता
दस सहस दूकान कुलह व्यापार करंता।
पोकरण राव प्रमार रे मेल घरेवार साथे मंदीया
उहड़ पर श्रीमाल लखां बदंता ए ताव दीया ॥ ४ ॥
सेहस उछालां सहित उपल मंडोवर आयो
मंडोवर रा धणी करी महिर देश पूर महिल दिखायो।
पंडित जोशी पूव उरत बसाई नव तोरी
वेद खत्री यां घर बचे करो सेवा शिव के री।
शिव रो राह जाणे सको जाणे नहीं राह जैन रो
शिष्य कहै रत्नप्रभ सूर ने कोईक वीचार धरम रो करो ॥ ५ ॥
शिष्य तणी कथा सुणै कह कह गुर कोप ज कीधो
आणो पूणी एक कयो-शिष्य ने जठै दीपे तठे चलै जाय
लोभ कज पूणी ल्यायो कीनी माया कारमी
विषहर पीणोज बणायौ सेठ
सेठ सुत सुतो सहज मकवपारे मालीये
पी गयो सर्व वीणो प जंग जीरवांण लेजाये जालीये ॥ ६ ॥
बदी रथी वणाय आंण जाखाण उतारी
वड जांन भूप ती उपल सरीखा अहंकारी
जालण वार जतीये आणं दीधी उपल री
जालो क्यूं ओ जीव जीवाण जड़ी वैजेरी
आंणीयो कुंवर गुरु आगला कुवर ने जीवतो कियो
नर एकम थारे नगर देशल सत गुर नें दीयो ॥ ७ ॥
वर्धमान जिन थकी पाट बावने पद लीधो
श्री रत्न प्रभ सूरि नाम ता सदगुर दीधो।
तिण सू अठ दस वरस नगर ओसीया आए
प्रतिवोध वाधाद नांमति हांसा चल पाए।
च्यार लाख चोरासी सहसवर राजकुमार प्रतिबोधिया
श्री रत्न प्रभ सूर उईसा नगर थिर उसवाल थरपिया ॥ ८ ॥

श्रावण पख सितात् संवत वीये बावीसे
अर्कवार आठम उसवंश हुवो
उपदेसे प्रतिबोध्या पमार उपल जिन धर्म में आवो
अथ मगो तसै पांच बोल सहित बँधायों
नव मण जनोउ ब्राह्मण अंसवतर उतारीयो
भोजन जीमाय ब्रह्मा भोजगां किया थित आरम्भ कारीया ॥

इति श्री उसवाल उपतपन्तिः। लिखितं जोधपुर मध्ये साधु बालारामेण विक्रम संवत् १९७१ फाल्गुन सुदि १२ शुक्र दिने। ईसवी सन् १९१५ फरवरी ता० २६। गांव ओलवी परगना बिलाड़ा के ठाकुर भाटो दौलत सिंह जी की पुस्तक से लिखी।

गुटका नं० २---सेवग सुखराम लोडावत के छन्द का नागरी रूपान्तर :

अथ ओसवालों री उतपत लीखते।

श्रीमाल बसे दोय सेठ, भली रीद्ध उहड़ न रूहड़ भाई।
नीनाणू उहड़ रे लाख, रूहड़ सौ लाख सवाई।
ऊहड़ इच्छता उपनी, कोट में महल करीजे।
विनती कीधी वीर सूँ, दाम लाख उधारा दीजे।
बसे कोट थाई बिगर, भोजाई मुख भाखीयो।
मरण भलो धृग मांगीयो, हरिदे में गोसे राखीयो ॥ १ ॥
सहर बसो श्रीमाल, गाउ चौबीस गरद है।
राज करे प्रमार, दुठ राजा देशल है।
देशल पुत्र दस दोय, उपल अणमाने तो अखीजे।
दुजा पटा दुणा, उवाने दोय सेर ज्वार है दीजे।
एक दिवस उपल ने देखीने, कवर ने उहड़ कहै।
पुर सुरी ज कन्हैं कपड़ा प्रगल रावत मो गैडे रहे ॥ २ ॥
सुरज उठो सासती, कँवर नित गोठ कराड़े।
रूड़े हित रावताँ, इसे आवधी अनाड़े।
भड़ बंका अण भंग ठाट घोड़ा गज थटां।
आठ पोहर उदमाद भणाडे पमाड़ा गुण भटां।
राज़ रे काज मारे रखे, ओ तो दानव उठीयो।
कवर परधान ऐको करे, दुष्ट जाण देसोटो दीयो ॥ ३ ॥
अठ सहस असवार, रथ सहज इग्यारह।
गाड़ी सहस गुण तीस, पाला पाईक नहीं पार है।
ओठी सहस अठार, तीस हाथी मद झरंत।
दस सहस दुकान कोड व्यापार करंत।

पोकरण राव जुवार रे, मेल घर बार साथ मंडीया।
सेठ उहड़ ने उपलि सहत छड़तां साथे छंड़ीया ॥ ४ ॥

सहस उचाला साथ, उपल मंडोवर आयो।
मंडोवर रे धणी, दिसपुर मेहल दीखावो।
पंडित जोशी पूछ तुरत वसाइ नव तेरी।
वेद घर खत्रीया बाचीजै, करे सेठ सेवा विप्र केरी।
शिव री राह जाणें शको, नहीं जाणें धर्म जैन रो।
शिष्य कहे रत्न प्रभु सूर ने, कोई क विचार धर्म रो करो ॥ ५ ॥

वर्धमान जिन थकीं, पाट बावने पद लीधो।
श्री रतन प्रभु सुर, नाम वाझ गुरु दीधो।
ताते आठ दस बरस, नगर ओयसां आये।
प्रतिबोधे चामंड नाम, तसाचल पाए।
चार लाख चौरासी हजार घर राजकुली प्रभु वांधीया।
श्री रत्न प्रभु सुर ओयसा नगर ओसवाल थीर थंपीया ॥ ६ ॥

सावण पख श्री तातु संवत वीये वावीसे।
अरकवार (सूर्यवार) आठम ओस वंस हुआ पदेसे।
प्रतबोधे पवार, उपल ज्यानें धरम आये।
अथ गोत पाँच सौ, वायल भो न्यात वँधाये।
मण नव जनोई ब्राह्मणां, अशंक मोल उतारीया।
भोजन जीमाय थापीया, भोजग कर थीत आरंभ काकीया ॥ ७ ॥

प्रथम गोत तातेड़ विये वाफणा वाहदर।
कुहरतीया करणावट, वले मोदक सहोदर।
कुरहद विरहद सीखर श्रीमाल सुजाण है।
डीडू लघु खंडेलवाल वेद पारख वखाणहै।
आदह कन्हा भूर जद्रक कुंभट चोंकट कनोजीया।
श्री वीरधमान सुरपाट अविचल सही ओसवाल थीर थापिया ॥ ८ ॥

लीखतु सेवग शुखराम लोड़ावत।

उक्त दोनों कवित्तों में काफी साम्य है। दोनों में श्रीमाल नगर के राजा देसल दे के राज कुंवर ऊपल एवं रोहण और ऊहड़ दो भ्राता-श्रेष्ठियों का उल्लेख है। ऊहड़ और ऊपल द्वारा मंडोर के पास ओसिया बसाने, रत्न प्रभ सूरि के ओसिया पधारने, ऊपल सहित ४ लाख ८४ हजार क्षत्रियों को 'वीये वाईसे' में ओसवाल बनाने एवं भोजकों की उत्पत्ति का भी उल्लेख है। किन्तु दोनों कवित्तों में कुछ भिन्नताएँ भी हैं और वे बड़ी सार्थक हैं। सेवग सुखाराम के छन्द में जिन प्रथम १८ गोत्रों का उल्लेख

हैं, वे ओसवालों के आदि गोत्र हैं, परन्तु साधु बालाराम के छन्द में बाद के १८ राजपूत गोत्रों का नामोल्लेख है।

नाहर जी के संग्रह में उपलब्ध गुटकों से उक्त छन्दों का मिलान करने पर एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य दृष्टिगोचर होता है। एशियाटिक सोसायटी में उपलब्ध कवित्तों में ओस वंश प्रतिष्ठापक रत्नप्रभ सूरि का स्पष्टतः भगवान महावीर के निर्वाण के ५२ वर्ष बाद आचार्य-पद पर आसीन होना एवं उसके १८ वर्ष अनन्तर ओसिया पधारने का उल्लेख है। इस दृष्टि से ये पद ओसवालों की उत्पत्ति के काल-निर्णय में बहुत सहायक सिद्ध होते हैं।

राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान में उपलब्ध ग्रंथ :

बीकानेर के राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान (State Archives) के हस्तलिखित ग्रन्थ भंडार में ओस वंश से सम्बन्धित अनेक गुटके संग्रहित हैं, जिनमें 'ओसवालां री जाति विगत' (क्रमांक ६५५), 'ओसवाला जात्युत्पत्ति कवित्त' (क्रमांक ११३३४), कवि माईदास रचित 'कूकड़ चोपड़ा री उत्पत्ति' (क्रमांक ११३४०), 'ओसवाल जाति उत्पत्ति वर्णन' (क्रमांक ११९७८) एवं 'इतिहास ओस वंश' (क्रमांक २७०३३) उल्लेखनीय है।

एक सुखद आश्चर्य यह रहा कि इनके ओसवाल जाति-उत्पत्ति सम्बन्धी छन्द, एशियाटिक सोसायटी के गुटकों में उल्लिखित छन्दों से काफी मिलते जुलते हैं। ग्रन्थ क्रमांक ६५५ (लिख्यते वेलानुत्तर दास) के अन्त में लिखित 'उसवाल वंश री उत्पत्ति रा कवित्त' और सोसायटी के साधु बेलाराम एवं सेवक सुखराम लिखित छन्दों में बड़ा साम्य है। रत्न प्रभ सूरि ओसवाल गोत्रों से सम्बन्धित छन्द इस प्रकार है :

वर्धमाण जिण थकी पीढ़ी बारमी पद लीधो
श्री रतन प्रभ सूर नाम ते सत गुर दीधो।
तेसुं अठ दस बरस नगर ओइसा आए
प्रतिबोधी चामुंड नाम ते साचल पाए ॥
चार लाख चौरासी सहस थिर राजपुत्र प्रतिबोधिया
श्रीरतन प्रभसूरि ओईसा आवीया ओसवाल थिरथंपीया।
सावण पख सितात, संवत् बीये बाईसे
अरकवार आठम ओइस वंश हुयो ॥
उपदेशे प्रतिबोध्या प्रेमार उपल जिण धरमां आयो
प्रथम गौत सौ पांच नांवल सहित वंधराईयो।
मण नव जनोई ब्राह्मणां असंयन रे उतारीयो
भोजन जीमाकउ भोजगां कीया थित आरिमकोरीया ॥

× × ×

प्रथम गोत तातेड़ बीया बाफणा बहादुर
कहं तीया कर्णाट बल मोरक सहोदर।
कुरहद विरहट सघन श्री श्रीमाल सुजाणां
डीडुलघु खंडेलवाल वेद पारख बखाणां॥
आदित्यनाथ मूरज कहै कूंभट चींचट कनोजीया
श्री रतन प्रभ जग में अचल, उसवाल थिरथंपीया॥

सम्भवतः एशियाटिक सोसायटी के साधु वेलाराम लिखित छन्द ही सामान्य लिप्यन्तर से राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के ग्रन्थ क्रमांक ६५५ में उद्धृत हुआ है। दोनों के रचनाकारों का नाम-साम्य भी इसी ओर इंगित करता है। 'वर्धमान जिण थकी पीढ़ी बारमी पद लीधो' पद भी एक सा है। सेवग सुखराम लोडावत के छन्द का पद 'वर्धमान जिण थकी पाट बावने पद लीधो' ही अन्य उपलब्ध कवित्तों/छन्दों से अधिक मेल खाता है। 'पीढ़ी बारमी' से सामान्यतः ३०० वर्षों का अन्तर हो जाता है, जो अगली पंक्ति 'ताते आठ दस वरस, नगर ओयसा आयें' को अर्थहीन कर देता है। 'बावन' और 'आठ दस बरस' का जोड़ 'सत्तर' होने से वह 'वीर निर्वाण के सत्तर वर्ष पश्चात्' वाली शास्त्रीय मान्यता से भी मेल खाता है। अतः 'पीढ़ी बारमी' को 'पाट बावने' का ही लिप्यंतर मानना उचित प्रतीत होता है।

ऐसा ही एक और गुटका राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान (State Archives) के हस्तलिखित ग्रन्थ भण्डार में उपलब्ध है, जो विक्रम संवत् १८२८ में लिखा हुआ बताया जाता है। ग्रन्थ क्रमांक ११३३४ के इस गुटके में दो ही पद्य हैं जिनमें ओसवाल संस्थापक रत्न प्रभ सूरि 'वर्धमान जिन थकी पीढ़ी बारह पद लियो' एवं 'तासे आठ दस बरस, नगर उसीया आये' उल्लेख है। साथ ही 'बीये बाइसे' में उपल पमार से ओस वंश की स्थापना का उल्लेख है। उक्त दो पद्य इस प्रकार हैं :

ओसवाल जात्युत्पत्ति कवित्त

कवित्त उसवाल गोत्रां रो

श्री वर्धमान जिन थकी पीढ़ी बारह पद लियो
श्री रतन प्रभ सूरि नाम दाउल गुरु दियो
तासे आठ दस बरस नगर उसीया आए
प्रतिबोधे चामुंड नाम तिहां साच्चुल पाए
चार लाख चोरासी सहस राजकुली प्रतिबोधिया
श्री रतन प्रभु सूरि उस्या नगर उसवाल थिरथपिया ॥१॥

सावण पख सितात संवत बीयै बावीसे
अर्कवार आठम्म उस वंस छवो उपदेसै
प्रतिबोधे पमार उपल जिन ध्रम ह आए
प्रथम गोत पाँच सै बावल भय बोत बंधाए
मण नव जनो उ ब्राह्मणां असंख मेली उतारीया
भोजन जिमाइ थाका भोजग करिथिति आरम्भ का किया ॥२॥

केशरिया नाथ जी मन्दिर-ग्रंथागार के गुटके :

जोधपुर स्थित केशरिया नाथ जी मन्दिर के ग्रंथागार में हस्तलिखित गुटकों का संग्रह है। उनमें एक गुटका डब्बा २९ प्रति क्रमांक-५७ में 'कवित्त उसवालां री उत्पत्ति री' अंकित है। इस गुटके के कवित्त एशियाटिक सोसाईटी कलकत्ता के साधु बालाराम द्वारा लिखित कवित्तों (गुटका नं० १), जिन्हें ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, के लगभग समान हैं। इनमें श्रीमाल नगर के उहड़ श्रेष्ठि के साथ राजा देशल के पुत्र उपल द्वारा नगर छोड़ कर मंडोवर आने एवं ओसिया बसाने, भगवान वर्धमान की 'बारमी पीढ़ी' में पदासीन आ० रत्न प्रभ सूरि कें ओसिया पधारने और उपल कों प्रतिबोध दे जैन बना कर 'संवत बीयै बाईसे' में ओस वंश की स्थापना का उल्लेख है।

केशरिया नाथ जी मन्दिर के ग्रंथागार में एक वृहद गुटका नं० २२ उपलब्ध है जिसमें विभिन्न ओसवाल गोत्रों की उत्पत्ति के कथानक वर्णित हैं। इस गुटके के अन्त में कुछ ओसवाल वंश री उत्पत्ति रा कवित्त भी अंकित है। यह गुटका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। एक विशेष बात यह है कि लिपिकार ने अन्त में 'सं० १८०१ रा बरस रा लिखा इति ओसवाल वंश रा कवित्त सम्पूर्ण' लिखकर इसे प्राचीनतम उपलब्ध गुटका बना दिया है। इसमें भी उपल को 'देसल-सुत' लिखा है और उहड़-उपल के श्रीमाल नगर से चलकर मण्डोवर आने, ओसिया बसाने और रत्न प्रभ सूरि द्वारा प्रतिबोध देने का उल्लेख एशियाटिक सोसाइटी में उपलब्ध गुटकों में वर्णित छन्दों के समान ही है। इस गुटके के दो अंतिम छन्द इस प्रकार हैं :

वर्द्धमान जिण थकी पोढ़ी बारमी पद्द लीधो
श्री रतन प्रभु सुर नाम तेस गुरु दीधो
तेसुं अठ दस बरस नगर ओइसा आए
प्रतीबोधी चामुंड नाम तै साचल पाए
चार लाख चौरासी सहस थिर राजपुत्र प्रतिबोधिया
श्री रतन प्रभु सूर ओइसा नगर ओसवाल थिरथपीया ॥ ८ ॥

सावण पख सितात सम्वत् 'वीयै वाईसे'
अरक वार आठम ओइस वंश हुयो उपदेशे

प्रतिबोध्या पमार ओपल जिन धर्म में आयो
प्रथम गोत सो पांच बाबल सहित बँधायो
मण नव जिनोई ब्राह्मणा असंख नरे उतारीया
भोजन जीमावन भोजगां कीया थित आरिमकारीया ॥ ९ ॥

उक्त दोनों छन्द 'राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के ग्रन्थ' क्रमांक ६५५ के सम्बन्धित छन्दों के समान हैं। इनमें 'पीढ़ी बारमी' के साथ 'आठ दस बरस' बाद ओईसा आने का उल्लेख लिप्यन्तर से वीरात् ७० वर्ष वाली मान्यता की ही पुष्टि करता है एवं साथ ही 'बीये बाईसे' का उल्लेख उसका विक्रम संवत् न होना सिद्ध करता है।

मोहनलाल देसाई संग्रह :

स्व० मोहनलाल दलीचन्द देसाई के संग्रह में कवि उदयरत्न रचित 'पांच पाट रास' नामक एक गुटका उपलब्ध है, जिसमें रत्न प्रभ सूरि द्वारा श्रीमाल, ओसवाल एवं पोरवाल जातियों की स्थापना का उल्लेख है। पूरा छन्द इस प्रकार है :

सीध पुरीई पोहता स्वामी वीर जी अन्तरजामी।
गौतम आदे गहू गाट वीच माहे वही गया पाट ॥
त्रेवीस उपरे आठ बांधा धर्मनो बांट श्री रहपि।
रत्न प्रभू सूरिश्वर राजे आचारज पद छाजे ॥
श्री रत्न प्रभ सूरि राय केशीना केड़वाय।
सात सौ सेका ने समये रे श्रीमाल नगर सनूर ॥
श्री श्रीमाली थापिया रे महालक्ष्मी हजूर।
नेऊ हजार घर नातीना रे श्री रत्न प्रभ सूर ॥
थिर मुहरत करी थापना रे उल्लट घरी ने उर।
वड़ा क्षत्री ते भामा रे नहीं कार दियो कोय ॥
पहलो तिलक श्रीमाल ने रे सिगली नाते होय।
महालक्ष्मी कुल देवता रे श्रीमाली संस्थान ॥
श्री श्रीमाली नाती ना रे जाने विस्वा वीस।
पूरब दिस थाप्या ते रे पोरवाड़ कहेवाय ॥
ते राजा ते समये रे लघु बंधव इक जाय।
उवस वासी रहयो रे तिणे उवेशापुर होय ॥
ओसवाल तिहा थापिया रे सवा लाख घर जाय।
पोरवाड़ कुल अम्बिका रे ओसवाल संचियाय ॥

उक्त छन्द में आचार्य रत्न प्रभ सूरि का भगवान महावीर के निर्वाणोपरान्त ६८ (६० + ८) या ५२ (६० – ८) वें वर्ष में आचार्य पद पर विराजित होने का

उल्लेख है। उन्होंने श्रीमाल नगर में क्षत्रियों को प्रतिबोध देकर श्रीमाल वंश की स्थापना की। उनके नातियों का श्री श्रीमाल गोत्र निर्धारित किया। श्रीमाल नगर के पूर्व दिशा में स्थित प्रदेश के लोगों को प्रतिबोधित किया--वे पोरवाड़ कहलाए। तदनन्तर ओसिया जाकर वहाँ के क्षत्रियों को प्रतिबोध दिया एवं उनका ओसवाल वंश स्थापित किया। श्रीमालों की कुलदेवी महा लक्ष्मी है, पोरवालों की अम्बिका एवं ओसवालों की कुलदेवी सचिया माता है।

अभय ग्रन्थालय में उपलब्ध ग्रन्थ :

बीकानेर में प्रसिद्ध पुरातत्त्व वेत्ता एवं जैन संस्कृति के परम व्याख्याता सर्व श्री अगरचन्द्र जी भंवरलाल जी नाहटा का श्री 'अभय जैन ग्रन्थालय' प्राचीन हस्त लिखित ग्रन्थों का भण्डार है। वहाँ सत्तर हजार ग्रन्थों की पांडुलिपियाँ संग्रहित हैं। ओसवाल उत्पत्ति एवं वंशावलियों के गुटके/कवित्त भी भरे पड़े हैं। विषयवार केटलॉग के अभाव में उन्हें छाँट कर निकालना महाभारत अवश्य है, परन्तु शोधकर्त्ताओं के लिए वह अत्यन्त महत्वपूर्ण भी है।

हस्तलिखित ग्रन्थ (क्रमांक ६४८] में शोभ कवि रचित 'ओश वंश थापन कवित्त' भी ओसवाल जाति की "वीरात् ७० वर्षे" उत्पत्ति स्थापना को पुष्ट करता है। इसमें जिन प्रथम १८ गोत्रों का उल्लेख है, वे भी ८वीं, ९वीं सदी में प्रचलित राजपूत-गोत्र नहीं हैं। पूरा कवित्त इस प्रकार है :

ओश वंस थापन कवित्त

श्रीमदिष्ट देवायतमः

श्री **वर्धमान जिन थकी बरस वावन पद** लिधो,
श्री **रत्न प्रभ सूर** नाम तिहांस गुर दिधो।
ताऊ अठ दस बरस नय उएस्या आया,
प्रतिबोधे चामुंड नाम तिहांसा वलणाया।
तीन लाख चउरासी सहस्र राजपुत्र प्रतिबोधिया,
श्री रत्न प्रभ सूरि उएसनगर उसवाल थिरथपीया।
प्रथम गोत तातेड़ बीय बाफणा बाहदर,
कह तीजो करणावट रांका बुलह मोराक्ष पोहकरणो।
सुहंकर उलहट नै विरहट अखर श्री श्रीमाल वखाणु,
नवम वैद्य मुता भणीजे श्रेष्ठ दसम सुचंती जाणुं।
आदित्य नाग चोरड़िया स भूरि भटेवरा भाई,
लघु चिंचट भाई गोत्र लीगा समदड़ीया।
लघु श्रेष्ठी कुंभट कोचर मीमु कनोजीया,
श्री रत्न प्रभ सूरी उएसनगर उसवाल थीरथपीया॥

बीकानेर के अभय ग्रंथालय में एक और हस्तलिखित ग्रंथ (क्रमांक-७७६५) 'ओसवाल उत्पत्ति कवित्त' उपलब्ध है जिसमें १६ छप्पय के माध्यम से 'ओयसा' नरेश उपलदेव के 'प्रभु रतन ऋषि' से जैन धर्म अंगीकार करने की कथा सविस्तार कही गई है। ये सम्पूर्ण पद्य इस प्रकार हैं :

अथ ओसवालां री उतपत्त रा छप्पय लिख्यते

उपलदेव पवार नगर **ओयसा** नरेश रा
राज रीत भोगवै सकल सचियाय दियो वर
नव लख चरू निधान दियो सोनहियां देवी
इतव उपर अरिगंज कियो सह पाय न केवी
इम करे राज भुगते अदल के इक वर सब दिविया
नहिं राजपुत्र, चिता निपट सकत प्रगट कहकत्थिया ॥ १ ॥

हो राजा, किण काज करै चिंता मन मांहि
थारै उदर सुतन्न वेह अंक लिखिया नांही
जद नृप छै दलगीर दीना वाय क इम दाखै
राज बिना सुत राय, राज म्हारो कुण राखै
जा नृपत पुत्र होसी हमें घणां नरां पण घटसी
होवसी वर्ण संकर जुवा पुव रांध राव लहसी ॥ २ ॥

देवी रैं वरदान पुत्र राजा फल पाये
नाम दियो जयचन्द बरस पनरां परणाये
पिता पुत्र भडया महल सहलां सुख माणै
दिन दिन गढ़ मंह छाख का नीसाण बजाणै
उण समौ आये **प्रभु रतन ऋषि** मास खमण करतो मुरा
सिष मेल वहरवा सहर मे धरम लाभ करतो धुरा ॥ ३ ॥

घर घर सिष फिर गयो पर त आहार नहिं पायो
विपर हेक तिण वार वचन रसड़ो वतलायो
हो सिख, झोली हात मेल, कर काम हमारो
करदयो न संत रोकीयो वले जद साद विहारो
बहु वहर खांड भोजन घिरत ले आये गुरु के अगल
गुरु कह्यो वार लागी घणी कह चेला वृतांत सकल ॥ ४ ॥

सिप मुख सुणे वृतांत सहर स्यूं रिष रिसायो
पिवण सरप कर प्रगट महल कवँरा मिलवायो

पिवण सरप पीबातां कवँर चेतना न काई
सास नहीं बेसास सोग यणप डसँ ताई
हाहाकार हुय देस मे दाग दियण सब चल दीना
पड़ पंच करे पूछ्यो उहम मगे आय उभो मुनी ॥ ५ ॥

सिख मुख सुणे वयाण भवँर राजा भूलाणो
कवण नाम गुरु कठे थए सो दाख ठिकाणो
ओ खेजड़लो अठे कवँर ने लेय पधारो
आहू दीन री अरज साईं मो काज सुधारो
रिष कह्यो विप्र घणा राजरै अधिकारी गुरबुध अनम
जो करै कँवर नै जीवतो तो पूछो प्रुहतांप नम ॥ ६ ॥

नृपत पूछे गुरु विप्र कवँर जीवै किण कारण
ओखद मंत्र उपचार वेद बड़ा कियो विचारण
पण गुण लग न लगार रिष कहियौ सुण राजा
हूँ जीवाऊ कवँर कहूँ सो करस्यो काजा
तिणबार नृपत इम उच्चरे कहो राज सो मेह करां
जो कवँर काज चूकां वचन मोत अफूटी सह मरां ॥ ७ ॥

तद कहियो रिषराज कवँर महलां पधरावो
मंत्र फेर मंत्रीया जाय पोढ़ाय जगावो
खमा खमा कर ख्वास, गीत मंगल चा गाया
बाजा सुभ बाजिया उठ गुरु चरणां आया
मंगलीक कुंकुंम कर गोहली चोक मोतियाँ पूरतदू
पालज्यों दया रिष राज भणव सुधा सिरज़िण धरमवद ॥ ८ ॥

जैन धरम जिण दीह अभंग षरधा आदरियो
मिटी आद मरजाद ध्यांन हिय रिषभ सुं धारियो
विषां हंत बदल्ल मूल अज्ञान ह मानिनी
ऊ आंको आविया राज विग्रह रचानी
नृप विप्र लाग देवौ नहीं कर धरणो तागो कियो
तद हुयो मरण केतां तणो विरलो विप्र जु जीवियो ॥ ९ ॥

तिण हि त्यां कारणे प्रजा राजा पीड़ावे
सा का बंध सहैर मिनख चालता मर जावे
कोई ताप विरोध सत्र पण केय केय संधारै
केय सरप ले सीह जळण पर के ताजारे

तिण परै सहर खाली हुयो बसे जाय भिनमाल लग
अनरथ हुयो गुरु कहे अनम भूख मरे भूखा जिनग ॥ १० ॥

तद कहियो रिखराज याद गुर मेट किया किम
तिण तीतागो कियो तिका सह पाप लगो तुम
अबे हुवे वा बंस जिकां मन्नोज दिवाड़ो
वै देवे आशीष उदोतद होय तुमारो
आणियां विप्र वोहो कर अरज पगे लाग परचानिया
आविया के क गुरु आगला के नह चैन ह आनिया ॥ ११ ॥

आविया गुरु अगल नृपत कर जोर कह्यो वल
थे म्हारा पुजनीक आद नमत णीर ची इल
होणहार आ हुई लीह भवंतणी लुपाणी
हमैं पलट सोध्यांह तिकां सह पाप लगाणी
दे वचन वीच सचियाय देव्रम भोजन मन भाविया
ओयसां हूँत भिनमाल में महपत विप्र मनाविया ॥ १२ ॥

दीध गुरां गोंहली दीध देवां ची सेवा
दिये लाग व्याहरा पुत्र पुत्री परणेवा
उत्तम दान आचार तार दाता रे तरणां
इण विध सूंई सवर किया सेवग पोकरणां
उपलदे राव अवसर तणें साख अठारे सहत सख
ओयेसा थी उँचले वसे जाय भिनमाल वख ॥ १३ ॥

गिरधमान जिण पछे वरस बावन पद लीधो
सिरी रतन प्रभु सूर नाम सत गुर भो दीधो
संवत इक उगणीस नगर ओयसां आये
प्रतभोधे चामंड नाम साचलता पाये
सहस चोरासी तीन लाख राजपुत्र परवोदीया
इम भीनमाल पुर ओयसां ओसवाल थिर थप्पिया ॥ १४ ॥

भिन्नमाल थी उचल जाय ओयेसां वसाणां
छत्री आ रै वंस उठे उसवाल कहाणां
गयो राज धर गई पृथी पलटो पग्मागं
उपल दे हुय असत सत साचल गु पियागं
गुर हुवे रतन प्रभु अकल गमभड के भूपत भूविनां
पोकरणां सेवग तद हुवा ओसवाल तद थपनां ॥ १५ ॥

प्रथम साख पम्मार सीख सीसोद सिंघाला
रणथंभ रा गेड़वसू चहुआण बडाला
सोलंकी सांखला बरल पडियारं बोराण
दस्या भाटी सोट मोयला गोयल मकवाणा
कछवाह गोरम खडवड किता लहुता पटा जु लाखरा
हेक दिन इता मीलन हुआ सूर वड़ा भड़ साखरा ॥ १६ ॥

उक्त पद्य अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। 'ओयसा के राजा उपलदेव को रत्न प्रभ सूरि ने जैन धर्म अंगीकार करवाया'— यह तो मूल स्वर है ही, "रत्न प्रभ सूरि भगवान महावीर के निर्वाण से बावन वर्ष उपरांत सूरि पदासीन हुए"—यह भी पूर्व-स्थापनाओं से मिलता है, किन्तु "वे संवत् ११९ में ओयसा पधारे"—यह स्थापना सर्वथा नवीन है। यहाँ यह दृष्टव्य है कि भगवान ने ३० वर्ष की वय में दीक्षा ग्रहण की थी। इस दिव्य मुहूर्त से भगवान के कुल भ्राता राजा नन्दि वर्धन ने भगवान के दीक्षांत समारोह को भव्यता प्रदान करने के लिए एक संवत् का प्रचलन किया। दीक्षा समय से ४२ वर्ष उपरान्त भगवान का निर्वाण हुआ। भगवान के निर्वाण से ५२ वर्ष पश्चात् यानि नन्दि वर्धन संवत् ९४ में आचार्य रत्न प्रभ सूरि पदासीन हुए एवं ७७ वर्ष पश्चात् यानि नन्दि वर्धन संवत् ११९ में ओसिया पधारे। यह स्थापना अनेक गुटकों के 'बीये बाईसे' वाली उक्ति से मेल नहीं खाती किन्तु जैन ग्रन्थों के "वीरात् ७० वर्षे ओस वंश स्थापना" से काफी मेल खाती है।

'संवत ११९' की मान्यता को पुष्ट करने वाला एक ग्रंथ/गुटका 'श्री अभय जैन ग्रन्थालय' के हस्तलिखित ग्रंथ भण्डार में भी उपलब्ध है। संवत् १८३५ में लिखित इस ग्रन्थ (क्रमांक ५०१) में वर्णित कवित्त इस प्रकार हैं :

अथ उसवालां री उतपत रा कवित्त

श्रावण पष्य (पख) सितात संवत एकै उगणीसै
अरकवार आविम्म उस वंस लओ उदेसै
प्रतिबोधियो परमार उपल जैन धर्म में आयो
प्रथम गौत सौ पांच बावन जिणेसर बंधायो
मणत्रि जनोई असग मिले उतारीयां
भोजन जिमामें थिपे भोजगां करथित आरंभकारीयां ॥ १ ॥

घरि घरि रिष फिर गयो पवित्र आहार न पायो
विप्र एक तिण वार वचन इसै वतलायो
हो रिष झोली हाथ मेल कर काम हमारो कहीय
उण ईण कीयो विप्र पात श्राध दिहा यो, वेहराय

भोजन खीर खांड लायो सीख गुरु ले अगल
गुरु कहीयो बार लागी घणी सीख कहीयो कारण सकल ॥ २ ॥

सीष मुख व्रितान्त सुणि रिषि सहैरं सुंरीसाए
पीयण साप करे प्रगट मेहेल कुँअर रे मेलाए
पीयण सास पीयंते कुँअर चेतना न काई
नहीं सास बेशास सांग हुए राय चिंताई
हाहाकार सैहैर कुँअर मोत हुई सुनी दागदी
अणमिल सब सनी परपंच कर पोरव छंडै मारग रहै ऊभोसुनो ॥ ३ ॥

सीष मुख व्रितंत सुणो भरम राजा भलाणौ
कवण नाम गुंर कठे थैसो वाणि ठिकाणौ
उठो डांड गुर उठै कुँअर ले पधारो
आय वांदे की अरज शांह मो कारज सारो
सीष कहै विप्र राज रै ईधकारी वैगुर अन्तम
जे करे कुँवर ने जीवतो पोह पु बै तिहाने प्रणाम ॥ ४ ॥

नृप हर वैगुर विप्रां कुँवरजी वैं को कारणे
उषध मन्त्र उपचार विप्रे वोह कीआ विचारण
पिण गुण न होई ली गार रिष कहीयो सुण राजा
कुँ जीवाऊ कुँअर कऊँ सो करसो काजा
रिष कहे राय ईम अनुष्ठं कहो राज सो म्हे करां
नृप या पुत्र काजनृका वचन मोत अथवी सी हमरां ॥ ५ ॥

उक्त पद्यों में 'संवत एकै उगणीसैं' में ओस वंश की स्थापना का स्पष्ट उल्लेख है। वाकी कथा अन्य गुटकों के कथानक से मिलती है। कवित्त अधूरा प्रतीत होता है। कवित्त के नीचे 'सं० १८३५ रा वर्ष श्रेय' लिखा हुआ है।

केलड़ी मन्दिर ग्रन्थागार का गुटका :

केलड़ी मन्दिर के ग्रन्थ भंडार में एक हस्तलिखित ग्रंथ/गुटका संग्रहित है। 'ओस वंश उत्पत्ति' नामक इस ग्रन्थ क्रमांक १२७५ से भी 'संवत एके उगणीसे' में ओस वंश-स्थापना की पुष्टि होती है। इसके पहले पांच कवित्त एशियाटिक सोसायटी के गुटका नं० १ साधु वाला राम लिखित छन्दों के समान हैं। बाद के १३ पद अभय ग्रन्थालय के ग्रन्थ क्रमांक ७०६५ के पहले तेरह पदों के समान हैं। इनमें श्रीमाल नगर के परमार राजा देसल दे, उनके पुत्र उहड़ एवं सेठ ऊहड़-उद्धरण की कथा दी है। बाद के पांच कवित्त जिनमें परमार उहड़ का संवत् एके उगणीसे में भगवान महावीर के निर्वाण से ५२ वर्ष बाद मुनि पदारथ श्री रतन प्रभ सूरि द्वारा १८ वर्ष पश्चात्

(यानि भ० महावीर के निर्वाण से ७०वें वर्ष में) प्रतिबोधित हो जैन धर्म अंगीकार करना एवं ओस वंश की स्थापना और उसके प्रथम १८ गोत्रों का निर्माण वर्णित है। ये पाँचों कवित्त निम्न हैं :

खत्री साख अठार तिके ओसवाल कहवाणां
गयो राज धरती गई पृथ्वी पलटी परमारां
साची आई सचीयाय रायमन सोचे बिचारां
एक लाख चौरासी सहस घर राज कुली प्रतीबोधिया
श्री रत्न प्रभ सूर भीनमाल में ओसवाल थिरथपीया ॥ १९ ॥

श्रावण पख सितात संवत ऐके उगणीसे
अर्कवार आठम ओस वंस हुवा उपदेसे
प्रतिबोध्या परमार उपल जिण धरम में आयो
प्रथम गोत्र सो पांच बावन जिनेसर बँधायो
मण त्रण जनोई ब्राह्मणां असंग मिली ने उतारीया
भोजन जिमाय ने भोजगां धर करकथ आरम्भकीया ॥ २० ॥

प्रथम गोत्र सो पांच प्रथम साखां परमारां
साख सीसोदिया सांखला रिणथंभनेरा बोद
बसी चहुआण वडाला सोलंकी ने सांखला
बुरबकीयार बोरांणा दइया भाटी सोढ़
मोहल गोहल मकहवाणा कछवाहा ने गोद खरपंद
कथा लेता पटा जलाखरा
एक दिन इतरा महाजन हुआ सूरा पूरा खत्री सुधसाखरा ॥ २१ ॥

वरधमान जिन थकी बरस बावन पद लीधो
श्री श्री रतन प्रभ सूर नाम श्रीं सद्गुरुजी दीधो
ताहु अठ दस बरस नगर ओसीया आया
प्रतिबोध्या मात चामुंड नाम साचल दे पाया
त्रण लाख चौरासी सहस घर राजपुत्र प्रतिबोधिया
श्री रत्न प्रभू सूर ओसीया नगर ओसवाल तिहाँथापिया ॥ २२ ॥

प्रथम गोत्र तातेड़ प्रगट, बुबकीया बापणा बहादुर
कहे तीजा करणाट बलही ते रीया खांप सुहखर
कुलहट भीरहट सिखा श्री श्रीमाल वखाणा
सासह सचेती सबघर प्रत्यरु सचियाय पुरांणो
आदितयनाग गोत्र भर भाई वलचचेटी

कुंभट ने कनोजीया डीडू लघु श्रेष्ठ
ओसीया नगर ओसवाल तिहाँ थापीया ।।२३ ।।

समस्त उपलब्ध छन्दों पर विहंगम दृष्टि डालने से इतना तो स्पष्ट है कि ओस वंश की स्थापना रत्न प्रभ सूरि नामक आचार्य ने की। ये रत्न प्रभ सूरि भगवान महावीर के निर्वाण से ५२ वर्ष पश्चात् आचार्य पदासीन हुए। १८ वर्ष अनन्तर उन्होंने ओसिया के राजा उपल देव को प्रतिबोध देकर जैन धर्म अंगीकार करवाया एवं ओसवाल जाति की स्थापना की। रत्नप्रभ सूरि वीर निर्माण से ८४ वें वर्ष में स्वर्गस्थ हुए। इन १४ वर्षों में उन्होंने ओसवालों के अनेक गोत्रों की स्थापना की। उन्होंने जिन प्रथम गोत्रों की स्थापना की, वे राजपूत जाति के ८ वीं/९वीं शताब्दी में प्रचलित चौहान, पड़िहार आदि गोत्र नहीं थे। अधिकांश छन्दों में स्थापना काल वीर निर्वाण से ७० वर्ष उपरान्त के साथ हीं एकै उगणीसे या बीये बाईसे का भी उल्लेख है। इन्हें नन्दिवर्धन संवत् माना जाय तो 'एकै उगणीसे' वाली उक्ति शास्त्रीय मान्यता से मेल खाती एवं युक्ति युक्त प्रतीत होती है।

निर्विवाद रूप से ये सभी छन्द १७वीं से २०वीं सदी के बीच लोक गायकों—भाटों, चारणों या भोजकों द्वारा प्रशस्ति स्वरूप रचित हैं। भारत के इतिहास में विभिन्न शासकों द्वारा समय-समय पर विभिन्न संवतों का प्रवंतन किये जाने के भी स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। अस्तु, स्थापना काल के निर्णय हेतु इन्हें निर्णायक न मान कर सहायक ही मानना उचित होगा।

विभिन्न कवित्तों एवं छन्दों में इस महान देश के कोस कोस पर बदलती भाषा और लिपि का अन्तर एवं लिपिबद्ध करने वाले व्यक्ति की व्यक्तिश: त्रुटियाँ हर कहीं दृष्टिगोचर होती हैं।

बही भाटों/चारणों द्वारा वर्णित उत्पत्ति-कथानक :

राजस्थान के सभी प्रदेशों में बही भाटों द्वारा प्रमुख महाजन गोत्रों की वंशावलियाँ बहियों में अंकित की जाती रही हैं। समय समय पर ये बही भाट दान दाताओं की प्रशस्ति में अनेक दूहे और कवित्त उन वंशावलियों में जोड़ते रहते हैं। समय-समय पर श्रेष्ठि परिवारों के बीच वे इन वंशावलियों का वाचन करते रहते हैं। वंशावलियां सुनाने के पूर्व बही भाट ओसवाल वंश की स्थापना-कथा भी विस्तार से सुनाता है। एक समय ऐसे बही भाटों को सभी महाजन प्रश्रय देते थे। बड़े-बड़े धनाढ्य श्रेष्ठियों के आश्रय में भाटों की कई पीढ़ियाँ जीवन यापन करतीं थीं। पूरे गाँव भाटों से भरे होते थे। किन्तु अब न तो ऐसे आश्रय दाता श्रेष्ठि ही रहे, न सीमित साधनों एवं दान पर गुजर-बसर करने वाले लोग ही। भाटों ने भी समय के साथ पुश्तैनी गायकी/वाचन छोड़कर दूसरे धन्धे अपना लिए। अब बही भाटों के कभी कभार ही दर्शन होते हैं।

बही भाटों द्वारा राजस्थानी भाषा में वर्णित ओसवाल जाति की उत्पत्ति-कथा का हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार है :

आबू पर्वत पर यज्ञ के अग्नि कुण्ड से चार क्षत्रिय वीर प्रगट हुए। उनसे क्रमशः चौहान, परमार, पड़िहार एवं सोलंकी राजकुलों का प्रवर्त्तन हुआ। परमार राजा के वंशज धाँधू जी जूनागढ़ (बाड़मेर के पास) के शासक थे। उनकी दो रानियाँ थीं। पहली रावरानी (पटरानी) माधो सिंह जी सोलंकी की कन्या थी और दूसरी रानी भाटी सामंत जोगीदास जी की कन्या थी। पहली रानी से दो सन्तानें हुईं—उपलदेव और जोगा कवँर बाई। दूसरी रानी से भी दो सन्तानें हुईं—काँध राव और साँत राव। उपलदेव युवा हुए तो उनका विवाह कछवाहा क्षत्रिय कुल की कन्या से कर दिया गया।

एक बार युवराज उपलदेव अपने मित्रों सहित सैर करने निकले। रास्ते में मिट्टी के बर्तन लिए पानी भर कर आती हुए पनिहारिनें मिलीं। राजकुमार को चुहल सूझी। यह कह कर कि हमारे राज्य में मिट्टी के घड़ों का क्या काम, सब बर्तन फोड़ दिये। पनिहारिनों के अंगवस्त्र भीग गये। उन्होंने घर जाकर शिकायत की। जहाँ बहन बेटियों की इज्जत नहीं, उस राज्य में नहीं रहा जा सकता—सोच कर बड़े-बूढ़े नगर छोड़कर अन्यत्र जाने के लिए तैयार हो गये। बात राजा के कानों तक पहुँची। राजा ने उन्हें बुला भेजा। कुँअर की अनीति फिर न होने देने का आश्वासन दिया। नए धातु के घड़े राज्य के खजाने से देकर विदा किया। उपलदेव और उसके साथियों ने ऐसी ही चुहल

दूसरे दिन राजपुरोहित की कन्या से की। उसका मिट्टी का घड़ा भी फोड़ दिया। राज-पुरोहित ने भी राज्य से अन्यत्र चले जाने का निश्चय किया। राजा को पता चला—उन्होंने पुरोहित को बुला कर शिकायत सुनी और राजकुमार को 'देश-निकाला' का हुक्म दे दिया। उपल देव काली घोड़ी पर सवार हो १२ वर्ष के लिए 'देश-निकाला' पर चल दिए। उनके संगी साथी, उनके परिवार के लोग एवं कुंअरानी भी उनके साथ हो लीं। तीन सौ गाड़ियों का यह काफिला ओसिया पहुँचा। उस रात उपलदेव को सपने में कुल देवी ने 'परचा' दिया—"यह जगह मत छोड़ना—यहीं नगर बसाओ। पानी की समस्या का हल पलंग के नीचे राजा सगर का बँधाया हुआ कुँआ है। ६० कदम उत्तर में खोदने से माया से भरे ९९ चरू (धातु के बड़े बर्त्तन) मिलेंगे।" सुबह आंख खुलते ही राजकुमार के ललाट पर केसर का एवं अन्य साथियों के ललाट पर कुंकुम का तिलक देख कर उपलदेव को कुल देवी के 'परचे' का विश्वास हो गया। पलंग के के नीचे खुदाई शुरू की। कुआँ मिला। पानी चखा तो 'खारा' निकला। दूसरी रात राजकुमार को कुलदेवी ने फिर परचा दिया—"देवी का चढ़ावा नहीं किया, इसलिए पानी खारा निकला। अब चढ़ावा कर देना—पानी मीठा हो जाएगा। पाँच दस सरदारों के साथ घोड़ी पर दिन भर में जितने गाँव घेर सको, वहाँ तक तुम्हारा राज होगा। पहले देवी का मन्दिर बनाना, फिर अपना महल।" उपलदेव ने वैसा ही किया। सर्व प्रथम देवी का मंदिर बनवाया—देवी ने सच्चा 'परचा' दिया इसलिए 'सचिया माता' कहलाई।

इस बही भाट के अनुसार उपलदेव ने संवत् १८४ में सचिया माता के मन्दिर की नींव रखी। बारह साल में मन्दिर बनकर तैयार हुआ। आगे की कथा इस प्रकार है :

'धांधूजी री दूसरी राणी से जाएडां रो वंश मत चालज्यो, राज मत रहीज्यो, भायां में प्रेम मत रहीज्यो।' वैसा ही हुआ। कांधराव पर राठोड़ों ने हमला कर राज्य छीन लिया।

उपलदेव की दोनों पत्नियों ने सती होने (उपलदेव की लाश के साथ जलने) का निश्चय किया। किन्तु छोटी गर्भवती थीं, अतः सती नहीं हो पाई। ओसिया आकर उसने एक बच्चे को जन्म दिया। उसका नाम भगवान सिंह रखा गया। कुछ वर्ष पश्चात् रत्न सूरी जी महाराज ओसिया आए। वे पूरे चौमासे मास-खमण-साधना रत रहे। शिष्य को कहीं गोचरी नहीं मिलती थी। अन्त में शिष्य एक सुथार के घर पहुँचा—बताया सिंध से आये हैं और कच्छ जा रहे हैं। सुथार ने दया कर गोचरी दे दी। शिष्य जब दूसरे दिन भी गोचरी लेने आया तो सुथार ने हाथ में कुल्हाड़ी पकड़ा दी—जंगल से सूखी लकड़ी काटकर लाने के लिए। इस तरह चार मास किसी तरह बीते। गुरु ने साधना पूरी की—शिष्य को कमजोर पाकर कारण पूछा। शिष्य ने सारा वृत्तांत कह डाला। गुरुजी को क्रोध आ गया। उन्होंने तपोबल से नगर को ही नष्ट करने की ठानी। शिष्य की सलाह पर गुरुजी ने धर्म की प्रभावना के लिए एक दूसरा रास्ता अपनाया। रूई की पूणी को मंत्रबल से सर्प बनाकर राजा पर छोड़ दिया। सर्प ने नाबालिग भगवान सिंह को डस लिया। लोग जब 'बेकुंठी' बनाकर श्मशान ले जा रहे थे तो शिष्य ने उन्हें रास्ते में ही रोक लिया और गुरु के पास ले आया। बारह सामन्तों ने गुरु से बालक भगवानसिंह को पुनर्जीवित करने की प्रार्थना की। गुरुजी ने वचन लेकर उसे मंत्रबल से जीवित कर दिया। सामन्तों और भगवानसिंह ने तत्काल शिव-धर्म छोड़कर जैनधर्म अंगीकार किया। **वही भाटों के अनुसार यह परिवर्तन संवत् बीये बाइसे श्रावण सुदी ८ गुरुवार को हुआ। उन तेरह व्यक्तियों के वंशजों से १३ गोत्र हुए—तातेड़, बाफणा, सामसुखा, बैद, बोरड़, बांठिया, मिनी, संकलेचा, सुरेश गोता, आरा, झाबक, देशवाल, लूंकड़।**

भगवान सिंह एवं अन्य सामंतों ने हिंसा का परित्याग कर दिया। परन्तु सचिया माता को दो बकरों का चढ़ावा अनिवार्य था। गुरु ने उस समस्या का भार अपने ऊपर लिया। तीन दिन तक पूजा नहीं हुई तो देवी क्रुद्ध हो गयीं—गुरु के पास आईं। गुरु के पूछने पर देवी ने महाभोग (बकरों की बली) इशारे से बताया—खड़को, भड़को और डेरो। गुरु ने फतवा दिया—'खाजा रो करो खड़को, खोपरा रो भड़को और मीठी लापसी रो डेरो।' तब से खाजा, नारियल और लापसी ही देवी का चढ़ावा है। देवी ने इसे छल समझ कर श्राप दिया—'तीन दिन में गाँव खाली कर दो।' भगवान सिंह जी ओसिया छोड़कर सांडवा जा बसे और वहाँ कामदार बन गये।

भगवान सिंह का लड़का लाभराज सोजत जाकर बसा। वहाँ के नवाब की बेगम सुलमा का धर्म-भाई बना। एक बार सुलमा की आँखों में पीड़ा हुई। हकीमों की दवा से फायदा न हुआ तो भाई को बुलवाया। भाई पूजा में बैठा था—पूजा में विघ्न होने

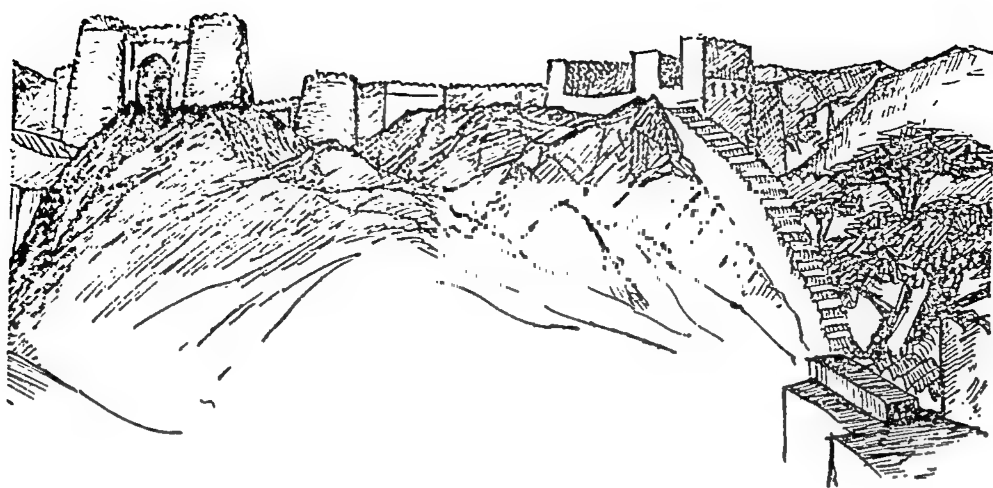
से क्रोध में कह दिया—'आँख में आक का दूध और बालू रेत डाल दो।' इससे तो आँखें फूट जानी चाहिए थी परन्तु देवी ने चमत्कार किया—सुलमा की आँखें ठीक हो गयीं। तब से सारा गाँव लाभराज को वैद्य समझकर उसके पास आने लगा। इस तरह उसके वंशजों का 'वैद' गोत्र हुआ।

उपरोक्त कथा मात्र दंत कथा नहीं कही जा सकती। प्रथमतः इसका आधार जनश्रुति है। यह भाटों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी सामान्य हेरफेर से कही जाती रही है। द्वितीयतः इसे अपरोक्षतः भारत भर के ओसवालों की मान्यता प्राप्त है। तृतीयतः इसके कथानक तथा ग्रन्थगारों में उपलब्ध गुटकों/कवित्तों के कथानक एवं शास्त्रों में वर्णित कथानक में बड़ा साम्य है। ओसिया के संस्थापक क्षत्रिय राजकुमार उपलदेव थे। जैनाचार्य रत्न प्रभ सूरी ने प्रतिबोध देकर उनके वंशजों को जैन धर्म अंगीकार करवाया एवं उनके वंशज ओसवाल कहलाए—ये तत्त्व सभी में समान हैं।

इस कथा के दो तत्व सर्वथा नवीन हैं : एक तो यह कि आचार्य रत्न प्रभ सूरि के प्रतिबोध से जैनधर्म अंगीकार करने वाला उपलदेव नहीं, वरन् उसका पुत्र भगवान सिंह था। दूसरा यह कि उपलदेव ने ओसिया संवत् १८४ के आस पास बसाई एवं भगवानसिंह संवत् २२२ में जैन धर्म अंगीकार कर ओसवाल बने। ये दोनों तत्त्व गुटकों एवं शास्त्रों में वर्णित तथ्यों के विपरीत फिर भी नहीं हैं। भगवान सिंह भी उपलदेव के ही पुत्र थे अतः उपलदेव को ओसवालों का आदि पुरुष कहना उचित कहा जा सकता है।

समय-समय पर विभिन्न संवतों के प्रवर्तन के कारण आचार्य रत्न प्रभ सूरि के भगवान महावीर के निर्वाणोपरांत बावनवें वर्ष में आचार्य-पदासीन होने एवं १८ वर्ष बाद ओसिया में उपलदेव को प्रतिबोध देकर जैन एवं ओसवाल बनाने की मान्य मान्यता को चुनौती भी नहीं दी जा सकती।

वहीं भाट कथा के कुछ पक्ष सर्वथा नवीन हैं। कवित्तों, गुटकों में उपलदेव के भिन्नमाल छोड़ने का कारण मित्र कहड़ की भावज के उपालम्भ को बताया गया है, परन्तु भाट कथा में पनघट की चुहल की वजह से दिए गये 'देश-निकाला' को उपलदेव



ओसवालों की उत्पत्ति का काल-निर्णय | ४

मूल ओसवाल वंश की उत्पत्ति-काल का निर्णय करना, जितना आवश्यक है उतना ही जटिल भी। काल के गर्भ में छिपे इस रहस्य का अनावरण बीसवीं सदी के इतिहास एवं पुरातत्त्व वेत्ताओं के लिए एक चुनौती रहा है। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर समस्त शोध-विवरणों की समीक्षा यहाँ समीचीन है।

भाट एवं चारणों द्वारा रचित गुटकों, छन्दों, कवित्तों एवं बही भाटों के वर्णन, पुरातत्त्व सम्बन्धी शिलालेखों और जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की पट्टावालियों एवं धर्म-ग्रन्थों में वर्णित ऐतिहासिक सामग्री के परिप्रेक्ष्य में इस जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मुख्यतः तीन मत हैं।

पहला मत : 'भाटों का कथन-सम्वत बीये बाईसे'

अधिकांश भाट भोजक, सेवग आदि ओसवालों की उत्पत्ति सम्वत् २२२ में मानते हैं। जाति भास्कर, जाति अन्वेषण, जाति विलास आदि जैनेतर गन्थों में भी "ओसवाल 'बीये बाईसे' में हुए"—लिखा है। ग्रन्थागारों में उपलब्ध अनेक गुटकों, कवित्तों एवं बही भाटों के वर्णन का विस्तृत व्यौरा पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। काल निर्णय की दृष्टि से उपलब्ध गुटकों, कवित्तों की समीक्षा :

संदर्भ	राजा का नाम	मन्त्री का नाम	संस्थापक	सूरि-पदासीन	ओसवाल जाति की स्थापना
नाहर ग्रन्थागार					
(१) कवित्त	उपल	उहड़	—	—	—
(२) भोजकों के दफ्तर	उपल	उहड़	रत्नप्रभसूरि	—	संवत् २२२
एशियाटिक सोसाइटी					
(३) ओसवालां की उत्पत	उपल	उहड़	रत्नप्रभसूरि	वीरात् ५२ वर्ष	वीरात् ७० वर्ष संवत् २२२
(४) साधु बालाराम	उपल	उहड़	रत्नप्रभसूरि	वीरात् ५२ वर्ष	वीरात् ७० वर्ष संवत् २२२
(५) सेवग नुखराम	उपल	उहड़	रत्नप्रभसूरि	वीरात् ५२ वर्ष	वीरात् ७० वर्ष संवत् २२२
राजस्थान प्राच्यविद्या					
(६) ग्रंथ ६५५	उपल	उहड़	रत्नप्रभसूरि	पीढ़ी बारमी	सूरि पद से १८ वर्ष पश्चात् संवत् २२२
(७) ग्रंथ ११३३४	उपल	उहड़	रत्नप्रभसूरि	पीढ़ी बारे	सूरि पद से १८ वर्ष पश्चात् संवत् २२२
मोहनलाल देसाई (८)		—	रत्नप्रभसूरि	वीरात् ६८ या ५२ वर्ष	— —
अभय ग्रंथालय					
(९) ग्रंथ ६४८	—	—	रत्नप्रभसूरि	वीरात् ५२ वर्ष	वीरात् ७० वर्ष
(१०) ग्रंथ ३७६५	उपल	—	रत्नप्रभसूरि	वीरात् ५२ वर्ष	संवत् ११२
(११) ग्रंथ ५०१	उपल	—	—	—	संवत् ११२
देलवाड़ा मन्दिर ग्रंथागार					
(१२) ग्रंथ–१२७५	उपल	उहड़	अरत्नप्रभसूरि	वीरात् ५२ वर्ष	संवत् ११२ वीरात् ७० वर्ष

भाटों, भोजकों, सेवगों आदि के कवित्तों/छन्दों में एक स्वर से उपलदेव को ओसवालों का आदि पुरुष माना गया है। मंत्री या मित्र उहड़ का नाम कुछ में है, कुछ में नहीं। उन्हें प्रतिबोध देकर जैन धर्म अंगीकार करवाने वाले जैनाचार्य का नाम श्री रत्न प्रभ सूरि सभी में एक सा है। अधिकांश छन्दों के अनुसार भगवान महावीर के निर्वाण के ५२ वर्ष पश्चात् श्री रत्न प्रभ सूरि आचार्य पदासीन हुए। इस सन्दर्भ में जिन गुटकों में 'पीढ़ी वारमी' लिखा मिला है, उनके दूसरे पद में 'तास आठ दस वरस नगर ओयसा आए' सबमें प्रायः समान है। अतः 'पीढ़ी वारमी' 'पाट बावने' का ही रूपान्तर लगता है। अधिकांश कवित्तों/छन्दों में ओसवाल जाति का स्थापना समय 'वीर निर्वाण के ७० वर्ष पश्चात्' ही दिया है। साथ ही संवत बीये बाईसे का उल्लेख भी प्रायः सभी में समान मिलता है। अवश्य ही 'वीरात् ७० वर्ष' वीये बाईसे को ही कहने का दूसरा ढंग लगता है।

एक उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि किसी गुटके या छन्द में 'संवत बीये बाईसे' के साथ 'विक्रम' शब्द नहीं मिलता। अतः बहुत सम्भव है 'बीये बाईसे' विक्रम संवत् न होकर अन्य कोई संवत् हो। भारतवर्ष में समय समय पर अनेक संवतों का प्रवर्तन हुआ है। भगवान महावीर के भ्राता नन्दिवर्धन ने भगवान के दीक्षा समय से एक संवत् का प्रवर्तन किया, जो नन्दिवर्धन संवत् कहलाता है। भगवान ने तीस वर्ष की वय में दीक्षा ली एवं बहत्तर वर्ष की वय में निर्वाण को प्राप्त हुए। भगवान के निर्वाण समय से प्रवर्तित संवत् 'वीर संवत्' कहलाता है। भगवान के निर्वाण से ४७० वर्ष पश्चात् सम्राट् विक्रमादित्य ने विक्रम संवत् का प्रवर्तन किया। इस तरह 'विक्रम संवत् २२२' और 'वीरात् ७० वर्षे' के बीच ६२२ वर्षों का अन्तराल है। ईस्वी सन् विक्रम संवत् से ५७ वर्ष बाद एवं दक्षिणी भारत के महाराजा शालिवाहन का शक संवत् १३५ वर्ष बाद प्रवर्तित हुआ। गुप्त संवत् विक्रम से ३७६ वर्ष बाद प्रचलित हुआ। अस्तु २२२ को ईस्वी या शक या गुप्त संवत् मानें तो यह अन्तराल और भी बढ़ जाता है।

'संवत् २१२' और 'वीरात् ७० वर्षे' के समन्वित रूप में सबसे कम अन्तराल उसे नन्दिवर्धन का संवत मानने से रहता है। यति रामलाल जी ने अपने ग्रन्थ 'महाजन वंश मुक्तावली' में 'बीये बाईसे' के भाट कथानक की समालोचना करते हुए लिखा है कि "भाटों का बीये बाईसे विक्रम संवत् नहीं, नन्दिवर्धन का संवत्सर है।" 'वीरात् ७० वर्षे वाली उक्ति को सही मानें तो उस समय (४२ + ७०) ११२ नन्दि संवत्सर आता है। फिर भी यह 'बीये बाईसे' से पूर्णतया मेल नहीं खाता।

भाटों के कुछ कवित्तों (अभय ग्रंथालय के ग्रंथ क्रमांक ७७६५ एवं ५०१) केलड़ी मन्दिर ग्रन्थागार के क्रमांक १२७५ में संवत् ११९ का उल्लेख नन्दिवर्धन संवत्

११२ के निकटतम है, जो वीरात् ७० वर्ष वाली उक्ति से भी मेल खाता है अतः सर्वाधिक सही प्रतीत होता है। 'संवत् ११९' की उक्ति के साथ ही इन पद्यों में 'जैनाचार्य श्री रत्न प्रभ सूरि के वीरात् ५२ वर्ष आचार्य पदासीन होने एवं १८ वर्ष पश्चात् ओसिया में ओस वंश की स्थापना करने का उल्लेख उन्हें और अधिक प्रामाणिकता प्रदान करता है।

भाटों की इस मान्यता की पुष्टि जैन व जैनेतर ग्रंथों के ओसवाल जाति की उत्पत्ति सम्बन्धी तीसरे मत से होती है, जिसमें एक स्वर से इस जाति के वीरात् ७०वें वर्ष में संस्थापित होने का स्पष्ट उल्लेख है। उसकी चर्चा हम आगे करेंगे। नवीं/दसवीं सदी में ओसवालों की उत्पत्ति मानने वाले पुरातत्त्ववेत्ताओं एवं इतिहासकारों के विरुद्ध यह बहुत बड़ा साक्ष्य है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी भाट, भोजकों एवं सेवगों के मुंह से दोहराया जाता रहा है एवं उनकी पुश्तैनी वहियों से प्रमाणित होता है।

'बीये वाईसे' का जग्गा शाह

भाटों/चारणों से एक और लोकप्रिय कवित्त बहुधा सुनने को मिलता है, जो ओसवाल-भूषण शाह जग्गा की प्रशस्ति में कहा गया है। यह कवित्त इस प्रकार है :

आभा नगरी थी आव्यो, जगो जग में भाण।
साचल परचो जब दियो, तब सीस चढ़ाई आण।
जुग जिमाईयो जुगत सूं दीनों दान प्रमाण।
देशल सुत जग दीपतो ज्यारीं दुनिया माने आण।
छूप धरी चित भूप सेना ले आगल चाले।
अड़ब पति अपार, खड़ब पति मिल्या माले।
देरासर बहु साथ खरच, सामो कुण झाले।
घन गरजे बरसे नहीं, जगो जुग बरसे अकाले।
बहि गती साथे घणा, राजा राणागढ़ भूप।
बोले भाट विरदावली, चारण कविता रूप।
जग जस लीनो दान दे, यों जगो मंडपति भूप।
लिखिया सेवग नामडा, पूरे नखत अनूप।
दान दिया लख गाम, लख वलि तुरंग केकाण।
सोनो मो [illegible] सोनिगरा [illegible]।
[illegible]।
[illegible]।

जग्गा शाह आभानगरी का रहने वाला था। संवत् २२२ में उसने संघ निकाल कर जैन तीर्थों की यात्रा की। इस संघ में अनेक राजा, महाराजा, कोट्याधीश एवं यती-सती शामिल थे। अपनी प्रसिद्धि के अनुरूप उसने दान दक्षिणा दी। एक लाख गाय, एक लाख घोड़े, सौ मन सोना, सात सहस्र मोती-मालाएँ एवं अपार चाँदी खरच कर वह संघपति कहलाया। ऐसे मरुस्थल वासियों के लिए जहाँ बादल भी गरज कर चले जाते हैं, शाह जग्गा अकाल-मेघ के समान जीवन दाता था। इसी ओसवाल श्रेष्ठि देशल सुत जग्गा शाह की प्रशस्ति में उक्त कवित्त कहा गया है। इस कवित्त की अंतिम पंक्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'बीये बावीसे भल जागियों यो ओसवाल भूपाला' स्वभावतः दान दाता को लक्ष्य कर उसकी प्रशस्ति में ही कहा गया है।

इससे दो बातें सिद्ध हैं–जग्गा शाह ओसवाल था और वह संवत् २२२ में प्रसिद्धि के शिखर पर था। अगर यह समय विक्रम संवत् २२२ माना जाय तो वीरात् ७० वर्ष संस्थापित ओसवाल जाति ६२२ वर्ष पुरानी हो चुकी थी। इस समय तक ओसवाल आभा नगरी तक फैले एवं इतने समृद्ध हो गये हों कि भाटों की प्रशस्ति के लक्ष्य बने—यह सम्भव है। उस समय के उपकेश वंशीय श्रेष्ठि महा समृद्ध थे एवं दान दक्षिणा देने में अग्रणी थे। इसके प्रमाण जैन कथाओं में उपलब्ध हैं। 'बीये बाईसे' की उक्ति कालान्तर में ओसवाल जाति की उत्पत्ति के साथ भाटों की विरुदावलियों में जुड़ गई। संवत् बीये बाईसे में हुए जग्गा शाह को ओसवाल जाति का प्रतीक स्तम्भ मान कर जाति की उत्पत्ति के छन्दों के साथ 'बीये बाईसे' का प्रयोग हुआ हो—यह भी सम्भव है।

भाटों के कथनों की प्रासंगिकता :

भाट, चारण, भोजक, सेवग आदि कोई पढ़ी लिखी पंडित जमात नहीं है। वे सीधे सादे, अनपढ़, तुक मिला कर सेठ साहुकारों की प्रशस्ति गा कर पेट पालने वाले लोग हैं। उनमें भी कई उच्चकोटि के कवि हुए हैं—यह अलग बात है। प्रशस्ति गायन में अतिशयोक्ति होती है। जो विरुदावलियाँ दान दक्षिणा के लोभ से रची गई हों, उनमें सर्वथा प्रामाणिक तथ्य ढूंढ़ना उचित नहीं होगा। उनमें सत्यांश होता है, इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता। भाटों ने वंशावलियों को अपनी विरुदावली में पिरो कर इतिहास के विशेष पक्ष को संग्रहित रखा है।

भाटों के जो कवित्त/छन्द उपलब्ध हैं, वे कब रचे गये—इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। ग्रन्थागारों में जो गुटके संग्रहित हैं, उनमें कवि या रचनाकार का नाम प्रायः नहीं मिलता। सभी अठारहवीं उन्नीसवीं सदी की लिपि बद्ध रचनाएँ हैं। इनकी संरचना के विश्लेषण से जाहिर है कि सभी पद एक ही कवि या एक ही समय में रचित भी नहीं हैं। पुश्तैनी बही भाट वंशानुक्रम से नये प्रशस्ति पद वंशावलियों एवं

विरुदावलियों में जोड़ते रहते हैं। विभिन्न समय के शासकों का प्रभाव भी उन पर परिलक्षित है। अनेक कवित्तों के प्रथम पद में 'वीरात् ७० वर्षे' का उल्लेख एवं बाद के पद में 'बीये बाईसे' का उल्लेख सम्भवतः इसी ओर इंगित करता है। इसी तरह विभिन्न गुटकों में मूल कथा समान होते हुए भी विवरण-वैभिन्य, उनका जनश्रुति-आधारित होना सिद्ध करता है। कुछ कवित्तों में ओसवालों के मूल गोत्रों का उल्लेख और अन्य में शब्दशः समान कथानक होते हुए भी ९वीं/१०वीं सदी में प्रचलित राजपूत कौमों से संस्थापित ओसवाल गोत्रों का उल्लेख उनके भिन्न-भिन्न रचना काल के प्रभाव का ही परिचायक है। ओसवालों के आदि पुरुष उपलदेव के पिता का वैभिन्य नाम (देशल दे या भीमसेन), कुछ में उनके परमार वंशीय होने का उल्लेख, कुछ में कथा विस्तार हेतु पूणिये सर्प की कथा का समावेश उनके लोकाश्रित एवं लोक रंजनार्थ होने का द्योतक है। अस्तु, अन्य साक्ष्यों के सन्दर्भ से ही उनके कथ्य का उचित मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

भाटों द्वारा वर्णित प्रथम गोत्र :

वही भाटों के अनुसार उपलदेव के पुत्र भगवान सिंह एवं उनके सामन्तों के वंशजों से ओसवालों के जो प्रथम १३ गोत्र बने, वे हैं—तातेड़, बाफणा, सामसुखा, वैद, बोरड़, बांठिया, मिनी, संकलेचा, सुरेश गोता, आरा, श्रावक, देशवाल और लुंकड़। एशियाटिक सोसाइटी, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के गुटकों में जिन प्रथम १८ गोत्रों का उल्लेख है, वे हैं—तातेड़, बाफणा, करणावट, रांका, कुवहट, विरहट, श्रीमाल, डीडू, लघु खंडेलवाल, वेद, पारख, भूरा, कुंभट, आदित्यनाग, चींचट, कनोजिया, मोराक्ष, सीखर। अभय ग्रंथालय के एक कवित्त में खंडेलवाल, डीडू की जगह सुचंती, भटेवरा, चोरड़िया, लीगा समदड़िया, कोचर आदि गोत्रों का उल्लेख किया गया है। अभय ग्रन्थालय एवं नाहर ग्रंथागार के अन्य गुटकों में ओसवालों के जिन गोत्रों का उल्लेख है, वे हैं—परमार, गहलोत, राठौड़, चौहान, भाटी, पड़िहार, यादव, मोयल, मकराणा, सोनगरा, तूअर, सिसोदिया, सोलंकी, सांखला, मकवाणा, कछवाहा, गौड़, सौढ़ आदि।

वही भाटों की वहियों एवं ग्रंथागारों के कुछ गुटकों में तातेड़, बाफणा आदि जिन प्रथम गोत्रों का उल्लेख आता है, जैन शास्त्रों के अनुसार भी सामान्य हेर-फेर से वे ही ओसवालों के प्रथम गोत्र हैं। अढ़ाई सहस्र वर्षो के इतिहास में गोत्रों के नामों में सामान्य हेर फेर स्वाभाविक ही माना जायेगा।

किन्तु कुछ गुटकों में परमार गहलौत, राठौड़, चौहान आदि राजपूत कौमों से ओसवाल बने गोत्रों के उल्लेख ने एक नई समस्या उत्पन्न कर दी।

'माहेश्वर कल्प द्रुम' नामक ग्रंथ में भी ऐसा ही एक कवित्त है :

श्री वर्द्धमान जिन पछे वर्ष बावन पद लीधो
श्री रत्न प्रभु सूरि नाम तास सत गुरुवर दीधो
तास आठ दस बरस नगर ओयशा आए
प्रतिबोधे चामुण्ड नाम तिहां साचल पाए
भीनमाल सूं उठिया जाय ओसिया बसाणां
क्षत्री हुआ साख अठार उठै ओसवाल कहाणां
एक लाख चौरासी सहस्र घर राजकुली प्रतिबोधिया
रत्न प्रभु ओस्या नगर ओसवाल जिण दिन किया
प्रथम साख प्रमार सेस सीसोद सिंगाला
रणथम्भा राठोड़ बंस चउआन वचाला
दइया मोलंखी सोनगरा कछावा धन गौड कही जे
जादम हाड़ा जिंद लाज मरजाद लही जै
खरबरा पाट ओपे खरा लेणा पाटजलाखरा
एक दिवस इतरा महाजन भया सूर बड़ा बड़ी साखरा।

कुछ इतिहासकारों के अनुसार उक्त गोत्रों में से कोई भी गोत्र विक्रम के ४०० वर्ष पूर्व का नहीं है। इन सभी गोत्रों की उत्पत्ति ८वीं शताब्दी के बाद हुई है। कुछ विद्वान इसका यह अर्थ लगाते हैं कि ओसवालों की उत्पत्ति ८वीं सदी के बाद ही हुई होगी। यहाँ वे कवित्त के पहले पद को किंवदन्ति कह कर नजर अन्दाज कर देते हैं। कवित्त के पहले पद के अनुसार ओसवालों की उत्पत्ति भगवान वर्धमान (महावीर) की मृत्यु के ५२ वर्ष बाद श्री रत्न प्रभ सूरि द्वारा आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के १८ वर्ष पश्चात् भीनमाल से उठकर ओसिया में बसे क्षत्रियों के १८४००० घरों को प्रतिबोध देने से हुई। इन दीनों बातों को मिलाने का अर्थ यह लगता है कि जिन क्षत्रियों को रत्नप्रभु सूरि ने ओसवाल बनाया, उनकी जाति कवित्त की रचना के समय इन १८ नामों से जानी या पुकारी जाती थी। कुछ इतिहासकारों ने ऐसे कवित्तों के आधार पर यह फतवा दे दिया कि जब इन १८ गोत्रों की उत्पत्ति ही बाद में हुई तो ओसवालों का जन्म विक्रम के ४०० वर्ष पूर्व कैसे हुआ होगा।

भारतीय इतिहास में विक्रम की ६ ठी शताब्दी के बाद एक समय ऐसा आया जब हिन्दू धर्म के अद्वैत मत-प्रवर्तक आदि शंकराचार्य के जैन एवं बौद्ध धर्मावलम्बियों के विरुद्ध जिहाद के कारण जैन समाज एवं विशेषतः ओसवालों पर विपदा का पहाड़ टूट पड़ा। अनेकों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। समूहों में जैन व बौद्ध श्रमण कत्ल कर दिये गये। अनेकों बौद्ध भारत छोड़कर चले गये। जैन धर्म का राज्याश्रय समाप्त

हो गया। अनेकों ने डर कर धर्म परिवर्तन कर लिया—वैष्णव-सनातन धर्म ग्रहण कर लिया। जैन मन्दिरों एवं तीर्थों को बड़े पैमाने पर नष्ट किया गया।

विक्रम की ९वीं शताब्दी के पश्चात् मुसलमानों के आक्रमणों से वही हाल हिन्दू धर्म का हुआ। हिन्दू मन्दिर और मूर्तियाँ नष्ट कर दी गयीं, हजारों लोगों को जबरदस्ती धर्म परिवर्तन कर मुसलमान बना लिया गया। तब मुसलमान शासकों को प्रभावित कर जैन आचार्यों ने स्थिति बदलने का प्रयास किया। इसलिये विक्रम की ९वीं शताब्दी के बाद जैन आचार्यों का प्रभाव फिर से बढ़ने लगा। मुसलमान शासकों ने भी उनका सम्मान किया। क्षत्रिय कौमें, जिन्होंने जैन धर्मानुयायी तथा ओसवाल गोत्रीय कहलाना छोड़कर हिन्दुओं के नाना गोत्र धारण कर लिये थे, फिर से जैन धर्म अंगीकार करने लगी। जैनाचार्यों ने उनके नये गोत्र प्रस्थापित किये एवं उन्हें ओसवाल जाति में शामिल किया।

कुछ गुटकों एवं कवित्तों में ९वीं शताब्दी में ओसवाल बनी राजपूत कौमों का उल्लेख सर्वथा अपरिहार्य नहीं है। उनके ओसवाल बनने को ओसवाल जाति की उत्पत्ति से जोड़ना दुराग्रह होगा। तथ्यतः भाटों की पदावली या कवित्त एक निरन्तर प्रवहमान लोकाश्रयी धारा रही है। वे उसमें समय सापेक्ष पद जोड़ते घटाते रहे हैं। बहुत सम्भव है कि ये राजपूत कौमों के उल्लेख वाले पद पीछे से जोड़े गये हों।

हम देख ही चुके हैं—गुटके या कवित्त के पहले पद में 'वीरात् ५२ वर्ष' में रत्नप्रभ सूरि के आचार्य पदासीन होने एवं १८ वर्ष पश्चात् राजकुल के क्षत्रियों को प्रतिबोध देकर ओसवाल बनाने का उल्लेख है और अंतिम पद में राजपूत कौमों के ९वीं सदी में प्रचलित गोत्रों को महाजन बनाने का उल्लेख। भाटों के कथन को प्रामाणिक व सच मानना हो तो दोनों पदों को ही सच मानना होगा और उनका समन्वित अर्थ ग्रहण करना होगा। इन दोनों पदों को एक दूसरे के विपरीत खड़ा करना रचनाकारों के प्रति अन्याय होगा। कवित्त के पिछले पद को आधार मानकर पहले पद को चुनौती देना असंगत है।

यदि हम दोनों पदों को सही मान कर चलें तो समन्वित अर्थ यही होगा कि वीरात् ७०वें वर्ष में जैनाचार्य रत्न प्रभ सूरि ने ओसवाल कुल की स्थापना की एवं कालान्तर में उक्त राजपूत कौमें जैन धर्म अंगीकार कर ओसवाल बनीं। दृष्टव्य यह भी है कि इन राजपूत कौमों को प्रतिबोध देकर ओसवाल बनाने वाले आचार्य का नामोल्लेख पद के साथ नहीं है।

बीये बाईसे की उक्ति के अन्य आधार :

बीये बाईसे की उक्ति का एक और विशेष कारण ग्रन्थों में मिलता है। कहते हैं कि संवत् २२२ में खंडेला ग्राम में समस्त वणिज पेशा जातियों का एक सम्मेलन हुआ।

इसमें भाग लेने के लिए १२ प्रमुख बस्तियों (प्रदेशों) के लोग आये। उस समय उनके मूल स्थानों के आधार पर उनका वर्गीकरण किया गया जैसे पाली से आने वालों को पालीवाल, ओसिया से आने वालों को ओसवाल, खंडेला के लोगों को खंडेलवाल, श्रीमाल नगर से आने वालों को श्रीमाली, अग्रोहा के अग्रवाल, पोरवा के पोरवाल नाम से जाने गये। इससे पूर्व ओसवाल महाजन के नाम व कर्म से ही पहचाने जाते थे। सम्भवतः उनके इस नामकरण के आधार पर ही 'बीये बाईसे' में उत्पत्ति की कहावत चारण-भाटों के कवित्तों में चल पड़ी।

एक अन्य सम्भावना यह भी है कि जैनाचार्य श्री रत्न प्रभ सूरि ने वीरात् ७०वें वर्ष में यानि विक्रम संवत् से ४०० वर्ष पूर्व जिन क्षत्रियों को प्रतिबोध देकर जैन बनाया, उनके परिचयात्मक ओहदे, कार्य, ग्राम आदि के हिसाब से विभिन्न गोत्र स्थापित किये, उनका नामकरण किया। खान-पान विवेक के साथ हिंसा त्याग कर जो जैन बने, उनके समूह को 'महाजन' नाम से पुकारा। उएस पट्टण से चल कर जैसे-जैसे ये महाजन अन्य प्रदेशों में फैले, उन्हें 'उएसीय' यानि 'उएस' प्रदेश के कहा जाने लगा। कालान्तर में वे 'ओस' या 'ओसवाल' कहलाये। इस प्रक्रिया में सात आठ पीढ़ियाँ यानि चार पाँच सौ वर्ष लगना सम्भव है। अतः ओस वंश नामकरण 'बीए बाईसे' के आस पास हुआ हो, यह भी सम्भव है।

भाटों के कवित्तों के सर्वमान्य तथ्य :

आश्चर्य जनक तथ्य यह है कि प्रायः २५०० वर्षों के इतिहास में ऐसा कोई भी गुटका या कवित्त नहीं मिलता, जिसमें ओसवाल जाति के आदि पुरुष का नाम उपलदेव के सिवाय कोई अन्य नाम दिया हो या क्षत्रियों के प्रतिबोधक जैनाचार्य का नाम रत्न प्रभ सूरि के सिवाय कोई अन्य नाम दिया हो या इस रूपान्तरण का समय वीरात् ७० वर्ष न देकर अन्य कुछ दिया हो। जहाँ संवत् २२२ या ११९ का उल्लेख है वहाँ 'वीरात् ७० वर्ष' साथ ही दे दिया है मानो इनकी संगति हो। ये तथ्य जाति की उत्पत्ति के काल निर्धारण में निर्णायक तथ्य हैं।

दूसरा मत : इतिहासकारों का कथन—'विक्रम की १०वीं सदी' :

कुछ इतिहासकारों एवं पुरातत्व वेत्ताओं का मत है कि ओसवाल जाति की उत्पत्ति विक्रम की १०वीं शताब्दी के आस पास हुई होगी। उनकी दलीलें :

१. 'मुणोत नैणसी की ख्यात' इस मत का प्रमुख सूत्र है। इसमें आबू के पवारों की वंशावली दी है, जिसमें उपलदेव हुआ। उपलदेव ने ओसिया बसाई। इस उपलदेव पँवार (या परमार) का समय वि० १०वीं सदी है। जिस पड़िहार राजा के यहां उपलदेव ने मंडोवर में आश्रय ग्रहण किया था—उस पड़िहार जाति का समय विक्रम ७वीं शताब्दी के बाद माना जाता है।

२. ओसवाल या ओस वंश का १०वीं सदी के पहले का कोई शिलालेख उपलब्ध नहीं है। ओसवाल गोत्रों से सम्बन्धित जो भी शिलालेख मिलते हैं, वे सभी ९वीं शताब्दी से बाद के हैं। ओसिया के महावीर मन्दिर में एक शिलालेख खुदा हुआ है, जिसमें समय वि० सं० १०१३ लिखा है।

३. जिन १८ राजपूत गोत्रों का सम्यक्त्व ग्रहण करना रत्नप्रभ सूरि द्वारा कहा जाता है---वे उस समय उत्पन्न ही नहीं हुई थी। अधिकांश का अस्तित्व या उत्पत्ति काल वि० सं० १००० के आसपास या बाद का ही ठहरता है।

समर्थक इतिहासकार और उनके तर्क :

इस मत के चार प्रमुख समर्थक हैं और वे चारों ही प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता एवं इतिहासज्ञ हैं। अतः उनके तर्कों की विशद व्याख्या यहाँ देना समीचीन होगा।

प्रसिद्ध पुरातत्व एवं इतिहासवेत्ता श्री पूर्णचन्द जी नाहर का मानना है कि 'प्रथम राजपूतों से जैनी बनाने वाले श्री पार्श्वनाथ संतानीय श्री रत्नप्रभ सूरि नाम के जैनाचार्य थे। उक्त घटना के प्रथम श्री पार्श्वनाथ स्वामी की इस पट्ट परम्परा का नाम उपकेश गच्छ भी न था। क्योंकि वीर निर्वाण के ९८० वर्ष पश्चात् श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण जिस समय जैनागमों को पुस्तकारुढ़ कर रहे थे, उस समय के जैन सिद्धान्तों में और श्री कल्पसूत्र एवं स्थविरावली आदि प्राचीन ग्रन्थों में उपकेश गच्छ का उल्लेख नहीं है। उपरोक्त कारणों से संभव है कि संवत् ५०० के पश्चात् और संवत् १००० के पूर्व किसी समय उपकेश या ओसवाल जाति की उत्पत्ति हुई होगी और उसी समय उपकेश गच्छ का नामकरण हुआ होगा।' (जैन लेख संग्रह-तृतीय खण्ड सन् १९२८)।

सन् १९३४ में प्रकाशित 'ओसवाल जाति का इतिहास' के लेखक श्री सुखसम्पत राय भंडारी ने मुख्यतः बाबू पूर्णचन्द नाहर के उपरोक्त कथन को मान्य ठहराते हुए ओसवालों की उत्पत्ति वि० सं० ५०० के पश्चात् एवं ९०० के पूर्व मानी है। भंडारी जी यह मानकर चले कि "ओसिया नगरी की स्थापना उपलदेव परमार ने की, जो कि किसी कारण वश अपना देश छोड़कर मंडोवर के पड़िहार राजा की शरण में आया था। यह उपलदेव कहाँ से आया था, इसके विषय में कई मत हैं।" आगे उन्होंने परमारों से संबन्धित शिलालेखों के आधार पर यह दिखाने की कोशिश की है कि भीनमाल या किराड़ू---कहीं पर भी इग्यारहवीं सदी के पहले परमारों का अस्तित्व नहीं मिलता, न उनकी वंशावलियों में उत्पलराज नाम के किसी राजा का ही अता पता मिलता है। आबू, जो कि परमारों का जन्म स्थान है, वहाँ के उत्पलराज परमार का समय लगभग विक्रम सं० ९५० है। इस आधार पर वे इस निष्कर्ष पर कूद पड़ते हैं कि 'यही समय ओसिया के बसने का मालूम होता है। इस कल्पना की पुष्टि ओसिया के जैन मन्दिर की प्रशस्ति की लिपि से भी होती है, जो संवत् १०१३ की खुदी हुई है। वहाँ एक भी लेख अभी तक

ऐसा नहीं मिला है, जिसकी लिपि संवत् २०० और ३०० के बीच की लिपि से मिलती हो और जिससे यह बात मानी जा सके कि ओसिया नगरी संवत् २२२ में या इसके पूर्व बसी थी। इसके साथ ही भंडारी जी ने एक और प्रश्न जोड़ा है कि "उपलदेव ने मंडोवर के जिस राजा के वहाँ आश्रय लिया था, उसको सब लोगों ने पड़िहार लिखा है, लेकिन पड़िहारों की जाति विक्रम की सातवीं सदी में पैदा हुई—इसका प्रमाण बाहुक राजा के संवत् ८९४ के शिलालेख (बहुश्रुत घटियाला शिलालेख संख्या ९१८, देखिए 'मारवाड़ के प्राचीन लेख' मुन्शीदेवी प्रसाद) से मिलता है।" भंडारी जी इसी आधार पर फिर एक निष्कर्ष पर पहुंचते हैं 'इस दलील से भी ओसिया नगरी की स्थापना संवत् ८०० या ८५० के करीब हुई होगी।' आगे उन्होंने नवीं सदी के बाद प्रस्थापित राजपूतों की १८ जातियों (परमार, सीसोदिया आदि) की तफसील देते हुए लिखा है 'ये कौमें संवत् २२२ में दुनिया के परदे पर ही मौजूद नहीं थी तो ओसवाल जाति में प्रविष्ट कैसे हुईं।'

भंडारी जी ने अलवत्ता आचार्य हरिभद्र सूरि के 'समराइच्च कहा' ग्रन्थ (संवत् ७५७-८२७) बप्पभट्ट सूरि (संवत् ८००) नामांकित शत्रुञ्जय तीर्थ के शिलालेख, अटरू ग्राम के भैंसाशाह के वि० ५०८ के शिलालेख एवं हूण तोरमाण (संवत् ५९७) के पुत्र मिहिरगुल के अत्याचारों से क्षुब्ध हो विक्रम की छठीं शताब्दी में उपकेश जाति के लोगों का गुजरात पलायन आदि तथ्यों को मान्यता देते हुए यह स्वीकारा है कि 'विक्रम की ६वीं शताब्दी तक तो इस जाति की उत्पत्ति की खोज में किसी प्रकार खींचातानी से पहुँचा जा सकता है पर उसके पूर्व का तो कोई भी प्रमाण हमें नहीं मिलता।'

नाहटा बन्धु (श्री अगरचन्द जी एवं श्री भंवरलाल जी नाहटा) भी ओसवालों की उत्पत्ति ८वीं शताब्दी के बाद मानते हैं क्योंकि 'वीरात् ९८० वर्ष बाद लिखे गये आगमों में उनका कोई उल्लेख नहीं, न कोई इससे पूर्व का शिलालेख उपलब्ध है एवं ओसवालों के साथ उपकेश गच्छ का पूर्व-सम्बन्ध ही काल्पनिक है क्योंकि पार्श्वनाथ का चतुर्याम धर्म संघ पूरी तरह महावीर के श्रमण संघ में विलीन हो गया था।' श्रीमाल जाति के सम्बन्ध में उनका एक मत उल्लेखनीय है—'खरतर गच्छ के प्रतिवोधित गोत्र और जातियाँ' (प्रकाशित सं० १९३०) में नाहटा बन्धु लिखते हैं कि 'गौतम स्वामी, रत्न प्रभसूरि आदि ने पहले श्रीमाल नगर में क्षत्रियों को प्रतिबोधित कर जिस श्रीमाल जाति की स्थापना की थी, वे शंकराचार्य की दिग्विजय के समय शैव हो गये। श्री जिनचन्द्र सूरि (सं० १६६५) ने उन्हें प्रतिबोध देकर पुनः जैन वनाया।' ये रत्न प्रभसूरि वे ही हैं, जो ओसवाल जाति के भी संस्थापक हैं।

'ओसवाल वंश—अनुसंधान के आलोक में' (प्रकाशन सन् १९८१) के लेखक श्री सोहन राज जी भंसाली ने ओसवाल जाति की उत्पत्ति सम्बन्धी सभी मतों की समीक्षा की है।

उनका कहना है कि 'ओसिया बसाने वाले उपलदेव परमार थे। भाटों ने उन्हें परमार माना है। मुँथा नैणसी ने अपनी ख्यात में उपलदेव को किराड़ु आबू का माना है। आबू किराड़ू पर परमारों का राज्य था, अतः यह उपलदेव परमार ही हुआ।' पुरातत्व वेत्ता डा० डी० आर० भंडारकर के एक कथन का उल्लेख उन्होंने किया है कि 'उपलदेव ने परिहार राजा के यहाँ शरण मांगी। परिहार राजा ने उसे 'मेलपुरपट्टण' दे दिया और कहा कि वहाँ शरण लो और उसे पुनः आबाद करो, जो अभी उजड़ चुका है। उपलदेव ने उसे आबाद किया। तब यह गांव ओसिया के नाम से प्रसिद्ध हुआ क्योंकि पुनः उपलदेव ने वहाँ ओसला (शरण) लिया था।' इस उपलदेव परमार का समय विक्रम की ९वीं या १०वीं शताब्दी है। इसके अलावा भंसाली जी के अनुसार 'ओसिया में आज तक ऐसी कोई वस्तु (मुद्राएं, लोहे-ताम्बे के उपकरण, वर्त्तन-भांड़े आदि) खनन करने से नहीं मिली, जो इस नगरी को ८वीं शताब्दी से पूर्व की सिद्ध करती हो। ओसिया के शिलालेख भी ८वीं सदी के बाद के हैं। यहाँ जो इमारतें, स्मारक, छतरियाँ, मन्दिर आदि हैं तथा उनके जो भग्नावशेष भी उपलब्ध हैं, वे वस्तु शैली की दृष्टि से वास्तुकलाविदों के मतानुसार ९वीं से १४वीं शताब्दी के मध्य के ही हैं।"

तदुपरांत १८ गोत्रों वाला तर्क देते हुए भंसाली जी लिखते हैं—'उपकेश गच्छ पट्टावली के अनुसार वीर सं० ७० वर्ष बाद ओसिया में प्रतिबोध पाकर जो क्षत्रिय जैन बने, वे क्षत्रियों के १८ गोत्रों के थे। भाटों के अनुसार २२२ में जो क्षत्रिय जैन बने, वे क्षत्रियों के १८ गोत्रों के थे। इन क्षत्रिय गोत्रों के नाम जो बताये गये हैं, वे हैं—परमार, भाटी, मोयल..... सीसोदिया। उस समय इन क्षत्रिय गोत्रों का अस्तित्व ही नहीं था। क्षत्रियों के इन गोत्रों का उद्भव ७वीं से १२वीं शताब्दी का है।' इसी तरह उपकेश गच्छ के सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि 'अजरी ग्राम (सिरोही) में प्राप्त वि० सं० ११९४ का एक शिलालेख है जो उपकेश गच्छ का प्रारम्भिक या प्राचीनतम लेख माना जाता है।.... विक्रम की १२वीं शताब्दी पूर्व किसी भी शिलालेख, ताम्रपत्र या ग्रन्थ में उपकेश गच्छ का नामोल्लेख न मिलना यह सिद्ध करता है कि उपकेश गच्छ इतना प्राचीन नहीं, जितना पट्टावलीकार ने बताया है।' भंसाली जी ने यहाँ उपकेश गच्छ के इस शिलालेख से अधिक प्राचीन अन्य गच्छों के प्राचीनतम शिलालेखों की एक सूची भी दी है, जिसमें प्राचीनतम शिलालेख वि० सं० १०३९ का संडेर गच्छ का है।

भंसाली जी ने आचार्य रत्न प्रभ सूरि के बारे में भी संदेह उपस्थित किया है। वे कहते हैं 'ओसिया में प्रतिबोध देकर नूतन जैन बनाने वाले आचार्य रत्न प्रभसूरि कौन थे, किस गच्छ के थे! उपकेश गच्छ के अनुसार उनके इस नाम के ६ आचार्य ५वीं शताब्दी पूर्व हो चुके थे। १५वीं शताब्दी में भी इस नाम के उपकेश गच्छीय आचार्य हुए हैं, ऐसा शिलालेखों से प्रतीत होता है (बीकानेर जैन लेख संग्रह १४२० और १४६२)। अन्यान्य

गच्छों में इस नाम के अनेक आचार्य हुए हैं।' फिर 'पार्श्वनाथ परम्परा का जैन आगम साहित्य में कोई स्वतंत्र अस्तित्व पढ़ने को नहीं मिलता।'

अन्त में भंसाली जी हरिभद्र सूरि (सं० ७५०-८२७) के 'समराइच्च कहा' ग्रंथ में उएस एवं उकेश जाति के उल्लेखों को स्वीकार करते हुए लिखते हैं 'बस यही एक ऐसा प्राचीनतम प्रमाण उपलब्ध है, जो इस जाति का अस्तित्व विक्रम की ८वीं शताब्दी तक खींचतान कर पहुँचाता है।'

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि नाहर जी और भंडारी जी जहाँ छठी शताब्दी तक पहुँचते हैं, नाहटा वन्धु और भंसाली जी ८वीं शताब्दी तक भी वेमन खींचतान कर ही पहुँचते हैं। उक्त इतिहासकारों द्वारा उठाए गए मुद्दों की समीक्षा यहाँ अभिप्रेत है।

उपकेशपुर ही ओसिया है और उपकेश वंश ही ओस वंश है :

मनुष्य समाज के इतिहास में स्थान के नाम पर उसके निवासियों का नामकरण बहुश्रुत घटना है। श्रीमाल नगर के वासी श्रीमाल या श्रीमाली, खंडेला के खंडेलवाल, अग्रोहा के अगरवाल, पाली के पल्लीवाल इसी तरह ओसिया के निवासी ओसवाल कहलाने लगे। ओसवाल गोत्रों में तो अनेक ऐसे गोत्र हैं जो मूल निवास के नाम से ही जाने जाते जैसे हैं खींवसर से खींवसरा, चितोड़ से चित्तौड़ा, नागदा से नागदा आदि। ऐसे अनेक गोत्रों का विवरण ग्रन्थ से अन्यत्र उपलब्ध है।

हम जिस गाँव को ओसिया के नाम से जानते हैं, उसका पूर्वनाम उएसपुर था। प्राकृत में उसे उकेशपुर लिखा जाता था तथा संस्कृत में उसे उपकेशपुर लिखा जाता था। यह तथ्य प्राचीन शिलालेखों के आधार पर सिद्ध हो चुका है। ओसवालों की अनेक जातियों के साथ इन तीनों ही नामों का सन्दर्भ शिलालेखों में है। मूल वंश का नाम उएस या उपकेश या उकेश दिया गया है। बाद के शिलालेखों में उन्हीं गोत्रों के साथ 'ओस वंश' का उल्लेख मिलता है। इनका ही अपभ्रंश 'ओस' या ओसवाल हुआ एवं उएसपुर या उकेशपुर या उपकेशपुर का नाम कालान्तर में ओसिया हुआ होगा। यह भी एक सर्वमान्य तथ्य है कि यह रूपान्तरण ११वीं शताब्दी के आसपास हुआ होगा।

उपलब्ध शिलालेखों में 'उकेशपुर' नामांकित प्राचीनतम लेख वि० सं० १०१३ का ओसिया मन्दिर में है। संवत् १०११ के एक शिलालेख में उपकेशीय चैत्य लिखा मिलता है (जैन लेख संग्रह प्रथम खण्ड लेखांक १३४)। संवत् ११७२ के एक शिलालेख में 'उपकेशीय' सावदेव श्रेष्ठि का उल्लेख है (लेखांक ९१७)। 'ओसवंश' नामांकित प्राचीनतम शिलालेख वि० सं० १२१२ का है (मुनि जिन विजय द्वारा संग्रहित लेखांक २४८)।

श्री पूर्णचन्द्र जी नाहर, मुनि जिन विजय जी, नाहटा बंधु आदि पुरातत्व वेत्ताओं ने अनेक शिलालेखों के लेख संग्रहित कर प्रकाशित किये हैं—जिनमें सैकड़ों ऐसे शिलालेख हैं जिन पर ओसवालों के वर्तमान प्रचलित अनेक गोत्रों (जातियों) के साथ उपकेश वंश या उकेश जाति या उएस शब्द जुड़े हुए हैं। 'बीकानेर जैन लेख संग्रह' (लेखक-श्री अगर चन्द जी नाहटा) से कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं :

ग्रंथ लेखांक	शिलालेख संवत्	प्रतिष्ठा कर्त्ता श्रावक	वंश नाम	गोत्र नाम	उद्बोधक आचार्य	सम्प्रदाय या गच्छ
१६९	१३२७	लोला	उकेश	वाहक	चन्द्रप्रभसूरि	रुद्रपल्ली
२१७	१३५४	मूल देवाणी	उपकेश	लिंगा	सिद्ध सूरि	उपकेश
५१४	१४३४	गोपाल	उकेश	माल्हू	जिनराजसूरि	खरतर
६१७	१४६५	सोहड़	उपकेश	बापणा	देवगुप्त सूरि	उपकेश
६८३	१४७६	पद्र	उएस	बप्पनाग	कक्कसूरि	उएस
७६४	१४९२	काला	ओस	नक्षत्र	सागरचन्द्रसूरि	वृहद
७९१	१४९६	डीडा	उसवाल	खांटेड़	विजयचन्द्रसूरि	धर्मघोष
९०५	१५०६	खेता	ओसवाल	दूगड़	रत्नाकरसूरि	वृहद
९६५	१५१३	नगराज	उपकेश	बोथरा	जिनसुन्दरसूरि	खरतर
९७०	१५१३	अमरा	ऊकेश	चोपड़ा	जिनभद्रसूरि	खरतर
९९६	१५१६	देल्हा	उसवाल	पाल्हावत	मुनिसुन्दरसूरि	मलधारी
१००६	१५१७	हाला	ओसिवाल	लिंगा	सर्वसूरि	उपकेश
११५३	१६५२	मेहा	ऊकेश	बोथरा	जिनचन्द्रसूरि	खरतर
१३९१	१६२२	आबू	उपकेश	राखेचा	जिनचन्द्रसूरि	खरतर
१४९०	१८२९	अमीचन्द	ओस	वेगवाणी	जिनलाभसूरि	खरतर

दृष्टव्य यह है कि शिलालेखों में ओसवाल जाति के लिए अनेक नामों का प्रयोग हुआ है यथा—उकेस, उपकेस, ऊकेश, उएस, ओस, उसवाल, ओसिवाल आदि। विभिन्न ओसवाल गोत्रों के उद्बोधक आचार्य भी विभिन्न गच्छों से सम्बन्वित रहे हैं। इससे सहज ही यह अन्दाज लगाया जा सकता है कि किस तरह जाति के नाम का कालान्तर में रूपान्तर हुआ।

इसी तरह ओसवाल जाति का ओसिया से सम्बन्ध जोड़ने वाले भी शिलालेख उपलब्ध हैं। विभिन्न जैन-ग्रन्थों में भी ओसिया के लिये विभिन्न नामों का प्रयोग हुआ है। ओसिया मन्दिर के संवत् १०१३ के शिलालेख 'उकेशपुर' नाम आता है। उपकेश गच्छ पट्टावली में 'उपकेशपुर' शब्द व्यवहृत हुआ है। नाभिनन्दन जिनोद्वार में भी 'उकेशपुर' नाम है।

इस तरह उएस्-उकेस-ओस वंश या पुर का अन्याश्रित सम्बन्ध तो सिद्ध हो चुका है। इसे श्री पूर्णचन्द जी नाहर स्वीकार करते हैं :

'इतना तो निर्विवाद है कि ओसवाल में ओस शब्द ही प्रधान है। ओस शब्द भी उएस शब्द का रूपान्तर है और उएस उपकेश का प्राकृत है। इसी प्रकार मारवाड़ के अन्तर्गत 'ओसिया' नामक स्थान भी उपकेश नगर का रूपान्तर है।'

--जैन लेख संग्रह (खण्ड तृतीय)

उपकेश गच्छ की ऐतिहासिकता :

यही बात उपकेश गच्छ के बारे में निःसन्देह कही जा सकती है। भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा से अपना सीधा सम्बन्ध जोड़ने वाले श्रमणों का गच्छ आज भी विद्यमान है, जो भगवान महावीर के श्रमण संघ में शामिल नहीं हुए, हालांकि चौबीसवें तीर्थंकर के रूप में महावीर को वे स्वीकार करते हैं। उपकेश गच्छ चरित्र एवं पट्टावली आदि प्राचीन ग्रन्थों में इस उपकेश गच्छ का सम्पूर्ण इतिहास सुरक्षित है। पार्श्वनाथ महावीर से २५० वर्ष पूर्व हुए। पार्श्वनाथ २३वें जैन तीर्थंकर थे। उनके प्रथम पट्टधर शुभदत्त गणधर, द्वितीय पट्टधर हरिदत्त सूरीश्वर और तृतीय पट्टधर आर्य समुद्र सूरीश्वर थे।

पार्श्वनाथ प्रभु के चौथे पट्टधर केशी श्रमण (महावीर के समकालीन) के समय इस परम्परा के सन्त निर्ग्रन्थ कहलाते थे। उस समय पार्श्वनाथ परम्परा के हजारों श्रमण विद्यमान थे, जिनमें मुख्य आचार्य थे—केशी (५०० श्रमण), कालशिवेसी (५०० श्रमण), आनन्द (५०० श्रमण), गांगया मुनि (५०० श्रमण)। इनमें से अनेक महावीर के संघ में शामिल हो गये।

पाँचवें पट्टधर आचार्य स्वयंप्रभ सूरि के समय उनके श्रमण संघ को विद्याधर गच्छ के नाम से पुकारा जाने लगा। छठे पट्टधर आचार्य रत्न प्रभ विक्रम संवत् से ४०० वर्ष पर्व उपकेशपुर पधारे एवं वहाँ उन्होंने महाजन वंश की नींव डाली। यही महाजन वंश जब कुछ समय बाद उएस या उकेश या उपकेश वंश कहा जाने लगा तो इनके गुरुओं को उपकेश गच्छीय कहा जाने लगा। हजारों शिलालेखों में उपकेश गच्छ का उल्लेख मिलता है। श्री पूर्णचन्द जी नाहर, मुनि जिन विजय जी प्रभृति विद्वानों ने अपने लेख-संग्रहों में इसके उद्धरण दिये हैं। इस गच्छ की अपनी प्राचीन परम्परा है।

उपकेश गच्छ पट्टावली में पार्श्वनाथ के बाद हुए गच्छ के ८५ पट्टधरों का सम्पूर्ण इतिहास सुरक्षित है। हालांकि जो प्राचीनतम प्रति इस समय उपलब्ध है, उसका रचनाकाल विक्रम संवत् १३९३ है। एक पट्टधर का औसतन समय २५ से ३० वर्ष माना जाता है। इस गणना से यह गच्छ २५०० वर्षों से अधिक प्राचीन ठहरता है। दुविधा यह है कि इस गच्छ के पट्टधरों के नामों की पुनरावृत्ति है—जैसे छठे पट्टधर रत्न

प्रभ सूरि के बाद ३२वें पट्टधर तक यक्ष सूरि, कक्क सूरि, देवसूरि, सिद्ध सूरि एवं रत्नप्रभ सूरि—इन्हीं ५ नामों की पुनरावृत्ति हैं। तत्पश्चात् ८५वें पट्टधर तक बीच के तीन नामों की पुनरावृत्ति है।

इसी से जर्मन विद्वान शूब्रिंग ने पट्टावली को संदिग्ध ठहरा दिया। भारतीय आध्यात्म में नाम बदलने की यह परम्परा साधना का एक अंग मानी जाती रही है। उपकेश गच्छ के छठे आचार्य रत्नप्रभ सूरि ने अपना पट्टाधिकार वीर धवल उपाध्याय को देकर उनका नाम यक्षदेव सूरि रखा। आगे चल कर आचार्यों ने उसी नाम की पुनरावृत्ति की। वैसे ही कक्क सूरि, देव सूरि, सिद्ध सूरि एवं रत्न प्रभ सूरि के नामों की पुनरावृत्ति हुई। ऐसे उदाहरण अन्य सम्प्रदायों में भी मौजूद हैं। हिन्दुओं के आदि गुरु शंकराचार्य विक्रम की छठी शताब्दी में हुए। उन्होंने चार पीठों की स्थापना की चारों पीठों के अधीश्वर शंकराचार्य कहे जाने लगे। यही नहीं कालान्तर में भी वही परम्परा चलती रही एवं आज भी उन्हें शंकराचार्य के नाम से ही पुकारा जाता है। जैनों के श्वेताम्बर सम्प्रदाय के खरतर गच्छ में १६वें पट्टधर श्री जिनचन्द्र सूरि इतने प्रभावशाली हुए कि उनके बाद हर चौथे पट्टधर का नाम उन्हीं के नाम पर जिन चन्द्र सूरि रखा जाता रहा है। गुरु-शिष्य परम्परा में नये नामकरण का बहुत महत्त्व माना गया है। तब यह भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि उपकेश गच्छ चरित्र एवं पट्टावली के अनुसार इस परम्परा में श्री रत्नप्रभ सूरि नाम के अनेक आचार्य हुए हों। प्रथम रत्नप्रभ सूरि का समय वि० सं० से ४०० वर्ष पूर्व है।

श्री सोहनराज जी भँसाली, नाहटा वंधु एवं श्री पूर्णचन्द जी नाहर—तीनों विद्वानों ने उपकेश गच्छ का अस्तित्व या उद्भव विक्रम की ९वीं/१०वीं शताब्दी से पूर्व नहीं स्वीकारा। उनका कहना है कि इससे पूर्व के किसी शिलालेख या ग्रंथ में उपकेश गच्छ का उल्लेख नहीं है। एक और तर्क वे देते हैं कि 'पार्श्वनाथ की परम्परा के सभी श्रमण महावीर के संघ में शामिल हो गये थे, फिर उपकेश गच्छ आया कहां से ? उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिलता। श्वेताम्बर या दिगम्बर परम्परा के अनेक दिग्गज विद्वान हुए, पर किसी ने उपकेश गच्छ का उल्लेख नहीं किया। (ओसवाल वंश-अनुसंधान के आलोक में—लेखक श्री सोहन राज भंसाली)। इसी तरह के तर्क श्री पूर्णचन्द नाहर ने 'जैन लेख संग्रह-तृतीय खंड' की प्रस्तावना में दिये हैं एवं एक चौंकाने वाले नतीजे पर पहुँचे हैं—'सम्भव है वि० सं० ५०० के पश्चात् और १००० के पूर्व किसी समय उपकेश जाति की उत्पत्ति हुई होगी और उसी समय से उपकेश गच्छ नामकरण हुआ होगा।'

शिलालेखों या ग्रन्थों में उल्लेख न होने के आधार पर उस गच्छ या जाति के अस्तित्व को स्वीकार न करना भ्रामक एवं गलत प्रतीत होता है। शिलालेखों एवं ग्रंथों की प्राचीनता से उन तथ्यों की पुष्टि तो की जा सकती है, पर साहित्यिक मान्यों ने

पुष्ट इतिहास को नकारना उचित नहीं। एक समय पाश्चात्य विद्वान महावीर के पूर्व वर्ती किसी तीर्थंकर को ऐतिहासिक पुरुष नहीं मानते थे एवं उन्हें संदिग्ध बताते थे। पर आज स्थिति पलट गई है। पार्श्वनाथ ही क्यों, अरिष्ट नेमि एवं नेमिनाथ भगवान की ऐतिहासिकता असंदिग्ध स्वीकारी जा चुकी है। तत्कालीन कोई शिलालेख या ग्रन्थ तो अब भी नहीं मिलता। वैदिक परम्परा के किसी भी ग्रन्थ में भगवान महावीर का नामोल्लेख नहीं है। इससे क्या उनकी ऐतिहासिकता संदिग्ध हो जाती है ?

पार्श्वापत्यिक श्रमणों के विलय का प्रश्न :

प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी संघवी के अनुसार पार्श्वनाथ परम्परा के समस्त श्रमण महावीर के श्रमण संघ में शामिल नहीं हुए थे। पंडित जी ने अपने प्रबन्ध 'भगवान पार्श्वनाथ की विरासत' (ग्रंथ—चार तीर्थंकर) में लिखा है कि महावीर पार्श्वनाथ परम्परा में ही दीक्षित हुए थे। आचारांग सूत्र में महावीर के माता-पिता को पार्श्वापत्यिक कहा गया है। महावीर को पार्श्वनाथ परम्परागत आचार-विचार श्रुत विरासत में मिले। उन्हें अपना कर अपने जीवन के द्वारा उनका संशोधन परिवर्धन महावीर ने किया। केशी श्रमण एवं इन्द्रभूति गौतम के संवाद (उत्तराध्ययन सूत्र) का फलितार्थ 'चार याम के बदले पञ्च याम धर्म' एवं 'सचेल (सवस्त्र) धर्म की जगह अचेल धर्म' को उत्तर युग की आवश्यकता और लोक हितकारी जानकर ही केशी महावीर के श्रमण संघ में शामिल हुए। भगवती सूत्र में एक उल्लेख आता है तुंगीया नगरी में ५०० पार्श्वापत्यिक श्रमण पधारे एवं उन्होंने चार याम धर्म का उपदेश दिया। यह जानकर इन्द्रभूति गौतम ने महावीर से पूछा—'क्या ये पार्श्वापत्यिक स्थविर प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ हैं ?' महावीर का स्पष्ट उत्तर था—'ये समर्थ हैं। उन्होंने जो उत्तर दिया, वह सच है। मैं भी वही जवाब देता।' पण्डित जी ने स्पष्ट शब्दों में माना है कि भगवती सूत्र की इस गाथा से नहीं लगता कि वे पार्श्वापत्यिक श्रमण महावीर संघ में शामिल हुए होंगे।

पं० सुखलालजी की तरह पं० दलसुख मालवणिया ने भी 'जैन प्रकाश' में प्रकाशित अपने लेख में यही स्थापना की है कि पार्श्वापत्यिक श्रमण महावीर के श्रमण संघ में शामिल नहीं हुए।

अब तो इतिहास के प्रसिद्ध कलिंग सम्राट् मेघवाहन खारवेल के खंडगिरि गुफाओं (उड़ीसा) में प्राप्त ईसवी पूर्व १७३ के सुप्रसिद्ध शिलालेख से यह सिद्ध हो गया है कि वे जैन सम्राट् पार्श्वापत्यिक परम्परा से सम्बन्धित थे (चार तीर्थंकर—ले० पं० सुखलाल संघवी)।

विक्रम की ५वीं सदी में जैनों में चैत्यवासी परम्परा प्रचलित थी। इनमें पार्श्वनाथ प्रभु की परम्परा के चैत्य भी थे। वि० सं० ७२३ में उद्योतन सूरि हुए, जिनके ८४

शिष्यों के ८४ गच्छ थे। पं० हीरालाल हंसराज ने श्री जैन गोत्र संग्रह (१९२३) में
उनकी नामावली दी है। इन ८४ गच्छों में एक उपकेश गच्छ भी था। श्वेताम्बर
सम्प्रदाय के श्रमणों से पार्श्वापात्यिक श्रमणों की समानता दोनों के श्वेत वस्त्रों में समाहित
है। जिस तरह भगवान महावीर के समय अनेक पार्श्वापात्यिक श्रमण महावीर के संघ
में शामिल हुए, उसी तरह उपकेश गच्छ भी श्वेताम्बर आचार्यों के प्रभाव में
रहा हो—यह सम्भव है। वि० सं० ७७५ में शंखेश्वर गच्छ के तीसरे पट्टधर श्री उदय
प्रभ सूरि ने भिन्नमाल के राजा भाण की साक्षी एवं ८४ गच्छों के जिन आचार्यों की
सही से मर्यादाएँ बाँधी, उनमें एक उपकेश गच्छीय श्री सिद्ध सूरि भी थे।

विक्रम संवत् १०११ के एक उपकेशीय चैत्य का जिक्र पूर्णचन्द जी नाहर ने
अपने ग्रन्थ जैन लेख संग्रह में भी किया है। श्रमण जन्त्र-तन्त्र-मन्त्र, ज्योतिष, औषधि,
उपचार, चमत्कार आदि का सहारा लेने लगे। चैत्य इसके प्रमुख केन्द्र बन गये। आचार
शिथिल हो गये। आचार्य राजाओं के आश्रय में जीने लगे एवं उनके उत्थान-पतन में
हिस्सा लेने लगे। चैत्यवासी परम्परा की समाप्ति इग्यारहवीं सदी में खरतर गच्छ के
प्रादुर्भाव से मानी जाती है। विक्रम संवत् १०७४ में चैत्यवासी अग्र नेता सुराचार्य
पंचाक्षरा पार्श्वनाथ चैत्य के मुख्य अधिष्ठता थे। यों तो चैत्यवासी परम्परा के विरुद्ध
आन्दोलन छेड़ा हरिभद्र सूरि ने, परन्तु उत्कर्ष पर पहुँचा जिनेश्वर सूरि के समय। पाटन
के राजा दुर्लभराज की सभा में हुए शास्त्रार्थ में जिनेश्वर सूरि ने सुराचार्य को परास्त
किया। राजा ने सूरि जी का 'तमे खरा छो' कहकर अभिनन्दन किया। यहीं से
वि० सं० १०७४ में खरतर गच्छ का प्रारम्भ हुआ।

जैन दर्शनविद् डा० सागरमल जैन ने अपने आलेख 'अर्हत् पार्श्व और उनकी
परम्परा' (श्रमण-अप्रैल-मई १९८८ का क्रोड़ पत्र) में एक और शंका उपकेश गच्छ
के सम्बन्ध में उठाई है—"रत्न प्रभ सूरि ने पार्श्वापत्य परम्परा के होकर भी पार्श्व के
स्थान पर महावीर के मन्दिरों का निर्माण क्यों कराया ?" यह बहुत ही महत्वपूर्ण प्रश्न
है। इसके उत्तर में अन्य अनेक प्रश्नों के समाधान निहित हैं। इस सम्बन्ध में विचार
करते हुए एक बार तत्कालीन परिस्थितियों में लौट चलना होगा।

पार्श्व एवं महावीर की धर्म परम्परा का परस्पर सम्बन्ध :

भगवान महावीर का जन्म विक्रम संवत् से ५४२ वर्ष पूर्व हुआ एवं निर्वाण
४७० वर्ष पूर्व। पार्श्व प्रभु का निर्वाण आगमानुसार महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष
पूर्व हुआ यानि विक्रम संवत से ७२० वर्ष पूर्व। विक्रम संवत् से पूर्व इस काल का कोई
भी अभिलेखीय साक्ष्य नहीं मिलता—न पार्श्व से सम्बंधित, न ही महावीर से सम्बन्धित।
साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर यह प्रायः मान्य हो चुका है कि महावीर पार्श्वापत्य
परम्परा में ही दीक्षित हुए थे। उनके माता-पिता पार्श्वानुयायी थे (आचारांग–२/१५/२

महावीर ने दीक्षा के समय एक वस्त्र (शाटक) ग्रहण किया था (श्रुतस्कंध–१५।७।६६)। पाली त्रिपिटक 'मज्झिम निकाय' में पार्श्वापत्य श्रमणों के लिए 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग हुआ है एवं उन्हें एक 'शाटक' (सचेल) कहा गया है। इसका अर्थ है—महावीर से पूर्व पार्श्व प्रभु के सचेल निर्ग्रन्थ श्रमणों की परम्परा मौजूद थी।

भगवान महावीर के समय 'आजीवकों' की एक और परम्परा कायम थी, जो अचेलता (नग्नता) की प्रतिपादक थी एवं जिसका प्रतिनिधित्व मंखलि गोशालक कर रहे थे। आचारांग सूत्र के कथनानुसार (१।९।४) महावीर प्रवज्या ग्रहण करने के एक वर्ष बाद अचेल (नग्न) हो गये थे। उत्तराध्ययन सूत्र (२३।१३) में महावीर को अचेलधर्म का प्रतिपादक बताया गया है। वे स्वभावतः नग्नता को उपलब्ध हुए या महावीर ने आजीवक परम्परा एवं सिद्धांत के अनुरूप अचेलता स्वीकार कर ली। डा० हरमन जेकोबी ने The Sacred Books of the East (Vol.xlv) में ऐसी सम्भावना व्यक्त की है।

पार्श्वापात्यिक-दीक्षा एवं ज्ञानार्जन के बाद भगवान महावीर ने पार्श्व की परम्परा में पर्याप्त संशोधन किये। परन्तु ये सभी संशोधन मूलतः सैद्धान्तिक न होकर साधनागत व्यवस्था से सम्बन्धित थे। जैसे पार्श्व के चातुर्याम धर्म को महावीर ने पंच याम धर्म में बदल दिया। पार्श्व के चार आयामों में एक परिग्रह था। सभी विचारक यह मानते हैं कि प्राचीन समय में स्त्री को सम्पत्ति माना जाता था। परिग्रह के त्याग में ब्रह्मचर्य भी निहित था। पार्श्व के समय उनके सिद्धांतों में स्त्री-भोग की छूट कदापि न थी। साहित्यक अभिलेखों में ऐसा उल्लेख कहीं नहीं मिलता। सूत्रकृतांग में उपलब्ध सूचनाओं के अनुसार कालान्तर में कुछ श्रमण शिथिलाचार के शिकार हो गये थे। वे स्त्री रखने को तो त्याज्य मानते थे परन्तु स्त्री-भोग को निर्दोष मानने लगे थे (सूत्रकृतांग–१।३।४।९-१०)। अतएव महावीर को ब्रह्मचर्य का स्वतंत्र महाव्रत बनाना पड़ा। इसी तरह रात्रि-भोजन निषेध, प्रतिक्रमण, सामयिक एवं छेदोपस्थापनीय चरित्र विभेद, औद्देशिक आहार निषेध, मास कल्प, चतुर्मास आदि व्यवस्थाएं भी आचार से सम्बन्धित थीं, जो तात्कालीन परिस्थितियों में महावीर को आवश्यक लगीं।

किन्तु कहीं भी पार्श्व एवं महावीर की परम्परा में दर्शन या विचार भेद नजर नहीं आता। अपितु महावीर ने जगह-जगह पार्श्व को पुरुषादानीय एवं पुरुष श्रेष्ठ कह कर प्रतिष्ठा दी एवं पार्श्व की मान्यताओं से अपनी सहमति प्रकट की। (भगवती सूत्र—२।५।११०)। पार्श्वापत्य श्रमणों और महावीर या उनके श्रमणों के बीच हुई चर्चाओं के उल्लेख अनेक सूत्रों में उपलब्ध हैं। ऐसी ही भगवती सूत्र की चर्चा में महावीर ने पार्श्व की मान्यताओं के आधार पर ही लोक के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने एवं पार्श्वापत्य श्रमणों के पंचमहाव्रत धर्म अंगीकार करने का उल्लेख है (भगवती सूत्र–५।९)। एक अन्य गाथा में तुंगिया नगरी के पार्श्वापत्य स्थविरों की संयम और तप के फल सम्बन्धी पार्श्व-मान्यता को भगवान महावीर द्वारा 'यथार्थ एवं पूर्ण सत्य' कह कर पुष्टि का उल्लेख है (भगवती

सूत्र—२/५) महावीर ने पार्श्व की सभी तात्त्विक एवं दार्शनिक मान्यताओं को यथार्थ मान कर यथावत स्वीकार किया। पाली त्रिपिटक में पार्श्वापत्य सच्चक द्वारा सिद्धांत चर्चा में महावीर को परास्त करने का उल्लेख है (मज्झिमनिकाय—१।३५।१।१)। आगम ग्रन्थों में से एक 'ऋषिभाषित' से स्पष्ट हो जाता है कि महावीर द्वारा प्रतिपादित अस्तिकाय और अष्टविध कर्म ग्रन्थियों की मान्यता मूलतः पार्श्वापत्यों की ही थी। भगवती सूत्र में अनेक जगह पार्श्व की सैद्धांतिक अवधारणाओं का महावीर ने 'अहं पि णं गोयमा' (मैं भी यही मानता हूँ)। कह कर समर्थन किया है (भगवती सूत्र—२०।५।११०)।

इससे स्पष्ट है कि महावीर के पूर्वानुवर्ती काल में सचेल एवं अचेल दोनों ही तरह के जिन-श्रमण विद्यमान थे। सचेलता सम्भवतः साधक अवस्था की द्योतक थी एवं नग्नता साधक के ज्ञान को उपलब्ध हो जाने की सूचक। जिन परम्परा इन दोनों ही अवस्थाओं का संगम थी। उक्त तथ्यों के आधार पर यह कहना अधिक उचित होगा कि महावीर ने पार्श्वनाथ के धर्म को अंगीकार किया। वे पार्श्वनाथ की श्वेताम्बर परम्परा के वाहक बने। पार्श्वनाथ के चतुर्याम धर्म में जो भी संशोधन महावीर ने किये, वे काल-भाव की दृष्टि से साधना गत एवं व्यवस्था गत ही थे, सैद्धांतिक नहीं। सभी श्वेताम्बर सम्प्रदाय निश्चित रूप से पार्श्वनाथ की ही सचेल परम्परा के अनुयायी हैं। उनका मूल स्रोत पार्श्व ही है। साधना के उच्च स्तर पर जिस अचेलता का प्रतिपादन महावीर ने किया, उसे परवर्ती दिगम्बर आचार्यों ने साधना का मुख्य अंग बना लिया। इस दृष्टि से दिगम्बर सम्प्रदाय महावीर की साधना पद्धति के अधिक निकट है। डा० हरमन जेकोबी ने ऐसी ही सम्भावना व्यक्त करते हुए कहा है कि जैनों में जो श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों का मतभेद है, वह मूलतः पार्श्वापत्यों एवं महावीर के अनुयायियों का मतभेद है।

साहित्यक अभिलेखों में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं, जिनसे तत्कालीन पार्श्वापत्य श्रमणों एवं गच्छों का महावीर एवं उनके श्रमण संघों से परस्पर आदान प्रदान, सहयोग एवं मेल जोल परिलक्षित है। सूत्र कृतांग, आचारांग, उत्तराध्ययन भगवती, निरयावलिका, आवश्यक नियुक्ति आदि ग्रन्थों में पार्श्व के अनुयायी श्रमण श्रमणियों एवं गृहस्थ उपासक-उपासिकाओं के भी उल्लेख हैं। सूत्रों में उनके महावीर की वन्दनार्थ आने का भी उल्लेख है। पार्श्वापत्यों एवं महावीर के श्रमणों के बीच अनेक दार्शनिक प्रश्नों को लेकर गम्भीर चर्चाएं होती रहती थीं। ऐसे परस्पर-संवादों के अनेक उल्लेख सूत्रों में है। व्याख्या प्रज्ञप्ति में गांगेय अणगार से महावीर की चर्चा का उल्लेख है (९।३२)। भगवती सूत्र में कालस्यवैशिक पुत्र से वाणिज्य ग्राम तथा तुंगिया नगरी में हुई चर्चाएँ दी गई हैं (१०।९, ५।९, २।५)। इन चर्चाओं से साफ जाहिर है कि वे सभी पार्श्वापत्य श्रमण

महावीर के श्रमण संघ में शामिल नहीं हुए थे। 'राजप्रश्नीय' में पार्श्वापत्य केशी मुनि द्वारा राजा प्रदेशी को उपदेश दिये जाने का उल्लेख है। उत्तराध्ययन में केशी मुनि एवं गौतम गणधर के बीच हुए संवाद का उल्लेख है। आवश्यक चूर्णि में अनेक पार्श्वापत्य श्रमणों के उल्लेखों के अतिरिक्त ऐसी चार पार्श्वापत्यीय परिव्राजिकाओं–सोमा, जयन्ती, विजया एवं प्रगल्भा का उल्लेख है, जिन्होंने अपने प्रभाव से महावीर और गोशालक को वहाँ के राजकीय अधिकारियों द्वारा गुप्तचर समझ कर पकड़े जाने पर छुड़वाया था।

उक्त उल्लेख पार्श्वापत्यों एवं महावीर के श्रमणों के परस्पर सहयोग एवं उनके स्वतंत्र अस्तित्व दोनों की ही पुष्टि करते हैं।

डा० सागरमल जैन ने भी उक्त आलेख में यह स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'पार्श्व के अनुयायियों का बहुसंख्यक वर्ग महावीर के अनुयायियों के द्वारा पार्श्व को अपना पूर्ववर्ती तीर्थंकर स्वीकार करने के साथ ही उनकी परम्परा में आ गया होगा। जैन धर्म में श्वेताम्बर परम्परा का जो विकास हुआ हैं, हमारी दृष्टि में उसके पीछे मूलतः पार्श्वापत्यों का ही अधिक प्रभाव रहा हो।'

यह भी एक तथ्य है कि महावीर के समय में महावीर का वर्चस्व था। वे प्रभाव शाली थे। अतः जब उन्होंने पार्श्वनाथ को 'जिन' स्वीकर कर लिया एवं जिन रूप में उनकी अभ्यर्थना की, तब पार्श्व के श्रमण उनसे प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकते थे। तत्कालीन सभी सम्प्रदायों पर उनका प्रभाव पड़ा। हालाँकि अचेलता तब भी आजीवकों में विद्यमान थी, किन्तु परवर्ती युग के लिए अपने प्रभाव के कारण महावीर ही उसके प्रतिपादक घोषित हुए और आजीवकों का प्रभाव शेष हो गया। ऐसे समय में पूर्णवर्ती श्वेताम्बर परम्परा के श्रमण एवं सम्प्रदाय महावीर से प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकते थे। उन्होंने भी महावीर को 'जिन' स्वीकार कर उनकी अभ्यर्थना की। पार्श्वापत्य उपकेश गच्छ के आचार्यों द्वारा ऐसी परिस्थितियों में महावीर मन्दिर की प्रतिष्ठा समयानुकूल ही कही जायेगी। यह और बात है कि कुछ पार्श्वापत्य-श्रमण सीधे महावीर के श्रमण संघ में शामिल हो गये। इतिहास विद् यह तो स्वीकार करते ही हैं कि सभी पार्श्वापत्य-श्रमण महावीर के संघ में शामिल नहीं हुए थे। उन्होंने अपना अलग अस्तित्व कायम रखा। ऐसे श्रमणों में उपकेश गच्छीय श्रमण भी थे। वे महावीर को 'जिन' स्वीकार कर उस मुख्य धारा के साथ-साथ चलते रहे। उनके आजीविकों की तरह सर्वथा विलीन न होने का मुख्य कारण उनकी साधना-गत श्वेताम्बर परम्परा थी जो महावीर से भी पुरानी थी।

श्वेताम्बर सम्प्रदायों के मूलतः पार्श्वानुयायी होने का एक ओर जबरदस्त प्रमाण उनका पार्श्व-प्रेम है। डा० सागरमल ने इस ओर इंगित तो किया है पर अन्य सन्दर्भ में। मात्र श्वेताम्बर श्रावक संघ का ही नहीं, श्वेताम्बर आचार्यों एवं श्रमणों का भी

पार्श्व-प्रेम प्रसिद्ध है। मानस विद् इसे अपने मूल-स्रोत से जुड़ने का ही एक लक्षण मानेंगे। आगे तीसरे मत की समीक्षा में इस विषय पर विस्तार से चर्चा की जायगी।

इस तरह यह तो स्वयं सिद्ध है कि खरतर गच्छ की उत्पत्ति से पूर्व पार्श्वनाथ परम्परा का उपकेश गच्छ एवं चैत्य मौजूद थे। ओस वंश के अनेक गोत्रों के निर्माण का श्रेय खरतर गच्छ को है। नये गोत्र-निर्माण से ही मूल जाति की पूर्व-उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है। खरतर आचार्यों ने नये गोत्र बना कर उन्हें ओस वंश में शामिल किया। अतः ओस वंश बहुत पहले अस्तित्त्व में रहा होगा, तभी उन्होंने नये गोत्र निर्माण कर उन्हें उस जाति में मिलाया। निःसन्देह यह जाति उस समय बहुत प्रभाव शाली रही होगी। समस्त खरतर आचार्य जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चुप हैं। उन्हीं की परम्परा के १९वीं सदी के यतियों ने एक स्वर से अपने ग्रन्थों में ओस वंश एवं उपकेश गच्छ पार्श्वनाथ परम्परा के श्री रत्नप्रभ सूरि द्वारा वीरात् ७०वें वर्ष में उत्पन्न स्वीकार किया है।

उक्त इतिहासकारों ने दबे होठों एक शंका यह भी उठाई है कि "उपकेश गच्छ में ही रत्न प्रभ सूरि नाम के छ आचार्य हुए हैं। प्रथम रत्न प्रभ सूरि वीरात् ७० वर्ष पूर्व हुए। छठे रत्नप्रभ सूरि का समय विक्रम की ५वीं शताब्दी है। इस तरह उनके समय में १००० वर्ष का अन्तर है। हो सकता है, ओस वंश की स्थापना छठे आचार्य ने की हो, जिनका नामोल्लेख ग्रन्थों एवं कवित्तों में मिलता है।" स्पष्ट बात यह है कि छठे आचार्य या किसी भी अन्य समय में हुए रत्नप्रभ सूरि द्वारा ओस वंश की स्थापना का कोई उल्लेख है ही नहीं। इसके विपरीत वीरात् ७० वर्ष यानी विक्रम पूर्व ४०० वर्ष में आचार्य रत्नप्रभ सूरि द्वारा स्थापना के अनेक स्पष्ट प्रमाण ग्रन्थों एवं कवित्तों में उपलब्ध है। अतः यह शंका बेमानी है।

अन्य किसी गच्छ ने उत्पत्ति सम्बन्धी श्रेय नहीं लिया :

ओसवाल कुल के अनेक गोत्रों की स्थापना ११वीं से १६वीं शताब्दी के बीच खरतर गच्छ के आचार्यों द्वारा हुई। इन छः शताब्दियों में इस जाति का बहुत विकास हुआ। यह तथ्य उपकेश गच्छ के आचार्य भी स्वीकार करते हैं। खरतर गच्छ में अनेक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। परन्तु उल्लेखनीय यह है किसी भी आचार्य ने ओसवाल वंश की उत्पत्ति का श्रेय नहीं लिया, न ही किसी ग्रन्थ में किसी खरतर आचार्य द्वारा इस वंश को प्रस्थापना का जिक्र ही किया गया। यदि ११वीं शताब्दी में या उससे कुछ पहले इस वंश की उत्पत्ति हुई होती तो अवश्य ही उत्पत्ति सम्बन्धी कथानक इन ग्रन्थों में आता, जबकि ११वीं सदी के अनेक शिलालेखों में खरतर आचार्यों का नाम ओसवालों के विभिन्न गोत्रों के साथ उत्कीर्णित है। खरतर गच्छ ही क्यों, श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के भी अनेक दिग्गज विद्वान हुए। अनेक बहुमूल्य ग्रन्थों का सृजन भी हुआ है, परन्तु किसी में ओसवाल वंश की उत्पत्ति का कोई

उल्लेख नहीं है। तो क्या बिना उत्पन्न हुए ही हठात् ११वीं सदी में ओसवाल वंश के अनेक गोत्रों के भारत के सुदूर-प्रदेशों में फैले हुए शिलालेखों की बाढ़ आ गई ? जिस तरह सैकड़ों शिलालेखों में खरतर गच्छ के आचार्यों के नाम ओसवाल गोत्रों से जुड़े हैं, उसी तरह उपकेश गच्छ एवं अन्य गच्छ के आचार्यों के नाम भी ओसवाल गोत्रों से जुड़े मिलते हैं। यह सिलसिला बीसवीं सदी तक निरन्तर चलता रहा है। ऐसे हालात में जब अन्य किसी गच्छ में ओसवाल वंश की अन्य उत्पत्ति के बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता तो उपकेश गच्छ के मान्य ग्रन्थों एवं ओसवाल वंश की उत्पत्ति सम्बन्धी उल्लेखों को नकारना कहाँ तक उचित है ? जबकि 'उपकेश' शब्द के साथ ओसवालों का सम्बन्ध सिद्ध प्राय है एवं जिसे सभी इतिहासज्ञ एवं पुरातत्ववेत्ता स्वीकार भी करते हैं। यह मात्र प्रासंगिक है कि ये सभी विद्वान खरतरगच्छोपासक हैं। उपकेश गच्छ की ओसवाल-उत्पत्ति सम्बन्धी मान्यता को विद्वानों द्वारा दी गई चुनौती का कोई प्रामाणिक आधार नहीं मालूम होता।

शास्त्रीय मान्यता की दी चुनौती का स्वरूप :

ओसवाल-उत्पत्ति सम्बन्धी ८वीं/९वीं सदी वाली अवधारणा के प्रणेता बाबू पूर्णचन्द जी नाहर ही हैं। उन्होंने सर्व प्रथम 'जैन लेख संग्रह' (तृतीय खण्ड—१९२८) में इस ओर इंगित किया एवं 'वीरात् ७० वर्षे' वाली शास्त्रीय मान्यता को चुनौती दी। बाद के इतिहासज्ञों—श्री भंडारी, श्री नाहटा एवं श्री भंसाली ने उन्हीं की शंका को आधार बना कर तर्क प्रस्तुत किये हैं। वस्तुतः नाहर जी का यह मंतव्य कदापि न था। वे इस सम्बन्ध की शोध में संलग्न थे एवं असंदिग्ध रूप से कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं थे। उन्हीं दिनों राजगृह के श्वेताम्बर-दिगम्बर मंदिरों की व्यवस्था को लेकर एक विवाद उठ खड़ा हुआ था। अन्ततः दोनों सम्प्रदायों को न्यायालय की शरण लेनी पड़ी। 'रायकुमार सिंह एवं अन्य बनाम सर सेठ हुकमचन्द एवं अन्य' के बीच सन् १९२४ के मुकदमा नं० ८ में अनेक धुरंधर विद्वानों की गवाहियाँ हुई जिनमें से एक श्री पूरणचन्द जी नाहर भी थे। नाहर जी ने अपनी शपथ पूर्वक गवाही में ओसवाल वंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो बातें कहीं, उनका सार यह था कि 'ओसिया के राजपूतों को वि० सं० २२२ में उपकेश गच्छ के श्वेताम्बर आचार्य रत्नप्रभ सूरि ने जैन धर्म अंगीकार करवा कर ओसवाल बनाया।' उत्पत्ति काल एवं उपकेश गच्छ के श्वेताम्बर सम्बन्ध वाली बातें 'जैन लेख संग्रह' में किये उल्लेख के सर्वथा विपरीत पड़ती हैं। गवाही में आगे उन्होंने कहा है कि 'श्वेताम्बर सम्प्रदाय का उपकेश गच्छ अब विलुप्त हो गया है एवं उसकी मान्यता वाले अब कोई ओसवाल परिवार नहीं है।' उक्त बातें भी 'जैन लेख संग्रह' में दिये गये तथ्यों के एकदम विपरीत हैं, क्योंकि यहाँ सैकड़ों ऐसे ओसवाल गोत्रों के शिलालेखों का उल्लेख है, जो उपकेश गच्छीय हैं।

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी नाहर जी का सम्मान करते थे परन्तु उनके प्रखर आलोचक भी थे। सन् १९७५ में नाहर जी की जन्म शताब्दी पर कलकत्ता में हुए समारोह का सभापतित्व द्विवेदी जी ने किया था। अपने भाषण में उन्होंने नाहर जी से हुई एक चर्चा का जिक्र किया था। (नाहर जन्म शताब्दी समारोह रिपोर्ट, Journal of P. C. Nahar Institute of Jainology Vol. 1 and 2 April 1978)। जब द्विवेदी जी शान्ति निकेतन में थे तो उन्होंने मुनि जिन विजयजी के संयोजन में सिंघी ग्रन्थमाला के अन्तर्गत 'प्रबन्ध चिंतामणि प्रबन्ध कोश' एवं 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' का हिन्दी अनुवाद किया था। नाहर जी ने उन्हें देखकर कहा—'इनमें बहुत कुछ गप्प है, जो इतिहास नहीं है।' 'आप इतिहास किसको कहते हैं ?' प्रश्न के उत्तर में नाहर जी ने कहा—'हमने शिलालेख दिये हैं (जैन शिलालेख संग्रह) उनसे इतिहास लिखा जाना चाहिए।' द्विवेदी जी ने इस तर्क को नकार दिया। उनके अनुसार इतिहास प्रबन्ध शिलालेखों से कहीं अधिक महत्व रखते हैं। एक पुरातत्ववेत्ता और इतिहासकार की दृष्टि का यह फरक सभी जगह दृष्टिगोचर होता है। इतिहास किसी घटना के घटित होने के क्षण से लगाकर जनमानस में निरन्तर चला आ रहा परम्परागत जीवंत संवाद है जिसमें जनश्रुति, लोकोक्ति, साहित्य, लोकगीत, धर्म ग्रन्थ, सिक्के, शिलालेख आदि सभी शामिल हैं। इतिहासकार उन्हें व्यवस्थित कर संजो देते हैं या अभिव्यक्ति देते हैं जबकि पुरातत्त्व हजारों वर्षों पुराने दबे हुए खण्डहरों के अवलोकन से जोड़े हुए तथ्यों का ढाँचा मात्र है, अतीत के गर्भ में छिपी सम्पूर्णतः भूली बिसरी घटना को उकेरने का प्रयास। महत्त्वपूर्ण वह कम नहीं है किन्तु उनमें स्वाभाविक रंग भरने का कार्य इतिहासकार करता है। हाँ, ईमानदारी दोनों से ही अपेक्षित है।

श्री भण्डारी जी, नाहटा जी एवं भंसाली जी प्रभृति खरतर गच्छीय विद्वानों ने नाहर जी के 'जैन लेख संग्रह' के उल्लेख के आधार पर ऐसे नकारात्मक (Negative) साक्ष्यों का सहारा लिया है। किसी प्रमाणित एवं सकारात्मक (Positive) साक्ष्य के आधार पर किसी पूर्व मान्यता को अस्वीकृत करना समझ में आ सकता है, परन्तु बिना किसी ठोस सकारात्मक साक्ष्य के, मात्र नकारात्मक एवं छितराए साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में पूर्व मान्यता को ठुकरा देना उचित नहीं लगता।

उत्पत्ति सम्बन्धी उल्लेख वाले प्राचीन ग्रन्थों का अभाव :

प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ भगवान के समय से १८ लिपियाँ मौजूद थीं। ठाणांग (स्थानांग) सूत्र में ५ प्रकार की पुस्तकें बतायी गयी हैं। सिकन्दर के आक्रमण के समय (ईसा पूर्व चौथी सदी में) भारतवासी कागज बनाना जानते थे—ऐसे उल्लेख हैं। परन्तु कोई कागजीय ग्रन्थ ११वीं/१२वीं शताब्दी से पूर्व का उपलब्ध नहीं है। पांचवीं सदी से पूर्व का कोई भोजपत्रीय ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं है। ये तथ्य मह

सिद्ध करते हैं कि उस समय या तो लेखन की परम्परा ही न थी या फिर वे सभी लेख काल के गर्भ में समा गये।

मान्यता यह है कि विक्रम संवत् ५२३ में आचार्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने सर्व प्रथम आगम पुस्तकारूढ़ किये। इससे पूर्व की आगम वाचनाओं में आगमों को लिपिवद्ध करने का उल्लेख नहीं मिलता। आगमों में प्राचीनतम पांडुलिपि 'आवश्यक सूत्र' की विक्रम संवत् ११९९ की हैं। डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल (राजस्थान का जैन साहित्य, १९७७) के अनुसार प्राचीनतम ताड़पत्रीय पाण्डुलिपि विकम संवत् १११७ की है। अगर वीरात् ८० के वरली शिलालेख को बाद दे दिया जाय, जिसे कुछ इतिहासकार प्रामाणिक नहीं मानते तो ६ठीं/७वीं सदी पूर्व का कोई शिलालेख उपलब्ध नहीं है। बाद में लिखे गये ग्रन्थों एवं शिलालेखों से पूर्व रचित ग्रन्थ व इतिहास की लिखी झलक अवश्य मिलती है। इनमें भी आ० हरिभद्र रचित 'समराईच्च कहा' (विक्रम संवत् ७५७-८२७) एवं उद्योतन सूरि की 'कुवलयमाला' (संवत् ८३६) को प्राचीनतम एवं प्रारम्भिक उपलब्ध रचनाएँ माना गया है। इन ग्रन्थों में उपकेश जाति का उल्लेख भी हुआ है।

प्राचीन इतिहास एवं ग्रन्थों की दुर्लभता के अनेकानेक कारण हैं। प्रथमतः तत्कालीन भारतीय प्रायद्वीप प्राकृतिक प्रकोपों से जूझ रहा था। लगातार १२ वर्षों के भीषण अकाल अपना शाश्वत दंश छोड़ गये। मोहन जोदड़ों की सभ्यता एवं संस्कृति के विनाश में भूकम्पों एवं प्राकृतिक प्रकोपों का ही हाथ था। इन भूकम्पों एवं अकालों में शस्त्र भंडार भी नष्ट हुए। द्वितीयतः विदेशी आक्रमणकारियों ने छठी शताब्दी के बाद भारत भूमि पर जो कहर बरपाया, उसमें जन संहार ही नहीं हुआ, शास्त्र भी विनष्ट किये गये। महमूद गजनी ने मन्दिरों को लूटा ही नहीं, समस्त मूर्तियाँ तोड़ डाली एवं ग्रन्थागार जला दिये। अलाउदीन खिलजी ने छः मास तक साहित्य जला कर अपने हमाम की भट्टियाँ गर्म रखी। १५वीं सदी के कुख्यात बादशाह सिकन्दर लोदी, जो इतिहास में बुनशिकत (मूर्ति भंजक) के नाम से जाना जाता है, ने भी लाखों ग्रन्थ अग्नि की भेंट किए। विदेशी ही क्यों, विभिन्न धर्मावलम्बी भारतीय शैव हिन्दू एवं बौद्ध सम्राटों ने जैन शास्त्रों की होलियाँ जलाई। तृतीयतः जो विदेशी भारत भूमि को लूट कर अपने देश लौटे, वे अपने साथ हीरे जवाहारात तो ले ही गये—अनेक ग्रन्थ भंडार भी स्थानान्तरित हुए। चीनी यात्री हुएनसांग विक्रम की ७वीं सदी में तीन बार भारत आया और लौटते समय तीसरी बार २५५० ताड़पत्रीय ग्रन्थ चीन ले गया। पाश्चात्य देशों के ग्रन्थागार संस्कृत-प्राकृत के प्राचीनतम हस्तलिखित ग्रन्थों से भरे पड़े है—लन्दन के एक पुस्तकालय में १५०० ग्रन्थ हैं, जर्मनी के पुस्तकालय में १२००० ग्रन्थ, वाशिंगटन में २०,०० ग्रन्थ, पेरिस में १२,००० ग्रन्थ, रूस के राष्ट्रीय पुस्तकालय में २२००० ग्रन्थ एवं इटली के एक पुस्तकालय में ६०,००० ग्रन्थ हैं। अन्य जगहों में भी अनेक ग्रन्थ हैं।

कोई आश्चर्य नहीं कि भारत के ग्रन्थ भंडार अपनी अमूल्य धरोहर गंवा कर इतिहास की कड़ियाँ संजोने में भी असमर्थ हो गये।

प्राचीन लिपि की अग्राह्यता :

साहित्य एवं शिलालेखों की आवृत्ति के लिए सरल लिपि की आवश्यकता होती है। प्राचीन काल में कागज की खोज न होने तक भोज पत्रों या पाषाणों पर लेख उत्कीर्णित करना बड़ा कष्ट साध्य काम था। विक्रम की सातवीं सदी तक भारत में ब्राह्मी लिपि का ही प्रचलन था। ब्राह्मी लिपि को जानने वाले पंडितों की संख्या भी इनी गिनी थी—फिर उस लिपि को अंकित करने वाले शिल्पियों का तो अभाव ही था। विक्रम की ९वीं/१०वीं सदी तक ब्राह्मी के ही एक प्रकार 'कुटिला' लिपि का प्रचलन रहा। देवनागरी लिपि का प्रयोग १०वीं सदी में प्रारम्भ हुआ। उसे भी आम आदमी तक पहुँचते तथा शिल्पियों एवं खुदाईकारों की बुद्धि-ग्राह्य होते वर्षों लगे होंगे। यह भी एक कारण है। ग्रन्थों एवं शिलालेखों के अभाव का।

प्राचीन ग्रन्थों एवं शिलालेखों के अभाव की निर्णायकता :

यह सर्व मान्य तथ्य है कि किसी भी बात की प्राचीनता शिलालेखों पर निर्भर नहीं करती। २४ जैन तीर्थंकरों की परम्परा में अनेक जातियाँ जैन धर्मावलम्बी हुई हैं। विक्रम की ९वीं शताब्दी पूर्व का किसी भी जाति का कोई शिलालेख नहीं मिलता। इसका मतलब यह तो नहीं हो सकता कि उस जाति का अस्तित्व ही नहीं था। यही बात ग्रन्थों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। यों तो पाश्चात्य इतिहासकार जैनों के प्रथम २२ तीर्थंकरों, एवं जैनों के ही क्यों, राम और कृष्ण को भी ऐतिहासिक पुरुष नहीं मानते। उनके अनुगामी अनेक भारतीय इतिहासकार भी उनके अस्तित्व से इन्कार करते हैं। तर्क यही है प्रमाण स्वरूप कोई उस समय का शिलालेख या ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। उनके भरोसे तो इन सभी महापुरुषों से हाथ धोना पड़ेगा।

विक्रम की ६ठी से ९वीं शताब्दी के बीच धर्मान्धता, विदेशी आक्रमण एवं शंकराचार्य के उत्कट विरोध के कारण अनेक मूर्तियाँ, लेख एवं ज्ञान भण्डार नष्ट किये गये। जो बचे हैं, वे भी पुनरुद्धार के अभाव में विलुप्त हो रहे हैं। ऐसे हालात में उपकेश गच्छ या उपकेश या ओसवाल वंश के ९वीं सदी से पहले के शिलालेखों या ग्रन्थों के अभाव में उसकी विराट् ७०वें वर्ष की उत्पत्ति को न मानना उचित नहीं लगता।

उपलब्ध शिलालेखों से एक और तथ्य उजागर होता है। १०वीं सदी से लेकर १६वीं सदी तक के समस्त शिलालेखों में प्रायः ३० प्रतिशत शिलालेख, उपकेश, ऊकेश, उवएश, उएश, एयसवाल, ओस, ओसवाल वंश के श्रेष्ठियों के हैं। उनमें प्रायः उपकेश गच्छ एवं उसके आचार्यों का भी नामोल्लेख है (देखिये 'जैन लेख संग्रह') इस आधार पर श्री पूर्णचन्द जी नाहर को भी यह स्वीकार करना पड़ा था कि 'ओसवाल में ओस शब्द

प्रधान है। ओस शब्द उएश शब्द का रूपान्तर है और उएस उपकेश का प्राकृत नाम है। इसी प्रकार मारवाड़ के अन्तर्गत ओसिया नामक स्थान भी उपकेश नगर का रूपान्तर है। जैनाचार्य श्री रत्नप्रभ सूरि जी ने वहाँ के राजपूतों को जीवहिंसा छुड़ाकर उन लोगों को दीक्षित किया, उस के पश्चात् वे राजपूत लोग उपकेश अर्थात् ओसवाल नाम से प्रसिद्ध हुए।'

विक्रम की ९वीं/१०वीं शताब्दी के पूर्व के शिलालेख अथवा ग्रन्थ न पाये जाने के आधार पर उक्त तीनों विद्वानों ने उपकेश गच्छ की विक्रम से ४०० वर्ष पूर्व हुई उत्पत्ति को भी नकारा है। परन्तु यह तथ्य इन शिलालेखीय शोधों से स्वयं सिद्ध है। उपकेश या ओस वंश एवं उपकेश गच्छ की उत्पत्ति एक दूसरे पर आश्रित है और उपकेश गच्छ का इस जाति से विशेष सम्बन्ध है।

विक्रम की १० वीं सदी से पहले ओसवाल शब्द व्युत्पन्न ही नहीं हुआ था, अतः उस नाम के पहले के शिलालेख ढूँढ़ना तो व्यर्थ है। उएस, उकेश या उपकेश का 'ओस' रूपान्तरण ही १०वीं/११वीं शताब्दी के आस-पास हुआ है। इन नामों के १०वीं शताब्दी के शिलालेखों का मिलना यह तो सिद्ध करता ही है कि उस समय यह जाति बहुत समृद्धशाली थी एवं देश के अनेक प्रदेशों में फैल गई थी। यह समृद्धि और फैलाव आने में सैकड़ों वर्ष लगे ही होंगे। अतः बिना किसी साक्ष्य के १०वीं शताब्दी में उत्पत्ति मानना कहाँ तक न्याय संगत है?

जैन धर्म की प्राचीनता सभी स्वीकार करते हैं। अनेकों लोग, जातियाँ और समुदाय इस धर्म के पालने वाले थे। उनमें से किसी का शिलालेख न मिले तो इस आधार पर उस जाति का अस्तित्व कैसे नकारा जा सकता है? राजा सम्प्रति विक्रम की तीसरी सदी में महाप्रतापी राजा हुए। उन्होंने जैनधर्म की उन्नति के लिए बहुत प्रयास किये—एक लाख पचीस हजार नये मन्दिर बनाये, ६०००० मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने राजपूताना के इतिहास में सम्प्रति के इस योगदान को स्वीकारा है। उन राजा सम्प्रति का एक भी शिलालेख नहीं मिलता? तो क्या इस आधार पर सम्प्रति का अस्तित्व अस्वीकार किया जा सकता है?

जैन श्वेताम्बर मतों का प्रादुर्भाव ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में सभी इतिहासकार एवं पुरातत्त्ववेत्ता स्वीकार करते हैं। कालान्तर में उनके विभिन्न गच्छों एवं गणों की स्थापना हुई परन्तु किसी भी गच्छ का प्राचीनतम शिलालेख ११वीं सदी से पहले का नहीं मिलता है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है।

गच्छ का नाम	प्राचीनतम शिलालेख का समय	प्राप्तिस्थान
१. वृहद् गच्छ	संवत् ११४३	कोटरा (सिरोही)
२. चन्द्र गच्छ	,, १२३९	जालौर
३. नगेन्द्र गच्छ	,, १०८८	ओसिया
४. निवृत्ति गच्छ	,, १४६९	सिरोही
५. कोरंटक गच्छ	,, १०८८	पिंडवाड़ा
६. उपकेश गच्छ	,, ११९४	अजारी (सिरोही)
७. ब्राह्मण गच्छ	,, १२४२	अर्बुदाचल
८. पिसपालाचार्य गच्छ	,, १२०८	
९. यश सूरि गच्छ	,, १२४२	अजमेर
१०. मदाहरा गच्छ	,, १२८७	मदारा
११. पिथल गच्छ	,, १२०८	कोटरा
१२. वातपीय गच्छ	,, ११६२	जेसलमेर

यदि शिलालेख को ही उत्पत्ति का साक्ष्य मान लिया जाय तो उक्त गच्छों की पूर्वोत्पत्ति माननी कठिन हो जायेगी। परन्तु तथ्य यह है कि ये सभी गच्छ पूर्वोत्पन्न हैं।

नाहटा बन्धु तो शिलालेखों के आधार पर राजस्थान में जैनधर्म का प्रचार ही ८वीं शताब्दी के वाद हुआ मानते हैं। इसके लिए वे कक्कुक के वि० सं० ९१८ के घटियाला के लेखों को ही प्रामाणिक तथा सिद्ध मानते हैं। परन्तु अब तो अजमेर के पास वड़ली ग्राम से एक मिल दूर मीलोत माता के मन्दिर से प्राप्त 'वीरात् ८४' उत्कीर्णित शिलालेख, जो प्राकृत मिश्र ब्राह्मी भाषा में है, से यह सिद्ध हो गया है कि विक्रम से ४०० वर्ष पूर्व राजस्थान में जैन धर्म का प्रचार था। यह शिलालेख अजमेर म्युजियम में रखा हुआ है और माननीय ओझाजी आदि अनेक विद्वानों द्वारा मान्य एवं उद्धृत किया जा चुका है।

यह भी सही है कि आधुनिक विकास क्रम में हम अपनी प्राचीन उपलब्धियों का रक्षण करना सीख गये हैं। पूर्व जमाने में यह जागृति थी भी नहीं। यदा-कदा ही कोई लेख खुदवाया जाता होगा। फिर मध्य में एक जमाना ऐसा भी गुजरा जब हूणों (५वीं/६वीं शताब्दी) एवं मुसलमानों (१२वी/१३वीं शताब्दी) ने अपने राजत्व में मन्दिरों-मूर्तियों को नष्ट करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। यहां तक कि सातवीं-आठवीं सदी में हिन्दू धर्मावलम्बियों ने अद्वैत मत के प्रवर्तक आदि शंकराचार्य के जबरदस्त विरोध एवं हिन्दू राजाओं की शह से जैन मन्दिरों एवं तीर्थों को बड़े पैमाने पर नष्ट भ्रष्ट किया। अनेक जैन मन्दिरों को बल पूर्वक हिन्दू मन्दिरों में परिवर्तित

कर दिया गया। इनके बावजूद कुछ स्मारकों एवं खण्डहरों का बचे रहना ही चमत्कार है। वास्तव में ९वीं से ११वीं शताब्दी के बीच राजपूत जातियों तथा चौहान, परमार, चालुक्य आदि के पुनरोद्भव एवं शासन द्वारा जैनधर्म को राज्याश्रय प्राप्त होने से अनेक मन्दिरों का पुनरुद्धार हुआ, उस समय को जैन मूर्तिकला एवं मन्दिर-शिल्प (स्थापत्य) का स्वर्णकाल कहा जाता है। अतः प्राचीन मन्दिरों पर भी तत्कालीन स्थापत्य शिल्प का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सम्भवतः इसी कारण कुछ इतिहासकारों एवं पुरातत्ववेत्ताओं ने प्राचीन मन्दिरों को भी अप्राचीन घोषित कर दिया।

ओसिया मन्दिर का शिलालेख :

ओसिया के महावीर मन्दिर में मिले विक्रम संवत् १०१३ के शिलालेख को ओसवाल जाति की उत्पत्ति से जोड़ना भ्रमपूर्ण है। यह शिलालेख अनेक दृष्टियों से बहुत ही महत्वपूर्ण है। श्री पूर्णचन्दजी नाहर द्वारा संग्रहित 'जैन लेख संग्रह' [प्रथम खण्ड] के लेखांक ७८८ में इस शिलालेख को हूबहू उद्धृत किया गया है। इस शिलालेख की भाषा संस्कृत है एवं इसमें 'उपकेशपुर' नाम व्यवहृत हुआ है। उस वक्त जन साधारण के बोलचाल की भाषा संस्कृत नहीं थी—यह सर्वमान्य तथ्य है। उएश या उकेश संस्कृत में उपकेश लिखा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ओसिया ही किसी समय उपकेशपुर नाम से जाना जाता था। साहित्य या शिलालेख में व्यवहृत नाम से यह तो निश्चित नहीं होता कि बोलचाल की भाषा में उस वक्त [यानि इग्यारहवीं सदी में] उस नगर को उपकेशपुर कहते थे। हो सकता है बोलचाल में 'ओसिया' प्रचलित हो गया हो, पर संस्कृत के शिलालेख में प्राचीन नाम उपकेशपुर ही उत्कीर्ण करवाया गया हो।

इस शिलालेख में परिहार राजा वत्सराज की प्रशस्ति है एवं मन्दिर में जिन्दक श्रावक द्वारा रंग मंडप बनवाने का उल्लेख है। रंग मंडप मन्दिर एवं उसमें प्रतिष्ठित मूर्ति बहुत प्राचीन है। इस शिलालेख से तो सिद्ध यह होता है कि उस समय ओसिया में उप्पलदेव परमार का राज्य नहीं था। जिन प्रतिहार सम्राट् वत्सराज की प्रशस्ति शिलालेख में है। उनका समय विक्रम संवत् ८४० माना जाता है। ८वीं से १२वीं शताब्दी तक ओसिया में प्रतिहारों का राज्य होना शिलालेखों से सिद्ध होता है। अतः ९वीं शताब्दी में उपकेशपुर उन्नत शहर बन गया था। तब आबू का परमार उप्पलदेव जो दसवीं शताब्दी में हुआ, कैसे ओसिया की नींव रख सकता था ? मान लिया जाय कि उसने वहां कभी प्रतिहार राजा का आश्रय ग्रहण किया था और उसी ने ओसिया की नींव रखी होती तो वि० संवत् १०१३ के ओसिया मन्दिर के शिलालेखों में इस मूल-उत्पत्ति का उल्लेख अवश्य ही होता।

ओसिया बसाने वाले उप्पलदेव के परमार होने का भ्रम :

ओसिया बसाने वाला उप्पलदेव सूर्यवंशी क्षत्रिय राजा था। प्राचीन ग्रन्थों—'उपकेश गच्छ चरित्र', 'नाभिनन्दन जिनोद्धार' एवं अन्यान्य गच्छों की पट्टावलियों में जहाँ उनका उल्लेख है, किसी में भी उप्पलदेव को 'परमार' नहीं लिखा है। वैसे 'परमार' भी सूर्यवंशी क्षत्रियों के अग्निकुल की ही एक जाति है परन्तु विक्रम से ४०० वर्ष पहले वे सूर्यवंशी क्षत्रियों के नाम से ही जाने जाते थे। उनसे 'परमार' वंश की शुरुआत विक्रम की ९वीं शताब्दी के बाद हुई। आबू के मन्दिरों में जो शिलालेख मिले हैं, उनमें धूमराज को परमार या पंवारों का मूल पुरुष लिखा है। परमारों का आबू पर विक्रम की दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक राज्य करना इतिहास सिद्ध है। इनकी वंशावली में 'उप्पलराज' नामक एक राजा का समय विक्रम सं० ९५० ठहरता है। नाम की इस समानता के कारण ही ओसिया बसाने वाले उप्पलदेव को परमार मान लिया गया लगता है।

एक और तथ्य ध्यान देने योग्य है। भिन्नमाल एवं ओसिया पर ८वीं शताब्दी से ११वीं शताब्दी के बीच प्रतिहारों का राज्य होना शिलालेखों से सिद्ध है। प्रतिहार राजाओं की उत्पत्ति मंडोर के राजा हरिश्चन्द्र से वि० सं० ७०० के आस पास मानी जाती है। इस वंश के राजा बाहुक का समय सं० ९१८–९४० माना जाता है। ओसिया मन्दिर के वि० सं० १०१३ में प्रतिहार राजा वत्सराज की प्रशस्ति है, जिसका समय वि० सं० ७८४ है। परन्तु परमारों का इस समय में ओसिया से कोई सम्बन्ध नहीं था।

ओसिया बसाने वाले उप्पलडेव को 'परमार' मानने वाले अपने पक्ष में पहला साक्ष्य 'मुणोत नैनसी की ख्यात' के एक उल्लेख का देते हैं, जो इस प्रकार है :

'धरणीवराह का भाई उप्पलराय किराड़ू छोड़कर ओसिया में जा बसा,
सच्चिया देवी प्रसन्न हुई, माल दिया, ओसिया में देवल कराया।'

टिप्पणी

'बसन्तगढ़ से मिले हुए सं० १०९९ के परमारों के शिलालेख से पाया जाता है कि उप्पल राजा धरणी वराह का भाई नहीं, किन्तु परदादा था, जिसका समय विक्रम की दसवीं शताब्दी के आरम्भ में होना चाहिए।'

—नैणसी की ख्यात (प्रकाशक-काशी नागरी प्रचारिणी सभा पृष्ठ २३३)

उपरोक्त कथन के अलावा ख्यात में ओसिया या उप्पलदेव के सम्बन्ध में अन्य कोई कथन नहीं है।

मेरी दृष्टि में उक्त कथन से यह सिद्ध कदापि नहीं होता कि किराड़ू (आबू) के उप्पलराज ने १०वीं शताब्दी में ओसिया बसायी। उल्टे यह सिद्ध अवश्य होता है कि किराड़ू के उप्पलराज के किराड़ू छोड़ने के समय ओसिया नाम का एक समृद्धिशाली शहर मौजूद रहा होगा, जिसके आकर्षण से खिचकर उप्पलराज वहाँ बसा। उसने वहाँ खूब धन कमाया और एक मन्दिर बनवाया। इससे तो ओसिया की प्राचीनता सिद्ध होती है। इस नगर को समृद्धिशाली होने में २००-३०० वर्ष तो लगे ही होंगे। मैं इस कथन को इस मान्यता का कि 'किराड़ू के उप्पलराज ने १०वीं शताब्दी में ओसिया नहीं बसाई' का उत्कट प्रमाण मानता हूँ।

इस सम्बन्ध में भंसाली जी ने प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डा० डी० आर० भंडारकर के एक कथन का उल्लेख किया है—'उप्पलदेव ने (मंडोर के) परिहार राजा के यहाँ शरण माँगी। परिहार राजा ने उसे भेलपुर पट्टण दे दिया और कहा कि वहाँ शरण लो और उसे पुनः आबाद करो, जो अभी उजड़ चुका है। उप्पलदेव ने उसे पुनः आबाद किया। अब यह गांव ओसिया के नाम से प्रसिद्ध हुआ क्योंकि उप्पलदेव ने वहाँ ओसला (शरण) लिया था।'

डा० भंडारकर ने 'आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया (१९०८–९) में प्रकाशित 'ओसिया के प्राचीन मन्दिर' आलेख में जो विवरण दिया है, उसकी विस्तार पूर्वक चर्चा/समीक्षा हम पूर्व अध्याय में कर चुके हैं। 'ढूंढ़लीमल' नामक जैन सन्त के श्राप से भेलपुर पट्टण का उजड़ कर जमींदोज होना, परमार वंशीय उप्पल देव का वहाँ शरण ले 'नवनेरी नगरी' बसाना, हेमाचार्य के शिष्य यति रतन प्रभु का वहाँ आकर लोगों को जैन बनाना, सच्चिया माता के श्राप से ओसवालों का भाग खड़ा होना आदि सभी बातें दन्त कथाओं पर आधारित हैं। उनका कोई आधारभूत साक्ष्य डा० भंडारकर ने नहीं दिया।

इतना तो साफ परिलक्षित होता है कि वहाँ कोई नगर पहले से बसा था, जो उजड़ गया था। यह 'भेलपुर पट्टण' ही सूर्यवंशी क्षत्रिय राजा उप्पल देव का बसाया हुआ 'उएस पट्टण' हो। डा० भंडारकर के कथन में मुंणोत नैणसी के उपरोक्त कथन की झलक है। परन्तु दोनों का अभिप्राय यह है कि वह नगर पहले से बसा था। उसका ओसिया नामकरण 'ओसला' (शरण) लेने से हुआ या 'उएश' के रूपान्तरण से—यह भी विचारणीय है। जो राजा एक नगर बसायेगा—वह उसका नाम 'ओसला' कभी नहीं रखेगा। अतः 'बसाने वाली' मान्यता तो यहीं समाप्त हो जाती है। 'ओसिया' रूपान्तरण तो १०वीं शताब्दी के आसपास हुआ हो—यह बहुत सम्भाव्य है।

यहाँ आबू के उप्पलदेव द्वारा मंडोर के परिहार राजा की शरण जाने की घटना की ऐतिहासिकता पर भी दो शब्द कहना समीचीन होगा। इस घटना का साक्षी कोई

शिलालेख या ग्रन्थ नहीं मिला है। श्री सोहनराज जी भंसाली ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि 'उपकेश गच्छ पट्टावली एवं भाटों की बहियों के अनुसार उप्पल राज ने अपने राज्य को छोड़ मण्डोर में प्रतिहारों की शरण ले।' उपकेश गच्छ पट्टावली में कहीं ऐसा उल्लेख नहीं है। वहाँ तो ढ़िल्ली (दिल्ली) के राजा साधु द्वारा बंजर धरती पर नया राज्य बसाने की इजाजत देना लिखा है। न ही बही भाटों द्वारा ऐसी शरण की बात कही जाती है। ग्रन्थागारों में भाटों के जितने कवित्त मिलते हैं--किसी में भी प्रतिहारों के यहाँ शरण लेने की बात नहीं कही गई। भंसाली जी ने यह तर्क बार-बार दुहराया है कि उप्पलदेव के परिहार राजा के यहाँ शरण लेने की बात सभी मत स्वीकार करते हैं। प्रथमतः ऐसा नहीं है। जैन ग्रन्थों के 'वीरात् ७० वर्ष' एवं बही भाटों के बीये बाईसे के मत को सही मानने वाले इसे सही नहीं मानते। फिर इतिहासकारों का यह कथन सच भी हो तो उसे ओसिया के संस्थापक उत्पलदे से जोड़ना सरासर गलत है। आबू के परमार राजाओं की वंशावली में उप्पलराज का नाम है पर उनका मूल पुरुष धूमराज था। उनके वंशज उप्पलदेव को किसी समय आबू छोड़ना पड़ा हो या परमार कुछ समय के लिये आबू से हटा दिये गये हों---ऐसा उल्लेख कहीं नहीं मिलता। भंसाली जी और भंडारी जी दोनों ही यह कल्पना करते हैं कि 'हो सकता है कुछ समय बाद (यानि ओसिया बसाने के बाद) उप्पलराज पुनः आबू लौट आया हो।' जो अवांछित है।

मुणोत नैणसी की ख्यात के लिखित कथन को सत्य मान भी लिया जाय कि उप्पलराज ओसिया जा बसा, उससे उत्पलराज द्वारा वह नगर बसाना कहाँ सिद्ध होता है ?

गलत तर्क सरणि से ठीक तथ्य पर पहुँचना असम्भव होता है, जैसा कि उक्त इतिहासकारों ने किया। पहले उप्पल देव को परमार मान लें, फिर खोजने चलें उप्पल देव परमार का समय। पहले उसने प्रतिहारों के यहाँ शरण ली, मान लें---फिर खोजें प्रतिहारों का समय। तथ्यों को ठीक सन्दर्भ में न लेने से भी ठीक नतीजा हासिल नहीं हो सकता। जैसे कर्नल टॉड का एक उद्धरण दिया गया है कि 'खेरतारा जाति के लोग सहस्रों की संख्या में आकर ओसी ग्राम में बसे। इससे ओसवाल कहाये।' टॉड का ऐसा कोई उद्धरण मेरे देखने में नहीं आया। अपितु टॉड ने तो कहा है कि 'ओसवाल मूलतः अग्निकुल के राजपूतों (क्षत्रियों) से निकले हैं।' टॉड का समय ई० १८२१ है। उस समय तक क्षत्रियों के लिए 'राजपूत' शब्द भी व्यवहृत होने लगा था। फिर कर्नल टॉड के विवरण प्रसिद्ध इतिहासकार ओझा जी के अनुसार अधिकांशतः जनश्रुति पर आधारित हैं। 'खेरतारा' नाम की किसी जाति का उल्लेख इतिहास में नहीं पाया जाता। अलबत्ता 'खरतर' गच्छ अवश्य १५वीं व १६वीं शताब्दी में ओसवालों में

प्रभावी था। उसी सन्दर्भ से उठी जनश्रुति का उल्लेख टॉड ने किया हो—यह सम्भव है।

मुणोत नैणसी की ख्यात में ओसवाल जाति के सम्बन्ध में जो विवरण है, उनका आधार भाट और भोजकों के कवित्त या किंवदन्तियाँ ही हैं। यह ग्रन्थ १७वीं शताब्दी में लिखा गया था। जैसा कि 'ख्यात' शब्द से प्रतीत होता है, यह कोई ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, लोक-कथानकों पर आधारित संग्रह है। इसे प्रकाशित करते हुए सम्पादक एवं प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने भूमिका एवं अपनी टिप्पणियों में इसके विवरणों की प्रामाणिकता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है।

ऐतिहासिक तथ्य यह है कि विक्रम की १०वीं शताब्दी में आबू में परमार राजा उप्पलदेव हो चुके थे। भाट और भोजक अपने कवित्तों में यद्यपि उत्पत्ति समय 'बीये बाईसे' मानते हैं, पर उप्पलदेव के साथ 'पंवार' शब्द जोड़ देते हैं जबकि राजपूतों के परमार वंश की उत्पत्ति ९वीं शताब्दी के बाद मानी जाती है। अतः भावे द्वारा ओसिया के जन्मदाता उप्पलदेव के साथ परमार या 'पंवार वंश' का गठबन्धन निश्चित रूप से भ्रामक है।

आबू के परमार राजा उप्पलदेव ने कभी जैन धर्म अंगीकार नहीं किया। अतः उप्पलदेव परमार को ओसिया का जन्मदाता मान लेने से जैनों के उएस या उकेश या उपकेश गच्छ के साथ उसका नाता असम्भव है। इन शब्दों के साथ ओस वंश का सम्बन्ध शिलालेखों के प्रमाणों से सिद्ध है। आबू का राजा उप्पलदेव परमार हुआ है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर ओस वंश या ओसिया या जैनधर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। हो सकता है आबू के उप्पलदेव परमार ने मण्डोर के प्रतिहारों के यहाँ कभी शरण ली हो, पर इससे वह ओसिया बसाने वाला नहीं सिद्ध होता। इसके आधार पर कि उप्पलदेव ने ओसिया बसायी और चूंकि उप्पलदेव परमार का समय १०वीं शताब्दी है, अतः ओसवालों की उत्पत्ति १०वीं शताब्दी में हुई होगी—यह तर्क बिल्कुल खोखला लगता है। बड़े-बड़े इतिहासकार इस भ्रम के शिकार हो गये लगते हैं।

जैन ग्रन्थों विशेषतः उपकेश गच्छ पट्टावलियों के विवरण के अनुसार भिन्नमाल का राजकुमार उप्पल देव सूर्यवंशी क्षत्रिय था, जिसने ओसिया बसाई।

परमार आदि राजपूतों की उत्पत्ति सम्बन्धी भ्रांत धारणाएँ :

जो कौमें परमार, सोलंकी, चौहान, परिहार आदि नामों से जानी जाती हैं, उनकी उत्पत्ति विक्रम की ७वीं/८वीं शताब्दी के बाद हुई—इस भ्रांत धारणा से ग्रसित अनेक इतिहासकार रहे हैं। यह सही है कि कौमों के ये नाम पूर्व ग्रंथों में नहीं मिलते। यों तो राजपूत शब्द की उत्पत्ति भी बाद में हुई। परन्तु इन कुलों के सम्बन्ध प्राचीन

क्षत्रिय कुलों से हैं, इसके अनेक साक्ष्य उपलब्ध हैं। कर्नल टॉड के अनुसार चौहान राजकुल के आदि पुरुष अग्निपाल थे, जो विक्रम से ५९३ वर्ष पूर्व हुए हैं। महाभारत से भी इस कथ्य की पुष्टि होती है। टॉड ने गुर्जर जाति को सूर्यवंशी क्षत्रिय लिखा है। गहलोत, सिसोदिया, कछवाहा और राठौड़ राजकुलों की ख्यातों में उन्हें सूर्यवंशी क्षत्रिय बताया गया है। यादव भट्टी, तोमर, आदि राजकुलों को उनकी ख्यातों में चन्द्रवंशी क्षत्रिय बताया गया है। सोलंकी वंशी राजपूत अपने को क्षत्रिय कुल तिलक राम के भाई लक्ष्मण का वंशज बताते हैं। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द (इतिहास तिमिर नाशक) के अनुसार उज्जैन के राजा विक्रमादित्य (जिनसे विक्रम संवत् चला) परमार वंशी थे। तक्षक वंशी (नागवंशी) अपने को राम के भ्राता भरत के पुत्र तक्षक के वंशज मानते हैं। परमारों की २५ शाखाओं में एक 'मोरी परमार' है, जो अपने को सूर्यवंशी सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के वंशज कहते हैं।

यह नामकरण ७वीं/८वीं सदी के आस पास हुए हों—यह बहुत सम्भव है। परन्तु इससे पूर्व उनके अस्तित्व से इनकार करना इतिहास को झुठलाना होगा। पं० हरिमंगल मिश्र ने अपने प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ 'प्राचीन भारत' (१९२०) में इसी सम्भावना की पुष्टि की है। पं० विशेश्वरनाथ रेऊ ने अपने ग्रंथ 'भारत के प्राचीन राजवंश' (१९२०) में अनेक ऐसे उद्धरण दिये हैं, जिनसे परमारवंश की प्राचीनता सिद्ध होती है। अचलेश्वर मन्दिर के एक लेख के अनुसार ऋषि वशिष्ठ के यज्ञ में अग्नि कुण्ड से एक दिव्य पुरुष उत्पन्न हुआ, जिसका नाम ऋषि ने 'परमार' रखा। धनपाल रचित तिलक मंजरी (रचनाकाल १०७०) में परमारों को अग्नि कुण्ड से उत्पन्न बताया है। पद्मगुप्त रचित 'नवसाहसांक चरित' में परमारों के मूल पुरुष की उत्पत्ति आबू में वशिष्ठ के अग्नि कुण्ड से होना लिखा है। अबुलफजल कृत 'आईने अकबरी' में भी ब्राह्मणों द्वारा आबू पर अग्नि कुण्ड से चार राजपूत वंशों की उत्पत्ति कथा का उल्लेख है। ऐसा ही उल्लेख राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने 'इतिहास तिमिर नाशक' ग्रन्थ में किया है। अस्तु, यह कहना कि इन राजपूत वंशों की उत्पत्ति ही ८वीं शताब्दी के बाद हुई—सरासर गलत होगा। सम्भव है वे इससे पूर्व इन नामों से न पहचाने जाते हों।

इन राजपूत कुलों में से अनेक ने मध्ययुगीन जैन आचार्यों के प्रभाव से एक बार फिर अहिंसात्मक वृत्ति अपनायी एवं अस्त्र-शस्त्र छोड़कर खेती और व्यवसाय में लगे। १२वीं सदी से १५वीं सदी के बीच मुस्लिम शासकों के अत्याचारों से बचने के लिए वे जैन बनकर ओसवाल कुल में सम्मिलित हुए हों—तो कोई आश्चर्य नहीं।

राजपूत जाति के सम्बन्ध में पाश्चात्य इतिहासकारों का अभिमत है कि वे शक, हूण, सीथियन, यवन आदि विधर्मी विदेशियों की सन्तानें हैं। कर्नल टॉड इसी मत के हैं। भंडारकर आदि भारतीय विद्वान भी उन्हें विशुद्ध क्षत्रिय नहीं मानते। यह बहुत सम्भव

है। भारतीय संस्कृति सभी विदेशियों को आत्मसात करती आई है। जो विदेशी यहाँ आकर बस गये एवं उन्होंने हिन्दू या अन्य धर्मों को अपना लिया तथा परस्पर कन्याओं के सम्बन्ध करने लगे, वे भारतीय नामों से पहचाने जाने लगे। वैसे वायु पुराण, मत्स्य पुराण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी शाक द्वीप, यश्क आदि के उल्लेख मिलते हैं, जहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय निवास करते थे। श्री प्रशांत कुमार जायसवाल ने अपने ग्रन्थ 'शककालीन भारत' में ऐसे अनेक उदाहरण दिये हैं। मनुस्मृति का एक श्लोक इस सम्बन्ध में दृष्टव्य है :

शनकैस्तु क्रिया लोपादिमाः क्षत्रिय जातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
पौरण्ड्रकाश्चोऽद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकः।
पारदाः पल्हवाश्चीनाः किराता दरदाः श्वशाः ॥

स्मृतिकार ने यवन, शक आदि को क्षत्रिय माना है, जो शनैः शनैः विधर्मी हो गये। यूरोप के प्राचीन-इतिहास लेखकों ने भी शकों को आर्य माना है (एन साईक्लोपीडिया ब्रिटानिका) अन्य प्रमाणों से भी उनका आर्य होना सिद्ध होता है। शक राजाओं के सिक्कों पर सूर्य, चन्द्र और गंगा चिन्हांकित है। उनमें स्वयम्वर होता था। वे अश्वमेघ यज्ञ करते थे। कुशान राजाओं के सिक्कों पर शिव और नन्दी के आकार हैं। मध्य एशिया के पासी हूणों का उल्लेख महाभारत और पुराणों में है। उनके सिक्कों पर नन्दी और छत्र चिन्ह हैं, जो शैव धर्म के प्रतीक हैं।

'राजपूत' शब्द स्वयं मुगलकाल की उत्पत्ति है। यह संस्कृत के 'राजपुत्र' का अपभ्रंश है। कौटिल्य, कालिदास, अश्वघोष और बाणभट्ट ने राजकुमारों एवं राजवंशजों के लिए राजपुत्र शब्द का प्रयोग किया है। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग (वि० सं० ६८६–७०२) ने उनके लिए 'क्षत्रिय' शब्द का व्यवहार किया है। विसेण्ट स्मिथ ने अपने ग्रन्थ Early History of India में हूणों के साथ गुर्जरों के ५वीं/छठी शताब्दी में भारत प्रवेश का उल्लेख किया है, जो उत्तरी भारत के रास्ते आये। इससे पूर्व यूनानी, शक और यूची (कुशान) आये। उन्होंने कुछ भारतीय भूमि पर अधिकार कर लिया और धीरे-धीरे यहाँ के राजवंश के साथ उन्होंने सम्बन्ध स्थापित कर लिये। चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ सिकन्दर के यूनानी सेनापति सिल्यूकस की पुत्री का विवाह एक ऐतिहासिक घटना थी। स्मिथ के अनुसार परमार, पडिहार, चौहान, सोलंकी, कछवाहा आदि राजपूतों में विदेशी जातियों का रक्त मिश्रण है। इसी तरह दक्षिण की मूल-अनार्य जातियों ने उत्तर के हिन्दू समाज में प्रवेश किया। उनसे चोल, गौंड, चंदेल, राठौड़ आदि राज वंश निकले। पं० गौरी शंकर हीराचन्द ओझा ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'राजपूताने का इतिहास' (१९२७) में इस प्रस्थापना से असहमति जाहिर की है। उनके अनुसार ये सभी राजपूत जातियाँ भारत के प्राचीन राजवंशों से सम्बन्धित हैं।

तथ्य यह है कि ईसा पूर्व की ५-६ शताब्दियों में भारत में जैन और बौद्ध धर्मों का बहुत प्रभाव बढ़ा। महावीर और बुद्ध के प्रभाव से ब्राह्मणों के वर्णाश्रम धर्म की उपेक्षा हुई। अनेक क्षत्रिय अहिंसा का पथ अपना कर जैन एवं वैश्य या महाजन बने। इस आंधी ने राजवंशों को भी अहिंसावादी बना दिया। चाणक्य के अर्थशास्त्र में कम्भोज से सुराष्ट्र तक के क्षत्रियों का क्षात्र धर्म और व्यापार दोनों में रत रहने का उल्लेख सम्भवतः इसी ओर इंगित करता है। ईसा की ५वीं/६ठी सदी में इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप ब्राह्मणों ने धर्म रक्षण हेतु कमर कसी। शंकराचार्य के प्रभाव में वेदान्त एवं वैष्णव धर्म पुनर्जीवित हुए। वैश्य बने क्षत्रियों को अग्निकुल सम्भूत कह कर धर्म रक्षण के लिए उत्तेजित किया गया। आबू पर विराट् यज्ञ का समायोजन हुआ एवं होम कुण्ड से चार अग्निवंशी वीर निकले, जो परमार (इन्द्र से) सोलंकी (शिव से) चौहान (विष्णु से) एवं परिहार (ब्रह्मा से) उत्पन्न कहलाये। यह कथा प्रतीकात्मक भी हो सकती है। बहुत सम्भव है क्षत्रियों ने अपनी पूर्व पहचान पाकर पुनः क्षात्र धर्म ग्रहण किया एवं इस नवीन नामकरण के साथ परमार, चौहान, सोलंकी, परिहार आदि राजकुलों की स्थापना की हो।

ओसवालों के प्रथम १८ गोत्र :

एक और भ्रम है ओसवाल जाति के प्रथम १८ गोत्रों के सम्बन्ध में। परमार, सिसोदिया, राठौड़, चौहान, परिहार, भाटी, सोलंकी आदि राजपूत कौमों को बहुत बाद में महाजन वंश में शामिल किया गया था। जिन १८ गोत्रों की स्थापना रत्नप्रभ सूरि ने विक्रम ४०० वर्ष पूर्व महाजन वंश के लिए की थी, वे हैं—तातेड़, बाफना, कर्णावट, बलाहा, मोरख, कुलहट, वीरहट, श्री श्रीमाल, श्रेष्ठि, संचेती, आदित्य नाग, भूरि, भद्र, चिंचट, कुंभट, डीडु, कन्नौजिया और लघुश्रेष्ठि। ये भी पूर्व में सभी क्षत्रिय कौमें ही थीं।

ओसिया के ध्वंसावशेषों में एक टूटा हुआ शिलालेख मुनि श्री रत्न विजय जी को मिला है, जिस पर 'वि० संवत् ६०२ माघ शु० ३ उकेश वंश आदित्य नाग गोत्र' खुदा हुआ है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि ओसवालों के प्रथम १८ गोत्रों में से एक आदित्य नाग गोत्र के किसी श्रावक ने वहाँ कोई मन्दिर बनवाया होगा।

परमार, चौहान आदि राजपूत कौमें जो ७वीं सदी से १२वीं सदी के बीच ओसवालों में सम्मिलित हुईं, उनसे बने १८ गोत्र हैं : आर्य, छाजेड़, रांखेचा, काग, गरुड़, सालेचा, बागरेचा, कुकम्म, सफल, नखत, आभट, छावत, तुण्ड, पिछोलिया, हथुड़िया, मंडोवरा, मल्ल और गुंदेचा। इन सभी की तालिकाएँ मय उन्हें प्रस्थापित करने वाले आचार्यों के नाम और समय एवं उनके पूर्वनाम ग्रन्थ में अन्यत्र समाविष्ट हैं।

भाटों के कुछ कवित्तों में ऐसे पद हैं, जिनके अनुसार 'परमार, भाटी, मोयल, राठौड़, सोलंकी, चौहान, सांखला, परिहार, बोड़ा, दहिया, गोयल, मकवाणा, कछवाहा गौड़, खड़बड़, बैरड़, सोढ़ा और सिसोदिया आदि १८ राजपूत गोत्र ओसवाल बने।' ऐसे दो कवित्तों का वर्णन हम पूर्व अध्याय में कर चुके हैं। ऐसे ही किसी कवित्त का सहारा लेकर प्रसिद्ध इतिहासकार श्री सुखसम्पत राय जी भंडारी ने तर्क दिया कि 'संवत् २२२ में ये राजपूत कौमें दुनिया के परदे पर ही मौजूद नहीं थीं तो ओसवाल जाति में प्रविष्ट कैसे हुई?' इसी तरह का तर्क श्री सोहनराज जी भंसाली ने दिया: 'उपकेश गच्छ पट्टावली के अनुसार वीर संवत् ७० में ओसिया में प्रतिबोध पाकर जो क्षत्रिय जैन बने, वे क्षत्रियों के १८ गोत्रों के थे। भाटों के अनुसार २२२ में जो क्षत्रिय जैन बने, वे हैं--परमार, भाटी, मोयल आदि। उस समय इन क्षत्रिय गोत्रों का अस्तित्व ही नहीं था। क्षत्रियों के इन गोत्रों का उद्भव ७वीं से १२वीं शताब्दी का है।' अस्तु, इन इतिहासकारों के अनुसार ओसवाल जाति की उत्पत्ति ८वीं शताब्दी से पहले नहीं मानी जा सकती।

साफ जाहिर है कि किसी बद्ध धारणा की पुष्टि के लिये ही उपरोक्त तर्कों का सहारा लिया गया है। भाटों के जिन कवित्तों में इन राजपूत कौमों के ओसवाल बनने का वर्णन है, उनमें ही आचार्य रत्न प्रभ सूरि द्वारा संवत् २२२ में ओसवाल जाति की स्थापना की बात कही गई है। उक्त विद्वान भाटों के 'बीये बाईसे' के कथन को तो पूर्णतः अस्वीकार कर चुके हैं, पर उन्हीं भाटों के राजपूतों कौमों के ओसवाल बनने के उल्लेख के बल पर 'जैन ग्रंथों के वीरात् ७०वें वर्ष में ओसवाल जाति की स्थापना' को चुनौती दे रहे हैं!

उक्त तर्कों का खोखलापन स्वयं सिद्ध है। भाटों ने कहीं नहीं कहा कि आचार्य रत्न प्रभ सूरि द्वारा स्थापित गोत्र ये ही हैं या संवत् २२२ में जो ओसवाल बने, वे ये ही राजपूत कौमें हैं। भाटों के दो भिन्न कथनों को खींच कर एक दूसरे से जोड देना एवं एक दूसरे पर आश्रित बना देना कदाग्रह ही कहा जायेगा। भाटों के कवित्तों में भी राजपूत कौमों से बने गोत्रों का बखान करने वाले कुछेक ही कवित्त हैं—जैसे अभय ग्रन्थालय के ग्रन्थ क्रमांक ७७६५ एवं नाहर ग्रन्थागार या भोजकों के दफ्तर के कवित्त। किन्तु अन्य ग्रन्थों जैसे एशियाटिक सोसाइटी के सेवग सुखराम के छन्द, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के ग्रन्थ क्रमांक ६५५, अभय ग्रन्थालय के ग्रन्थ क्रमांक ६४८ में वर्णित ओसवालों के प्रथम १८ गोत्र वे ही हैं, जिनका वर्णन जैन ग्रन्थों में किया गया है जैसे तातेड़, बाफणा, कर्णाविट आदि। इनका राजपूत कौमों का ७वीं/८वीं शताब्दी के बाद ओसवाल बने गोत्रों से कोई मेल नहीं। 'चूंकि परमार, राठौड़ आदि राजपूत कौमें ७वीं/८वीं सदी के बाद ओसवाल बनीं, इसलिये ओसवालों की उत्पत्ति ७वीं/८वीं सदी के बाद हुई होगी'—यह कहना सरासर गलत होगा।

भाटों के प्रायः सभी कवित्तों में ओसवाल जाति की उत्पत्ति संवत् २२२ में मानी गयी है, इसे नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता।

इसमें कोई शक नहीं कि वि० ७७० के मुसलमानों के लगातार आक्रमणों ने पश्चिमी प्रदेश के राजाओं और सेनाओं का जीना हराम कर दिया था। छठी शताब्दी के तोरमाण हूण के आक्रमण के बाद वि० सं० ७६८ में मुहम्मद कासिम चढ़ आया। वि० सं० १०५८ में महमूद गजनी ने १३वार आक्रमण किये। वि० सं० १२२९ में महमूद गोरी ने अनेक प्रदेश हथिया लिये। वि० सं० १३५३ में अलाउद्दीन खिलजी ने इन अत्याचारों की इन्तिहा कर दी। इन सबका निशाना बने मुख्यतः राजा और राजपूत कौम के लोग। उनके हाथ से छुटकारा पाने का एक ही उपाय था धर्म परिवर्तन। लाखों करोड़ों राजपूत योद्धा मुसलमान बन गये। मुसलमानों की दुश्मनी मुख्यतः उनका लोहा न मान कर सामना करने वाले युद्ध वीर हिन्दू राजपूतों से थी, अतः अनेक राजपूत कौमों ने एक दूसरा मार्ग अख्तियार किया। वे युद्ध-कर्म छोड़ कर जैन बन गये। जैनों की अहिंसा के साथ उन्होंने वणिक-कर्म अपना लिया। इस तरह वे मुसलमानों के कहर से बच गये। इस दौरान जैनाचार्यों ने राजपूतों का धर्म एवं पेशा परिवर्तन कर ओसवालों के अनेक गोत्र स्थापित किये। प्रामाणिक प्राचीन इतिहास के अभाव में यतियों ने उनकी वंशावलियों के साथ अपने-अपने गच्छ का नाम जोड़ कर उत्पत्ति कथाओं की सृष्टि कर डाली। किन्तु उनसे ओसवाल जाति की मूल उत्पत्ति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

खरतर गच्छीय यतियों का स्वीकार :

खरतर गच्छ के यति श्री रामलाल जी ने सन् १९१० में प्रकाशित अपने ग्रन्थ 'महाजन वंश मुक्तावली' में स्पष्टतः स्वीकार किया है कि 'वीरात् ७० वर्ष (यानि विक्रम से ४०० वर्ष पूर्व) महाजन वंश की स्थापना करने वाले रत्नप्रभ सूरि का उपकेश गच्छ बजता था।' यति जी ने इस ग्रंथ में राजा उप्पलदेव के साथ महाजन बने क्षत्रियों के १८ गोत्रों की सूची भी दी है, जो हूबहू उपकेश गच्छीय मुनि ज्ञानसुन्दर जी द्वारा सन् १९२९ में प्रकाशित 'जैन जाति महोदय' में दी हुई तालिका से मिलती है।

यहाँ एक और तथ्य ध्यान देने योग्य है कि उक्त इतिहासकारों के पूर्व गभी खरतर गच्छ के यतियों ने उत्पत्ति सम्बन्धी उपकेश गच्छीय धारणा को अपने ग्रन्थों में मान्यता दी है। यति श्रीपाल जी, यति रामलाल जी प्रभृति खरतर गच्छीय ग्रन्थकारों ने श्री रत्नप्रभसूरि द्वारा वीरात् ७० वें वर्ष में ओस वंश की प्रस्थापना को स्वीकारा है एवं उत्पत्ति सम्बन्धी कथानक भी उपकेश गच्छीय ग्रन्थों से पूर्णतः मिलता है, सिवाय पूणी-सर्प की उपकथा एवं सामान्य अन्य विवरण के। उक्त इतिहासज्ञ भी विभिन्न गोत्रों की उत्पत्ति सम्बन्धी खरतर यतियों के उल्लेखों का तो बड़े सम्मानपूर्वक अपने

ग्रन्थों में उपयोग करते हैं, क्योंकि वे सभी गोत्र खरतर आचार्यों द्वारा प्रतिबोधित बताये गये हैं, पर चूंकि अन्य खरतर ग्रंथों में ओसवालों की उत्पत्ति का कोई जिक्र नहीं है, इसलिये खरतर यतियों के ही ओसवालों के उत्पत्ति सम्बन्धी इन प्रसङ्गों को अविश्वसनीय करार देते हैं।

एक तर्क यह भी है कि नाहर जी और भंडारी जी छठी सदी तक एवं नाहटा बन्धु और भंसाली जी ८वीं सदी तक इस जाति के अस्तित्व को शिलालेखों के कारण स्वीकार चुके हैं। तब १०वीं शताब्दी में हुए उप्पलदेव परमार एवं राजपूतों के १८ गोत्रों से ओसवालों की उत्पत्ति को जोड़ना कहाँ तक न्याय संगत है ?

जैन सम्प्रदायों के परस्पर वैमनस्य का प्रभाव :

जैनों के अनेक सम्प्रदाय हैं। उनमें शास्त्रीय मतभेद महावीर के तृतीय पट्टधर केवली जम्बू स्वामी के बाद से शुरू हो गये थे। उसी क्रम में ओसवालों के विभिन्न गोत्रों को लेकर भी खींचातान हुई। तपा गच्छ एवं खरतर गच्छ का आपसी वैमनस्य घृणा में तब्दील हो गया। अतः सं० १६०० के आसपास नये गोत्र बनाने की प्रथा ही बन्द कर दी गयी। परन्तु ओसवालों की उत्पत्ति १९वीं सदी तक सभी एक स्वर से 'वीरात् ७० वर्ष में ही मानते रहे'। इस सम्बन्ध में प्रथम मतभेद बीसवीं सदी में शुरू हुआ खरतर-गच्छोपासक प्रसिद्ध इतिहासज्ञ बाबू पूर्णचन्द जी नाहर से। इसी एवं अन्य तर्कों के आधार पर बाद में भंडारी जी, नाहटा बन्धु एवं भंसाली जी प्रभृति इतिहासज्ञों ने अपने मत स्थिर किये। उस समय की घटनाओं पर एक नजर डालें तो इस मतभेद के कारणों पर भी प्रकाश पड़ सकता है।

सन् १९१० में खरतर यति राम लाल जी का 'महाजन वंश मुक्तावली' एवं खरतर यति श्रीपालचन्द्र जी का 'जैन सम्प्रदाय शिक्षा' नामक अभूतपूर्व ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इन ग्रन्थों में ओसवाल समाज की उत्पत्ति उपकेश गच्छ के आचार्य रत्न प्रभसूरि द्वारा 'वीरात् ७० वर्ष यानि विक्रम सं० से ४०० वर्ष पूर्व' स्पष्ट शब्दों में स्वीकार की गयी थी, परन्तु इन दो ग्रन्थों में विभिन्न गोत्रों का जो इतिहास दिया गया था, उनमें से प्रायः सभी को खरतर गच्छ के आचार्यों द्वारा १०वीं से १५वीं शताब्दी के बीच स्थापित बताया गया था। तत्कालीन उपकेश गच्छीय मुनि ज्ञान सुन्दर जी ने इन स्थापनाओं को चुनौती दी। सन् १९२५ से १९२८ के बीच उन्होंने मूलतः १४वीं शताब्दी में रचित जैन ग्रन्थों को आधार मानकर गवेषणा पूर्वक नाना गच्छों एवं उनके साथ जुड़े ओसवाल गोत्रों का नामोल्लेख कर अनेक ग्रन्थ (जैन जाति महोदय आदि) लिखे। इन ग्रन्थों में उन्होंने खरतर यतियों द्वारा गोत्रों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दी गयी सर्प-दंश, पुत्र-प्राप्ति, धन-प्राप्ति आदि कथाओं को मनगढंत बताते हुए चुनौती दी। इससे खरतर गच्छ के आचार्यो एवं उपासकों में खलबली मच गयी। फल यह हुआ कि 'उपकेश गच्छ के आचार्य

द्वारा ओसवाल कुल की प्रस्थापना—को ही संदिग्ध बता कर पूरा इतिहास पलट दिया गया।' सर्वप्रथम प्रश्न चिन्ह लगाया खरतर गच्छोपासक प्रसिद्ध पुरातत्व वेत्ता पूर्णचन्द जी नाहर ने ('जैन लेख संग्रह', तृतीय खण्ड—प्रकाशन १९२८)। तर्कों द्वारा उसका समर्थन किया खरतर गच्छोपासक श्री सुख सम्पतराय जी भंडारी, श्री अगरचन्द जी भंवर लाल जी नाहटा, श्री सोहन राज जी भंसाली प्रभृत्ति विद्वानों ने। उनके समस्त तर्कों पर विचार हम कर ही चुके हैं।

श्री भंसाली जी ने 'उपकेश गच्छ पट्टावली' की प्रामाणिकता पर ही प्रश्न चिह्न लगा दिया है। वे अपना गच्छ पुरातन सिद्ध करने के मोह में इस पट्टावली को ही झूठ और पक्षपात पूर्ण उड़ानों से भरी एवं अविश्वसनीय मानते हैं। बात अगर विचार शील व्यक्ति के विश्वास करने की हो, तब तो अनेक जैन आचार्यों के चमत्कारपूर्ण विवरण आज अतिशयोक्ति पूर्ण एवं अविश्वसनीय ठहराने होंगे। श्री कक्क सूरि द्वारा विक्रम संवत् १३९३ में विरचित इस पट्टावली को प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान प्रोफेसर ए० एफ० रूडोल्फ होर्नेल ने पूर्णतः प्रामाणिक मानते हुए 'इण्डियन एण्टीक्वेरी' (Vol.१९-१८९०) में इसकी विशद चर्चा की है। अतः उसे अप्रामाणिक मानकर ठुकरा देने का कोई औचित्य नहीं लगता, जबकि उन्हीं कक्क सूरि द्वारा रचित 'नाभिनन्दन जिनोद्धार' एवं अन्य दूसरे ग्रन्थ जैन इतिहास की महत्वपूर्ण थाती है, जो हर प्रकार की चुनौती से परे हैं। गच्छ व्यामोह वश श्री भंसाली जी ने 'उपकेश गच्छ पट्टावली' के कुछ ऐसे उद्धरण अपने ग्रंथ में अपने मत की पुष्टि में दिये हैं, जो पट्टावली में हैं ही नहीं। जैसे—'उहड़ ने ओसिया बसाई' (पृष्ठ २) या 'उप्पलराज ने अपने राज्य को छोड़ कर मंडोर में प्रतिहारों के यहाँ शरण ली' (पृष्ठ ७) या 'ओसिया बसने के एक ही वर्ष बाद एक साथ १,२५००० से भी अधिक लोगों ने सम्यक्त्व ग्रहण कर जैन धर्म स्वीकार किया (पृष्ठ ३)। शायद उन्होंने 'उपकेश गच्छ पट्टावली' की प्रामाणिक प्रति देखी ही नहीं, इसीलिए संदर्भ 'जैन गुर्जर कवियों' नामक ग्रंथ के दिये हैं।'

भंसाली जी ने 'धर्कट वंश' से जुड़े कुछ ओसवाल गोत्रों के उल्लेखों के आधार पर एक और स्थापना की है कि 'उपकेश वंश धर्कट वंश की शाखा विशेष है', जो बेबुनियाद प्रतीत होती है। जब १३वीं १४वीं सदी के कुछ लेखों में धर्कट वंश के साथ 'नाहर' गोत्र लिखा है तो सीधा सा अर्थ यह है कि उस वंश में भी नाहर गोत्र रहा होगा, जैसा कि माहेश्वरियों में डागा आदि गोत्र। या हो सकता है धर्कट वंश ही ओसवालों की कोई शाखा रहा हो। यह शोध का विषय है।

भंसाली जी ने एक और संभावना व्यक्त की है। प्रसिद्ध इतिहास वेत्ता मुनि कल्याण विजय जी ने अपने ग्रन्थ 'प्रभाकर चरित्र प्रबन्ध पर्यालोचन' में लिखा है कि 'ससेनियन जाति के भारत पर आक्रमण से तक्षशिला का नाश हुआ और वहाँ से जैन पंजाब की ओर आ गये'। यहाँ तक तो ठीक, परन्तु मात्र इस आधार पर 'ओसवाल

जाति को तक्षशिला आदि नगरों से निकले जैन संघों से निकली' मान लेना ज्यादती होगा। सेवग अपने को शाकद्वीपी ब्राह्मणों के वंशज मानते हैं। और चूंकि सेवग ओसवालों से जुड़े हैं अतः 'ओसवालों के पूर्व पुरुष भी पश्चिम दिशा से आये'—मान लेना अन्याय होगा।

तक्षशिला में जैनों का निवास आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के समय से माना जाता है। वे कालान्तर में अन्य प्रदेशों में स्थानान्तरित हुए हों, ठीक। विदेशी शक, हूण व मुस्लिम आक्रमणों के फल स्वरूप अनेक जातियाँ पश्चिमी प्रदेशों से स्थानान्तरित हुईं। ऐसे उल्लेख भी जैन ग्रंथों में हैं कि राजस्थान से उपकेश जाति के लोग छठी सदी में हूण सम्राट् तोरमाण के पुत्र मिहिरगुल के अत्याचारों से त्रस्त हो गुजरात के प्रदेश में जा बसे। परन्तु विना किसी साक्ष्य के तक्षशिला के जैनों के स्थानान्तरण को ओसवालों की उत्पत्ति से जोड़ना और कहना कि 'मरु क्षेत्र में ओसला लेने व ओसी ग्राम में बसने से वे ओसवाल कहलाये' ऐतिहासिक दृष्टि से उचित नहीं होगा।

तीसरा मत : शास्त्रों का—'वीरात् ७० वर्ष' :

जैन आचार्यों एवं जैन ग्रंथकारों ने एक स्वर से ओसवालों की उत्पत्ति वीरात् ७० वर्ष यानि विक्रम संवत् से ४०० वर्ष पूर्व मानी है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने विक्रम संवत् से २६५ वर्ष पूर्व भारत में मौर्य साम्राज्य की स्थापना की। उसका प्रेरणा स्रोत था—महामन्त्री चाणक्य। चाणक्य के लोक-प्रसिद्ध ग्रंथ 'अर्थशास्त्र' में कंभोज (सिंध-अफगानिस्तान) से सौराष्ट्र तक बसे क्षत्रियों को शस्त्रधारी एवं व्यापारी—दोनों ही बताया गया है।

'काम्भोज-सुराष्ट्र क्षत्रिय-श्रेण्यादयः वार्त्ता शस्त्रोपजीविनः' यह उक्ति बड़ी अर्थपूर्ण है। क्षत्रिय समाज का व्यापारी वर्ग में रूपान्तरण उनके जैन बन कर हिंसा को त्याज्य मानने से ही निष्पन्न हुआ। क्षत्रिय के युद्ध कर्म के साथ वणिक कर्म अपनाने वाली जातियों में ओसवाल प्रमुख हैं। उस वक्त उन्हें किसी भी नाम से पुकारा जाता रहा हो (यथा महाजन या उएसो या उपकेशीय) परन्तु विक्रम से ढाई शताब्दी पूर्व यह रूपान्तरण सम्पन्न हो चुका था—यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने जैन धर्म अंगीकार कर लिया था। उनके जीवन का एक और प्रसंग उल्लेखनीय है। उन्होंने एक वैश्य कन्या से विवाह किया था एवं उनका साला पुष्पमित्र सौराष्ट्र का शासक था। पुष्पमित्र ने गिरनार के निकट प्रसिद्ध सुदर्शन तालाव बनवाया था। (Indian Antiquary v 7) कालान्तर में यही पुष्प मित्र मौर्य वंश के नाश का कारण बना एवं विक्रम पूर्व १२७ में मगध का सम्राट् बना। इसने शुंग वंश की नींव डाली। इसके वंशजों ने ११२ वर्ष तक मगध पर राज्य किया। इस तरह वैश्य और क्षत्रिय सम्बन्धों की यह शृंखला विक्रम की चौथी सदी पूर्व हुए क्षत्रिय-वैश्य रूपान्तरण की ओर इंगित करती है।

ओसवाल समाज की भगवान पार्श्वनाथ के प्रति अति भक्ति सर्व विदित है। जितने स्तोत्र एवं भजन पार्श्व प्रभु के मिलते हैं, उतने अन्य किसी तीर्थंकर के नहीं। सम्मेद शिखर पर जैनों के बीस तीर्थंकरों ने निर्वाण प्राप्त किया, परन्तु उसका नाम 'पार्श्वनाथ का पहाड़' ही पड़ा। कलकत्ता स्थित प्रसिद्ध दादा वाड़ी में पार्श्वनाथ का मन्दिर न होते हुए भी उसे पार्श्वनाथ मन्दिर के नाम से ही जाना जाता है। सर्व साधारण में पार्श्व-प्रतिमाओं का पूजन अधिक लोक प्रिय है। पार्श्व प्रभु के प्रति ओसवालों का यह अतिशय प्रेम उनके छठे पट्टधर श्री रत्नप्रभ सूरि द्वारा संस्थापन की ही पुष्टि करता है। प्रसिद्ध पुरातत्त्व वेत्ता श्री पूर्णचन्द जी नाहर ने अपनी प्रबन्धावली (१९३७) के आलेखों में ओसवालों के इस पार्श्व प्रेम को स्वीकार किया है।

ओसवाल और पार्श्वापत्य सम्बन्ध

जैन परम्परा के श्वेताम्बर मतानुयायी अधिकांशतः ओसवाल हैं। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि इन जैन उपासकों के हृदय में जितनी श्रद्धा और भक्ति पार्श्वनाथ के प्रति है, उतनी महावीर के प्रति नहीं। यद्यपि चौबीस जिनों की परम्परा में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ एवं चौबीसवें तीर्थंकर महावीर समान रूप से पूज्य हैं। हम जैन तीर्थों एवं तीर्थंकर प्रतिमाओं का एक सर्वेक्षण करें तो भी यही तथ्य उभरेगा कि सर्वाधिक तीर्थ एवं सर्वाधिक प्रतिमाएँ पार्श्वनाथ की ही हैं। समूचे जैन स्तोत्र एवं भक्ति साहित्य में प्रधानता पार्श्व-स्तुति की ही है। यह पार्श्व-प्रेम क्या ओसवालों के मूल स्रोत की ओर इङ्गित नहीं करता? पार्श्व संतानीय आचार्य रत्न प्रभ सूरि द्वारा प्रतिबोधित होकर संस्थापित होने का यह एक पुष्ट प्रमाण हो सकता है।

विद्वानों ने ओसवालों के इस पार्श्व-प्रेम को अनेक तरह से व्याख्यायित करने की चेष्टा की है। जैन दर्शनविद् कहते हैं कि किसी तीर्थंकर का नाम-कर्म विशिष्ट होता है और इसी कारण वह संघ में विशिष्ट पूजा पाता है। किन्तु चौबीस तीर्थंकरों में मात्र पार्श्व का ही नाम-कर्म विशिष्ट है—यह मानना ऐतिहासिक तथ्यों के विपरीत होगा।

आचार्य हस्तीमल जी ने 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' ग्रंथ में पार्श्व की प्रतिष्ठा का कारण पार्श्व के शासन में देव योनि को प्राप्त देव मंडल द्वारा शासन की प्रभावना करने को बताया है।

विद्वानों द्वारा इसी तरह का एक व्यावहारिक कारण पार्श्व के यक्ष यक्षी : धरणेन्द्र और पद्मावती द्वारा पार्श्व के उपासकों की मनोवांछित कामनाएँ पूरी करने को माना जाता है। प्रसिद्ध दर्शनविद् डा० सागरमल जैन ने अपने आलेख 'अर्हत पार्श्व और उनकी परम्परा' (श्रमण—अप्रैल-मई १९८८ का क्रोड पत्र) में उक्त यक्ष-यक्षी की धारणा को विश्लेषित करते हुए बताया है कि यद्यपि तीर्थंकर वीतराग होने के कारण न तो

अपने भक्तों का कल्याण करता है और न उन भक्तों को पीड़ा देने वाले को दण्डित करता है, किन्तु तीर्थंकर के जो यक्ष-यक्षी या भक्त देवता होते हैं, वे ही उन तीर्थंकरों के उपासक भक्तों के विघ्नों का उपशमन करते हैं और उनका हित साधन या कल्याण करते है।'

यह जो तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षी की कल्पना है,. वह सीधी हिन्दू परम्परा से ग्रहण की गयी है। यद्यपि सभी तीर्थंकरों के साथ विभिन्न यक्ष-यक्षिणियों का सम्बन्ध जोड़ा गया है, परन्तु वे सभी मात्र नामान्तर से हिन्दुओं की देव-देवियाँ हैं। पार्श्व के यक्ष धरणेन्द्र एवं यक्षी पद्मावती का तो हिन्दूओं के देवी देवता से नाम व रूप साम्य भी है। धरणेन्द्र की प्रतिमा गणेशजी की तरह गज शीर्ष युक्त होती है। देवी पद्मावती का जैन परम्परा में जो स्थान है, वही दुर्गा का हिन्दुओं में है। आश्चर्य जनक तथ्य यह है कि ये यक्ष-यक्षी की प्रतिमाएँ श्वेताम्बर मन्दिरों में ही हैं, दिगम्बर मन्दिरों में नहीं। श्वेताम्बर मन्दिरों में भी अन्य तीर्थंकरों की प्रतिष्ठा होते हुए भी उनके यक्ष-यक्षी को प्रधानता न देकर, पार्श्व के यक्ष-यक्षी को ही प्रधानता दी जाती है।

स्पष्टतः यह अवधारणा ओसवालों के क्षत्रिय कुल एवं पूर्ववर्ती शैव-धर्म की ओर इंगित करती है। चूंकि श्वेताम्बर धर्मावलम्बी जैनों में सर्वदा ओसवालों का ही वर्चस्व रहा, अतः उनकी सारी पूर्ववर्ती अवधारणाएँ उनके धर्म परिवर्तन के उपरान्त कायम रहीं एवं समूचे धर्म संघ द्वारा ग्रहण कर ली गयीं। जैनों की वीतरागी-धर्म साधना से अन्यथा इस विघ्न विनाशक या कल्याणकारी उपासना का क्या मेल था? पार्श्व प्रभु के दर्शन में भी ऐसी किसी उपासना का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु विक्रम पूर्व पांचवीं शताब्दी के शैव एवं जिन संस्कृति के ओसवाल संगम ने जिस मिश्रित संस्कृति को जन्म दिया, वह अब भी कायम है। आज भी ओसवाल घरों में देवी-देवताओं की पूजा पूर्ववत होती है।

इस तीसरे मत के पुष्टिकारक साक्ष्यों में अधिकांश महत्त्वपूर्ण जैन ग्रंथ हैं। सर्व प्रथम उन ग्रन्थों एवं साक्ष्यों का विवरण देंगे, जिनमें स्पष्टतः ओसवालों की उत्पत्ति 'वीरात् ७० वर्षे' यानि विक्रम संवत् से ४०० वर्ष पूर्व होने का स्पष्ट उल्लेख है। तत्पश्चात् ऐसी घटनाओं एवं साक्ष्यों का उल्लेख करेंगे, जिनसे ओसवालों की उत्पत्ति विक्रम संवत् से ४०० वर्ष पूर्व होना सिद्ध होता है या दसवीं या नवमी शताब्दी में उत्पत्ति वाले इतिहासकारों के दूसरे मत का खण्डन होता है।

स्पष्ट उल्लेख वाले ग्रंथ :

१. विक्रम संवत् १३९३ में श्री कक्क सूरि रचित ग्रंथ **'नाभिनन्दन जिनोद्धार'** के अनुसार 'वीर निर्वाणात् ७० वर्षे' (यानि विक्रम पूर्व ४०० वर्ष में) आचार्य

रत्नप्रभ सूरि ने उपकेशपुर में महाजन वंश की स्थापना कर महावीर मन्दिर की प्रतिष्ठा करवाई। इस सम्बन्ध में ग्रंथ के निम्न श्लोक उल्लेखनीय हैं :

ततः श्रीमत्युपकेशपुरे वीर जिनेशितुः
प्रतिष्ठां विधिनाऽधाय, **रत्न प्रभ सूरयः** ॥ १८५ ॥
कोरण्टकपुरे गत्वा, व्योममार्गेण विद्यया
तस्मिन्नेव धनुर्लग्ने प्रतिष्ठां विदधुर्णराम् ॥ १८६ ॥
श्री वीर निर्वाणात्सप्त तिसंख्यैर्वत्सरैर्गतैः
उपकेशपुरे वीरस्य, सुस्थिरा स्थापनाऽजनि ॥ १८७ ॥
एवं तत्र पुरे पूज्याः **संस्थिता वणिजा** मथ
अष्टादश सहस्राणि, जंघानां प्रत्यबोधयत् ॥ १९१ ॥

उक्त श्लोकों में रत्नप्रभ सूरि द्वारा वीरात् ७० वर्षे उपकेश पुर के साथ ही कोरटंक पुर में एक ही समय में महावीर मन्दिरों की स्थापना तथा वहाँ अठारह हजार क्षत्रियों को प्रतिबोध देकर महाजन बनाने का उल्लेख है।

२. **श्री उपकेशगच्छ चरित्र :** विक्रम १४वीं सदी में रचित संस्कृत में पद्यबद्ध बहुश्रुत जैन इतिहास है। इसमें उकेशवंश (ओसवाल) की उत्पत्ति वीरात् ७० वर्ष यानि 'भगवान महावीर के निर्वाण के ७० वर्ष बाद' लिखी है। महावीर स्वामी का निर्वाण विक्रम संवत् से ४७० वर्ष पूर्व माना जाता है।

३. **उपकेश गच्छ प्राचीन पट्टावली :** जिसका रचना काल वि० सं० १४०२ है, से प्रमाणित होता है कि वीरात् ७० वर्षे आचार्य रत्नप्रभ सूरि ने उपकेशपुर के महावीर मन्दिर में भगवान महावीर के बिम्ब की प्रतिष्ठा की। इस सम्बन्ध में पट्टावली का निम्न श्लोक ज्ञातव्य है :

सप्तस्य वत्सराणां चरमजिनपते मुक्तिजातस्य वर्षे,
पंचम्या शुक्लपक्षे सुहगुरु दिवसे ब्रह्मणः सन्मुहूर्ते।
रत्नाचार्यैः सकलगुणयुतैः, सर्वसंघानुज्ञातैः,
श्री मद्वीरस्य बिंबे भवशतमथने निर्मितेयं प्रतिष्ठाः॥

उकेश या उपकेश शब्द का ही अपभ्रंश 'ओस' हुआ, जो कालान्तर में 'ओसवाल' बना। इसी मुख्य पट्टावली के आधार पर अन्य पट्टावलियाँ लिखी गयीं।

४. **महाजन वंश मुक्तावली :** में जैन खरतर यति रामलाल जी ने अनेकानेक ओसवाल गोत्रों की उत्पत्ति कथाओं के पूर्व ओसवाल जाति का उत्पत्ति कथानक बहुत विस्तारपूर्वक दिया है। उनके अनुसार पार्श्वनाथ संतानीय उपकेश गच्छीय जैनाचार्य रत्नप्रभ सूरि ने वीरात् ७०वें वर्ष में ओसियापट्टन के क्षत्रिय राजा उत्पलदे को

प्रतिबोध देकर जैन बनाया एवं महाजन वंश की स्थापना की, जो कालान्तर में ओसवाल कहलाये। यह ग्रंथ संवत् १९६७ में बीकानेर से प्रकाशित हुआ है।

५. **जैन सम्प्रदाय शिक्षा** : नामक वृहद् ग्रंथ की रचना खरतर गच्छ के यति श्री पाल चन्द्र जी ने की। यह ग्रन्थ संवत् १९६७ में बम्बई से प्रकाशित हुआ है। यतिजी ने इसे कई वर्ष पूर्व सम्पूर्ण कर लिया था, किन्तु उनके अचानक देहावसान के कारण कानूनी कठिनाईयाँ उठ खड़ी हुई, अतः प्रकाशन १९६७ में ही हो सका। इसी ग्रंथ को ओसवाल जाति के इतिहास का प्रथम ग्रंथ मानना चाहिए। इसमें ओसवाल जाति की उत्पत्ति कथा एवं विभिन्न गोत्रों का इतिहास दिया है। यतिजी के अनुसार वीरात् ७०वें वर्ष में उपकेश गच्छीय आचार्य रत्नप्रभ सूरि ने उकेश नगरी में ओसवाल जाति के प्रथम १८ गोत्रों की स्थापना की।

६. **जैन गोत्र संग्रह** : में गुजरात के प्रसिद्ध जैन इतिहासकार पं० हीरालाल हंसराज ने लिखा है कि 'वीरात् ५२ वर्ष बाद पार्श्वनाथ के छठे पट्टधर रत्नप्रभ सूरि आचार्य पदासीन हुए। उन्होंने १८ वर्ष बाद ओश्या में एक लाख अस्सी हजार राजपुत्रों (क्षत्रियों) को जैनी बनाया। उनकी जाति का नाम ओसवाल हुआ।'

७ **जैन इतिहास** : नामक अन्य ग्रन्थ में पंडित हीरालाल हंस राज ने उक्त स्थापना को दोहराते हुए एक भाट कवि के कवित्त का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार भगवान महावीर के निर्वाण के ७० वर्ष पश्चात् ओसवाल जाति की स्थापना हुई। पूरा कवित्त इस प्रकार है :

श्री वर्धमान जिन थकी बरस बावन पद लीयो
ताहु आठ दस बरस नयर ओसीईये इयो
प्रति बोधे नाम चामुंड श्री सिद्धांचल पायो
अति अतिसय वंत अति तपसी केवायो
एक लाख असी सहस राजपुत्र प्रतिबोधीया
ॐ श्री रत्न शेखरे ओसवाल ओसीईये थप्पीया।

८. **जैन जाति महोदय** : वि० सं० १९८६ में फलौदी से प्रकाशित इस वृहद् ग्रंथ के लेखक उपकेश गच्छीय मुनि ज्ञान सुन्दर जी ने बहुत शोध-परिशोध के बाद ओसवाल जाति की उत्पत्ति वीरात् ७०वें वर्ष में मानी है। उक्त ग्रन्थ में उन्होंने विभिन्न ओसवाल गोत्रों का इतिहास भी दिया है। खरतर गच्छीय इतिहासकारों की ओसवाल जाति-उत्पत्ति की १०वीं सदी वाली मान्यता को चुनौती देते हुए मुनि जी ने अनेक लघु ग्रंथ प्रकाशित किये, जिनमें 'वीरात् ७० वर्षे' वाली मान्यता के पक्ष में तर्क संग्रहित हैं। 'श्री ओसवाल जाति समय निर्णय' (वि० सं० १९८५) पुस्तिका में मुनिजी ने इस पक्ष को विशिष्टतः व्याख्यायित किया है।

९. **महेश्वरी कल्प द्रुम :** नामक ग्रंथ में महेश्वरी जाति की उत्पत्ति का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। इस जाति की उत्पत्ति से पूर्व उपकेश जाति विद्यमान थी। ग्रन्थ में भाटों के एक कवित्त का उल्लेख है, जिसके अनुसार वीर-निर्वाण से ५२ वर्ष पश्चात् रत्न प्रभ सूरि आचार्य पदासीन हुए एवं १८ वर्ष पश्चात् ओसिया में उन्होंने १,८४,००० राजपुत्रों को प्रतिबोध देकर ओसवाल बनाया। यह कवित्त पूर्व अध्याय में उद्धृत किया जा चुका है।

१०. **जैनाचार्य विजय धर्म सूरि :** ने अपने प्रबन्ध में यह स्थापना की है कि सबसे पहले रत्नप्रभसूरि ने ओसनगरी में वीरात् ७० वर्षे ओसवाल बनाये।

११. **जैनधर्म विषयक प्रश्नोत्तर :** में जैनाचार्य विजयानन्द सूरि (आत्माराम जी महाराज) ने जैन धर्म की प्राचीनता बतलाते हुए भगवान पार्श्वनाथ के सन्तानीय उपकेश गच्छाचार्यों में रत्नप्रभ सूरि द्वारा वीरात् ७० वर्ष में उपकेश नगरी में ओसवाल-वंश-स्थापना का उल्लेख किया है।

११. **गच्छमत प्रबन्ध :** में आचार्य बुद्धिसागर सूरि ने लिखा है कि उपकेश गच्छ सर्व गच्छों में प्राचीन है, जिसके आचार्य रत्न प्रभसूरि ने वीरात् ७० वर्षे उकेश नगरी में उकेश वंश की स्थापना की थी।

१३. **प्राचीन जैन इतिहास :** में लिखा है कि प्रभव स्वामी के समय पार्श्वनाथ सन्तानीय रत्नप्रभ सूरि ने वीरात् ७० वर्षे उएस नगर में उएसवंश की स्थापना की।

१४. **आबू मन्दिरों का निर्माण :** ग्रन्थ में पन्यास श्री ललित विजयजी महाराज ने कोचरों का इतिहास लिखते हुए उक्त मत का समर्थन किया है।

१५. **स्याद्वादानुभव रत्नाकर :** में खरतराचार्य चिदानन्द स्वामी ने उक्त स्थापना का उल्लेख किया है।

१६. **जैन मतपताका :** में श्री शान्ति विजयजी ने भी उक्त मत का समर्थन किया है।

१७. **जैन धर्म का इतिहास :** (भावनगर प्रेस से जैन धर्म प्रसारक सभा द्वारा प्रकाशित) में इसी मत का समर्थन है।

१८. **श्री माली वानीयों ना जाति भेद :** में प्रो० मणिलाल बकोरभाई सूरतवाला ने भी यही मत अधिक संभाव्य बताया है।

१९. मुनि श्री रत्न विजयजी ने ओसिया नगर के प्राचीन स्थानों की शोध कर इसी स्थापना को स्वीकारा है।

२०. इतिहास वेत्ता मुनि कल्याण विजयजी के अनुसार आचार्य स्कंदिल (विक्रम की दूसरी सदी) के पट्टधर आ० हेमवंत ने 'हेमवंत स्थविरावली' लिखी—जिसमें

उल्लेखानुसार भगवान महावीर के निर्वाण से ७० वर्ष के बाद पार्श्वनाथ की परम्परा के छठे पट्टधर आचार्य रत्नप्रभ ने उपकेश नगर में १८०००० क्षत्रियों को उपदेश देकर जैन धर्मी बनाया और वहाँ से उकेश नामक वंश चला। (पृष्ठ १९५)

२१. **आबू जैन मन्दिरों के निर्माता :** ग्रंथ में कतिपय कुल गुरुओं की ओसवाल जाति उत्पत्ति विषयक वीये वाईसे की धारणा को चुनौती देते हुए लिखा है कि "जैन पट्टावली और जैन ग्रंथों में ओस वंश स्थापना का समय महावीर निर्वाण से ७० वर्ष बाद ही लिखा मिलता है, जो वास्तविक मालूम होता है।"

२२. व्याकरण वाचस्वति यतीन्द्र विजय जी महाराज ने अपने ग्रन्थ '**कोरंटा तीर्थ का इतिहास**' में लिखा है कि वीरात् ७० वर्ष आचार्य रत्नप्रभ सूरि ने उपकेशपुर में उपकेश वंश की स्थापना कराके वहाँ महावीर मन्दिर की प्रतिष्ठा की एवं उसी समय कोरंटपुर में भी महावीर मन्दिर की प्रतिष्ठा आप ही ने करवायी।

२३. अनेक गच्छों एवं सम्प्रदायों की प्राचीन पट्टावलियों में इस बात के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं कि वीरात् ७० वर्ष आचार्य रत्नप्रभ सूरि ने ओसिया नगरी में ओसवंश की स्थापना की। इनमें मुख्य हैं :

(१) तपागच्छीय प्राचीन पट्टावली
(२) अंचल गच्छीय पट्टावली
(३) कोरंट गच्छीय पट्टावली
(४) खरतर गच्छीय पट्टावली
(५) नागपुरिया गच्छीय पट्टावली

२४. देश के अनेक ग्रन्थागारों एवं हस्तलिखित ग्रन्थ भण्डारों में अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं, जिनमें वीरात् ७० वर्ष में ओसवाल जाति की स्थापना का स्पष्ट उल्लेख है। ऐसे ग्रंथों/गुटकों/कवित्तों का वर्णन पूर्व अध्याय में किया जा चुका है। यहाँ मात्र उनकी सूची देना पर्याप्त होगा।

(१) एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता में उपलब्ध ओसवाला री उत्पत के कवित्त (क्रमांक R १८)
(२) एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता में उपलब्ध साधु बालाराम के छन्द
(३) एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता में उपलब्ध सेवग सुखराम लोडावत के छन्द
(४) अभय ग्रंथालय, बीकानेर में उपलब्ध ग्रंथ क्रमांक ६४८।
(५) अभय ग्रन्थालय, बीकानेर में उपलब्ध ग्रन्थ क्रमांक ७७६५।
(६) केलडी मन्दिर के ग्रंथागार में उपलब्ध ग्रन्थ क्रमांक १२७५।
(७) केशरीयानाथ जी मन्दिर के ग्रंथागार में उपलब्ध ग्रंथ संख्या २९/५७।
(८) केशरीयानाथ जी के मंदिर के ग्रंथागार में उपलब्ध ग्रंथ संख्या २२।

सहायक साक्ष्य :

ऐसे अनेक ग्रंथ एवं साक्ष्य उपलब्ध हैं, जिनमें उपकेश वंश की उत्पत्ति विक्रम संवत् से ४०० वर्ष पूर्व होनी सिद्ध होती है या नौ वीं/दसवीं सदी वाले मत का खण्डन होता है। इन ग्रन्थों में ऐसी घटनाओं के उल्लेख हैं, जिनसे सहज ही ओसिया एवं ओसवाल जाति के बहुत प्राचीन होने की पुष्टि होती है।

१–उपकेश गच्छ चरित्र

उपकेश गच्छ चरित्र (रचना : वि० सं० १३९३) में वीरात् ७०वें वर्ष में उत्पलदेव द्वारा जैन धर्म अंगीकार करने के बाद उपकेशपुर में भगवान महावीर का एक मन्दिर निर्माण करवाने का उल्लेख है। यह ग्रंथ उपकेश गच्छीय आचार्य कक्क सूरि द्वारा विरचित है। मन्दिर की प्रतिष्ठा के अनन्तर ३०३ वर्ष बाद महावीर प्रतिमा के वक्षस्थल पर स्थित दो ग्रन्थियों के छेदन से बहुत उपद्रव हुआ। कहते हैं उस दैवी-उपद्रव से उपकेश वंशीय उपासक/श्रावक गण बहुत घबड़ा गये। उनके निमन्त्रण पर आचार्य श्री कक्क सूरि उपकेश नगर पधारे एवं शान्ति अनुष्ठान का आयोजन किया। स्नात्र-पूजा करवाई, जिससे उपद्रव शान्त हुआ। स्नात्र पूजा के समय उपकेश गच्छ के प्रथम संस्थापित अठारह गोत्रों के श्रेष्ठि उपस्थित थे।

स्नात्र पूजा का वर्णन करते हुए ग्रंथकार लिखता है :

"आचार्यैः चतुर्विधसङ्घ सहितैः उपवासत्रयं कृतं। तृतीयोपवास प्रान्ते रात्रि समये शासनदेव्या प्रत्यक्षीभूय आचार्याय प्रोक्तम्—'हे प्रभो ! न युक्तं कृतं बालश्रावकैः मद् घटितं बिम्बं आशातितं (कलानिश) शकलानि कृतं। अतोऽनन्तरं उपकेशनगरं शनैः उपभ्रंश भविष्यति (गमिष्यति) गच्छे विरोधो भविष्यति, श्रावकाणां कलहो भविष्यति, गोष्ठिका नगरात् दिशोदिशं यास्यन्ति'। आचार्यैः प्रोक्तं–'परमेश्वरि ! भवितव्यं भवत्येव परं त्वं श्रवत्तु रुधिरं निवारय'। देव्या प्रोक्तम्–'घृत घटेन, दधि घटने, इक्षुरस घटेन दुग्ध घटने, जल घटने कृतोपवासत्रयं यदा भविष्यति तदा अष्टादश गोत्रमेलं कुम्भ (तेमी) तातहड़गोत्रं (तसभट) बापणा-गोत्रं (बप्पनाग) कर्णाट गोत्रं, बलहगोत्रं, मोरखगोत्रं, कुलहट गोत्रं, विरिहर गोत्रं, श्रीश्रीमाल गोत्रं, श्रेष्ठिगोत्रं, एते दक्षिण बाहौ। सूचंति गोत्रं, आइच्चणाग गोत्रं, भूरिगोत्रं, भद्रगोत्रं, चिचट गोत्रं, कुंभट गोत्रं, कन्याकुब्ज गोत्रं, डिडुभगोत्रं, लघु श्रेष्ठि गोत्रं एते वाम बाहौ। स्नात्रं कर्त्तव्यं। नान्यथा शिवा शान्ति भविष्यति'।

मूल प्रतिष्ठाऽनन्तरं वीर प्रतिष्ठा दिवसा दतीते गतत्रये (त्र्याधिके त्रिशते ३०३ वर्षे) अनेहसि ग्रन्थियुगस्य वीरोरः स्थस्य भेदोऽजनि दैव योगात् इत्युक्तं॥"

उक्त उल्लेखों से उपकेश गच्छ, उपकेश वंश, उसके प्रथम अठारह गोत्र एवं उनका समय निश्चित करने में बड़ी सहायता मिलती है। इन ग्रंथों के मूल उत्पत्ति सम्बन्धी उल्लेखों का वर्णन हम ऊपर कर आये हैं।

ग्रंथिछेदन की उक्त घटना का उल्लेख श्री कक्क सूरि रचित 'नाभिनन्दन जिनोद्धार' ग्रंथ (रचना वि० सं० १३८३) में भी विस्तार से मिलता है।

२. नाभिनन्दन जिनोद्धार

आचार्य कक्क सूरि द्वारा वि० सं० १३९३ में रचित इस ग्रंथ में शत्रुञ्जय तीर्थ के १५वें उद्धारक उपकेश वंशीय समर सिंह (वि० सं० १३७१) का जीवन चरित्र है। उनके पूर्वज उपकेशपुर से १०वीं शताब्दी के आसपास किराडू आकर बसे। वे श्रेष्ठि गोत्रीय थे। समर सिंह के इस प्रशस्ति ग्रंथ में रत्नप्रभ सूरि, उपकेशपुर के वैभव, उकेश वंश, उसके १८ गोत्र एवं समरसिंह के पूर्वजों के नाम—आदि पुरुष वेसट श्रेष्ठि से शुरू करके दिये हैं। इस ग्रन्थ के निम्न श्लोक दृष्टव्य हैं, जिनमें वीर निर्वाण से ७० वर्ष पश्चात् आचार्य श्री रत्नप्रभ सूरि द्वारा उकेशपुर में प्रतिष्ठापित महावीर मन्दिर एवं उकेश वंश के १८ गोत्रों में विख्यात श्रेष्ठि गोत्र का वर्णन है :

यत्रास्ते वीर निर्वाणात् सप्तत्या वत्सरैर्गतैः।
श्रीमद्रत्नप्रभाचार्यैः स्थापितं वीर मन्दिरम् ॥२३॥

तत् पुरः प्रभवो वंश, ऊकेशाभिध उन्नतः।
सुपर्वा सरलः किन्तु नान्तः शून्योऽस्तियः क्वचित् ॥ ३० ॥

तत्राऽष्टादश गोत्राणि, पत्राणि व समन्ततः।
विभ्रान्ति तेषु विख्यातं श्रेष्ठि गोत्रं पृथुस्थिति ॥ ३९ ॥

इससे वीरात् ७० वर्षे उकेश वंश की उत्पत्ति का ही समर्थन नहीं होता अपितु इस वंश के प्रभावक चरित्रों पर भी प्रकाश पड़ता है।

३. उपकेश गच्छ पट्टावली

वि० सं० १४०२ में विरचित इस ग्रन्थ के अनुसार श्री रत्नप्रभ सूरि ने उपकेश पुर के साथ ही कोरंट नगर में भी एक महावीर मन्दिर की स्थापना की थी। पट्टावली में इसका उल्लेख इस प्रकार है :

उपकेशे च कोरंटे तुल्यं श्री वीर बिम्बयो।
प्रतिष्ठा निर्मिता शक्त्या श्री रत्नप्रभसूरिभिः॥

यह नगर व मन्दिर आज भी एरिनपुरा छावनी से तीन कोस पर कोरंट गाँव में विद्यमान है। पट्टावली के अनुसार इन मन्दिरों की प्रतिष्ठा वीरात् ७०वें वर्ष में हुई थी।

४. 'कल्पद्रुम कलिका' :

टीका के स्थविरावली अधिकार में उकेश नगर एवं कोरंट नगर में एक ही समय आचार्य रत्नप्रभ सूरि द्वारा भगवान महावीर के बिम्ब की प्रतिष्ठा का उल्लेख है :

"उपकेश वंश गच्छे श्री रत्नप्रभु सूरिः येन उसिय नगरे कोरटं नगरं च सम-कालं प्रतिष्ठा कृता रूप द्वय कारणेन चमत्कारश्च दर्शितः।"

इससे भी उपकेश गच्छ पट्टावली के कथनों का समर्थन एवं वीरात् ७० वर्ष उपकेश वंश स्थापना की पुष्टि होती है।

५. आचार्य हरिभद्र सूरि :

आचार्य हरिभद्र सूरि (वि० सं० ५३० से ५८५) ने 'समराइच्च कहा' ग्रंथ रचा। इस प्राकृत कथा ग्रंथ के आधार पर आचार्य कनकप्रभ सूरि ने सार रूप 'समरादित्यसार' संस्कृत भाषा में रचा है। 'समराइच्च कहा' के अनुसार 'उएश नगर के उपकेश जाति के लोगों के गुरु ब्राह्मण नहीं हैं। वे ब्राह्मण—कर से मुक्त हैं।' इस सम्बन्ध में ग्रंथ का निम्न श्लोक दृष्टव्य है :

तस्मादुपकेश ज्ञातीनां गुरुवो ब्राह्मणाः नहि।
उएश नगरं सर्वं कर ऋण हंनि समृद्धिमत् ॥
सर्वथा सर्व निर्मुक्तमुएशनगरं परम्।
तदा प्रभृति सजाति मिति लोक प्रवीणकम् ॥३९॥

कहा जाता है कि जब उपकेश नगर के क्षत्रिय लोग जैन बन गये तो ब्राह्मणों ने उनके संस्कार करवाने से इन्कार कर दिया। तब कुछ ब्राह्मणों को पुश्तैनी अधिकार का आश्वासन दे भोजक बनाकर जैन मन्दिरों की पूजा-प्रतिष्ठा के लिए रखा गया। तब से अन्य ब्राह्मणों का सम्बन्ध उपकेश जाति से टूट गया। वे ब्राह्मण-कर से मुक्त कर दिये गये। उपकेश जाति के गुरु ब्राह्मण नहीं हैं।

आचार्य हरिभद्र का समय विक्रम ५३० से ५८५ के बीच माना जाता है। मुनि जिन विजयजी ने उनका समय वि० ७५७ से ७८७ के बीच माना है। परन्तु आचार्य सिद्धर्षि के उल्लेखानुसार उनके ग्रन्थ 'उपमिति भव प्रपंच कथा' की रचना संवत् ९६२ में हुई, जिसे अगर वीर संवत् मानें तो वह वि० ४९२ ठहरता है। आचार्य हरिभद्र आचार्य सिद्धर्षि के दीक्षा गुरु थे। अतः हरिभद्र का समय ५वीं/६ठी शताब्दी ठहरता है। प्राचीन शास्त्रीय मान्यता के अनुसार उनका समय वि० ५३० से ५८५ है। पं० हीरा लाल हंसराज के अनुसार वे वि० सं० ५३५ में दिवङ्गत हुए थे।

'समराइच्च कहा' ग्रन्थ की ऐतिहासिक महत्ता को प्रसिद्ध जर्मन विद्वान डा० हरमन जेकोबी ने भी स्वीकारा है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने पोरवाल जाति को संगठित किया था। छठी शताब्दी के इस ग्रन्थ में उपकेश नगर की समृद्ध उपकेश जाति का उक्त वर्णन सिद्ध करता है कि यह जाति सैकड़ों वर्ष पूर्व स्थापित हुई होगी, तभी वैसी समृद्धि अर्जित कर सकी।

६. उपकेशगच्छ प्राचीन पट्टावली

विक्रम की दूसरी शताब्दी में उपकेशगच्छाचार्य श्री यक्षदेव सूरि सोपारपट्टण विराजते थे। उस समय वज्रस्वामी के पट्टधर वज्रसेनाचार्य ने अपने चार शिष्यों को दीक्षा दे सोपारपट्टण ज्ञानाभ्यास के लिए यक्षदेवसूरि के पास भेजा। यक्षदेवसूरि ने १२ वर्ष विद्याभ्यास के अनन्तर उन्हें सूरि पद अर्पण कर विहार कराया। इन चारों की अलग-अलग चार शाखाएँ हुई: नागेन्द्र शाखा, चन्द्र शाखा (तपागच्छ एवं खरतर गच्छ इसी शाखा में हैं), निवृत्ति शाखा और विद्याधर शाखा (जिसमें हरिभद्र सूरि हुए)। इन तथ्यों से विक्रम की दूसरी सदी में उपकेश गच्छ का प्रभावकारी अस्तित्व स्वयं सिद्ध है। उपकेश प्राचीन पट्टावली में इसका उल्लेख इस प्रकार है:

एवं अनुक्रमेण श्री वीरात् ५८५ वर्षे श्रीयक्षदेवसूरिर्बभूव
महाप्रभावकर्ता, द्वादशवर्षे (वार्षिके) दुर्भिक्षमध्ये
वज्रस्वामी शिष्य वज्रसेनस्य गुरौ परलोकप्राप्ते
यक्षदेव सूरिणा चातस्त्रः शाखाः स्थापिता:

इन चार शाखाओं की विक्रम की दूसरी शताब्दी में स्थापना एक सर्व मान्य ऐतिहासिक तथ्य है।

७. प्रभावक चरित्र मानदेव प्रबन्ध

'प्रभावक चरित्र' के मानदेव प्रबन्ध में श्री देवचन्द्र उपाध्याय द्वारा कोरंट नगर के महावीर मन्दिर की व्यवस्था किये जाने का उल्लेख है। यह वही मन्दिर है, जिसमें श्री रत्न प्रभ सूरि द्वारा एक ही समय में उपकेशपुर में उपलदेव एवं उहड़ श्रेष्ठि द्वारा निर्मित महावीर मन्दिर के साथ महावीर प्रतिमा की प्रतिष्ठा का उल्लेख उपकेश गच्छ पट्टावली में मिलता है और जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इस ग्रन्थ के प्रबन्ध नायक मानदेव सूरी का समय भगवान महावीर से ७३१ वर्ष बाद ठहरता है। देवचन्द्र सूरि के पट्ट पर प्रद्युम्न सूरि एवं उनके पट्ट पर मानदेव सूरि विराजे। इससे कोरंट नगर के महावीर मन्दिर की प्राचीनता सिद्ध होती है, साथ ही उपकेश गच्छ पट्टावली में वर्णित कथानक का समर्थन भी होता है।

८. जैन धर्म प्रश्नोत्तर

आचार्य विजयानंद सूरि रचित इस ग्रंथ के अनुसार देवर्द्धिगणी क्षमा श्रमण ने उपकेश गच्छाचार्य देवगुप्त सूरि के पास एक पूर्ण सार्थ और आधा पूर्ण मूल एवं डेढ़ पूर्ण का अभ्यास किया था। देवर्द्धिगणि, क्षमाश्रमण का समय वि॰ की पाँचवीं/छठी सदी ठहरता है। उक्त उल्लेख का समर्थन उपकेश गच्छ चरित्र एवं पट्टावली से भी होता है। यह तत्कालीन उपकेश गच्छाचार्य की महिमा का सूचक है।

९. राजपूताना की सोधखोज

राजपूताना की सोध खोज में मुन्शी देवी प्रसाद जी (जोधपुर) ने कोटा राज के अटारु ग्राम में एक जैन मन्दिर के खंडहरों में प्राप्त एक मूर्ति के नीचे 'वि० सं० ५०८ भेंसाशाह' का उल्लेख किया है। यह भेंसाशाह उपकेश जाति आदित्यनाग गोत्र का महाजन था। भेंसाशाह और रोड़ा विणजारा का प्रेम-सम्बन्ध प्रसिद्ध है। इन्हीं के नाम पर भेंसारोड़ा (मेवाड़) ग्राम बसा, जो आज भी मौजूद है। जैन समाज में भेंसाशाह बड़ा प्रख्यात था। इस लेख से ओसवाल जाति की समृद्धि उससे बहुत पहले ही सिद्ध हो जाती है।

१०. कलकत्ता के म्यूजियम में संग्रहित पार्श्वनाथ भगवान की एक मूर्ति पर 'वीरात् ८४' का शिलालेख है। उसमें लिखा है कि श्री वंस जाति के श्रावक ने यह मूर्ति बनवायी। श्री वंस जाति उपकेश वंश की शाखा थी, जिसका प्रमाण वि० सं० १६वीं सदी के एक शिलालेख से मिलता है, जिसमें श्री वंस जाति के साथ उपकेश वंश का भी उल्लेख है।

११. **कुवलयमाला**—श्वेत हूण तोरमाण वि० ५वीं/६ठीं शताब्दी में मरु प्रदेश की तरफ आया। उसने भिन्नमाल को हस्तगत कर अपनी राजधानी बनाया। आ० हरिगुप्त सूरि के उपदेश से वह जैनधर्म अनुरागी बना। उसने वहाँ ऋषभदेव का विशाल मन्दिर बनवाया। तोरमाण का पुत्र मिहिरगुल कट्टर जैन विरोधी था। उसके अत्याचारों से भाग कर जैन लोग गुजरात गये। उनमें उपकेश जाति के व्यापारी थे। विक्रम की छठी शताब्दी में आचार्य उद्योतन सूरि द्वारा रचित प्राकृत ग्रंथ 'कुवलयमाला' में उक्त तथ्यों के विस्तार से उल्लेख मिलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि छठीं शताब्दी में उपकेश वंश अच्छी उन्नति पर था। ये उपकेशवंशीय श्रेष्ठिगण आज भी गुजरात के बाशिंदे हैं।

१२. इतिहास वेत्ता मुनि कल्याण विजयजी के अनुसार आचार्य स्कंदिल (समय विक्रम की दूसरी सदी) के पट्टधर आचार्य हेमवन्त ने 'हेमवन्त स्थविरावली' की रचना की जिसके उल्लेखानुसार मथुरा निवासी उपकेशवंश शिरोमणि श्रावक पोलक ने गंधहस्ती विवरण सहित उन सब सूत्रों को ताड़पत्रादि में लिखवाकर पठन पाठन के लिए निर्ग्रंथों को अर्पण किया। इस प्रकार जैन शासन की उन्नति करके स्थविर आर्य स्कन्दिल वि० सं० २०२ में मथुरा में अनशन करके स्वर्गवासी हुए। (पृष्ठ १८०)

इसका अर्थ यह हुआ कि विक्रम की पहली सदी के आस-पास उपकेश वंश का अस्तित्व था। उसी को लोक भाषा में ओस वंश कहा जाने लगा।

१३. 'उपकेश गच्छ चरित्र' एवं 'भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास' ग्रन्थों में विक्रम की चौथी शताब्दी से आठवीं शताब्दी के मध्य पंजाब में जैन धर्म की

प्रभावना में महाजनश्रेष्ठियों के अनुपम योगदान के अनेक उदाहरण दिये हैं। पं० हीरालाल दुग्गड़ ने अपने शोध ग्रंथ 'मध्य एशिया और पंजाब में जैन धर्म' में तक्षशिला के उत्खनन में प्राप्त ईसा की द्वितीय शताब्दी के कुषाण कालीन अवशेषों को व्याख्यायित किया है एवं आठवीं शताब्दी से पूर्व के अनेक उदाहरण अंकित किये हैं जिनसे पता चलता है कि उस समय पश्चिमोत्तर प्रदेशों में बसे ओसवाल बड़े वैभवशाली थे।

१४. भगवान महावीर के १९वें पट्टधर आचार्य मानदेव सूरि ने तक्षशिला उच्चनगर देराउल आदि नगरों में अनेक 'ओसवाल' जैन श्रावक बनाये। नाडुलाई (राजस्थान) के चतुर्मास में तक्षशिला के श्रावक संघ की प्रार्थना पर वहाँ फैली महामारी रोग की शांति के लिए वि० संवत् २८० में आ० मानदेव सूरि ने संस्कृत भाषा में लघु शांति स्तवन' की रचना कर तक्षशिला भेजा, जिसके जाप से महामारी का उपद्रव शांत हुआ। यह ओसवालों के तक्षशिला आदि सुदूर प्रदेशों में फैले तत्कालीन वैभव का सूचक है।

१५. विक्रम पूर्व पहली शताब्दी में जैनाचार्य कालिक हुए। इन्होंने अपनी बहन सरस्वती को उज्जयिनी सम्राट् गर्दभिल्ल के पंजों से छुड़ाने में सिन्धुराज शक वीरों की सहायता ली थी। इन्हीं कालिकाचार्य का गच्छ 'भावडार' या भावड़ा नाम से जाना जाता था। उस समय सिन्धु-जनपद में बहुत बड़ी संख्या में ओसवाल महाजन आबाद थे। कालिकाचार्य के 'भावड़ा' गच्छ के अनुयायी होने से वे भी भावड़ा ओसवाल कहलाए। पंजाब, कश्मीर में अब भी अनेक भावड़ा ओसवाल निवास करते हैं।

१६. विक्रम की ४थी सदी में आचार्य कक्क सूरि (संवत् ३३०–३५७) के उद्बोधन से श्रेष्ठि मालाशाह ने शत्रुञ्जय तीर्थ का संघ निकाला। तक्षशिला के करणाट गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि रावत ने भी सूरि जी की प्रेरणा से शत्रुञ्जय तीर्थ का संघ निकाला। यह तत्कालीन ओसवालों के वैभव का सूचक है।

१७. विक्रम संवत् ३७२ में श्रेष्ठि धवल पि० गोसल शाह गोत्र भूरि ने वीरपुर से शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए संघ समायोजन किया। उसने सकल संघ पूजा करके सोने की सुपारियों की प्रभावना दी।

१८. विक्रम संवत् ४७० में गोकुल सा के पुत्र सोभा गोत्र चोरड़िया ने मरोट कोट से शत्रुञ्जय तीर्थ का संघ निकला। यह ओसवालों की तत्कालीन जहलोजलाली सिद्ध करता है।

१९. विक्रम संवत् ६१३ में मोपत शाह के पुत्र अगरो गोत्र गोलेछा ने जोगनीपुर (दिल्ली) से शत्रुञ्जय तीर्थ का संघ निकाला। प्रत्येक गाँव के साधर्मी को एक एक सोने की मुद्रा की प्रभावना दी।

२०. विक्रम की ७वीं सदी में आचार्य देवगुप्त सूरि (संवत् ६०१-६३१) ने उमरेल में पार्श्वनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा की। इन्होंने स्यालकोट में रांका गोत्रीय शाह खेता द्वारा निर्मित भगवान मल्लिनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा की।

उक्त सभी उदाहरण ओसवाल गोत्रीय श्रेष्ठियों के है, जिनसे इस जाति की पूर्वोत्पत्ति सिद्ध होती है।

२१. ओसिया के एक ध्वंस हुए मंदिर में वि० सं० ६०२ का एक टूटा हुआ शिलालेख मुनि रत्न विजयजी को मिला है, जिसके अनुसार आदित्यनाग गोत्र (ओसवालों का एक गोत्र) के किसी श्रावक ने वह चन्द्रप्रभु की मूर्ति बनवाई थी। उस पर 'वि० सं० ६०२' भी खुदा हुआ है। यह सिद्ध करता है कि उस समय से पहले ही यह जाति काफी उन्नत रही होगी।

२२. आचार्य हरिभद्रसूरि आदि आठ आचार्यों ने मिलकर 'महानिशीथ सूत्र' का उद्धार किया था, जिसमें उपकेश गच्छाचार्य देवगुप्त सूरि भी शामिल थे। महानिशीथ सूत्र की हस्तलिखित प्रति के अन्त में इस बात का उल्लेख है। इनका समय ६ठीं शताब्दी माना जाता है। यह भी उपकेश गच्छ की प्राचीनता का एक प्रमाण है।

२३. पं० हीरालाल हंसराज के ग्रन्थ 'जैन गोत्र संग्रह' के अनुसार भिन्नमाल के राजा भाण ने उपकेशपुर के ओसवाल श्रेष्ठि जयमल शाह की पुत्री रत्ना के साथ लग्न किया था। राजा भाण का समय वि सं० ७६४ है।

राजा भाण ने शंखेश्वर गच्छ के श्री उदयप्रभ सूरि से जैन धर्म अंगीकार किया। शत्रुञ्जय एवं गिरनार तीर्थों के संघ निकाले। राजा के संघवी पद पर तिलक के समय इसी ग्रंथ के अनुसार संघ में वासक्षेप की तकरार होने से वि० सं० ७७५ में ८४ गच्छों के आचार्यों ने एकत्र होकर मर्यादा बाँधी कि भविष्य में जिसके प्रतिबोधित श्रावक हों, वे ही वासक्षेप देंवे। इस मर्यादा पर हस्ताक्षरित करने वाले ८४ गच्छों के आचार्यों में उपकेश गच्छ के आचार्य सिद्ध सूरि भी थे। अतः उस समय तक उपकेश जाति की समृद्धि में कोई सन्देह नहीं।

२४. वि० सं० ८०२ में पाटण की स्थापना के समय चन्द्रावती और भिन्नमाल से उप॰केश जाति के बहुत से लोगों को आमंत्रण देकर पाटण में बसने के लिए ले जाया गया था। आज भी उनकी संतानें वहाँ वास करती हैं।

२५. ओसिया मन्दिर का जो शिलालेख है, उसमें परिहार सम्राट् वत्सराज की प्रशस्ति है। इन वत्सराज का समय वि० सं० ७८३ है। इससे उपकेशपुर की ८वीं सदी में समृद्धि सिद्ध होती है।

२६. आचार्य वप्पभट्ट सूरि ने ग्वालियर के राजा नागावलोक या नाग भट्ट प्रतिहार, जो आमराज के नाम से प्रसिद्ध था, को प्रतिबोध देकर जैन बनाया। उनकी सन्तानों

को उपकेशवंश में शामिल किया—ऐसा शत्रुञ्जय तीर्थ पर विमलवासी स्थित आदीश्वर मन्दिर में मिले शिलालेख (जैन शिलालेख संग्रह एवं प्राचीन जैन लेख संग्रह) से ज्ञात होता है। बप्पभट्ट सूरि का जन्म वि सं० ८०० में हुआ था। आम राजा का समय वि० ९वीं सदी था। इस शिलालेख में ओस वंश की विशालता एवं राजकोष्ठागार गोत्र की प्रशस्ति है। उस समय तक ओसवंश को इतना विशाल बनने में कई शताब्दियाँ लगी होंगी। आम राजा की एक रानी व्यवहारिया (वणिक) की पुत्री थी। उसकी सन्तानों का गोत्र राजकोष्ठागार हुआ। राजकोठारी आज भी अपने को आमराजा की संतान बताते हैं। इसी गोत्र में १६वीं सदी में कर्माशाह हुए, जिन्होंने शत्रुञ्जय तीर्थ का जीर्णोद्धार करवाकर उक्त शिलालेख लगवाया, जो वि० सं० १५८७ का है। इस शिलालेख के निम्न श्लोक में उक्त कथनों के प्रमाण हैं :

एतश्च गोपाहृगिरौ गरिष्टः श्री बप्प भट्टी प्रतिबोधितश्च,
श्री आम राजाऽजति तस्य पत्नी काचित् बभूव व्यवहारि पुत्री।
तत्कुक्षि जाताः किल राजकोष्ठागाराहृ गोत्रैंक्तैक पात्रे,
श्री ओस वंशे विशदे विशाले तस्यान्वयेऽभिरुषाः प्रसिद्धाः॥

इससे पता चलता है कि ओसवाल जाति ९वीं शताब्दी में भारत के विशाल क्षेत्र में फैली हुई थी एवं बड़ी प्रभावी तथा समृद्धिशाली थी।

२७. ओसिया के भग्नावशेषों के उत्खनन एवं कभी-कभी वर्षा ऋतु में अनायास ग्रामीणों को चाँदी के ३-४ मासा के प्राचीन सिक्के मिले हैं, जिन पर एक ओर गर्दभ चिन्ह अंकित है। एक अनुश्रुति के आधार पर ये सिक्के विक्रम संवत् के प्रणेता विक्रमादित्य के पिता गर्दभिल्ल के समय के हैं। गर्दभिल्ल का समय विक्रम पूर्व १७ वर्ष माना जाता है। इससे इस नगरी के तत्कालीन उत्थान का सहज ही अनुमान किया जा सकता है यानी उससे २/३ सौ वर्ष पूर्व ही बसी होगी।

२८. किसी समय राजपूताने की धरती समुद्र संलग्न थी। पुरातत्त्ववेत्ताओं को इस बात के अनेक प्रमाण मिले हैं। कहते हैं—उपकेशपुर के पास से भी एक धारा बहती थी। वहाँ के उत्खलन में सीप कोडियाँ एवं जलमच्छों की हड्डियाँ मिली हैं। इस धारा के कारण बनजारों को यातायात में बड़ी कठिनाईयाँ होती थीं। एक लम्बा मार्ग तय करना पड़ता था। कई बार इस धारा का मार्ग बदलने का प्रयाय किया गया। अन्ततः हेम नामक बनजारे ने इसे पूरने में सफलता पायी। भाटों और चारणों ने उसकी प्रशस्ति के कवित्त बनाये, जो आज भी लोक प्रिय हैं :

लाखा सरीखा लख गए, आदु सरीखा अठ।
हेम हडाउ न आवसी, वलके इण हिज वट॥

जल मार्ग के समाप्त होने से नगर के व्यापार को क्षति पहुँची एवं धीरे-धीरे वह चौपट हो गया। नये धन्धों की तलाश में व्यापारी वर्ग का अन्यत्र प्रवसन हुआ। वे ओस वंशी रहे हों एवं उएस नगर के बाशिंदे होने के कारण ओस वंशी कहलाये हों। विक्रम से पूर्व पहली शताब्दी में उपकेशपुर से उपकेश जाति के पलायन का जो कथानक ग्रन्थों में आया है, सम्भवतया इस प्राकृतिक अवरोह से भी वह सम्बन्धित था।

२९. दिल्ली के प्रसिद्ध विधि विशेषज्ञ जी उमराव सिंह टांक ने संवत् १९७२ में 'ओसवाल एवं उनके परिवार' नाम अंग्रेजी पुस्तिकाओं की सीरीज में समाज के इतिहास पुरुषों की गौरव गाथाएँ प्रकाशित कीं। आपने अपने शोध प्रबन्धों में 'बीए बाईसे' को गुप्त संवत् मानते हुए ओस वंश की उत्पत्ति संवत् ५९८ में निर्धारित की है।

३०. डा० गौरीशंकर ओझा ने जावर की प्रसिद्ध जस्ते और चाँदी की खानों से सम्बन्धित वि० सं० ७०३ का सामोली शिलालेख खोज निकाला। इस शिलालेख में महाजन श्रेष्ठि जेन्तक की प्रशस्ति है, जिसने वहाँ खान विशेषज्ञों की बस्ती बसाई एवं महाजन संघ की अनुमति से अरण्यवासिनी देवी (महिषासुर मर्दिनी) का एक मन्दिर बनवाया। महिषासुर मर्दिनी चामुण्डा ओसवालों की कुल देवी है। ये सभी तथ्य श्रेष्ठि जेन्तक का ओसवाल होना सिद्ध करते हैं एवं ओसवालों के तत्कालीन वैभव एवं पूर्वोत्पत्ति की ओर इङ्गित करते हैं।

३१. मुनि कला प्रभ सागरजी द्वारा सम्पादित 'श्री आर्य कल्याण गौतम स्मृति ग्रंथ' (संवत् २०३९ में प्रकाशित) के उल्लेखानुसार इन्हीं शंखेश्वर गच्छ के आचार्य उदयप्रभ सूरि ने विक्रम संवत् ७९५ में श्रीमाल नगर में ६२ ब्राह्मण श्रेष्ठियों को प्रबोध देकर जैन धर्म अंगीकार करवाया। उन्हें श्रीमाल-ओसवाल जाति में शामिल किया। उनसे गुजरात के गौतम, हरियाण, कात्यायन, वंसीयाण एवं लाछिल आदि गोत्र बने। कालान्तर में उनसे अनेक शाखा-प्रशाखाएँ हुईं—जैसे महोता, भणशाली, गांधी, दोषी, वहोरा, पारेख आदि।

३२. प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता श्री डी० आर० भण्डारकर ने 'आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया' (१९०८-९) में प्रकाशित 'ओसिया के प्राचीन मन्दिर' आलेख में मन्दिर में उपलब्ध संवत् १०१३ के शिलालेख के आधार पर प्रतिहार शासक वत्सराज का समय विक्रम की ८वीं शताब्दी मानते हुए लिखा है कि ये मन्दिर अवश्य ही उस काल में प्रतिष्ठापित हुए होंगे। इन्हीं प्रतिहार शासक वत्सराज का उल्लेख उद्योतन सूरि रचित 'कुवलयमाला' में हुआ है। नई शोधों से कुवलयमाला का रचनाकाल विक्रम की ६ठीं शताब्दी ठहरता है। इसकी विशद समीक्षा ग्रंथ में अन्यत्र की गयी है। स्वभावतः उस समय ओसिया एक समृद्ध नगर रहा होगा।

३३. संवत् १०१३ के ओसिया मन्दिर के शिलालेख में प्रयुक्त 'संवत्सर दश शत्याम-धिकायां वत्सरै स्त्रयो दशाभिः फाल्गुन शुक्ला तृतीया' में 'विक्रम' शब्द न होने के कारण संवत् को वीर संवत् मानें, जो भगवान महावीर के निर्वाण से शुरू होता है तो वह विक्रम संवत् ५४३ के बराबर ठहरता है। यह नई शोधों पर आधारित शासक वत्सराज एवं उद्योतन सूरि के समय से भी मेल खाता है। यह शिलालेख उस उपकेश वंशीय श्रावक जिन्दक की, जिसने यह रंग मंडप बनवाया, समृद्धि का सूचक है।

३४. ओसिया के महावीर मन्दिर में सुरक्षित तोरण पर उत्कीर्णित अभिलेख में 'याते संवत्सराणां सुरमुनि सहित विक्रम.......गुरौ शुक्ल पक्षे पंचम्याम्.....' पाठ दृष्टव्य हैं। इसके आधार पर चण्डीगढ़ (पंजाब विश्वविद्यालय, पुरातत्व विभाग) के प्रो० देवेन्द्र हाण्डा ने मन्दिर को विक्रम संवत् ७३३ में निर्मित माना है। प्राचीन काल में संख्या-सूचक सांकेतिक शब्दों का प्रयोग होता था अतः सुर यानि ३३ एवं मुनि यानि ७ अर्थ अभिप्रेत है। अस्तु, अवश्य ही तब तक ओसिया समृद्ध नगरी रही होगी।

३५. प्रो० हाण्डा ने 'कर्मयोगी केसरीमल सुराणा अभिनन्दन ग्रंथ' में प्रकाशित 'ओसिया की प्राचीनता' आलेख में ओसिया स्थित श्री वर्धमान उच्च माध्यमिक विद्यालय की नींव खोदते वक्त प्राप्त कुछ सिक्कों का वर्णन किया है, जो ८वीं सदी के पूर्वार्ध में ओसिया पर आक्रमण करने वाले अरब शासक अहमद के हैं। ये सिक्के ओसिया के सेठ मंगलसिंह रतनसिंह देव की पेढ़ी ट्रस्ट में सुरक्षित हैं।

३६. आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, मैसूर के एपीग्राफिस्ट डा० के० वी० रमेश ने एक आलेख में ओसिया स्थित हरिहर मन्दिर के प्रांगण में सुरक्षित वि० सं० ८०३ एवं ८१२ के दो स्मारक लेखों का उल्लेख किया है। यह भी ओसिया की समृद्धि का ही सूचक है।

३७. ओसिया के उत्खनन में ऐसे संचयन भांड मिले हैं, जिन पर ब्राह्मी लिपि के अभि-लेख हैं। ये संचयन भांड भी उक्त पेढ़ी ट्रस्ट में सुरक्षित हैं। प्रो० हाण्डा के अनु-सार ये भांड ईसा की दूसरी/तीसरी शताब्दी के हैं। इससे भी ओसिया की प्राची-नता सिद्ध होती है।

३८. भाटों/भोजकों के प्राचीन कवित्तों में आभा नगरी के देशल-सुत जग्गा शाह की प्रशस्ति के कुछ कवित्त बहुत प्रसिद्ध हैं, जिनका वर्णन हम पूर्व पृष्ठों में कर चुके हैं। इन कवित्तों में जग्गा शाह के संघ समायोजन एवं दान की महिमा का बखान करते हुए अन्त में कवि ने कहा है:

बीये बावीस भल जागियो, यो ओसवाल भूपाल।

यह कवित्त संवत् बीये बावीसे में ओसवाल श्रेष्ठि जग्गा शाह की समृद्धि की पुष्टि करता है अतः ओसवाल कुल की पूर्वोत्पत्ति स्वयं सिद्ध हो जाती है।

३९. देश के अनेक ग्रंथागारों एवं हस्तलिखित ग्रन्थ भण्डारों में ऐसे अनेक ग्रंथ एवं गुटके उपलब्ध हैं, जिनमें ओसवाल जाति की उत्पत्ति संवत् २२२ या ११९ में लिखी है। यह संवत् 'विक्रम संवत्' माना जाये या 'नन्दि संवत्' या 'वीर संवत्'—इस सम्बन्ध में विवाद हैं। इसे अगर नन्दि या वीर संवत् मानें तो यह 'वीरात् ७० वर्ष' वाली मान्यता के काफी निकट चला जाता है। अगर इसे 'वीर संवत्' न भी माने तो यह उक्त इतिहासकारों की '९वीं/१०वीं शताब्दी में ओसवाल जाति की उत्पत्ति' वाली अवधारणा के विरुद्ध एक बहुत बड़ा साक्ष्य है ही। भाटों की बीये बाईसे वाली मान्यता पर हम विशद चर्चा पहले ही कर चुके हैं।

यहाँ हम उन गुटकों का उल्लेख मात्र करेंगे, जिनमें ओसवाल जाति की उत्पत्ति 'संवत् २२२ या ११९ में हुई'—लिखा है :

१. नाहर ग्रन्थागार कलकत्ता में उपलब्ध 'भोजकों के दफ्तर' के कवित्त
२. एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता में उपलब्ध 'ओसवाला री उत्पत्त' का कवित्त
३. एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता में उपलब्ध साधु बालाराम के छन्द
४. एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता में उपलब्ध सेवग सुखराम के छन्द
५. राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान बीकानेर में उपलब्ध ग्रंन्थ क्रमांक ६५५
६. राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान बीकानेर में उपलब्ध ग्रंथ क्रमांक ११३३४
७. अभय ग्रंथालय, बीकानेर में उपलब्ध ग्रंथ क्रमांक ७७६५
८. अभय ग्रंथालय, बीकानेर में उपलब्ध ग्रंथ क्रमांक ५०१
९. केलड़ी मन्दिर के ग्रंथागार में उपलब्ध ग्रंथ क्रमांक १२७५
१०. केशरीयानाथजी मन्दिर, जोधपुर के ग्रंथागार में उपलब्ध ग्रन्थ क्रमांक २२
११. केशरीयानाथजी मन्दिर, जोधपुर के ग्रंथागार में उपलब्ध ग्रंथ क्रमांक २९/५७

४०. **कुंथुनाथजी मन्दिर**, जोधपुर के ग्रन्थभण्डार में प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह में गुटका क्रमांक ५/१०७ ओसवाल 'भीलडिया बोहराओं' की गोत्रोत्पत्ति विषयक है। इस ग्रंथ के पृष्ठ ८७ पर उनकी संवत् ५३५ से आरम्भ कर ४२ पीढ़ियों की वंशावली अंकित है, जिसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

श्री गणेशाय नमः। संवत् ५३५ भीलडवा वौहरा सुँ
महाजन हुवा भट्टारक श्री चंदर सुर परमोदीया
आसधवल रौ बेटो बीजानन्द स्यूं पीढ़ीयाँ री विगत....

विगत के अन्त में ग्रंथकार ने आसधवल जी की ३३वीं पीढ़ी में हुए श्रेष्ठि सोनोजी की प्रशस्ति अंकित की है। सोनोजी ने संवत् १३६५ में गिरनार एवं आबू तीर्थों के संघ समायोजित किये। उन्हें 'संघवी' पदवी से विभूषित किया गया।

ये उल्लेख ओसवाल जाति की तत्कालीन समृद्धि के सूचक हैं। इसमें शक नहीं कि उक्त 'महाजन' शब्द ओसवालों के लिए ही प्रयुक्त है। एक पीढ़ी सामान्य गणना में २५ वर्ष की मानी जाती है। इस पीढ़ी के क्रमानुसार तैंतीसवीं पीढ़ी में संवत् १३६५ में हुए श्रेष्ठि सोनोजी के पूर्वज आसधवलजी एवं उनके पुत्र बीजानन्द जी का समय संवत् ५३५ सही प्रतीत होता है। ये तथ्य ओसवाल जाति की विक्रम की छठी शताब्दी से पूर्वोत्पत्ति की ओर इंगित करते हैं।

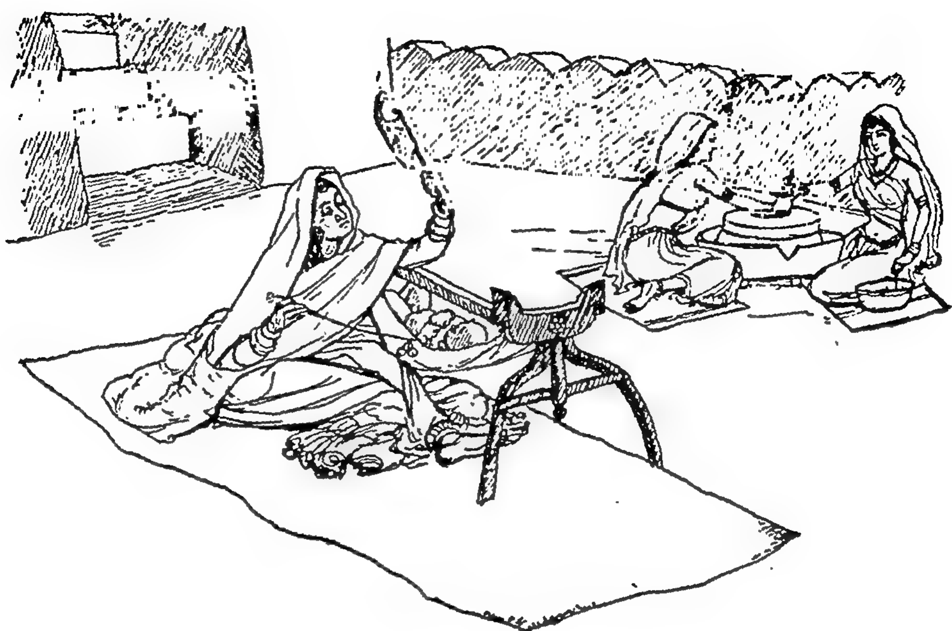
४१. **राजस्थान की जातियाँ**—संवत् २०११ में प्रकाशित श्री बजरंगलाल लोहिया के शोध ग्रंथ 'राजस्थान की जातियाँ' में ओसवाल जाति का उत्पत्ति समय संवत् २८२ लिखा है। लोहिया जी ने इस ग्रंथ में कुछ विशिष्ट ओसवाल गोत्रों—महनोत, भण्डारी आदि का संक्षिप्त इतिहास भी दिया है।

समीक्षा :

उपरोक्त साक्ष्यों में अधिकांश ऐसे हैं, जिनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है एवं उन्हें नकारा नहीं जा सकता। ये सभी ओसवाल जाति की 'वीरात् ७० वर्ष यानि विक्रम संवत् से ४०० वर्ष पूर्व उत्पत्ति की ओर इंगित करते हैं अथवा पुष्टि करते हैं। भाट/भोजकों की 'बीये बाईसे' वाली उक्ति भी संवत् को विक्रम संवत् न मानें तो इसी मान्यता का समर्थन करती है।

चन्द पुरातत्त्ववेत्ताओं एवं इने-गिने इतिहासकारों की ९वीं/१०वीं शताब्दी में ओसवाल जाति की उत्पत्ति वाली अवधारणा को मात्र कपोल कल्पना साबित करने के लिए ये साक्ष्य काफी हैं। मैं पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी के इस तर्क से सहमत हूँ कि इतिहास मात्र 'शिलालेख' नहीं है एवं शिलालेख के अभाव में इतिहास को नकारना तो कदापि उचित नहीं। पुरातत्त्व एवं इतिहास के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। कल शोधकर्मी या पुरातत्त्वज्ञ ऐसे पाजिटिव साक्ष्य प्रस्तुत कर दें, जिससे जाति की उत्पत्ति किसी अन्य समय हुई प्रमाणित हो तो इतिहासकार उसे मान्यता देगा ही।

●



५ | गोत्र-विकास

ओसवालों के प्रथम १८ गोत्रों की स्थापना :

उपकेशगच्छ के आचार्य रत्नप्रभु सूरि द्वारा प्रतिबोधित उपकेश नगर के जैन धर्म अंगीकार करने वाले क्षत्रियों के आचार्य ने १८ गोत्र निर्धारित किये :

१. तातेहड़ (राजा के पिता का जिन्हें वे तातजी कहते थे)।
२. कर्णाट ।
३. बाफना ।
४. वलहरा (बलाहा) ।
५. मोराक्ष ।
६. कुलहट ।
७. विरहट ।
८. श्रीमाल ।
९ श्रेष्ठि (राजा का)
१०. सहचिंती या संचेती (राजा के प्रधान का) ।

११. आईचणाग (आदित्यनाग) ।
१२. भूरि (राजा के सेनापति का) ।
१३. भाद्र ।
१४. चींचट ।
१५. कुंभट ।
१६. डीडू ।
१७. कन्नौज ।
१८. लघु श्रेष्ठि (राजा के भाई का) ।

खरतर यति रामलाल जी के ग्रन्थ 'महाजन वंश मुक्तावली' में दी हुई १८ गोत्रों की उक्त तालिका मुनि ज्ञान सुन्दर जी की 'जैन जाति महोदय' एवं 'जैन जाति निर्णय' में दी हुई तालिका से हूबहू मिलती है, जो 'उपकेश गच्छ चरित्र' पर आधारित है । इन १८ मूल गोत्रों की प्रस्थापना का समय वीरात् ७० वर्ष यानि विक्रम से ४०० वर्ष पूर्व माना जाता है ।

कालान्तर में इन गोत्रों की अनेक शाखाएँ हुई । ज्यों-ज्यों महाजन तादाद एवं प्रदेशों के लिहाज से फैलते गये, उनमें पूर्वजों के नाम पर, व्यापार के नाम पर, गाँवों के नाम पर अनेक उप-गोत्र होते गये एवं वे विभिन्न नामों से मशहूर हुए ।

उपरोक्त १८ गोत्रों से निसृत ४९८ शाखा गोत्रों की एक तालिका उपकेशगच्छीय मुनि ज्ञान सुन्दर जी ने अपने ग्रंथ 'जैन जाति महोदय' में दी है, जो उपकेश गच्छ (जिसे कालान्तर में कमला गच्छ कहा जाने लगा) के आचार्यों एवं अन्य सम्प्रदायों के आचार्यों द्वारा प्रतिबोधित गोत्रों की है :

१. मूलगोत्र तातेड़—तातेड़, तोडियाणि, चौमोला, कौसीया, धावडा, चैनावत, तलवाडा, नरवरा, संघवी, डुंगरीया, चौधरी, रावत, मालावत, सुरती, जोखेला, पांचावत, विनायका, साढेरावा, नागडा, पाका, हरसोत, केलाणी । २२ जातियाँ तातेड़ों से निकलीं । यह सब भाई हैं ।

२. मूलगोत्र बाफणा—बाफणा, (बहुफणा) नाहटा, (नहटा, नावटा) भोपाला, भूतिया, भाभू, नावसरा, मुँगडिया, डागरेचा, चमकीया, चौधरी, जांघडा, कोटेचा, वाला, धातुरिया, तिहुयणा, कुरा, बेताला, सलगणा, बुचाणि, सावलिया, तोसटीया, गांधी, कोठारी, खोखरा, पटवा, दफ्तरी, गोडावत, कूचेरिया, बालीया, संघवी, सोनावत, सेलोत, भावड़ा, लघुनाहटा, पंचवया, हुडिया, टाटिया, ठगा, लघुचमकीया, वोहरा, मीठडीया, मारू, रणधीरा, ब्रह्मेचा, पाटलीया, वानुणा, ताकलीया, योद्धा, घारीला, दुद्धिया, बादोला, शुकनीया । ५२ जातियाँ बाफणों से निकलीं । ये आपस में भाई हैं ।

३ **मूलगोत्र करणावट**—करणावट, वागडिया, संघवी, रणसीत, आच्छा, दादलिया, हुना, काकेचा, थंभोरा, गुंदेचा, जीतोत, लाभांणी, सखला, भीनमाला। करणावटों से १४ शाखाएँ निकलीं। वे सब आपस में भाई हैं।

४. **मूलगोत्र बलाहा**—बलाहा, राँका, वांका, शेठ, शेठिया, छावत, चोधरि, लाला, बोहरा, भूतेडा, कोठारी, लघु रांका, देपारा, नेरा, सुखिया, पाटोत, पेपसरा, धारिया, जडिया, सालीपुरा, चितोड़ा, हाका, संघवी, कागडा, कुशलोत, फलोदिया। ये २६ शाखाएँ बलाहा गोत्र से निकलीं। वह सब भाई हैं।

५. **मूलगोत्र मोरक्ष**—मोरख, पोकरणा, संघवी, तेजारा, लघुपोकरणा, बांदोलीया, चुंगा, लघुचुंगा, गजा, चोधरि, गोरीवाल, केदारा, वातोकडा, करचु, कोलोरा, शीगाला, कोठारी। ये १७ शाखाएँ मोरख गोत्र से निकलीं। वह सब भाई हैं।

६. **मूलगोत्र कुलहट**—कुलहट, सुरवा, सुसाणी, पुकारा, मसांणीया, खेड़ीया, संघवी, लघु सुरवा, बोरडा, चौधरी, सुराणीया, साखेचा, कटारा, हाकडा, जालोरी, पालखीया, खूमाणा। ये १८ शाखाएँ कुलहट गोत्र से निकलीं। वह सब भाई हैं।

७. **मूलगोत्र विरहट**—विरहट, भुरंट, तुहाणा, ओसवाला, लघुभुरंट, गागा, नीपत्ता, संघवी, निबोलिया, हांसा, धारीया, राजसरा, मोतीया, चोधरी, पुनमिया, सरा, उजीत। ये १७ शाखाएँ विरहट गोत्र से निकली हैं। वह सब भाई हैं।

८. **मूलगोत्र श्रीमाल**—श्री श्रीमाल, संघवी, लघुसंघवी, निलड़िया, कोटडिया, झावांणी, नाहरलांणी, केसरिया, सोनी, खेपर, खजानची, दानेसरा, उद्धावत, अटकलीया, धाकडिया, भीन्नमाला, देवड, माडलीया, कोटी, चंडालेचा, साचोरा, करवा। ये २२ शाखाएँ श्रीमाल गोत्र से निकलीं। वह सब भाई हैं।

९. **मूलगोत्र श्रेष्ठि**—श्रेष्ठि, सिंहावत, भाला, रावत, बेद, मुत्ता, पटवा, सेवडिया, चोधरी, थानावट, चीतोडा, जोधावत्, कोटारी, बोत्याणी, संघवी, पोपावत, ठाकुरोत्, बाखेटा, विजोत्, देवराजोत, गुंदीया, बालोटा, नागोरी, सेखाणी, लाखांणी, भुरा, गान्धी, मेड़तिया, रणधीरा, पातावत्, शूरमा। ये ३० शाखाएँ श्रेष्ठि गोत्र से निकलीं। वह सब भाई हैं।

१० **मूलगोत्र संचेति**— संचेति (सुचंति साचेति) ढेलडिया, धमाणि, मोतिया, बिंबा, मालोत्, लालोत्, चोधरी, पालाणि, लघुसंचेति, मंत्रि, हुकमिया, कजारा, हीपा, गांधी, वेगाणिया, कोटारी, मालखा, छाछा, चितोडिया, इसराणि, सोनी, मरचा, घर घटा, उदेचा, लघुचोधरी, बापावत्, संघवी, मुरगीपाल, कीलोला, लालोत्, खरभंडारी, भोजावत्, काटी, जाटा, तेजाणि, सहजणि, सेणा, मन्दिरवाला, मालतीया, भोपावत्, गुणिया। ये ४४ शाखाएँ संचेती गोत्र से निकलीं। वह सब भाई हैं।

११. मूलगोत्र आदित्यनाग—आदित्यनाग, चोरडिया, सोढाणि, संघवी, उडक मसाणिया, मिणियार, कोटारी, पारख; पारखों से भावसरा, संघवी, ढेलडिया, जसाणि, मोल्हाणि, नडक, तेजाणि, रुपावत्, चोधरी, गुलेच्छा; गुलेच्छों से दोलताणी, सागाणि, संघवी, नांपडा, काजाणि, हुला, सेहजावत्, नागडा, चित्तोडा, चोधरी, दातारा, मीनागरा, सावसुखा; सावसुखा से मीनारा, लोला, वोजाणि, केसरिया, वला, कोटारी, नांदेचा, भटनेराचोधरी; भटनेरा-चोधरियों से कुंपावत्; भंडारी, जीमणिया, चंदावत, सांभरिया, कानुंगा, गदईया; गदईयों से गेहलोत्, लुगावत्, रणशोभ, वालोत्, संघवी, नोपत्ता, वुचा; बुचों से सोनारा, भंड, लिया, करमोत्, दालीया, रत्नपुरा, चोरड़िया; चोरडियों से नाबरिया, सराफ, कामाणि, दुदघोणि, सीपांणि, आसाणि, सहलोत्, लघु सोढाणि, देदाणि, रामपुरिया, लघु पारख, नागोरी, पाटणिया, छाडोत्, ममइया, बोहरा, खजानची, सोनी, हाडेरा, दफ्तरी, चोधरी, तोलावत्, राव, जोहरी, गलाणि इत्यादि। ये ८५ शाखाएँ आदित्यनाग गोत्र से निकलीं। वह सब भाई हैं।

१२. मूलगोत्र भूरि—भूरि, भटेवरा, उडक, सिंघि, चोधरी, हिरण, मच्छा, वोकड़िया, वलोटा, वोसूदीया, पीतलीया, सिहावट्, जालोत्, दोसाखा, लाडवा, हलदीया, नाचाणि, मुरदा, कोटारी, पाटोतीया। ये २० शाखाएँ भूरि गोत्र से निकलीं। वह सब भाई हैं।

१३. मूलगोत्र भद्र—भद्र, समदडिया, हिंगड, जोगड, लिंगा, खापाटीया, चवहेरा, वालडा, नामाणि, भमराणि, देलडिया, संघी, सादावत्, भांडावत्, चतुर, कोटारी, लघु समदडिया, लघु हिंगड, सांढा, चोधरी, भाटी, सुरपुरीया, पाटणिया, नांनेचा, गोगड, कुलधरा, रामाणि, नथावत्, फलगरा। ये २९ शाखाएँ भद्रगोत्र से निकलीं। वह सब भाई हैं।

१४. मूलगोत्र चिंचट—चिंचट, देसरडा, संघवी, ठाकुरा, गोसलांणि, खीमसरा, लघु चिंचट, पाचोरा, पुर्विया, निसांणिया, नौपोला, कोठारी, तारावाल, लाडलखा, शहा, आकतरा, पौसालिया, पुजारा, बनात्रत्। ये १९ शाखाएँ चिंचगोत्र से निकलीं। वह सब भाई हैं।

१५ मूलगोत्र कुमट— कुमट, काजलीया, धनंतरि, सुंघा, जगावत्, संघवी, पुगलिया, कठोरिया, कापुरीया, चोखा, सोनीगरा, लाहोरा, लाखाणी, मरवाणि, मोरचिया, दलीया, मालोत्, लघुकुंभट, नागोरी। ये १९ शाखाएँ कुंमट गोत्र से निकलीं। यह सब भाई हैं।

१६. मूलगोत्र डिडू—डिडू, राजोत्, सोसलाणि, धापा, घीरोत्, खंडिया, योद्धा, भाटिया, भंडारी, समदरिया, सिंधुडा, लालन, कोचर, दाखा, भीमावत, पालणिया, सिखरिया, वांका वडवडा, वादलीया, कानुंगा। ये २१ शाखाएँ डिडू गोत्र से निकलीं। वह सब भाई हैं।

१७. मूलगोत्र कन्नोजिया—कन्नोजिया, वडभटा, राकावाल, तोलीया, धाघलिया, घेवरीया, गुंगलेचा, करवा, गढवाणि, करेलिया, राडा, मीठा, भोपावत, जालोरा, जमघोटा, पटवा, मुशलीया। ये १७ शाखाएँ कन्नोजिया गोत्र से निकलीं। यह सब भाई हैं।

१८. मूलगोत्र लघुश्रेष्ठि—लघुश्रेष्ठि, वर्धमान, भोभलीया लुणेचा, बोहरा, पटवा, सिंघी, चित्तोडा, खजानची, पुनोत, गोधरा, हाडा, कुवडिया, लुणा, नालेरीया, गोरेचा। ये १६ शाखाएँ लघुश्रेष्ठि से निकलीं वह सब भाई हैं।

उपरोक्त तालिका आचार्य रत्नप्रभसूरि द्वारा उपकेशपट्टण (ओसिया) में बनाये गये ओसवालों की है। आचार्य ने अन्य स्थानों पर भी अनेक जैनी बनाकर महाजन वंश में शामिल किये। श्री सुख सम्पतराय भंडारी ने भी अपने 'ओसवाल जाति का इतिहास' ग्रन्थ में उक्त तालिका उद्धृत की है।

आचार्य रत्नप्रभसूरि द्वारा अन्य स्थानों में बनाये ओसवाल गोत्र एवं उनकी शाखाएँ :

१. मूलगोत्र चरड—चरड, कांकरीया, सानी, कीस्तुरीया, बोहरा, अछुपत्ता, पारणिया, संघवी, वरसांणि।
२. मूलगोत्र सुघड—सुघड, संडासिया, करणा, तुला, लेरखा।
३. मूलगोत्र लुंग—लुंग, चंडालिया, भाखरीया, बोहरादि।
४. मूलगोत्र गटिया—गटिया, टीवाणी, काजलीया, रांणोत।

उपकेशगच्छीय आचार्यों द्वारा प्रतिबोधित अन्य गोत्र :

जैन धर्म जिस तरह अनेक सम्प्रदाय, उप सम्प्रदाय, गच्छ, गण आदि में विभक्त होता गया, सभी ने अनेक अजैनों को प्रतिबोध देकर जैन धर्म अंगीकार करवाया। उन्हें जैनों की प्रमुख श्रावक जातियों—ओसवाल, श्रीमाल, पोरवाल जातियों में से किसी एक में शामिल किया एवं उनके नये गोत्रों की प्रतिस्थापना की। आचार्य रत्नप्रभ सूरि के पश्चात् उनकी परम्परा के अन्य उपकेश गच्छाचार्यों ने प्रतिबोध दे ओसवालों के जिन नये १८ गोत्रों की स्थापना की वे अपनी शाखाओं सहित इस प्रकार हैं :

१. मूलगोत्र आर्य—लुणावत, संघवी, सिन्धुडा।
२. मूलगोत्र काग।
३. मूलगोत्र गरुड़—धाडावत, चापड।
४. मूलगोत्र सालेचा—बोहरा, जोधावत, वनावत, गांधी, कोटारी, पाटणीया, चोधरी।
५. मूलगोत्र वागरेचा—सोनी, संघि, जालोरा।
६. मूलगोत्र चोपड़ा—कुंकमचोपड़ा, धूपिया, कुकड़ा, गणधर, चोपड़ा, जावलीया, बलवटा।
७. मूलगोत्र सफला—बोहरा, सांडिया, जालोरा, कोटारी, भलभला।

८. मूलगोत्र नक्षत्र—धीया, संघवी, खजानची।

९. मूलगोत्र आभड—कांकरेचा, कुबेरिया पटवा, चोधरी, कोठारी, सांभरिया संधिमेहता।

१०. मूलगोत्र छावत—कोणेजा, गटीयाला, लेहेरीया, चौहान।

११. मूलगोत्र तुंड—आगमार, फलोदीया, हरसोरा, ताला, साचा-संधि।

१२. मूलगोत्र पछोलिया—पीपला, वोहरा, रूपावत, नागोरी।

१३. मूलगोत्र हथुडोया—छपनीया, रातडीया, गौड, राणावत्।

१४. मूलगोत्र मंडोवरा—रत्नपुरा, वोहरा, कोटारो।

१५. मूलगोत्र मल—मला, वीतरागा, कीडेचा, सोनी।

१६. मूलगोत्र गुदेचा—गगोलीया, वागाणी।

१७. मूलगोत्र छाजेड़—संघवी, नखा, चावा।

१८. मूलगोत्र राखेचा— पुंगलीया, पावेचा, धामाणि।

उपकेश गच्छीय आचार्यों द्वारा प्रतिबोध या जैन धर्म अंगीकार कर ओसवाल वनने वाली उपरोक्त जातियों का उद्भव काल ७वीं से १२वीं शताब्दी के बीच है। ये सभी कौमें पूर्वकाल में क्षत्रिय/राजपूत थीं। अनेक इतिहासकारों एवं पुरातत्व वेत्ताओं ने उन्हें आचार्य रत्न प्रभ सूरि द्वारा प्रतिवोधित १८ मूलगोत्र मानकर यह तर्क दिया है कि ये राजपूत कौमें पहले रत्नप्रभ सूरि (वि० पूर्व ४००) के समय अस्तित्व में ही नहीं थीं, अतः उनका जैन बनाया जाना भ्रम पूर्ण है। आचार्य रत्न प्रभ सूरि द्वारा प्रतिवोधित १८ मूलगोत्र सर्वथा भिन्न हैं। अन्य उपकेश गच्छीय आचार्यों द्वारा ७वीं सदी से १२वीं के बीच जिन राजपूत कौमों को ओसवाल बनाकर १८ नये गोत्र बनाये, उनकी पूर्व जाति, नाम रूपान्तर का समय एवं प्रतिबोध देने वाले आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं :

गोत्र	आदि पुरुष	पूर्वजाति	प्र० ग्राम	प्रतिबोध देनेवाले	वि० सं०
१. आर्य	राव गौसल	भाटी	अटवड	देवगुप्तसूरि	६८४
२. छाजेड़	राव काजल	राठोड	शिवगढ़	सिद्धसूरि	९४२
३. राखेचा	रावराखेची	भाटी	कालेर	देवगुप्तसूरि	८७८
४. काग	पृथ्वीधर	चौहान	धामाग्राम	ककसूरि	१०११
५. गरुड़	महाराय	,,	सत्यपुर	सिद्धसूरि	१०४३
६. सालेचा	सालमसिंह	सोलंकी	पाट्टण	,,	९१२
७. वागरेचा	गजसिंह	चौहान	वागरा	कक्कसूरि	१००९
८. कुंकुंम	अडकमल	राठोड	कन्नौज	देवगुप्तसूरि	८८५
९. सफला	लांखणसि	चौहान	जालोर	सिद्धसूरि	१२२४

गोत्र	आदि पुरुष	पूर्वजाति	प्र० ग्राम	प्रतिबोध देनेवाले	वि० सं०
१०. नक्षत्र	मदनपाल	राठौड़	वटवाडाग्राम	ककसूरि	९९४
११. आभड़	रावआभड	चौहान	सांभर	,,	१०७९
१२. छावत	रावछाहड	पंवार	धारानगरी	सिद्धसूरि	१०७३
१३. तुंड	सूर्यमल	चौहान	तुंडग्राम	सिद्धसूरि	९३३
१४. पीच्छोलिया	वासुदेव	गौड	पाल्हणपुर	देवगुप्तसूरि	१२०४
१५. हथुडिया	राउ अभय	राठोड	हथुडि	,,	११९१
१६. मंडोवरा	देवराज	पडिहार	मंडोर	सिद्धसूरि	९३५
१७. मल	मलवराव	राठोड	खेडग्राम	,,	९४९
१८. गुंदेचा	राव लाधी	पडिहार	पावागढ़	देवसूरि	१०२६

उपरोक्त मूलगोत्रों एवं शाखा प्रतिशाखा जातियों को प्रतिबोध देनेवाले आचार्य उपकेश गच्छ यानि कमला गच्छ के थे। प्रायः इन सब जातियों की वंशावलियाँ भी उपकेश (कमला) गच्छ की पोशालों वाले महात्मा लिखते हैं।

कमला गच्छीय महात्माओं की पोशालें बीकानेर, नागोर, खजवाणा, खीवसर, संखवाय, मेडता, जोधपुर, पाली, बूंदी, नरवर, आनन्दपुर (कालु), जसनगर (केकीन्द) वैड, लाबीयों, जैतारण, रास, आमेट, केलवा, पादडी, पीपलोद, लाहेवे, सोजत, राजनगर, पीपलाज, हुरडे, सादडी, चौकडी, पालासणी, कोटा, माधपुर, ईडवे, सेथणे, जैपुर, सांगानेर, छोपीये, रामपुर, चौंणद, भणाय, कणेडे आदि स्थानों पर हैं।

अन्य जैन सम्प्रदायों द्वारा प्रतिबोधित गोत्र :

उपकेश गच्छ (कमला गच्छ) के अलावा अन्य जैन सम्प्रदायों एवं गच्छों ने भी अनेक जैनेतर लोगों को प्रतिबोध देकर जैन धर्म अंगीकार करवाया एवं उन्हें उपकेश वंश (कालांतर में ओस वंश) में शामिल किया। उनकी तालिका उक्त गच्छ एवं सम्प्रदाय की बहियों एवं वंशावलियों के अनुसार निम्न प्रकार हैं। इनमें अनेक नाम एक से अधिक गच्छ या सम्प्रदाय की तालिका में आ गये हैं, जिसका कारण समय-समय पर उक्त गोत्र का विभिन्न गच्छों का उपासक होना है।

कोरंट गच्छोपासक ओसवालों के गोत्र : मांडोत, सुन्धेचा, ध्रुवगोता, रातडिया, बोत्थरा (बच्छावत मुकीम फोफलीया) कोठरी, कोटड़िया, धाड़िवाल, धाकड़, नागगोत्ता, नागसेठिया, धरकट, खींवसरा (मथुरा) सोनेचा, मकवाणा, फीतुरीया, सवोया, सुखीया, संकलेचा, डागलिया, पांडुगोता, पोसालेचा, सहाचेती, नागण, खीमाणदीया, वडेरा, जोगणेचा, सोनाणा, जाडेचा, चिचड़ा, कपुरिया, निवाडा, वाकुलिया। ये ३४ गोत्र हैं। इन गोत्रों से भी अनेक शाखाएँ निकली हैं। कोरंटगच्छ पोशालावाले इन जातियों की वंशावलि लिखते हैं।

वृहत्तपागच्छ या नागपुरिया तपागच्छोपासक ओसवालों की जातियाँ : (१) गोलाणी, नौलखा, भुतेडीया, (२) पीपाडा, हीरण, गोगड़, शिशोदीया, (३) रूणिवाल, वेगाणी, (४) हिंगड़, लिगा, (५) रायसोनी, (६) झामड, झाबक, (७) छजलाणी, छलाणो, घोडावत, (८) हीराउ, केलाणि, (९) गोखरू, चोधरी, (१०) राजबोहरा, (११) छोरीया, सामडा (१२) श्रीश्रीमाल, (१३) दूगड, (१४) लोढा, (१५) सुरिया-मठा (१६) जोगड, नक्षत्र, (१७) नाहार, (१८) जडिया । इन अठारह मूलगोत्रों तथा इनकी शाखाओं की वंशावलि खराडी वलुंदी, पांदु, नागोर के तपागच्छीय महात्मा लिखते हैं ।

वरडिया, वरदिया, वरहुडिया, वांठीया, चामड़, कवाड, शाह, हरखावत, लालाणि, गांधी, राजगांधी, वेदगान्वी, सराफ, लुंकड, बुरड़, संधि, मुनौत, गोलीया, ओस्तवाल, कछोला, मरडेचा, सालरेचा, मादरेचा, लोलेचा, भला, विनायकीया, कोठारी, मीन्नी, खटोल, चौधरी, सोलंखी, आंचलीया, गोठी, क्षत्रीया, डफरिया, गुजराणी इत्यादि । इन सब जातियों का तपागच्छ है ।

आंचलगच्छोपासक ओसवाल जातियां—गाल्हा, आथागोत, वुहड, कटारिया, रत्नपुरा, वडेरा, कोटेचा, सुभद्रा, बोहरा, नागडा, मीठडीया, वडोरा, गन्धी, देवानंदा, गोतमगोत्ता, दोसी, लालन (डोसी) सोनीगरा, कांटीया, हरीया, देडिया, बोरेचा, स्याला, घरवेला । इन मूलगोत्रों से कई शाखाएँ भी निकली हैं । इन सब जातियों का गच्छ आंचल गच्छ है ।

मलधारगच्छोपासक—पगारीया, कोठारी, बंब, गंग, गीरीया, गेहेलडा, चंडालिया खींवसरा ।

पुनमियागच्छोपासक—सांढ, सीयाल, सालेचा, पुनमिया ।

नाणावालागच्छ—रणधीरा, कोठारो, ढड्ढा, श्रीपति, तिलेरा, कावडिया ।

सुराणागच्छोपासक—सुराणा, संखला, वणवट, मिटडियासोनी, उस्तबाल, खटोड, नाहार ।

भावहड़ागच्छोपासक—डागा, मालू, आधरिया ।

पल्लिवालगच्छोपासक—धोखा, बोहरा, डुंगरवाल ।

कंदरसागच्छोपासक—खाबिया, गंग, बंब, दुधेडिया, कठोतीया

सांडेरावगच्छोपासक—गुगलिया, भण्डारी, चतुर, धारोला, कांकरेचा, बोहरा, दुधेडिया, शिशोदीया ।

चित्रवालगच्छोपासक—भंडशाली, अलंझड़ा, अरणोदा ।

चैत्यवासीगच्छोपासक—खारा, खारीवाल, लूनिया, निवड़िया, मंत्री, सूरमा ।

पीपलगच्छोपासक—पीपला, पीतलिया, सोनीगरा ।

उपरोक्त जातियों में संघवी, चोधरी, बोहरा, खजानची, कोठारी आदि के नाम बहुत से गोत्रों में आते हैं। वह तीर्थों के लिए संघ निकालने या बोहरागत या चौधर या कोठार का काम करने से हुआ है।

मध्यकालीन आचार्यों द्वारा प्रतिबोधित गोत्र :

अनेक गोत्रों का विशिष्ट आचार्यों द्वारा प्रतिस्थापित होना शिलालेखों एवं ग्रंथों के उल्लेखों के आधार पर निश्चित है।

१. आचार्य बप्प भट्ट सूरि (वि० सं० ८०० से ८९५) ने आम राजा को प्रतिबोध देकर राजा की व्यवहारिका रानी के पुत्रों का राज कोष्ठागार वंश स्थापित किया। ये कालान्तर में कोठारी कहलाये।

२. आचार्य नेमिचन्द सूरि ने मालव देश में सं० ९५४ में बरड़िया गोत्र की स्थापना की।

विक्रम की दसवीं से सतरहवीं शताब्दी के बीच खरतर गच्छ के अनेक प्रभावी आचार्य हुए, जिन्होंने ओसवंश की श्री वृद्धि के अथक प्रयास किये।

कुछ विशिष्ट आचार्यों एवं उन द्वारा प्रस्थापित गोत्रों के नाम निम्नांकित हैं :

१. खरतर गच्छ के जनक श्री जिनेश्वर सूरि के गुरु एवं प्राकृत ग्रन्थ 'कुवलयमाला' के रचयिता आचार्य उद्योतन सूरि के शिष्य श्री वर्द्धमान ने वि० सं० १०२६ में 'संचेती' गोत्र वि० सं० १०२७ में लोढ़ा एवं पीपड़ा गोत्रों की स्थापना की।
२. जिनेश्वर सूरि–(समय सं० १०६१–११११) श्रीपति ढढा, तिलेरा, भणसाली गोत्रों की स्थापना की।
३. अभय देव सूरि–(समय सं० १०७२–११३५) खैतसी, पगारिया, मेड़तवाल गोत्रों की स्थापना की।
४. हेमचन्द्र सूरि–(समय सं० ११८७) सांखला, सुराणा, सियाल, सांठ सालेचा, पुनमिया गोत्रों की स्थापना की।
५. जिन वल्लभ सूरि–(समय सं० ११५६–११६७) चोपड़ा, गणधर, बडेर, कुकड़, सांढ़, बांठिया, ललवाणी, बरमेचा, हरखावत, मल्लावत, साह, सोलंकी, कांकरिया, सिंघी आदि गोत्रों की स्थापना की।
६. जिनदत्त सूरि (समय सं० ११३२–१२११) खाडेवा, पाटेवा, टांटिया, कोठारी, बोरड़, खीमसरा, समदरिया, कठोतिया, रत्नपुरा, कटारिया, ललवाणी, डागा, मालू मोमू, सेठी, सेठिया, रंक, वोक, रांका, बांका, सालेचा, पूगलिया, चोरड़िया, सावैणसुखा, गोलेछा, लूनिया, सोनी, पीतलिया, वोहित्थरा, वायरिया, लूनावत, वापना, भणसाली, चंडालिया, आवेड़ा, खटोल, गड़वाणी, मेड़गतिया, पोकरणा आदि गोत्रों की स्थापना की।

७. जिनचन्द्रसूरि—(समय सं० ११९७–१२२३) अछारिया, छाजेड़, मिन्नी, खजांची, भूगंड़ी, श्रीमाल, सालेचा, दूगड़, सूघड़, शैखाणी, कोठारी, आलावत पालावत आदि गोत्रों की स्थापना की।

८. जिनकुशलसूरि—(समय सं० १३३०–१३८९) बावेल, संघवी, जड़िया, डागा आदि गोत्रों की स्थापना की।

९. श्री भद्र सूरि ने संवत् १४७८ में भंडारी गोत्र की स्थापना की।

१०. श्री जिनहंससूरि—सं० १५५२ में गेहलड़ा गोत्र की स्थापना की।

११. श्री जिनभद्रसूरि सं० १५७५ में झावक, झामक, झाबड़ गोत्रों की स्थापना की।

१२. श्री रविप्रभ सूरि ने लोढ़ा गोत्र, मानदेव सूरि ने नाहर गोत्र, जयप्रभसूरि ने छलानी और घोड़ावत गोत्रों की स्थापना की।

गोत्रों के नामकरण के विशेष हेतु :

ओसवाल जाति में अनेक प्रशाखाओं के नामकरण से ऐसा लगता है कि इनमें शूद्र जातियां भी शामिल थीं—जैसे चंडालिया, ढेढिया, बलाई, चामड़िया। ऐसे नाम माहेश्वरी जाति में भी हैं जैसे—सुड़दा, चंडक, भूतड़ा, काबरा, बुब, सारडा। पर इससे उनका शूद्र होना सिद्ध नहीं होता। चंडालिया मूलतः चौहान वंशीय क्षत्रिय थे। चंडालिन देवी की आराधना से ऐसा नाम पड़ा हो–यह सम्भव है। ढेढिया ग्राम में आने के कारण 'ढेढिया' हुआ, जो मूलतः पवार राजपूत थे। चामड़ ग्राम में होने के कारण चामड़िया हुए, ये भी पंवार राजपूत थे। वैसे मूलतः जैनधर्म जातिवाद एवं वर्ण व्यवस्था का विरोधी रहा है। भगवान महावीर का सम्पूर्ण अभियान ही इसके विरोध में था। हरिकेशी चाण्डाल जैनधर्म में दीक्षित होकर सबका पूज्य बना। अतः जैनाचार्यों द्वारा प्रतिबोध पाकर जैन हुई कौमों में चारों ही वर्ण रहे हों, यह अस्वाभाविक नहीं है। आगे चलकर उनमें भी ब्राह्मणों के प्रभाव से जातीयता आई हो एवं वे भी शूद्रों को अपने से नीची कोटि का मानते रहे हों–यह हो सकता है।

ओसवालों की अनेक जातियों के नाम पशुओं पर है जैसे—सांड़, सियाल, नाहर, कान, बगुला, कुर्कट, मिन्नी, चील, गदइया, हंसा, मच्छा, बोकड़िया, हीरण, बागमार, बकरा, लुंकड़, गजा, घोड़ावत, घोड़ीवाल, घोखा, मुर्गीपाल, बाघचार आदि। यह नामकरण उक्त पशु के संदर्भ में किसी विशेष घटना या व्यवसाय का द्योतक है।

ओसवाल जातियों के अनेक नाम निवास-स्थान के आधार पर हैं। जैसे—हथुड़िया, साचोरा, जालोरी, सिरोहिया, रामसैण, नागौरी, भणसाली, खाटेड़, पूंगलिया, रामपुरिया, फलोदिया, मेडतिया, मंडोवरा, जोरावाला, गुदोचा, नरवरा, कोटेचा, कांकरिया, सेडरा, रत्नपुरा, रूणिवाड, हरसौरा, मोपाला, कुचेरिया, बोलदिया, पीपाड़ा,

रुणवाला, भिन्नमाला, चीतोड़ा, मटनेरा, संगरिया, पाटणि, खींवसरा, चामड़, मेड़तवाल, हालाखंडी, भवक. डेढ़िया, श्रीमाल आदि।

ओसवालों की अनेक जातियों के नाम राजकर्म या उपाधि के अनुसार पड़े। जैसे—मोदी, भंडारी, कोठारी, खजांची, कामदार, पोतदार, चौधरी, पटावरी, सेठ, मुँथा, हाकिम, कानूनगो, शूखा, रणु, धीरा, बोहरा, दफ्तरी।

व्यापार के नाम पर बनी ओसवाल जातियाँ हैं : लूणियां, पटवा, घीया, गूगालि, मारोलिया, कपूरिया, गूँगालिया, नालेरिया, सोनी, चामड़, गान्धी, जड़िया, बोहरा, गूँदिया, मणियार, तिलेरा, बजाज, केसरिया, जौहरी, मीनारा, सराफ, फव्वरी, पितलिया, मंडोलिया, धूपिया आदि।

अनेक जातियाँ, जो दक्षिण की ओर गयीं, उनके नाम अवस्थितियों के अनुसार पुकारे जाने लगे—कोटेचा, डांगरेचा, ब्रह्मेचा (बरमेचा) बागरेचा, कांकरेचा, सालेचा, प्रामेचा, पावेचा, पालरेचा, नादेचा, संभलेचा, मादरेचा, मुगुलेचा, गुँदेचा, कडेचा, सुघेचा आदि।

पूर्वजों या पिता के नाम पर बहुत सी जातें बनीं। जैसे—मालावत, चम्पावत, भूजावत, हरखावत, माडावक, दस्सानी, डुंगरानी, खेतानी, बखतावत, डागा, ब्रह्मेचा, यातावत, सिंहावत, सेलाणि, लालाणि धमाणि, तेजाणि, दुधाणि, आसाणी, लालवाणी, गंग, दुधोड़िया, माल्‌, डूँगरानी, सीपाणि, वेगाणी, वासाणि, जनाणि, निमाणी आदि।

माहेश्वरी जाति से बने ओसवाल गोत्र :

माहेश्वरी और ओसवाल दोनों ही जातियों के मूल स्रोत क्षत्रिय थे। कालांतर में जैन धर्म के प्रभाव से हिंसा छोड़ कर ये व्यवसायी बने। इन दोनों जातियों की उत्पत्ति भी राजपूताने की विभिन्न क्षत्रिय कौमों से मानी जाती है। प्रसिद्ध इतिहास वेत्ता मुनि जिन विजय जी के अनुसार 'एक समय राजपूताने एवं गुजरात के कतिपय प्रतिष्ठित कुटुम्बों में जैन और शैव दोनों धर्मों का पालन किया जाता था। किसी गृहस्थ का पितृकुल जैन था तो मातृकुल शैव और किसी का मातृकुल जैन था तो पितृकुल शैव। उनके सामाजिक विधि-विधान सब ब्राह्मणों द्वारा ही सम्पन्न कराये जाते थे।'

खंडेला के राजा खड़गल सेन के पुत्र सुजान कुंवर माहेश्वरी समाज के आदि पुरुष माने जाते हैं। एक किवदन्ती के अनुसार एक दिन सुजान कुंवर ७२ उमरावों के साथ कहीं जा रहे थे। राह में यज्ञ में पशुओं की बलि होते देखी। हिंसा के इस चक्र को उन्होंने नष्ट कर दिया किन्तु ब्राह्मण ऋषियों के श्राप से वे पाषाण बन गये। सुजान कुंवर की युवा पत्नि चन्द्रावती के तप और प्रार्थना से प्रसन्न हो भगवान महेश और पार्वती ने उन पाषाणों में प्राण संचारित किये। तभी से उनकी संतानें माहेश्वरी कहलायीं। उन्होंने शस्त्र छोड़ तराजू ग्रहण किया यानि क्षत्रिय से वैश्य बने। इस तरह जैन

और शैव संस्कृतियों का मिला जुला संस्करण माहेश्वरी हैं। 'माहेश्वरी कल्पद्रुम' के लेखक श्री शिवचरण जी दरक के अनुसार उक्त ऐतिहासिक घटना विक्रम की ८वीं/१०वीं शताब्दी के बीच हुई होगी। वैसे किंवदन्ती यह भी है कि माहेश्वरी जाति महाभारत काल में यानि ४८०० वर्ष पूर्व उत्पन्न हुई थी।

विक्रम की १२वीं शताब्दी में एवं उसके बाद माहेश्वरी जाति के अनेक गोत्र जैन धर्म मानने वाली क्षत्रियों से महाजन बनी मुख्य जाति 'ओसवाल' में आ मिले।

विक्रम संवत् ११९२ में माहेश्वरी जाति के मूंदड़ा गोत्रीय सेठ हाथी शाह मुल्तान राज्य के दीवान थे। उनके पुत्र लूणाजी को सांप ने डस लिया। आचार्य जिन-दत्त सूरि जी ने उन्हें जीवन दान दिया। जैन धर्म अंगीकार करवा कर उनका लूणिया गोत्र निर्धारित किया एवं उन्हें ओसवाल बनाया। कालांतर में इस गोत्र के वंशज मुलतान से फलौदी आकर बसे।

माहेश्वरी जाति के राठी गोत्रीय भाभूजी नामक श्रेष्ठि रतनपुर के राजा रतन सिंह के खजांची थे। राज्य के दीवान माल्हदेव के लड़के को अधंगी रोग हो गया। उसे आचार्य जिनदत्त सूरि ने रोगमुक्त किया। उनके उपदेशों से प्रभावित हो भाभूजी और माल्हदेव ने जैन धर्म अंगीकार किया। भाभूजी की संतानों से ओसवालों का भाभू गोत्र बना। माल्हदेव के वंशजों का मालू गोत्र निर्धारित हुआ। उनके साथ ही माहेश्वरी जाति के डागा गोत्रीय अनेक परिवार जैन बने। उनका डागा गोत्र निर्धारित हुआ। वे सभी ओसवाल जाति में शामिल हुये।

माहेश्वरी जाति के ही परिवार के गोत्रीय श्री नवाजी को आचार्य ब्रह्मान सूरि ने उपदेश देकर जैन धर्म अंगीकार करवाया। उनकी संतानें लोढ़ा कहलाईं।

माहेश्वरी जाति के बाहेती गोत्रीय श्री खेताजी के दो पुत्र थे : लाला और भीमा। दोनों नवाब लोदी रूस्तम के खजाने का काम देखते थे। उन्होंने करोड़ों रुपये का माल बिरादरी के लोगों एवं ब्राह्मणों को बांटा। नवाब ने दोनों को गिरफ्तार कर लिया। वे किसी तरह जेल से निकल भागे। अनेक दिन तपा गच्छ केउपाश्रयों में छिप कर रहे। उन्होंने जैन धर्म स्वीकार कर लिया एवं लूंकड़ (लुक कर रहने से) कहलाने लगे।

नागौर में माहेश्वरी जाति के मूंदड़ा गोत्रीय एक श्रेष्ठि रहते थे। उनका पुत्र गायब हो गया। जैन संत देवाल जो के बताने से वह जंगल में नाहर (सिंह) के पास पड़ा मिला। श्रेष्ठि ने जैन धर्म स्वीकार किया। उनका गोत्र नाहर हुआ।

विक्रम संवत् ११७९ में मंडोवर के परिहार राजा नानद को एक जैनाचार्य के वरदान स्वरूप पुत्र प्राप्ति हुई। राजा के साथ प्रजा ने भी जैन धर्म स्वीकारा। उनमें अनेक ब्राह्मण एवं माहेश्वरी परिवार भी थे।

सिरोही में माहेश्वरी जाति के मोहता गोत्रीय श्री डीडा जी ने जैन धर्म स्वीकार किया। उनका डोडू गोत्र हुआ।

विक्रम संवत् १०१६ में माहेश्वरी जाति के लढ़ा गोत्रीय कुछ परिवार जैन धर्म अंगीकार कर ओसवाल बने। उनको तातेड़ गोत्र में शामिल किया गया।

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि उपरोक्त गोत्रों के अलावा माहेश्वरी और ओसवाल जातियों के अन्य अनेक गोत्रों के नाम भी एक जैसे हैं। माहेश्वरी जाति में भी गदइया, गेलड़ा, गट्टाणी, खटवड, पूँगलिया, सुखानी, गाँधी, सिंगी, पटवा, सोनी, कोठारी, नौलखा, नागोरी, चौधरी, फोफलिया, भंडारी, भंसाली, भूतड़ा, मंडोवरा, घोया, मोदी, सेठ, सेठी, मूंथा, आदि गोत्र या खांपे हैं। इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि दोनों जातियों का मूल स्रोत एक ही है एवं सांस्कृतिक विरासत भी समान है।

अखिल भारतवर्षीय माहेश्वरी महा सभा ने अपने अमृत महोत्सव दीपावली २०४२ पर एक 'स्मारिका' प्रकाशित की है। उसमें 'बढ़े चलें हम अपने पथ पर' शीर्षक के अन्तर्गत लिखित धार्मिक क्रांति सम्मेलन के प्रवक्ता श्री शरद कुमार साधक के विचार मननीय हैं। उनके अभिमतानुसार यज्ञों का विरोध महावीर-बुद्ध आदि श्रमणों ने तो किया ही, महेश ने भी किया। उसका परिणाम यह हुआ कि वाराणसी में जहाँ दस-दस अश्वमेध हुए और 'दशाश्वमेध घाट' बना, वहीं यज्ञ होने बंद हो गये। तब याज्ञिक महेश के श्वसुर प्रजापति दक्ष के पास हिमगिरि की उपत्यकाओं में यज्ञानुष्ठान करने पहुँचे। उन्होंने महेश के खिलाफ वातावरण बनाया। असह्य होने से सती ने अपने पति से याज्ञिकों के इस दुर्व्यवहार का कारण पूछा। महेश ने बताया :

ब्रह्म सभा हम सन दुखमाना। तेहिते अजहु करहि अपमाना॥

(रामचति मानस : बालकाण्ड)

सती ने पितृगृह पहुँचकर याज्ञिकों को फटकारा। वह यज्ञ का विरोध करके ही सन्तुष्ट नहीं हुई, वरन् उसने योग की महिमा भी समझायी। इस पर भी याज्ञिकों का हठ बरकरार रहा तो वह कुर्बान हो गयी :

अस कहि जोग अगनि तनु जारा। भयउ सकल मख हाहाकारा॥

(रामचरित मानस : बालकाण्ड)

प्रजापति दक्ष, याज्ञिक ब्राह्मण आदि ने सती के बलिदान की अनदेखी की, तब वीरभद्र आदि को जो करना पड़ा, उस ओर महेश के अनुयायियों का ध्यान गया होता तो लगभग ४ हजार वर्ष बाद राजस्थान के अन्तर्गत खंडेला ग्राम के प्रतापी राजा खडगसेन के पुत्र राजकुमार सुजान कुँवर को फिर यज्ञ नष्ट करने का आदेश नहीं देना पड़ता। यज्ञ ध्वस्त होते हुए ही क्रुद्ध याज्ञिकों ने राजकुमार और उनके सहयोगी उमरावों को श्राप दे पाषाण प्रतिमाओं में परिवर्तित कर दिया। इस हादसे की खबर मिलते ही राजा-

रानी मर गये। राजकुमार की पत्नी ने लेकिन हिम्मत नहीं हारी। उसने 'महेश-पार्वती' को प्रसन्न कर उन पाषाण प्रतिमाओं में प्राण संचारित करवाये। नव जीवन प्राप्त राजकुमार एवं उसके सहयोगियों ने तब अपने 'योग क्षेम' का साधन बदला :

कृपाण त्याग कर कलम लीन्ह। तज ढाल तराजू कुरत दीन्ह ॥

(दरक)

ऐतिहासिक कथानकों के मानवीय पक्षों को उभारकर श्री साधक जी ने पाँच मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित किया है :

१. आखेट काल में बचाव के लिए असि (तलवार) का आविष्कार (जैनों के आदिपुरुष द्वारा)

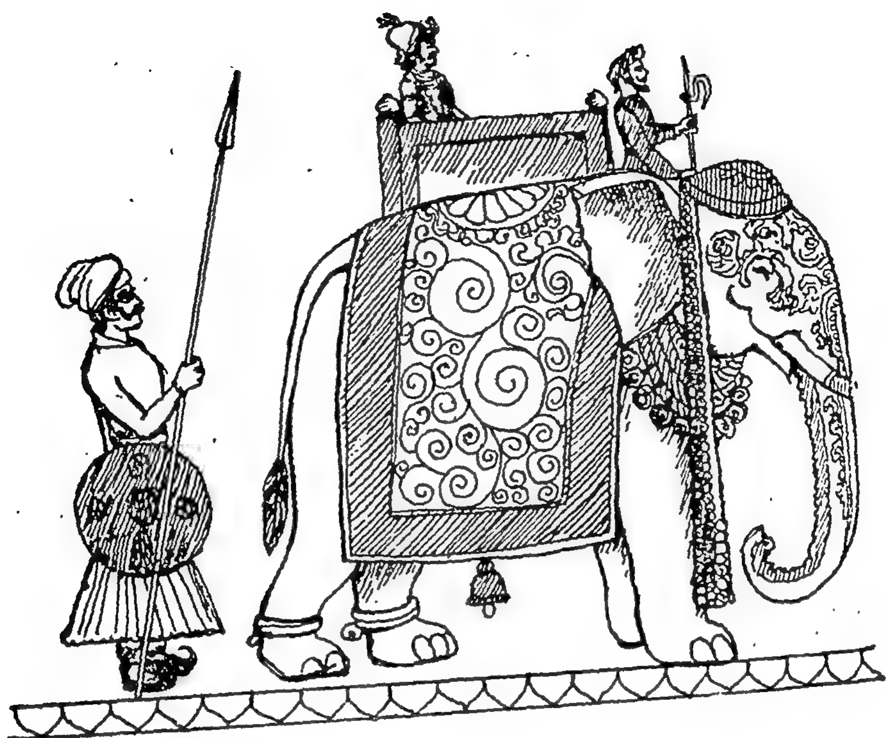
२. असि के बल पर सामन्ती काल में राज्य विस्तार और यज्ञानुष्ठान

३. यज्ञ काल की निरंकुशता समाप्त करने के लिए 'योग' की प्रतिष्ठा

४. लोहागल में शस्त्र विहीन समाज-व्यवस्था स्थापित करने का संकल्प (माहेश्वरियों के आदि पुरुष द्वारा)

५. भोजन, उद्योग-धन्धे, मौज-शौक, कला-कौशल, राजनीति में सात्त्विकता का आग्रह रखने वाले मनीषियों की पहचान के रूप में गोत्रोत्पत्ति और 'कृषि गोरक्ष वाणिज्यम्' जैसे आचार मंत्रों के कारण सामुदायिक जीवन की सुरक्षा (संस्कारशील हसयोगी समाज रचना के पक्षधर महाजनों द्वारा)

सुरक्षित जीवन की आकांक्षा रखने वाले मील के पत्थरों को ही मंजिल मान बैठे और सभ्यता के विकास की कहानी इतिहास के तटबंधों में सिमट गयी ! अतः श्री साधकजी का यह मत समय संगत है कि—वेद, आगम, पुराण, लोक-कथा, पौराणिक संदर्भो के तहत देश, काल, स्वभाव, पुरुषार्थ, आवश्यकतावश जो गोत्र-विकास हुआ है, हम उसके उपादान-निमित्त कारणों का सम्यक् अध्ययन करें, और इतने मौलिक बनें कि जितना स्वयं सृजन है।



६ | श्रीमाल वंश

श्रीमाल नगर की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :

वर्तमान 'भिन्नमाल' नगर राजस्थान के जालौर जिले का एक ऐतिहासिक नगर है, जो आबू रोड स्टेशन से पश्चिम में ४० मील की दूरी पर स्थित है। यह नगर निःसन्देह अति प्राचीन एवं प्रसिद्ध रहा है। कहते हैं। चार युगों में यह चार विभिन्न नामों से जाना जाता रहा है। यथा–श्रीमाल, रत्नमाल, पुष्पमाल, भिन्नमाल।

श्रीमालमिति यन्नाम रत्नमालमिति स्फुटं।
पुष्पमालं पुनर्भिन्न–मालं युग चातुष्टये।।
चात्वारि यस्य नामानि, वितन्वंति प्रतिष्ठितं।
अहो नगर सौन्दर्य–महार्यं त्रिजगत्यपि ॥

—श्रीइन्द्र हंसगणि विरचित 'उपदेश कलनवल्लरी'

स्कंध पुराण में श्रीमाल महात्म्य ६५ अध्यायों में सम्पन्न होता है। कार्तिकेय भगवान शिव से इस नगर की महिमा पूछते हैं और शिव वर्णन करते हैं। भगवती लक्ष्मी की कृपा से नगर का नाम 'श्रीमाल' हुआ।

श्रीमाल पुराण में इस नगर की तात्कालीन भव्यता का वर्णन है, जिसके अनुसार इस महान नगरी का विस्तार ५ योजन तक था। इसके ८४ दरवाजे थे। इसमें ८४ कोट्याधीश श्रेष्ठि वास करते थे। राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के संग्रह में कल्पसूत्र की सं० १५६३ में लिखित एक हस्तलिखित प्रति के अन्त में दी हुई पुष्पिका में भी उक्त चारों नामों एवं नगर के भव्य सौन्दर्य का वर्णन है :

श्री रत्नमालं किल पुष्पमालं, श्रीमाल माहहुश्च ततो विशालम् ।
जीयाद् युगे नाम पृथग् दधानं, श्री भिन्नमालं नगरं प्रधानम् ॥

इनके अलावा 'उपकेश गच्छ पट्टावली', 'वृहत् कल्पभाष्य टीका', जिनदास गणि द्वारा वि० सं० ७३३ में रचित 'निशीथ चूर्णि' उद्योतन सूरि द्वारा वि० सं० ५३६ में रचित 'कुवलयमाला' एवं सिद्धसेन सूरि विरचित 'सकल तीर्थ स्तोत्र' में भी इस समृद्ध नगर-तीर्थ का विशद उल्लेख है। आचार्य सिद्धर्षि कृत 'उपमिति भव प्रपंच कथा' की रचना वि० सं० ४९२ में यहीं हुई। आचार्य हरिभद्र सूरि ने अनेक ग्रंथ यहीं रचे। महाकवि माघ ने उत्कृष्ट संस्कृत महाकाव्य 'शिशुपाल वधम्' की रचना इसी नगर में की। बीज गणित के प्रधान प्रवर्तक आचार्य ब्रह्म गुप्त इसी नगर के थे। ब्रह्मगुप्त रचित 'ब्रह्म सिद्धान्त' अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुका है। इसका अरबी अनुवाद 'सिंघ हिन्द' नाम से हुआ। वहीं से पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने ग्रहण किया। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्रा वर्णन में भीनमाल नगर एवं आचार्य ब्रह्म गुप्त के प्रयोगों का वर्णन किया है। महूक के 'हरमेखला' नामक आयुर्वेद ग्रंथ की रचना भी इसी नगर में हुई।

पं० हीरालाल हंसराज के अनुसार वि० सं० २०२ में भिन्नमाल पर सोलंकी वंश के राजा अजीत सिंह का शासन था। उस वक्त मीर मामोची नामक म्लेच्छ ने भिन्नमाल पर चढ़ाई की। युद्ध में अनेक सैनिक और स्वयं राजा हताहत हुए। म्लेच्छ नगर को लूटपाट कर चले गये। उजाड़ नगर को फिर से बसाया गया। विक्रम सं० ५०३ में इस नगर पर सिंह नामक राजा का शासन था। उसके कोई सन्तान न थी। देवी की आराधना से उसे पुत्र रत्न प्राप्त हुआ। उसका नाम जईयाण कुमार रखा गया, जो विक्रम संवत् ५२७ में भिन्नमाल का राजा बना। उसका पुत्र श्रीकर्ण वि० सं० ५८१ में गद्दी पर बैठा। इस प्रकार इस वंश का शासन करीब ३०० वर्ष तक रहा। वि० सं० ७०५ में सामंत भिन्नमाल का राजा बना। उसके दो पुत्र थे : जयंत और विजयंत। वि० सं० ७१९ में जयंत राजा बना। विजयंत को लोहियाण का राज्य मिला, जिसे जयन्त

ने छीन लिया। विजयंत ने संखेश्वर गाँव से सर्वदेव सूरि से जैन धर्म अंगीकार किया। वि० सं० ७२३ में उसने अपने मामा की सहायता से लोहियाण पर कब्जा कर लिया। उसका पुत्र जयमल वि० सं० ७३५ में राजगद्दी पर बैठा। वि० सं० ७६४ में उसका पौत्र भाण राजा हुआ। भाण ने भिन्नमाल जीत लिया और अपनी राजधानी बनाया।

भाण बड़ा प्रतापी राजा हुआ। उसने जैनधर्म को राज्याश्रय दिया। शत्रुञ्जय और गिरनार तीर्थों के संघ निकाले। उसका संघवी पद पर तिलक करते समय कुलगुरु उदयप्रभ सूरि एवं चाचा गुरु सोमप्रभ सूरि में—'कौन तिलक करेगा' प्रश्न को लेकर विवाद हुआ। अन्ततः ८४ गच्छों के आचार्यों ने राजा भाण की साक्षी से मर्यादा बांधी–तदनुसार कुल गुरुओं द्वारा गोत्रों का इतिहास रखने की परम्परा पड़ी। इस मर्यादा को हस्ताक्षरित करने वाले ८४ गच्छों के आचार्यों में उपकेश गच्छ के श्री सिद्ध सूरि भी थे।

प्राचीन काल में यह नगर समृद्धिशाली था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। 'श्रीमाल नगर' का नाम बदलकर 'भिन्नमाल' नाम कब हुआ—इस बारे में मत-वैभिन्य है। 'भगवान् पार्श्वनाथ परम्परा का इतिहास' में दी अनुश्रुति के अनुसार इस नगर में विक्रम संवत् से ३७० वर्ष पूर्व राजा जयसेन राज्य करते थे। उन्होंने आचार्य स्वयंप्रभ सूरि से प्रतिबोध पाया। उनके उत्तराधिकारी राजा भीमसेन हुए, जो वाममार्गीय थे। भीमसेन के तीन पुत्र थे—उपलदेव, आसपाल और आसल। राजा से अनबन होने के कारण उपलदेव और आसपाल नगर छोड़कर चले गये—उनके साथ अनेक सामंत भी चल दिये। उन्होंने जोधपुर के निकट 'ओसिया नगरी' बसायी। श्रीमाल नगर के बहुत से धनिक व्यापारी भी वहाँ जा बसे। तब राजा भीमसेन ने उजड़े नगर को फिर से आबाद किया। 'उपकेश गच्छ पट्टावलि' के अनुसार तभी से यह नगर भिन्नमाल कहलाने लगा। 'श्रीमाल महात्म्य' के ४४वें अध्याय में दी अनुश्रुति के अनुसार नगर का अधिकांश भाग महामारी में नष्ट हो गया। तब नगरवासियों ने सूर्योपासना की। सूर्य ने भील का रूप धारण कर मृतजनों को पुनर्जीवित किया। भीलों के प्रभाव के कारण नगर भिन्नमाल कहलाने लगा।

छठवीं-सातवीं शताब्दी में रचित ग्रंथों में नगर का नाम श्रीमाल नगर ही है।

भिन्नमाल नगर के प्राचीन खण्डहरों के पास एक तालाब है, जहाँ जैन मंदिर के खण्डहर में वि० सं० १३३३ का एक प्राचीन शिलालेख मिला है, जो प्राचीन 'जैन लेख संग्रह' एवं 'आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट' में प्रकाशित हुआ है। इस शिलालेख के अनुसार भगवान महावीर स्वयं कभी श्रीमाल नगर पधारे थे :

य: पुरात्र महास्थाने श्रीमाले स्वयमागतः।
सदेवः श्री महावीरो देवा (द्यः) सुख सम्पदं॥

यदि इस तथ्य को प्रामाणिक माना जाय तो उस समय राजस्थान में भिन्नमाल तक जैन धर्म का प्रसार था—यह भी सिद्ध हो जाता है। इस तथ्य की पुष्टि 'श्रीमाल महात्म्य' नामक ग्रंथ से भी होती है। आचार्य सिद्ध सेन सूरि ने 'सफल तीर्थ स्तोत्र' में इस नगर को तीर्थ स्थल बताया है। यह प्रदेश विक्रम की प्रथम सदी में वज्र स्वामी का विहार क्षेत्र रहा है।

श्रीमाल जाति की उत्पत्ति :

'विमल प्रबन्ध' एवं 'विमल चरित्र' नामक ग्रन्थों में श्रीमाल नगर का विषद वर्णन है। इसके अनुसार यह नगर द्वापर युग के अन्त में बसा। श्रीमाल जाति की स्थापना इसी नगर में हुई। इस विषय में निम्न पद उल्लेखनीय है :

श्रीकार स्थापना पूर्वं श्रीमाल द्वापरान्तरैः।
श्री श्रीमाल इति ज्ञाति, स्थापना विहिताश्रियाः॥

यह भी कहा जाता है कि श्रीमाल नगर के होने के कारण अन्यत्र इस नगर का वणिक समुदाय श्रीमाली कहा जाने लगा। अन्य जातियों में भी श्रीमाली गोत्र हैं। जैसे श्रीमाली ब्राह्मण। एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि श्रीमाली ब्राह्मणों एवं श्रीमाली वणिकों की कुल देवी एक ही मानी जाती है—लक्ष्मी।

श्रीमाल जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जैन ग्रंथों में उपलब्ध कथानक के अनुसार कभी श्रीमाल नगर में श्रीमल्ल नामक राजा राज्य करता था। वह वैदिक धर्म का अनुयायी था। राजा ने एक यज्ञ किया, जिसमें सैकड़ों पशुओं की बलि दी जानी थी। तभी गौतम मुनि अपने शिष्यों सहित वहाँ पधारे। उनके उपदेश से प्रभावित हो राजा ने पशुबलि बन्द कर दी और जैन धर्म अंगीकार किया। तभी सिरोही के राजा भीमसेन ने श्रीमाल नगर पर चढ़ाई कर दी। राजा श्रीमल्ल ने खून खराबे से बचने के लिए अपनी एकमात्र रूपवती कन्या लक्ष्मी के साथ भीमसेन के विवाह का प्रस्ताव रखा। राजा भीमसेन को मनचाही मुराद मिली। राजा श्रीमल्ल के कोई अन्य सन्तान न होने से भीमसेन श्रीमाल नगर का भी राजा हुआ। श्रीमल्ल राजा के नाम पर ही जैन धर्म अंगीकार करने वालों का श्रीमाल गोत्र हुआ।

यति रामलाल जी ने अपने ग्रंथ 'महाजन वंश मुक्तावली' में इसी तरह का कथानक बड़े विस्तार से दिया है। उनके अनुसार भगवान महावीर के समय श्रीमाल (भिन्नमाल) नगर के राजा श्रीमल्ल ने अपनी रूपवती कन्या लक्ष्मी के पाणिग्रहण के लिए स्वयम्वर न रचकर ब्राह्मणों की राय से अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया। भगवान महावीर ने लाखों जीवों की होने वाली हिंसा को लक्ष्य कर गौतम गणधर को श्रीमाल नगर प्रतिबोधार्थ भेजा। उनके उपदेशों से प्रतिबोध पाकर राजा ने यह यज्ञ स्थगित कर

दिया। श्रीमल्ल राजा ने सवा लाख राजपूतों के साथ जैन धर्म अंगीकार किया। उन्हीं से श्रीमाल गोत्र और उसको १३५ शाखाएँ स्थापित हुईं।

यतिजी के अनुसार थोड़े अरसे बाद सिरोही गढ़ के राजा परमार के पुत्र भीमसेन ने श्रीमाल नगरी घेर ली। राजा श्रीमल्ल वृद्ध था पुत्र था नहीं। कन्या लक्ष्मी थी। अतः लाखों लोगों का संहार बचाने के इरादे से अपनी कन्या लक्ष्मी भीमसेन को व्याह दी एवं हथलेवे में श्रीमाल नगर का राज्य दे दिया। इसके तीन पुत्र हुए : उपलदेव, आसल और आसपाल। आसल नाना को गोद गया। वह श्रीमाल नगर का राजा बना। उसका श्रीमाल गोत्र हुआ। श्रीमाल वंश वाले धीरे-धीरे गुजरात, गौड़वाड़, मालवा में बिखर गये। भीमसेन वाम मार्गी था। उपलदेव और आसपाल भी वाम मार्गी थे। जब उनको होश आया तो उन्होंने पिता की आज्ञा से ओसिया पट्टण नगर बसाया। यहाँ रत्नप्रभसूरि ने उनको जैनधर्म धराया एवं उनके गोत्र की स्थापना की। उपलदेव का 'आर्य श्रेष्ठि' तथा आसपाल का 'लघु श्रेष्ठि' गोत्र बना। श्रेष्ठि गोत्र वाले सं १२०१ से 'वेद' कहलाने लगे। 'लघुश्रेष्ठि' वाले सोनपाल जी के नाम से 'सोनावत' कहलाने लगे। भीनमाल के राजा आसल ने भी रत्नप्रभसूरि से 'गुरु धारणा' ली। इसीलिए श्रीमालों को ओसवालों के प्रथम गोत्रों में गिनते हैं।

श्रीमाल जाति की उत्पत्ति के विषय में इसी तरह के अनेक कथानक प्रचलित हैं। इतना तो निर्विवाद है कि इस जाति की उत्पत्ति श्रीमाल नगर में उसी नगर के श्रेष्ठियों द्वारा जैन धर्म अंगीकार कर लेने से हुई।

'श्रीमाल पुराण' के अनुसार श्रीमाल नगर के ब्राह्मणों के शास्त्र विरोधी कार्यों से दुखित होकर ब्राह्मण श्रेष्ठि गौतम काश्मीर गये। वहाँ भगवान महावीर की देशना से प्रभावित हो उन्होंने जैन धर्म अंगीकार किया। वे महावीर के प्रथम गणधर बने। उन्होंने श्रीमाल नगर लौटकर लाखों लोगों को जैन बनाया। वे श्रीमाली जैन कहलाये। कालांतर में 'श्रीमाल' उनका गोत्र बन गया।

'जैन जाति महोदय' के लेखक उपकेशगच्छीय मुनि ज्ञान सुन्दर जी के अनुसार श्रीमाल जाति की उत्पत्ति पार्श्वनाथ प्रभु के पाँचवें पट्टधर श्री स्वयंप्रभ सूरि (समय वीरात् ३० वर्ष) द्वारा श्रीमाल नगर के शिवोपासक राजा जयसेन को अश्वमेध यज्ञ में जीव हिंसा के विरुद्ध प्रतिबोध देकर जैन धर्म अंगीकार कराने एवं 'महाजन' बनाने से हुई। उस वक्त कुल नव्वे हजार जैन श्रावक बने, जो कालान्तर में श्रीमाल के नगर निवासी होने से 'श्रीमाल' कहलाने लगे। 'उपकेश गच्छ पट्टावली' के उल्लेख को ही उक्त कथानक का आधार माना जाता है।

उदयरत्न रचित 'पंचपाट रास' के अनुसार शक संवत् ७०० में रत्नप्रभसूरि श्रीमाल नगर पधारे और वहाँ श्रीमाल जाति की स्थापना की।

'जैन गोत्र संग्रह' के लेखक पण्डित हीरालाल हंसराज के अनुसार राजा भाण के समय वि० सं० ७९५ में उपकेश नगर के बासठ ब्राह्मण श्रेष्ठियों द्वारा आचार्य उदयप्रभ सूरि के उपदेशों से प्रतिबोधित हो जैन धर्म अंगीकार कर लेने से श्रीमाल गोत्र उत्पन्न हुआ। उन बासठ श्रेष्ठियों के नाम पर बासठ शाखा गोत्र बने। कालान्तर में उनकी और भी अनेक प्रशाखाएँ हुईं।

मुनि जयन्त विजयजी ने भीनमाल नगर के श्रीमाल वंशीय भारद्वाज गोत्रीय सेठ तोड़ा के वंशजों की वि० संवत् ७९५ से १६०० तक की वंशावली 'श्री आर्य कल्याण गौतम स्मृति ग्रंथ' (१९८२) में प्रकाशित की है। वह ८०० वर्षों की वंशावली बीसा श्रीमाली जाति के वही भाटों की वहियों से ली गयी है। मूल वंशावली महाराज कांति विजयजी के संग्रह मे सुरक्षित है। इसमें श्रीमाल जाति की ३३ शाखाओं का उल्लेख है। वंशावली के उल्लेखानुसार शाह तोड़ा भीनमाल नगर के पूर्व दिशा की पोल में 'भट्टना पाड़ा' में रहते थे। वे पाँच कोटि मुद्रा के आसामी थे। उनकी कुलदेवी अम्बाजी थीं। संघ ने उन्हें भगवान शांतिनाथ के मन्दिर का व्यवस्थापक चुना था।

नाहटा बन्धु (श्री अगरचन्द जी भँवरलाल जी नाहटा) श्रीमालों की उत्पत्ति ८वीं सदी के बाद में हुई मानते हैं क्योंकि 'वीरात् ९०० वर्ष' में लिखे आगमों एवं उपलब्ध शिलालेखों में पूर्व उत्पत्ति सम्बन्धी कोई उल्लेख नहीं हैं।

जैन साहित्य संशोधक एवं जैनाचार्य 'आत्माराम शताब्दी स्मारक ग्रन्थ' के उल्लेखानुसार 'इस जाति का प्राचीनतम अभिलेख श्रीमाल टोडा का ई० सन् ७३८ से सम्बद्ध है।' जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह' के अनुसार ई० सन् ९४७ में श्रीमाल श्रावक दीदा ने आचार्य शांति सूरि से प्रभावित हो नवहारा में आदिनाथ चैत्य का निर्माण कराया था।

श्री सुख सम्पतराय भंडारी ने भोजकों के पास जो वंशावलियाँ हैं, उनके हवाले से श्रीमाल वंश की उत्पत्ति सं० १८२ में हुई को ठीक मानते हुए लिखा है कि यह नन्दिवर्धन का सम्वत् मानना चाहिए, विक्रमी नहीं।

भगवान महावीर के भ्राता नन्दिवर्धन ने महावीर की दीक्षा प्रसंग पर नये संवत् का प्रवर्तन किया था। दीक्षा के बाद भगवान ४२ वर्ष सदेह रहे। रत्नप्रभ सूरि द्वारा संस्थापित ओसवालों के १८ गोत्रों में एक श्रीमाल गोत्र मानें तो इस गोत्र का उत्पत्ति समय ७०+४२ यानी नन्दिवर्धन संवत् ११२ होना चाहिए।

श्रीमाल जाति की उत्पत्ति-काल के में विषय में मतभेद अवश्य है, पर इस जाति के साथ ओसवाल जाति के सम्बन्ध को लेकर सभी ग्रन्थकार, इतिहासकार एवं पुरातत्व वेत्ता एक मत हैं। भिन्नमाल (श्रीमाल नगर) के राजा के पुत्र उपलदेव ने ओसिया बसायी। भिन्नमाल के ही सामन्त व वणिक ओसिया जाकर बसे। एवं वे सभी कालान्तर में

'ओसवाल' कहलाये। अतः श्रीमालों और ओसवालों का आनुवंशिक सम्बन्ध स्वयं सिद्ध है। अब तो श्रीमाल जाति को ओसवालों का ही एक अंग माना जाने लगा है। श्रीमालों की उत्पत्ति ओसवालों से ४० वर्ष पहले हुई हो यह तथ्य सही हो सकता है। ओसवालों के विराट् वट वृक्ष की यह शाखा एक है। भाटों के कवित्तों में इस जाति के सांडाशा, टाकाशा, गोपाशा, बागाशा, डूंगरपाल, उद्दाशाशा, भीमसेन, पुनशा, पेमाशा, भादाशा, नरसिंह, मेलपाल, राजपाल, भोजपात आदि श्रेष्ठियों का उल्लेख मिलता है, परन्तु उनके जीवन के अन्य विवरण उपलब्ध नहीं है।

श्रीमालों के गोत्र/उपगोत्र :

पं० हीरालाल हंसराज ने अपने ग्रंथ 'जैन गोत्र संग्रह' में उदयप्रभ सूरि द्वारा प्रतिबोधित ब्राह्मण जाति के ६२ नगर श्रेष्ठियों से संस्थापित श्रीमालों के ६२ गोत्रों की तालिका दी है। वह इस प्रकार हैं : गौतम, हरियाण, कात्यायन, भारद्वाज, आग्नेय, काश्यप, वारिधि, पारायण, गंसीयाण, खुड्डीयाण, लोढ़ायण, पारस, चंडीसर, देहीत, पापच, दाडिम, सांख्य, महालक्ष्मी, वीजल, लाछिल, द्वीपायन, पारध, चक्रायुद्ध, जांगल, वाछिल, माढ़र, तुंगीयाण, पायन्ना, एलायन, चोखायण, अक्षायण, प्राचीन, कामरू, भोभान, चन्द्र, टाटर, छाहिल, राजत, स्वास्थित, अमृत, चामल, कोशि, बहुलक, नागड़, झायण, डोड, जीतधर, जालन्धर, तक्षक, खागिल, वायस, सारधि, धीरध, आत्रेय, आहटा, कर्कस, बंबायन, कुम्भक, दीर्घायण तोतिल, बटुसर, वणिका।

शिलालेखों में श्रीमाल गोत्र के अनेक उपगोत्रों का उल्लेख मिलता है। जैसे गोवलिया, घेवरीया, चंडालेचा, जवहरा, जरगड़, टांक, डउड़ा, डोर, दोसी धामी, धीधीद, नलुरीया, पल्हड़, पाताड़ी, पाताणी, पापड़, फोफलिया, वदलिया, वहरा, भांडावत, भांडिया, महुविया मेहेता, महरोल, माथलपुरा, मोठिप्पा, वहवड़ा, साहु, सिंधुड़, लीबड़ीया, सींदड़िया, तलाजीया, गांधी, सालगिरा, गोरसीया, वारीया, सरकडीया, पुनातर, मणीयार, झूझाणी, वोरा, मघासर, चुकडीया आदि।

यति रामलाल जी ने अपने ग्रन्थ 'महाजन वंश मुक्तावली' में श्रीमाल गोत्र की १३५ शाखाओं के नाम दिये हैं। उनमें से अधिकांश का अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता। यति जी के अनुसार उनमें से अनेक गुजरात जाकर वस गये। 'गुजरात में गोत नहीं, मारवाड़ में छोत (छूत) नहीं' न्याय के अनुसार वे अपना गोत्र ही भूल गये।

श्रीमालों की १३५ शाखाएँ

१. श्रीमाल २. कटारिया ३. कहुँघिया ४. काठ ५. कालेरा ६. कादइये ७. कुराडिक ८. काल ९. कुंठारिये १०. कूकड़ा ११. कौडिया १२. कोकगढ १३. कंत्रोतिया

१४. खगल १५. खारेड १६. खीर १७. खोचडिया १८. खोसडिया १९. गदउडधा २०. गलकटे २१. गपताणिया २२. गदइया २३. गिलाहला २४. गीदोडिया २५. गुजरिया २६. गूजर २७. घेवरिया २८. घोघडिया २९. चरड ३०. चांड़ी ३१. चुगल ३२. चडिया ३३. चंदेरीवाल ३४ छक्कडिया ३५. छालिया ३६. जलकट ३७. जूंड ३८. जुंडीवाल ३९. जांट ४०. झामचूर ४१. टांकइ ४२. टांकरिया ४३. टोंगड ४४. डहरा ४५. डागड ४६. डूंगरिया ४७. ढीर ४८. ढोढा ४९. तवल ५०. ताडिय ५१. तुरक्कया ५२. दुसाज ५३. धनालिया ५४. धूवना ५५. धूपड ५६. ध्याधीया ५७. तावी ५८. नरट ५९. दक्षणत ६०. नाचण ६१. नांदरीवाल ६२. निवहटिया ६३. निरदुम ६४. निवेहेडिया ६५. परिमाण ६६. पचौसलिया ६७. पडवाडिया ६८. पसेरण ६९. पंचोभू ७०. पंचासिया ७१. पाताणी ७२. पापडगोत ७३. पूरणिया ७४. फलवधिया ७५. फाकू ७६. फोफलिया ७७. फूसपाण ७८. वहापरिया ७९. वरडा ८०. बदलिया ८१. वंदूवी ८२. वांहकटे ८३. वाईसन्न ८४. वारीगोत ८५. वायडा ८६. विमनालक ८७. वीचड ८८. वोहलिया ८९. भद्रसवाल ९०. भांडिया ९१. भालोव ९२. भूबर ९३. भंडारिया ९४. भांडूगा ९५. भोथा ९६. महिमवाल ९७. मऊठिया ९८. मरद्दला ९९. महतियाणा १००. महकुले १०१. मरहटी १०२. मथुरिया १०३. मसूरिया १०४. माघलपुरी १०५. मालवी १०६. मारूमहटा १०७. मांदोटिया १०८. मूसल १०९. मोगा ११०. मुरारी १११. मुंदडिया ११२. राडिका ११३. रांकिबांण ११४. रीहालीम ११५. लवाहला ११६. लडारूप ११७. सगरिप ११८. लड़वाला ११९. सागिया १२०. साभडती १२१. सीधूंड १२२. सुदाडा १२३. सोंहू १२४. सौठिया १२५. हाडीगण १२६. हेडाउ १२७. हीडौया १२८. अंगरीप १२९. आकोडपड १३०. उँबरा १३१. वोहरा १३२. सांगरिया १३३. पलहोट १३४. घघरिया १३५. कूंचलिया।

हिन्दू धर्म के प्रसिद्ध पुनर्संस्थापक आदि-शंकराचार्य के बाद जब जैन एवं बौद्ध धर्म विरोधी अभियान चला तो अनेक जैन धर्मावलम्वी वैष्णव या शैव हो गये। जैन गुरु हेमचन्द्राचार्य ने पुनः अनेक परिवारों को जैन बनाया। इस रूपान्तरण में स्वाभाविक ही है कि वे अपना मूल गोत्र या साखा गोत्र बिसरा बैठे हों।

गुजरात में बसे श्रीमाली वणिकों में ओसवाल गोत्रों की तरह ही दसा-वीसा है। एक समय तो वैष्णव और जैन श्रीमाली परिवारों में भी वैवाहिक सम्वन्ध होते थे। मध्ययुग में बड़ा विभेद पड़ा और परस्पर वैवाहिक सम्वन्ध दसा-वीसा गोत्रों में भी नहीं रहा।

मारवाड़ और गोड़वाड़ में बसे श्रीमाली परिवार झूंझनूं, जयपुर, भरतपुर, चिड़ावा, देहली, कानपुर, लखनऊ, भागलपुर, हिंडोन, मालवा, कलकत्ता, आदि अनेक स्थानों पर व्यवसाय निमित्त स्थानान्तरित हो गये।

श्रीमाल जाति के वर्तमान गोत्रों (शाखाओं) में प्रमुख हैं : सीवंड़ (श्रीधर) मुकीम, राक्यान, फाफुं, नागर, फोफलिया, संघवी, भांडिया, खारड़, बदलिया, टांक, जरगड़, मेहमवार, पटोलिया, मूसल, ढ़ोर, जनीवाल। श्री श्रीमाल, चंडालिया आदि गोत्रों को भी कहीं कहीं श्रीमाल गोत्र की ही शाखाएँ माना गया है।

ओसवाल–श्रीमाल सम्बन्ध :

प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान डा० टेसीटरी ने प्राचीन भारत के राजवंशों एवं जातियों पर अनेक शोध प्रबन्ध एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल द्वारा प्रकाशित 'बिब्लियोथेका इण्डिका' में प्रकाशित किये। इस प्रकाशन की राजस्थान सीरिज में ओसवालों की गुण-कीर्ति से सम्बन्धित हस्तलिखित ग्रंथों, गुटकों, कवित्तों, गीतों की रिपोर्ट भी हैं। ऐसा ही एक सेवग मनसाराम (मंछाराम) द्वारा रचित 'ओसवालां में दातार हुआ तिणारा नाम' नामक डिंगल भाषा का हस्तलिखित गुटका नं० २७ है, जो अभी भी एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह में मौजूद है। इस गुटके में ७७ ओसवाल श्रेष्ठियों के नाम हैं जिनमें 'नं० १० श्रीमाल हीरानन्द', 'नं० १५ श्रीमाली पंदराज नगर थटे', 'नं० ३० श्रीमाल आशकरण नाथावत', 'नं० ६५ श्रीमाल अचलदास अमरसा', 'नं० ७६ श्रीमाल तोतराज' और 'नं० ७७ श्रीमाल जसराज वास खंभायत' है। निःसन्देह ओसवालों में हुए दातारों की सूचि में उनका नाम श्रीमालों को ओसवाल जाति का एक अंग मान कर ही शामिल किया होगा। यहाँ दृष्टव्य यह है कि यह एक सेवग की कलम से निस्सृत हुआ है, जो मात्र प्रशस्ति गायक है। मनसाराम का लेखन तात्कालीन प्रचलन और लोक ग्राह्यता का सूचक है।

पं० हीरालाल हंसराज ने अपने ग्रन्थ 'श्री जैन गोत्र संग्रह' (सन् १९२३ में प्रकाशित) में श्रीमालों को ओसवाल जाति का ही एक गोत्र माना है। श्रीमाल गोत्र की उत्पत्ति उनके अनुसार विक्रम संवत् ७९५ में हुई। श्री उद्योतन सूरि ने विक्रम संवत् ७२३ में ८४ शिष्यों को सूरि पद दिया, जिनसे ८४ गच्छों की स्थापना हुई। प्रथम आचार्य सर्वदेव सूरि ने शंखेश्वर गच्छ की स्थापना की। इनके तीसरे पट्टधर श्री उदयप्रभ सूरि हुए। वि० सं० ७७५ में भिन्नमाल के राजा भाण ने ८४ गच्छों के आचार्यों की सही से कुलगुरुओं द्वारा गोत्रों का इतिहास रखने सम्बन्धी मर्यादाएँ बांधी। उन ८४ आचार्यों में उदयप्रभ सूरि एवं उपकेश गच्छीय आचार्य सिद्ध सूरि भी थे। राजा भाण ने उपकेश नगर के ओसवाल श्रेष्ठि जयमल की कन्या रत्नबाई से विवाह किया एवं वि० सं० ७९५ में जैन धर्म अंगीकार किया। उसी समय श्रीमाल नगर के बासठ श्री श्रीमाल ब्राह्मणों ने श्री उदयप्रभ सूरि से जैन धर्म अंगीकार किया, जिनसे श्रीमाल गोत्र उत्पन्न हुआ। उनके ६२ उपगोत्र हुए।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमाल जाति नहीं, एक गोत्र है और वह वृहद् ओसवाल जाति का ही एक अंग है। पं० हीरालाल हंसराज ने अपने उक्त ग्रंथ

में ओसवालों के २५० गोत्रों की तालिका दी है, जिनमें श्रीमाल और उनके उप गोत्र भी शामिल हैं। उनके अनुसार श्रीमाल सदा से ओसवाल जाति का ही अंग माने जाते रहे हैं।

यति रामलाल जी ने श्रीमालों को ओसवालों का ही एक गोत्र माना है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'महाजन वंश मुक्तावली' (प्रथम आवृत्ति–१९१०) के पृष्ठ १४० पर 'ओश वंश' के गोत्रों की तालिका में प्रथम गोत्र 'श्रीमाल' ही गिनाया है। श्रीमालों के कथित १३५ उपगोत्रों में से अधिकांश ओसवालों की उक्त तालिका में मौजूद हैं। यह १३५ गोत्रों की वात भी यति जी से ही प्रारम्भ हुई दिखती है। क्योंकि अन्यत्र किसी भी ग्रंथ में गोत्रों की संख्या १३५ नहीं दी है। श्रीमालों की उत्पत्ति विषयक कथानक पृष्ठ १०३ पर 'अथ श्रीमाल गोत्रउत्पत्ति' शीर्षक सेही शुरू होता है। वे इन्हें ओसवालों का एक गोत्र मानकर ही चले हैं। इसकी पुष्टि वे आगे कर भी देते हैं। उनके अनुसार भीमसेन के तृतीय पुत्र आसल ने, जो भीमसेन की मृत्यु पर भीनमाल की गद्दी पर बैठा, आचार्य रत्नप्रभ सूरि से प्रतिवोध लेकर जैन धर्म अंगीकार किया। श्रीमाल गोत्र इसी वास्ते ओसवालों के १८ गोत्रों में गिनते हैं।'

मुनि ज्ञानसुन्दरजी ने अपने ग्रन्थ जैन जाति महोदय में उपकेश, श्रीमाल, एवं प्राग्वाट वंशों की उत्पत्ति महाजन वंश के ही अन्तर्गत ३ विभिन्न नगरों से होने के कारण मानी है। उनके अनुसार विक्रम की ११वीं सदी तक तीनों में रोटी-वेटी का व्यवहार होता था। इनमें श्रीमाल जाति के लोग अधिकांश मुत्सद्दी थे। धीरे-धीरे शक्ति वैषम्य से व्यापारियों को कन्या देने में वे अपनी हेठी समझने लगे। यही उनके दुराव का कारण बना। यहां यह भी दृष्टव्य है कि एक समय 'सेठिया' गोत्र भी ओसवालों से भिन्न माना जाता था। इनकी उत्पत्ति विषयक एक कथानक के अनुसार ८वीं सदी में भिन्नमाल नगर के श्रीमाल गोत्रीय सोमदेव आदि श्रेष्ठि ब्राह्मणों को आचार्य उदयप्रभ सूरि द्वारा प्रतिवोध देकर जैन बनाने से 'सेठिया' वंश की उत्पत्ति हुई। २४ धनपतियों के अलग-अलग २४ गोत्र वने। परन्तु कालान्तर में उन्हें ओसवाल जाति का ही अंग माना गया। इसमें प्रधान भूमिका धर्म की रही है। श्रीमाल भी इसी तरह ओसवालों का ही एक अंग वन गये।

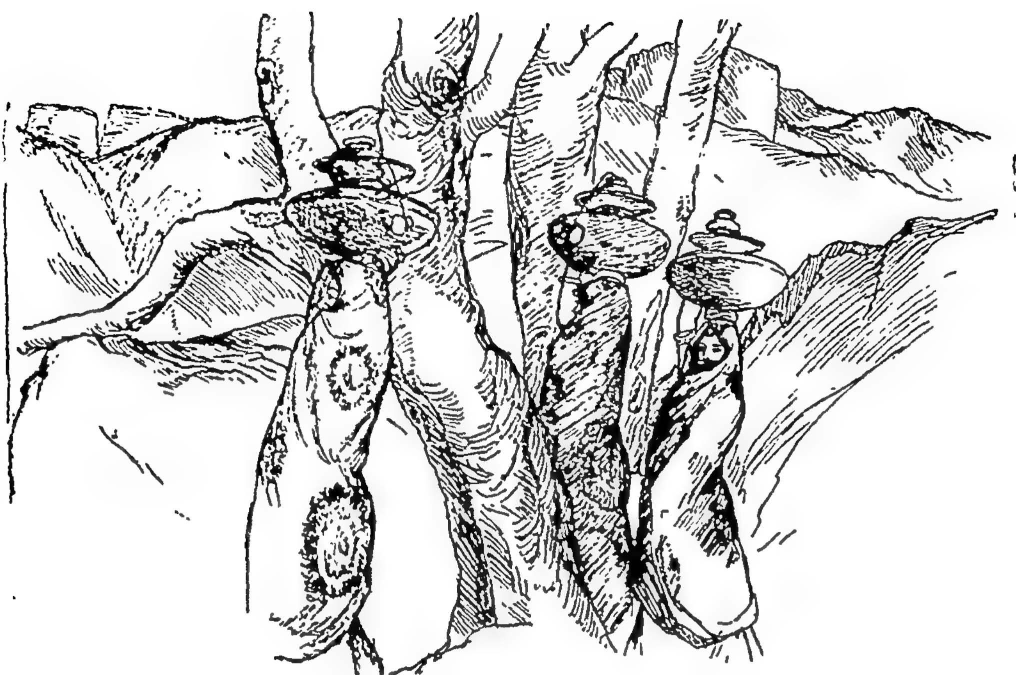
१९वीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के शुरू में एक छोटा सा विवाद अवश्य उठा, जिसकी गूंज अभी-भी कहीं-कहीं सुनाई देती है। उस समय यह भ्रम फैला कि श्रीमाल ओसवालों की वेटी लेंगे, पर ओसवालों को वेटी देंगे नहीं। कहा जाता था कि श्रीमाल श्रेष्ठि मूलतः राजघरानों में मुत्सद्दी थे। उनकी उत्पत्ति क्षत्रियों से न होकर ब्राह्मणों से मानी जाती है। अतः वे अपने आपको ओसवालों से श्रेष्ठ समझते हैं। इस भ्रम का कोई प्रमाण नहीं है। यह हवा के सूक्ष्म रजकणों की तरह जैसे उठा था, वैसे बैठ भी गया। रोटी-बेटी का व्यवहार सदा चालू रहा, अब भी चल रहा है। ओसवाल

कन्याएँ श्रीमाल परिवारों में और श्रीमाल कन्याएँ ओसवाल परिवारों में ब्याही जाती रही हैं। श्रीमाल ओसवाल धर्म सेतु से तो जुड़े ही हैं, पेशा, भाषा, खान-पान, पहरान आदि की समानता से भी आबद्ध है।

बीसवीं सदी के तृतीय दशक में अखिल भारतवर्षीय ओसवाल महा सम्मेलनों में यह महसूस किया गया कि श्रीमाल समाज महासम्मेलन की ओर से उदासीन है। तब राय साहब कृष्णलालजी बाफना ने 'ओसवाल' मुख पत्र के सन् १९३७ के फरवरी अंक में महा सम्मेलन के ओसवाल शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा था कि 'जिन जातियों का रोटी-बेटी व्यवहार ओसवालों से है, वे इसमें सम्मिलित हैं। इस तरह श्रीमाल ओसवाल समाज के ही अंग हैं।' सन् १९३९ में महासम्मेलन के पांचवें अधिवेशन के अध्यक्ष माननीय मोतीलाल जी भूरा ने अपने अध्यक्षीय भाषण में श्रीमालों को वृहत् ओसवाल समाज का अंग माना। यह अधिवेशन अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण था। अनेक वर्षों से महासम्मेलन के विधान का प्रारूप बन रहा था, जो इस अधिवेशन में स्वीकृत हुआ। इस स्वीकृत विधान में 'ओसवाल' शब्द की व्याख्या की गयी : 'ओसवाल से तात्पर्य उस जन समूह से है, जो ओसवाल कहलाते हैं या जिनका बेटी व्यवहार है जैसे श्रीमाल आदि।' इससे स्पष्ट है कि श्रीमालों को ओसवालों का ही अंग माना गया है।

'श्रीमाल एक अलग जाति है, इसकी उत्पत्ति भिन्न है और इसके अपने गोत्र हैं'—यह तर्क अनर्थक हो जाता है। ओसवालों के हर गोत्र की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न है और हर गोत्र के अनेक उपगोत्र या खांपे हैं। तब क्या उन्हें भिन्न-भिन्न जाति की संज्ञा दी जाएगी ? श्रीमाल-उत्पत्ति ओसवालों की उत्पत्ति से पूर्व हुई हो, इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। यह शोध का विषय है। परन्तु वर्तमान स्थिति में संख्या अपेक्षा से यही कहना न्यायोचित है कि श्रीमाल ओसवालों के ही एक अंग हैं। ओसवाल जाति इतनी विशाल है कि एक समय अलग लगने वाली श्रीमाल जाति अब ओसवालों में आत्मसात हो गयी है। कल को श्रीमाल संख्या में अधिक हो जायें तो वे ओसवालों को अपने में आत्मसात कर ही लेंगे। अगर श्रीमालों को ओसवाल न मानना ही किसी के लिए तुष्टिकारक हो तो उनके आपसी विवाह सम्बन्धों को अन्तर्जातीय कहना होगा। असली मापदण्ड की ओर हमारा ध्यान मुश्किल से जाता है। ओसवाल एवं श्रीमालों में जो विवाह सम्बन्ध होते हैं—क्या वे अन्तर्जातीय सम्बन्ध कहलाते हैं ? क्या ओसवाल कन्या से विवाह कर लेने पर कोई श्रीमाल जाति बहिष्कृत किया गया है, जैसी कि मध्यकालीन समाज में व्यवस्था थी। यदि नहीं, तो मानना होगा कि श्रीमाल ओसवाल जाति के अंग हैं।

●



गोत्र सूचि | ७

अद्यतन गोत्रों की स्थिति :

ओसवाल जाति अद्वितीय है। संसार में अनेक जातियाँ हैं, जिनका जन्म या आदि स्रोत एक ही है, परन्तु ओसवाल जाति के स्रोत अनेक हैं। अनेक कौमों, जातियों एवं वर्णों को अपने में आत्मसात कर लेने वाली यह जाति इतिहास की अमर वेल है। मूलतः अठारह गोत्रों से शुरू होकर वट वृक्ष की तरह इसकी शाखा-प्रशाखाएँ फैलती गयीं। वट वृक्ष का भी क्षेत्र सीमित होता है परन्तु इसका फैलाव सीमाहीन है। महत्ता इस बात में है कि जाति का मूल स्वरूप सुस्थिर है एवं इसकी धार्मिक, व्यवसायिक एवं भाषायी प्रासंगिकता ज्यों की त्यों कायम है। वैवाहिक सम्बन्धों के सूत्र सबको जातिगत ऐक्य का भान हर समय कराते रहते हैं।

पार्श्वनाथ प्रभु के छठे पट्टधर जैनाचार्य श्री रत्न प्रभ सूरि ने सवा लाख क्षत्रियों को जैन बना कर इस महाजन वंश की नींव रखी एवं इसके प्रथम अठारह गोत्र प्रस्थापित किये। काल प्रवाह के साथ अन्यान्य जैनाचार्यों के सहयोग से यह धारा निरन्तर प्रवह-

मान रही। कई शाखाएँ अन्य जाति एवं धर्म के प्रभाव में कटती रहीं और फिर इसी में समाहित भी होती रहीं। अन्य जातियों के उत्ताल हिम श्रृङ्गों से निस्सृत अनेक धाराएँ इसमें शामिल हुईं। ग्यारहवीं से पन्द्रहवीं सदी के बीच यह रूपान्तरण तीव्रतर रहा। भगवान महावीर के तयालीसवें पट्टधर श्री जिन वल्लभ सूरि ने लाखों जैनेतर लोगों को जैन बनाकर ओसवालों के बावन गोत्र संस्थापित किये। तत्पश्चातआचार्य श्री जिनदत्त सूरि ने सर्वाधिक महाजन बनाये।

गोत्रों की कुल संख्या :

अठारहवीं सदी के कवि रूपचन्द ने 'जैन भारती' के आलेखानुसार ओसवालों के ४४० गोत्र माने थे। वस्तुतः यह गणना अनुमानित है। यति श्रीपालचन्दजी ने उन्नीसवीं सदी में रचित अपने वृहद् ग्रंथ 'जैन सम्प्रदाय शिक्षा' में ओसवालों के करीब ६०० गोत्रों का नामोल्लेख किया है। विक्रम की बीसवीं सदी में प्रकाशित 'जैन जाति महोदय' एवं अन्यान्य ग्रंथों में मुनि ज्ञान सुन्दरजी ने भी ६०० गोत्रों की तालिका दी है। पंडित हीरालाल हंसराज ने 'श्री जैन गोत्र संग्रह' में कच्छ और गुजरात प्रदेश के ओसवालों के २५० गोत्रों की सर्वथा भिन्न तालिका दी है। भोजक एवं सेवग ओसवाल गोत्रों की कुल संख्या १४४४ बताते हैं। यति रामलाल जी ने अपने ग्रंथ 'महाजन वंश मुक्तावली' में एक दन्त कथा का जिक्र किया है—'एक भोजक ने अश्वपति ओसवालों की १४४४ शाखों के नाम लिख लिये। घर आया तो स्त्री ने पूछा—'सब जात लिख ली ?' भोजक बोला—'हाँ'। स्त्री ने कहा—'मेरे पीहर में 'डोसी' जात है, देखो, लिखा या नहीं।' भोजक ने अपनी तालिका देखी। आश्चर्य, वह नाम तालिका में नहीं था। बोला—'और लिखूं डोसी ? तो फेर और घणाई होसी।'

सच में ओसवाल गोत्रों की सम्पूर्ण तालिका देना बहुत कठिन है। कुछ नये गोत्र बनते रहे हैं तो कुछ गोत्र कटते भी रहे हैं। जैसे वे जैन से 'शैव' हो गये तो पूरी सामाजिक व्यवस्था भी बदल गयी। उनका रोटी-बेटी सम्बन्ध नहीं रहा। इस तरह कितनी ही धाराएँ सूख गईं। कालान्तर में वे फिर रूपान्तरित हुए तो नये गोत्र बने। एक ही गोत्र में से शाखाएँ प्रशाखाएँ निकलती रहीं। यति रामलालजी के अनुसार गोत्रों की अनुमानित संख्या २००० है। श्री बजरंगलाल लोहिया ने अपने ग्रंथ 'राजस्थान की जातियाँ' (१९५४) में एक जैन साधु का जिक्र किया है जिसने निरन्तर परिश्रम करके ओसवालों के १८०० खापों की सूचि बनाई। एक अन्य साधु ने उनके पास १५० अन्य नामों की सूचि भेजी। इससे घबड़ा कर उन्होंने अपना उद्योग ही छोड़ दिया।

श्रीमती मनमोहिनी ने अपने सद्य प्रकाशित ग्रंथ 'ओसवाल : दर्शन दिग्दर्शन' में ओसवालों के १५०० गोत्रों की तालिका दी है। वस्तुतः इनमें से अनेक गोत्र लुप्त प्रायः हैं या उनका नाम रूपान्तरित होकर कुछ अन्य हो गया है।

गोत्र सूचि :

ओसवाल गोत्रों की प्रामाणिक सूचि बनाना इतिहास लेखन सा ही श्रम साध्य है। भारत के हर कोने में फैले ओसवाल परिवारों से सम्पर्क करना असम्भव था। मैंने एक मध्यम मार्ग चुना। ग्रंथागारों में अनेक हस्तलिखित ग्रंथ उपलब्ध हैं जो विभिन्न काल में रचे एवं लिखे गये हैं। उनमें ऐसे भी ग्रंथ गुटके हैं जिनमें विभिन्न गोत्रों का इतिहास संयोजित है। राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान का ग्रंथ क्रमांक २७०३३ संवत् १९१३ में रचित ऐसा ही एक विशद प्रयास है। प्रतिष्ठान के ग्रंथ क्रमांक ६५५ में ओसवालों के ३९४ गोत्रों की विगत दी हुई है। श्री अभय जैन ग्रन्थालय के हस्तलिखित ग्रंथ क्रमांक ७७६१ में ओस वंश के गोत्र' दिये हैं। नाहर ग्रंथागार में मथेन अमीचन्द रचित एवं संवत् १९४० में व्यास गोरधन लिखित 'महाजनां री जाता रौ छन्द' में ओसवालों के अनेक गोत्रों का विवरण संयोजित है। ये विगतें भाट एवं भोजकों की वहियों पर आधारित है।

जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के महात्माओं एवं यतियों द्वारा श्रावकों की वंशावलियाँ रखने का प्रचलन था। उनकी पोशालों एवं उपासरों में उपलब्व बहियों के आधार पर यति श्रीपालचन्द्रजी, यति रामलाल जी एवं मुनि ज्ञान सुन्दर जो ने अनेक ग्रंथ प्रकाशित किये, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पुरातत्त्व वेत्ताओं ने भारत के विभिन्न स्थानों पर उपलब्ध शिलालेखों के विवरण प्रकाशित किये हैं, जिनका उल्लेख यथा स्थान करेंगे। उसमें विभिन्न गोत्रों के ओसवाल श्रेष्ठियों द्वारा बिम्ब प्रस्थापना, मंदिर निर्माण एवं उनके द्वारा किये गये अन्य लोक हितकारी कार्यों के विवरण हैं।

हाल ही में ओसवाल इतिहास को उजागर करने वाले अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। प्रसिद्ध जैन विद्वान श्री हीरालाल जी दुगड़ ने 'मध्य एशिया और पंजाब में जैन धर्म' नामक वृहद् इतिहास ग्रंथ की रचना की है। जयपुर, मद्रास, अहमदावाद आदि अनेक नगरों से जैन या ओसवाल श्रावकों की डाईरेक्टरियाँ प्रकाशित हुई हैं। जैसे श्री सौभाग्य मल जी श्री श्रीमाल द्वारा प्रकाशित 'जयपुर डाईरेक्टरी', मद्रास के श्री सी० एल० मेहता द्वारा प्रकाशित जैन 'डाईरेक्टरी', श्री पिछौलिया द्वारा अहमदावाद से प्रकाशित 'ओसवाल समाज निर्देशिका' आदि अनेक पत्र पत्रिकाओं में समय समय पर ओसवाल गोत्रों के नाम एवं विवरण प्रकाशित होते रहे हैं। इनमें बीसवीं सदी के मध्य में प्रकाशित ओसवाल सुधारक, ओसवाल, ओसवाल नवयुवक आदि पत्र तो ओसवाल समाज को ही समर्पित थे।

उक्त समस्त विवरणों के आधार पर समस्त ओसवाल गोत्रों की एक प्रमाणिक सूचि यहाँ प्रकाशित की जा रही है जिसमें कुल २६०० गोत्रों के नाम संग्रहीत हैं।

अनेक गोत्रों के नाम स्थान व समय के विपर्यय से बदलते रहे हैं। गणना में मैंने उन्हें 'एक' गोत्र ही माना है। अनेक गोत्र ऐसे हैं, जो किसी बड़े गोत्र की शाखा या उप शाखा हैं। कालान्तर में उन्होंने अपनी अलग पहचान बना ली अतः उन्हें भिन्न गोत्र मान लिया है। अनेक को अपने पूर्व गोत्र का नाम भी नहीं मालूम। हमारा समाज इतना वृहद् है कि अब वैवाहिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में गोत्रों का कोई औचित्य नहीं रहा। एक ही प्रान्त के 'दूगड़' गोत्रीय परिवारों में वैवाहिक सम्बन्ध हो चुके हैं क्योंकि पीढ़ी-दर-पीढ़ी वे अपने आपको जैन लिखते आ रहे हैं। उन्हें पता भी नहीं कि उन दोनों परिवारों का मूल गोत्र 'दूगड़' था।

यह सूचि भी पूर्ण नहीं कही जा सकती। हो सकता है अनेक गोत्रों के नाम छूट गये हों।

अ

अकोल्या
अघोरा, अग्रोड़ा
अछड़
अछुपत्ता
अछोइया
अजमेरीया
अजीमगंजिया
अटकलीया
अंचल
अनविध पारख
अंबड़
अवड़
अबाणी, अब्बाणी
अभड़
अभाणी
अभराणी
अमरावत
अमी
अरणोदा
अलंझड़ा
असुभ
असोचिया

आ

आईचणाग
आकतरा
आकाशमार्गी
आकोदड़िया
आकोलिया
आखा
आगमिया
आगरिया
आघारिया
आछा, आच्छा
आडपायत
आथा
आथागोत
आदित्य
आदित्यनाग
आदितनाग
आधेरिया
आँचल
आँचलिया
आँचल्या
आबेड़ा
आभड़रहा
आभड़
आभाणी
आभू
आमड़
आमणी
थामू
आमदेव
आयरिया
आर्य
आलझड़ा
आलावत
आलीझा
आवगोता
आवड़
आस्तेवाल
आसपुर

कनोजा
कनोजीया, कन्नोजिया
कपाड्या
कपूरिया
कबाड़
कबाड़िया
कमल
करकट, कर्कट
करणा
करणाट
करणाणी
करणारी
करणावट, कर्णावत
करनेला
करमदीया
करमोत
करयु
कररेड़ी
करवा
करहड़ी, करहेड़ी
करेलिया
करोड़िया
कलवाणा
कलरोही
कलिया
कवाड़
कवाड़िया
कस्तूरिया
कसाण
कसारा
कसूंभा
कहा
काउ

काकरेचा
काकेचा
काकलिया
काग
कागड़ा
काछवा
काड़क
काजल
काजलिया
काजाणी
काटी
काठेड़
काठेलवड़ा
काड
कात्या
कातेल
कातेला
कातरेला
कांक
कांकलिया
कांकरिया
कांकरेचा
कांग
कांगरेचा
कांगसिया
कांचलिया
कांचिया
कांटिया
कांठेड़
कांधाल
काँवसा, कामसा
काँस्टिया
कान्हूड़ा

कानरेला
कानलोत
कानूंगा, कानूगा
कानूनगा, कानूनगो
कान्नेला
कापड़
कापड़ा
कापड़िया
क़ापुरीत
काबरिया
काबा
काबिया
काबेडिया
कावेड़िया
कांबेड़िया
कामदार
कामाणी
कायाणी
कारपूंडिया
काल्या
काला
काला परमार
कावड़िया
कावसा
काविया
कावेड़िया
कास्टिया
कासतवाल
काँसेरिया
काश्यप, कश्यप
कात्रेला
किमती

किराड़
किरणाट
किरणाल
कींचा
कीडेचा
कीलोला
कीस्तूरिया
कुकड़, कुक्कड़, कुक्कुड़
कुकड़, चोपड़ा
कुगचिया
कुचेरिया
कुचोरिया, कुचोर्या
कुछाल
कुणन
कुणावत
कुदार, कुदाल
कुंकुम
कुंकुम चोपड़ा
कुंकुरोल
कुंजावत
कुंड़
कुंड़लिया, कुंडालिया
कुंदण
कुंपड़
कुंपावत
कुंभारिया
कुंवरदे
कुबड़ीया, कुबाड़िया
कुबेरिया
कुबुद्धि
कुभटा
कुम्मट, कुम्भट, कुमठ
कुम्भा

कुर्कट
कुरकुचिया
कुरा
कुलगुरु
कुलधरा
कुलभाणा
कुलवट
कुलवंत
कुलहट
कुलहणा
कुसलोत
कुहाड़, कुआड़,
कुवाँड़, कुवाड़

कूकड़ा
कूमढ़, कूमढ
कूहड़

केड़
केदार
केराणी
केल
केलवाल
केलाड़ी
केसरिया
केसवाणेचा
केहड़ा

कोकड़ा
कोकलीया
कोचर
कोचरमूंथा
कोचेटा

कोट
कोटड़िया
कोटलिया
कोटारी
कोटीका
कोटी
कोटेचा
कोठरिया
कोठारी
कोठारी मेहता
कोठिया
कोठीफोढ़ा
कोठेचा
कोणेजा
कोबर
कोबेड़ा
कोराणी
कोल्या
कोलर, कोलड़
कोलोरा
कोहेचा

कौसीया

ख

खगाणी
खड़ भंडारी
खड़ भंसाली
खड़बड़
खड़िया
खजांची
खटवड़, खटहड़

खटेड़, खाटेड़,
खटाड़, खंटेड़
खटेल
खटोड़, खाटोड़ा
खटोल
खंडिया
खपाटिया
खमसरा
खमेसरा
खरधरा
खरहत्थ
खरे
खरेड़
खवाड़

खाव्या, खाबिया,
खाभईया
खाबड़िया
खारड़
खारा
खारिया
खारीवाल
खारेड़

खिलची
खीचा, खीचिया
खीची
खीमसरा, खींवसरा
खीमसिरि
खीमसी
खीमाणदिया
खीया

खुड़धा
खुतड़ा, खुथड़ा
खुमाणा

खेचा
खेड़िया
खेड़ेचा
खेतरपाल
खेतलाणी
खेतसी
खेमासरिया
खेमानन्दी
खेमाहास्या
खेरवाल
खोखरा
खोखा
खोड़िया
खोपर

ग

गगोलिया
गड़िया, गडिया
गजसरा
गजा
गट्टा
गटागट
गटिया
गटियाला
गडवाणी
गढ़वाणी
गणधर
गणधर चोपड़ा
गदा
गदैया, गदईया,
गधैया, गधईया
गद्दहिया, गर्दहिया
गदीया
गंग, गांग
गंगवाल
गांधया
गंधी
गन्ना
ग्रथलीया
गर
गरुड़
गलाणी
गलुंडक
गलूंडिया
गहलोत

गागा
गागाणी
गांगलिया
गांधी, गांधी मोती
गांधी सहसगुणा
गांची
गाढ़िया
गादिया
गाय
गाल्हा
गावड़िया

गिडिया
गिणा

गिरमेर
गिरिया
गींगा

गुजराणी
गुजराती
गुणपालाणी
गुणहंडिया
गुणिया
गुंगलेचा
गुंदेचा, गोंदेचा, गुदेचा
गुनेचा
गुलगुलिया
गुवाल
गूगलिया
गूजड़िया, गूजरिया
गूजर गोत्ता
गूजर नागड़ा
गूडलिया
गूंगालिया
गूंदिया

गेमावत
गेरा
गेलाणी
गेवरिया, घेवरिया
गेहलड़ा, गेलड़ा
गेहलोत

गोकड़
गोखरू
गोगड़
गोगरी
गोगालिया
गोगेड़ा
गोड़ावत
गोड़वाड़िया
गोटावत
गोटेचा
गोठा
गोठी
गोढ़ा
गोतम
गोतम गोत्ता
गोताणी
गोधरा
गोदावत
गोदिबा
गोंध
गोध
गोंधा
गोप
गोपाउत, गोपावत
गोमावत
गोरा
गोरावत
गोरीसाल
गोरेचा
गोलीया
गोलेच्छा, गोलेचा
गोलछा
गोलवछा
गोवरिया
गोसल
गोसलाणी
गोसलिया
गोहीलाण
गौड़

घ

घघेरवाल
घंघवाल
घट्टा
घंटेलिया
घरघटा
घरवेला
घांघरोल
घांघारी
घिया, घीया
घीवाल
घुल्ल
घुलिया
घेरिया
घेवरिया
घोखा
घोरवाड़
घोंसल
घोष

च

चतकरिया
चतर
चतुर
चतुर मूंथा
चतुर मेहता
चंचल

चंडालिया, चिंडालिया
चंदावत
चन्द्रावत
चंडालेचा
चपलावत
चपलोत
चपरौत
चम्प
चम
चमकीया
चमनीया
चरड़
चरखेड़िया
चवा
चवेहरा
चहुआण

चाचिगाणी
चांचिया
चांपड़
चापड़
चापड़ा
चामड़
चावत
चामण
चाल
चावा

चिड़चिड़
चितालिया
चितोड़ा
चितोड़िया
चित्रवाल
चींचड़
चीचंड़ा
चीचंट
चींपड़
चींपड़ा
चींपट
चील
चीलिया

चुखंड
चुंगा
चुदालिजा
चुंदोलिया
चुतर
चुत्र

चेलावत
चैनावत

चोक्खा
चोढ़ू
चोथाणी
चोढ़ू
चोधरी, चौधरी
चोपड़ा
चोरड़िया
चोखेड़िया
चोलू
चोवटिया
चोसरिया
चोहान, चौहान

चौमोला
चौहाना, चौहना
चौहरना

छ

छकलसीया
छछोहा
छजलाणी
छत्तीसा
छपनिया
छलाणी छेलाणी
छल्लाणी
छत्रवाल
छत्री
छत्रिया

छागा
छाछा
छाड़ोरिया
छाड़ोत
छाजेहड़, छाजेड़
छाँटा
छापरवाल
छापरिया
छालिया
छाव
छावत

छिंगाणी
छीलिया

छेड़ा
छेदवाल
छेर
छेवटाणी
छैल

छोगाला
छोलिया
छोरिया
छोहरिया
छोह्या

ज

जख
जग
जगड़ू
जगावत
जड़िया
जड़िया तेलवाणी
जडीया
जण्कारी
जणिया
जदिया
जन्नाणी
जंड
जड़ूँ
जनारात
जम्मड़, झम्मड़
जामड़
जमघोटा
जरगड़
जल
जलवाणी
जलावत
ज़विया
जवेरी, झवेरी
जस्साणी
जसेरा

जक्षगोता

जाईल
जाईलवाल
जागा
जाटा
जाणेचा
जाडेचा
जातड़िया
जादव
जाँगी
जांगड़
जांगड़ सिंघवी
जागड़ा, जांघड़ा
जांजी
जांतल्या
जांबड़
जाबक
जाबलिया
जामड़ा
जारडा
जारोडीया
जारोली
जालाणी
जालोखा
जालोरा, जालोरी
जालोत
जावक
जासल
जाहड़

जिंद
जिंदाणी

जिन्नाणी
जीजाणी
जीत
जीतोत
जीमणीया
जीरावत
जीरावला
जीरावाला
जुगलिया
जुंजाड़ा
जुंजाणा
जुनीवाल, जूनीवाल
जुबर्डा
जुष्टत
जुष्टल

जेलमी
जेसगाणी
जैन
जैलावत

जोखेला
जोगड़, जोगड़ा
जोगनेरा
जोगनी
जोगणेचा
जोगपोचा
जोगिया
जोड्या
जोगाणी
जोधड़
जोधपुरा
जोधा

जोधावत
जोरुड़ा
जौहरी
जौहा

झ

झगड़ावत
झंड़
झंबक
झबेरी
झलोरी

झाकुलिया
झागड़
झाड़चूर
झांबड़
झांबावत
झांबरपाल
झांबरवाल
झांबाणी
झामड़
झाबक
झालाई
झोटा

ट

टकुलिया
टंक, टांक
टंच
टप
टहुलिया
टागो
टांटिया, टाटिया
टापरिया
टिंडीवाल
टिबाणी
टीकायत
टीकोरा
टीबाणी
टीलिया
टुंकलिया, टुंकालिया

टेका
टेबा
टोडरवाल, टोडरवाल्या
टोडरमालोत

ठ

ठकी
ठकुर
ठगा
ठगाणा
ठंठवाल
ठंठेर, ठंठेरा
ठाकराणी
ठाकुर
ठाकुरा
ठाकुरोत
ठावा
ठीकरिया
ठोलिया

ड

डक
डंड
डफ
डफरीया
डहत्थ

डाक्टर
डाकले
डाकलिया, डाकुलिया
डाकूलीया
डाकूपालीया
डागरिया
डागरेचा
डागलिया
डागा

डाँगी
डाडेचा
डाबर
डावा
डावरिया

डीडू
डीडुल
डीडूता
डींडुम
डीडुया

डुक
डूंगरवाल
डूंगराणी
डूंगरिया

डूँगरेवाल
डूँगरोल
डूबरीया

डोठा
डोडिया
डोडियालेचा
डोडेचा
डोलण
डोसी

ढ

ढ़ढ़ा, ढ़ड्ढ़ा
ढ़ाकलिया
ढ़ांचालिया
ढ़ाबरिया
ढ़ासरिया
ढ़िल्लीवाल
ढ़ींक
ढ़ेढ़िया, ढ़ेडिया
ढ़ेलड़िया
ढ़ोर

त

ततभट्ट
तरवेचा
तलवाड़ा
तलेरा, तालेरा, तालेड़ा
तलेसरा

तलोबड़ा
तवाह

ताकलीया
तातेड़, तातहड़
ताँण
ताम्बी
तारावल
ताल
तालड़
ताला
तालाणी
तालेड़ा

तिरणाल
तिरपंखिया
तिरपेकिया
तिरवेकिय
तिलखाणा
तिलहरा
तिलाणा
तिलेरा, तिल्लेरा
तिलाणी
तिलोरा
तिहुयणा
तीवट

तुंग
तुंड
तुला
तुलावत
तुहाणा
तुंगा

तूता

तेजपालाणी
तेजाणी
तेजारा
तेजावत
तेलड़िया
तेलहरा
तेलिया
तेलिया बोहरा
तेलेरा

तोडरवाल
तोड़ीवाल
तोडयाणि
तोलावत
तोलीया
तोसटीया
तोसरिया
तोसलिया

थ

थटेरा
थंभोरा
थरदावत

थांभलेचा
थानावट
थारावत
थावराणी
थाहर

थिरवाल
थिराणी
थिरावाल
थोरवाल
थोरिया

द

दईया
दक
दख
दहा
दणवट
दफ्तरी
दरगड़
दरगेड़ा
दरड़
दरड़ा
दलाल
दंवरी
दस्सानी, दसानी
दसाणी
दसवाणी
दशलहरा
दसोरा

दाउ
दाखा
दाढ़ीवाल
दाणी
दातारा
दादलिया
दाना
दानेसरा
दांठडिय
दांतेवाड़िया
दालिया
दासोत
दिल्लीवाल
दिन्नाणी
दीपक
दींग
दीपग

दुग्ग
दुग्गड़, दूगड़
दुठाहा
दुडिया
दुढ़ाहा
दुणीवाल, दुनिवाल
दुद्धोणी
दूदवाल
दूधवेड़िया
दूधिया, दुधिया
दूधीया गांधी
दूधेडिया, दुधोड़िया
दूधोरिया
दूधोड़ा
दुसाज
दुसाझा

देडिया
देढ़िया
देधराणी
देपालाणी
देपरा
देपारा
देमारा
देदाणी
दैयाणी
देरासरिया
देलडीया
देलवाड़िया
देवड़
देवड़ा
देवराजोत
देवलसखा
देवाणदंसखा
देवाणी
देवानन्दा
देवानन्दी
देशरला, देसरला
देशलहरा, देसलरा
देशवाल
देसरला
देसलाणी
देसरडा, देसड़ला
देशाई, देसाई
देहरा, देहड़ा

दोलताणी
दोसाखा
दोषो, दोसी

ध

धंग
धडवाई

धतूरिया
धन
धनचा
धनचार
धनड़ाया, धनडाय
धनंतरी
धनपाल
धन्नाणी
धनारी
धनेचा
धनेजा
धनेरिया
धबड़िया
धम्मल
धम्माणी
धामाणी
धर
धरकट, धर्कट
धरकूट्टा
धरा, धर्म
धरमाणी
धलईया

धाकड़
धाकड़िया
धांगी
धाड़ावत
धाड़ीवाल, धारीवाल
धाड़ेवाल
धाड़ेवा, धाड़ेवाह
धातुरिया
धाबाल
धांधालिया
धांधिया
धाया
धारा
धारीया
धारोत
धारोला
धावड़ा
धावाड़

धींगा
धींग, धीग
धींगड़
धीया
धीर

धूंधिया
धूपड़
धूप्या
धूपिया
धुर
धुरीयाणी
धुल्ल
धुवगोता
ध्रुवगोता
धूमावत

धेनडाया
धेनावत
धेलाणी
धोका
धोखा
धोखिया
धोल
धोप्या

न

नकीयाणी
नखत
नखरा
नखा
नखित्रेत
नग
नगगोता
नथावत
नन्दक
नन्दावत
ननगाणी
नपावलिया
नरवरा, नरुवरिया
नरसिघा, नरसिंह
नरायण
नलवाया, नलवाह्या
नलिया
नव कुद्दाल
नवलखा, नौलखा
नवाब
नक्षत्र
नक्षत्रगोता

नाग
नागगोत्त
नागोत्ता
नागोथा
नागण
नागड़ा
नागड़
नागपुरा

नागपुरिया
नागार्जुनाणी
नागोयाणी
नागदौन
नाग सेठिया
नागणा
नागर
नागौरी
नाचाणी
नाडुलीया
नाडोलीया
नाणा
नाणा गोता
नाणवट
नाणी
नाथावत
नानकाणी
नानावटी
नानावट
नानेचा
नांदेचा
नापड़ा
नामाणी
नायकाणी
नारणवाल
नारण
नारिया
नारेला
नारेलिया
नारोलिया
नालेरिया
नावटा
नावटी

नावरिया
नावसरा
नावेड़ा
नावेडार
नाहर, नहार
नाहरलाणी
नाहउसरा
नाहटा, नाहटा

निबड़िया
निबाड़ा
निबरड़ा
निबणिया
निबेड़ा
निबोलिया
निधि
निरखी
नीमाणी
निलड़िया
नीसटा
नियाणी

निसाणिया
नेणवाल
नेणसर
नेणेसरा
नेर
नेरा
नैनावटी
नोडाणी
नोपत्ता
नोपाली
नोपोला
नौलखा

प

पगाटिया
पगारिया
पगोरिया
पड़गतिया
पड़ाईया
पड़ियार, पड़िहार
पचनावत
पचोसा
पठाण, पठान
पटणी, पटनी
पछोलिया
पटोल
पटवा
पटवारी
पटावरी
पटोलिया
पंचकुदाल
पंचलोढ़ा
पंचवना
पंचायणेचा
पंचावत
पंचवया
पंचाणेचा
पंचायाणी
पंचोरी
पंचोली
पंडरीवाल
पंवार, परमार
पमार
पटविद्या
पटोलिया

पदमावत
परडीया
पबाणी
परजा
परधान
परधला
परधाला
परमार
पलीवाल
पल्लीवाल
पसला
पंसारी
पहाड़िया
पहु

पाका
पाचोरा
पाटणी
पाटनी
पाटणिया
पाटोतिया
पाटोत
पाटणिया
पाटोतिया
पातावत
पांचावत
पांचारीया
पांडुगोता
पानगढ़िया
पानगड़िया
पानोत
पापड़िया

पामेचा
प्रामेचा
पारख, पारेख
पारीख
पारणोया, पाराणीया
पारसन
पालगोता
पालखीया
पालणीया
पालाणी
पालावत
पालरेचा, पालड़ेचा
पालणेचा
पालणपुरा
पालेचा
पावेचा
पाहणिया

पिछोलिया
पिरगल
पीतलिया
पीथलिया
पीथाणी
पींचा
पींपाड़, पींपाड़ा
पीपलिया
पीपला
पीहरेचा

पुकारा
पुगलिया
पूंगलिया
पुजारा

पुजारी
पूण
पुनराजाणी
पूनमिया, पूनम्याँ
पूनीयाणी
पुनोत
पुराणी
पूर्विया
पुहाड़
पुष्करणा

पेंचा, पैंचा
पेथडाणी
पेथाणी
पेंतीसा
पेपसरा

पोकरणा
पोखरणा
पोकरवाल
पोतदार
पोपाणी
पोपावत
पोमसीयाणी
पोमाणी
पोसालीया
पोरवाल
पोसालेचा
पोसालेवा
प्रोचाल

फ

फतहपुरिया
फलसा
फलोदिया
फाकरिया

फाल
फालसा
फाफू

फितूरिया
फिरोदिया
फूमड़ा
फूलगरा
फलफगर
फूसला

फोकटिया
फोफलिया
फोलिया

ब व

बकरा
बकील
बकीयाणी
बगड़िया
बगचार
बगाणी, बागाणी,
बंगाणी
बगला
बघेरवाल
बड़गौता
बड़जात्या
बड़ला
बड़लौता
बड़लोया
बडाला
बड़ोल
बड़ोला
बच्छावत, बछावत
बच्छस
बजाज
बट
बटवटा
बड़बड़ा
बड़भटा
बड़हरा
बड़ेर
बड़ेरा
बड़हरा
बडोरा
बड़ोदिया
बढ़ाला
बण
बणभट, वणवट
बदलोटा, बलदोठा
बदलोढ़ा
बदालिया, बदलिया
वद्धड़
बद्धण
बघाणी
वंका
वंग
वंगाला
वन्दा
बन्दा मेहता
बंब, बम्ब
वंभ
वंबोई
बबोईया
वंबोरी
वंश
वंवोड़ा
वंहद
बनबट
बनावत
बब्बर
बवाल
वबाला
वबूकिया
बवेर
वया
बरकीया
बरड़
बराड़
वरड़ा
वरण
वरड़िया, वरहड़िया
वरहूड़िया
बरडेया
वरदिया
वर्धन
वर्धमान
वरमेचा, ब्रह्मेचा
विरमेचा
वरपत
वरलद्ध
वरलेचा

बरसाणी
बरहुड़िया
बरादुपिया
वरुआ
बरूड़िया
बरोदिया
बृद्ध
ब्रह्मेवा
बला
बलदेवा
बल्लड़
बलदोबा
बलदोटा
बलहरी
बलाहारा
बलाई, बलाही, वलही
बलोटा
बवाल
बवेला
बसाह
बहड़ा
बहाणी
बहरा
ब्रहुड़
बहुबोल
बहुरा
बहोरा
वप्पनाग

बाकरमार
बाकुलिया
बाखेटा
बाखोटा

बागड़िया
बागड़ेचा/बागरेचा
बागचार, बाघचार
बाग जयाणी
बाग जयासी
बागरेचा
बागला
बाघ
बाघड़ी
बाघमार, बागमार
बाघणा
बाड़भटा
बाड़ोना
बातड़िया
बातोकड़ा
बादरिया
बादवार, बादवोर
बादलिया, बादलीया
बादोला
बाधाणी
बांका
बांगाणी, बंगाणी
बांवलिया
बांठिया
बांदोलिया
बांबल
बांबड़ा
बांभ
बानीगोता
बानुणा
बानेत
बानेता
बापड़ा

बापना
बाफणा, बहुफणा
बापावत
बाबेल, बबेल
बाबो
बामाणी
बायरगोता
बारडेचा
बाराणी
बाल
बालड़
बालड़ा
बालगोता
बालत्य
बालवा
बालोटा
बालोत
बालह
बाला
बालिया
बावरिया
बावरेचा
बावेला
बाहड़ा
बाहणी, वहाणी, वाहणी
बाहला
बाहरिया
वाहवल, वाहुबली

बिछावत
बिजोत
बिदाणा
विद्याधर

बिदामिया
बिनय
बिनायक
बिनायका
बिनायकिया, बिनाकिया
बिनायक्या
बिनसट
बिनसर
बिम्बा
बिमल
बिरदाल
बिरमेचा
बिलस
बिरहट
बिशाल
विषापहार

बीजल
बीजाणी
बीजावत
बीजोत
बीतरागा
बीर
बीराणी, वीराणी
बीरावत
बीसाणी
बीसराणी
बीसलाणी
बीसरिया

वुचस
वुरड़

बुच्चा
बुचाणी
बुटीया
बुन्देचा
वुहड़
बूजड़िया, बूझड़िया
बूवकिया, बूवकिया
वुम्ब
वुलीया, वुलिया
बूड़

बेगड़
वेगवाणी
वेगाणिया
बेगाणी, बेंगाणी
बेछात
बेताल
बेताला
बेतालिया
बेताली
वेद, वेद
बेद्य, बैद्य, वैद्य
बेद गांधी, वैद्य गांधी
वेद मेहता
वेद मूथा, वेद मूंथा
वेद मूता
बैकर, बैंकर
वेंगाणी, वंगाणी
वेराठी, वैराठी
वेलावत
वेला भंडारी
वेलिए
वेलीम

वेलहस
वेवल
वेहड़

बोक
वोकड़ा
वोकड़िया
बोकरिया
बोकड़ासा
वोगावत
बोचागी
बोत्थाणी
बोथरा
वोपीचा
बोरड़
बोरड़ा
बोरड़िया
बोडिया
वोरदिया, वोरधिया
बोरधा
वोरा
वोराणा
वोरीया
वोरुदिया
वोरेचा
वोरीचा, वोरोचा
वोलिया
वोसूदिया
वोहड़, वुहड़
वोहरा
वोहरा काग
वोहरिया
वोहित्यरा

भ

भक्कड़
भगत
भगालिया
भड़कतिया
भड़गतिया
भड़गोता
भड़भेचा
भटेरा
भटेवड़ा
भटेवरा
भटनेरा
भट्टारकिया
भट्ट
भणवट
भद्र
भद्रा
भद्रेश्वर
भणेत
भणूक्रिया
भंडलिया
भंडसाली
भंडासर
भंडारा
भंडारी
भंसाली, भणसाली
भँवरा
भमराणी
भमावत
भयाण, भयाणा
भर
भरकीयाणी
भरथाण
भरह
भरवाल
भलगट
भल्ल
भल्लड़िया
भलभला
भलणिया
भला
भवालिया
भसौड़

भाईचणा
भाखरीया
भागू
भाड़ेगा
भाणेश
भादर
भादनिया
भादानी
भाटी
भाटिया
भाणद
भाद्रगोता
भाद्रा
भांचावत
भांडावत, भंडावत
भांड़िया
भांभड़
भांभट
भानावत
भामड़
भामराणी
भाभू
भाभू पारख
भाया
भाराणी
भाला
भावड़ा
भावसरा

भीटड़िया
भींड
भीनमाल, भीनमाला
भीमावत
भीर
भीलमार

भुगड़ी
भुगतरिया
भुणिया
भूटी
भुंडलिया
भूतड़ा
भुतेड़ा
भूतेड़िया, भूतोड़िया
भुतिया
भूय
भूरटिया
भुरट
भुरंट
भुरदा
भूरा
भूरी
भूलाणी
भूसल
भूषण

भेलड़ा
भेलड़िया
भेला
भैंसा
भोगर
भोजाणी
भोजावत
भोपावत
भोपाला
भोभलिया
भोढ़ा
भोर
भोरड़िया
भोल

म

मक्कलवाल
मकवाणा
मकुयाणा
मकाणा
मगदिया
मच्छा
मछराला
मड़िया
मघासरिया
मट्टा
मट्टड़
मठा
मणहरा
मणहाड़िया
मणहेड़ा
मणियार

मथाल
मथुरा
मथाणा
मथाल
मदारिया
मदरेचा
मंगलिया
मंगीवाल
मंडलीक
मंडोचित
मंडोचिया
मंडोवरा
मन्ना
मंसाणिया
मन्म
मंत्री
मंहोरा
मनहनी
ममईया, ममैया
मरड़िया
मरडेचा
मरलेचा
मरवाणा
मरवाणी
मरुवा
मरुथलिया
मरोठी
मरोठिया
मल्ल
मल्हाड़ा
मल्लारा
मल्लावत
मल्लावत वांठिया

मलटिया
मला
मलेशा
मसरा मवडीकार
मसाणा
मसाणिया
महड़
महत्था
महणोत, मनोत
महता
महतियाण
महरोड़
महा, महाजन
महाजनिया
महाभद्र
महावत
महिवाल
महीरोलन
महेच
महेचा
महेला
महिपाल
महोता
महोरा

मांगेत
माघवाणी
माडलीया
माणकाणी
माणावत
माथुरा
मादरेचा
मावोटिया

माधोरिया
मांडलेचा
मांडोत
मांडोता
मानी
मारलेचा
मारु
मालक
मालकस
मालखा
मालतिया
मालनेसा
मालविया
माल्हणु
माल्हाजा
माला
मालाणी
मालावत
मालू, माल्हू
मालोत
माहालाणी

मिचकिन
मिछेला
मिण
मिणियार
मिन्नी
मिनिया
मित्री
मीठा
मीठड़िया
मीठड़िया सोनी
मीनागरा
मीनारा

मीहा

मुकीम
मुखतरपाल
मुणोत, मुहनोत
मुत्थड़
मुंगड़िया
मुंगरोल
मुंडणेचा
मुन्नी बोहरा
मुन्हानी
मुमणिया
मुलल
मुरगोपाल
मुरगोवाल
मुरड़िया
मुरदा
मुसलीया
मुहणाणी
मुहाणाणी
मुहिमवाल
मुंहियड़
मुहिलाण
मुहाल्या
मूघा
मूंथड़ा
मूंथा, मूथा
मूदा
मूधाला
मूंगरवाल
मूंगरेचा
मूंधड़ा
मूलमेरा
मूलाणी

मूसल

मेघा
मेघालजाणी
मेड़तवाल
मेड़तीया
मेताला
मेनाला
मेमवाल
मेर
मेराण
मेलाणी
मेहमवार
मेहर
मेहता
मेहसा
मेंहु
मैराण

मोगरा
मोगिया
मोघा
मोडत
मोडोत
मोटावत
मोटाणी
मोतीया
मोतीयाण
मोदी
मोर
मोरख
मोरच
मोरचीया

मोराक्ष
मोल्हाणी
मोलाणी
मोहड़ा
मोहनाणी
मोहब्बा
मोहलाणो
मोहणोत
मोहता
मोहीवाल
मोहीवाला
मौतियाण

य

यति
यक्ष
यादव
योगड़
योगेसरा
योद्धा

र

रंक
रखवाल
रणधीरा
रणधीरोत
रणशोभा
रणसोत
रतनगोता
रतनपुरा, रतनपुर
रतनसुरा
रतनावत
रत्ताणी
रहेड़

रांका, राका
राक्यान
राकावाल
राखड़िया बोहरा
राखेचा
रागली
राजड़ा
राजदा
राज गांधी
राज बोहरा
राज ध्याना
राजसरा
राजाणी
राजावत
राजोत
राठोड़, राठौड़
राठौड़िया
राठी
राठा
राडा
राणावत
राणाणी
राणोत
रातड़िया
रामपुरिया
रामसेन्या
रामाणी
रामायत
राय
रायजादा
रायपुरिया
राय भंसाली
राय भंडारी
राय सुराणा
राय सोनी
राब
रावत
रावल
राहड़

रीखब
रीसाण
रीहड़

रुणवाल, रूणिवाल
रूणियाँ
रूगवाल
रुंगलेचा, रुंघलेचा
रूप
रूपधरा
रूपावत
रूपावर

रेड़
रेणु
रेहड़
रैदानी
रैदासनी, रैदासणी

रोआँ
रोटागण
रोहिल

ल

लक्कड़
लघु कुम्भट
लघु खंडेलवाल
लघु चमकीया
लघु चिंचट
लघु चुँगा
लघु चौधरी
लघु नाहटा
लघु पोकरणा
लघु पारख
लघु भुरंट
लघु रांका
लघु राठी
लघु सुरवा
लघु संघवी
लघु समदड़िया
लघु सोढ़ती
लघु सोढ़ाणी
लघु संचेती
लघु हिंगड़
लघु श्रेष्ठि
ललवानी, ललवाणी
ललानी
ललित
लसोड़
लहरिया

लाखाणी
लाछी
लाडवा
लाडलखा
लाभाणी
लाम्बा
लामड़
लालण, लालन
लाला
लालाणी, लालानी
लालेन
लालोत
लाहोरा

लीगा
लीगे, लिगे
लींगा, लिंगा
लींबड़िया
लीरूणा

लुंकड़, लूंकड़
लुंग
लुंडा
लुंबक
लूँगावत
लूँछा
लुणा
लूणिया, लूनिया
लूणावत, लूनावत
लूणवाल
लूणेचा
लूसड़

लेरखा
लेल
लेवा
लेहेरिया

लोटा
लोढकूर
लोढ़ा
लोढ़ा राय
लोलग
लोला
लोलेचा
लोसर
लौंकड़

स

सकलेचा
सकलाद
सखण
सखला
सखलेंचा
सखाणी
सगरावत
सचिंती
सचिया
सचोपा
सणवाल
स्थूल
सध्याणी
सधरा
सधराणी
संकलेंचा
संखला
संखलेचा, संखवालेचा
संखवाल
संघवी
संघी
संचयि
संचेती

संड
संडासिया
संधि
संभरिया
संभुआता
संवला
संवलिया

सवाँ
सदावत
सफला
सभद्रा
समदड़िया, समदरिया
समधड़िया
समरखी
समुदरिख
समुद्रडिया
समुंद्रिया
समूलिया
स्याल
स्याला
सरा
सराफ, सर्राफ
सरभेल
सरला
सरवला
सराह, सराहा
सरूपिया
सरूपरिया
सलगणा
सलगवा
सवा
सरवला

सवाया
सहचेती
सहचिती
सरजाणी, सजाणी
सहलोत
सहसगुणा
सहसगुणा गाँधी
सही

साखेचा
सागाणी
सागावत
साचा
साचावट
साचा संधि
साचोरा
साचोरी
साढ़ेराव
साढ़ा
सादावत
साधि मेहता
साधु
सांईया
सांख्या
सांखला, साखला
सांखला परमारा
सांखलेचा
सांगाणी
सांचोपा
सांड
सांडेला
साढ़
सांढ़ा

सांढ़िया
सानी
साँपद्राहा
सांपुला
सारंगणि
साँवरा
साँवलिया
सामडा
सामसुखा, स्यामसुखा
सांभरिया
साभद्रा
सामर
सामोता
सायाणी
सायलेचा बोहरा
सारूप्रिया
सारूपारिया
साल्हणेचा
सालीपुरा
सालेचा, सालेसा
सावन
सावणसुखा
सावलसखा
सावलिया
सांसला
साह
साहिब गोता
साहिला
साहलेचा
साहुला

सिखरिया
सिचिवाल

सिणगार
सिंघल
सिंघी
सिंघवी
सिंघलोरा
सिंघाला
सिंधी
सिंधड़
सिंधुड़ा
सिंदरिया
सिंहावट
सिंहावत
सियाल, सीयाल
सिरहठ
सिरोदिया
सिरोहिया, सिरोया

सीखा
सीखाणी
सीगाला
सींगी
सींघाड़िया
सींचा
सीप
सींपानी, सीपानी
सींपाणी
सीरोह्या संघवी
सीरोहिया, सीरोह्या
सीलरेचा
सीवाणी
सीसोदिया

सुखनिया
सुखलेचा
सुखा
सुखाणी, सुखानी
सुखिया, सुखीया
सुगंधी
सुगणिया
सुचंति, सुचिंती
सुचिंतित
सुघड़
सुजन्ती
सुदेवा
सुजंती
सुधेचा, सुंधेचा
सुट
सुधड़
सुधरा
सुंडाल
सुन्दर
सुन्धा
सुन्धेचा
सुबाजिया
सुभना
सुभादा
सुरती
सुरपिया
सुरपारिया
सुरपुरिया
सुरयरा
सुराणा
सुराणीया
सुरहा
सुरहिया
सुरोवा
सुसाणी
सुसांखुला
सुवर्णगिरी

सूकाली
सूघड़
सूचा
सूधा
सूंडाल
सूर
सूरपुरा
सूरमा
सूरिया, सूर्या
सूहा

सेखाणी, शेखाणी
सेठिया
सेठिया पावर
सेठिया वैद्य
सेठ
सेठी
सेठीपारा
सेणा
सेमलानी
सेल्होत
सेलोत
सेपड़िया
सेलवाड़िया
सेवड़िया
सेवाजी
सेहजावत

सोजन
सोजतवाल
सोजतिया
सोठिल

सोढ़ा
सोढ़ाणी
सोधिल
सोनगरा
सोना
सोनाणा
सोनारा
सोनावट
सोनावत
सोनी
सोनीगरा
सोनी बाफणा
सोनीमिंडे
सोनेचा
सोफाड़िया
सोभावत
सोमाणी
सोमालिया
सोलंखी, सालंकी
सोसलाणी
सोसरिया
सोहनवाडिया
सौवर्णिक

श

शंखी
शंखेश्वरीया
श्यामसुखा, शामसुखा

शाह, शाहा
शाह-छाजेड़

शिवा
शीगाला
शीशोदिया

शुकनिया
शूरमा
शूरवा
शेखावत
शेठ
शौराण

ह

हगुड़िया
हड़िया, हरिया, हरीया
हठोला
हठुंडिया
हथुड़िया
हमीर
हलदीया
हरखावत, हरकावत
हरगणाणी
हरण
हरसोरा
हरसोत, हरसोट
हरियाणी
हंस
हंसा
हंसारिया
हस्ती
हर्षावत

हाका
हाकड़ा
हाड़ा
हाड़ेरा
हाटिया
हांडिया
हाथाल
हापाणी
हाला
हांसा
हाहा

हिरण
हिरणा
हिराउ
हिराणी
हिंगड़, हींगड़

हींगल
हीडाउ
हीपा
हीया
हीराऊ
हीराणी
हीरावत

हुकमिया
हुड़िया
हुडिया
हुंडिया
हुना
हुम्बड़
हुला
हुदा

हेम
हेमपुरा
हेमादे

त्र

त्रिपंखी
त्रिपंखिया

ऋ

ऋषभ

श्र

श्राफ
श्रावणसुखा

श्री

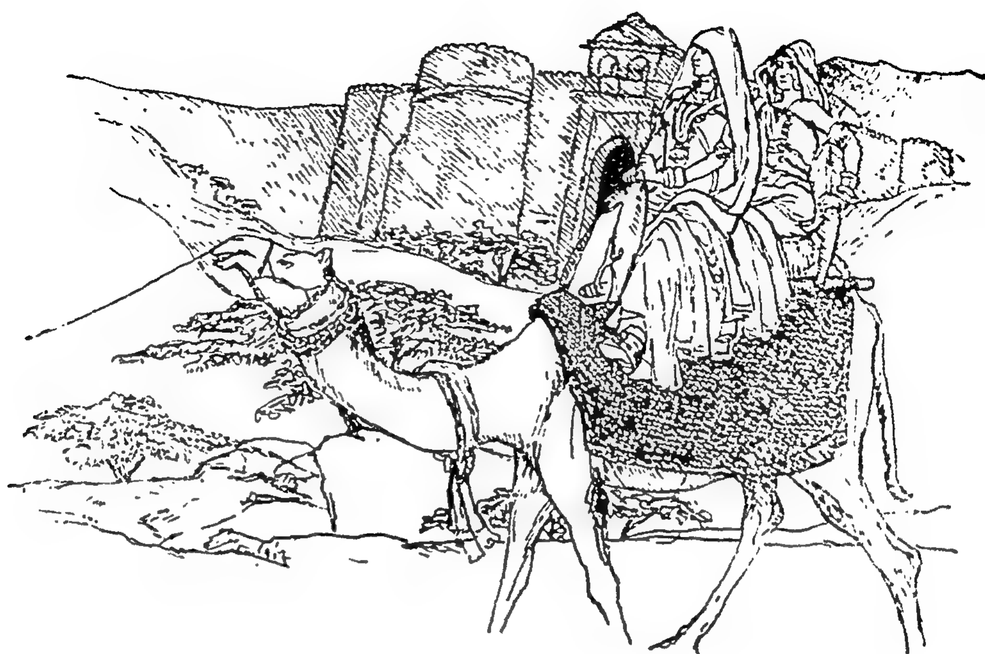
श्रीपति
श्रीपणा
श्रीमाल
श्रीवंश
श्रीवर लढ्ढ
श्री श्रीमाल
श्रेष्ठि





कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

—भ० महावीर



८ | ओसवाल : इतिहास स्रोत व लेखन

इतिहास स्रोत ऽ

ओसवाल जाति एवं उसके विभिन्न गोत्रों का प्रामाणिक इतिहास जानने का मुख्य एवं प्रमाणिक स्रोत है—अनेक ग्रंथ भंडारों में उपलब्ध हस्तलिखित एवं प्रकाशित जैन ग्रन्थ। मूलतः इस जाति का उद्भव जैन धर्म की प्रभावना के लिए हुआ। अतः जैन ग्रंथकारों ने विभिन्न धार्मिक एवं अन्यान्य ग्रंथों में इस जाति के श्रेष्ठियों का नामोल्लेख किया है। विभिन्न साम्प्रदायिक चैत्यों, मठों एवं उपासरों में उनके अनुयायियों की वंशावलियाँ रखने का प्रचलन प्राचीन समय से चला आ रहा है। वे वंशावलियाँ जाति के इतिहास को उजागर करने में सहायक हैं। राजस्थान में वहीं भाटों द्वारा उनके आश्रयदाता श्रेष्ठियों के गोत्रों का पीढ़ी-दर-पीढ़ी पद्य बद्ध इतिहास रचने की परम्परा रही है, जो उनकी वहियों में सुरक्षित है। एक और महत्त्वपूर्ण इतिहास स्रोत है शिलालेख। भारत के विभिन्न स्थानों पर अनेक शिलालेख उपलब्ध हैं, जिनमें मन्दिर के निर्माता या बिम्ब की प्रतिष्ठा कराने वाले श्रेष्ठि का नाम उत्कीर्णित है। अनेक शिलालेखों में

उनके सद्‌गुणों की प्रशस्ति एवं वंश वर्णन भी है। इनके अलावा एक और स्रोत है—जनश्रुति। हालाँकि जनश्रुति एवं किंवदन्ती पर आधारित तथ्य पूर्णतः प्रामाणिक नहीं माना जाता, परन्तु उसे किसी अकाट्य साक्ष्य के बिना नकारा भी नहीं जा सकता। ऐसा भी समय था, जब ग्रन्थ लेखन या शिलालेख का प्रचलन नहीं था। पच्चीस सौ वर्षों के वृहद् काल की समस्त घटनावलियाँ लिखित या उत्कीर्णित हों—यह असम्भव है। अतः इतिहास लेखन में जनश्रुति के परम्परागत स्रोत का सहारा लेना अनिवार्य है।

जैन ग्रन्थ :

ओसवाल जाति एवं उसके विभिन्न गोत्रों का प्रामाणिक इतिहास जानने का सर्वाधिक प्रामाणिक स्रोत है-जैनाचार्यों/श्रमणों/श्रावकों द्वारा समय-समय पर रचित विभिन्न धार्मिक ग्रन्थ, कथाएँ, रास, प्रशस्तियाँ। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि विक्रम की छठी सदी तक भारत में ग्रन्थ लेखन की परम्परा ही नहीं थी। संवत् ५१० में सर्वप्रथम देवर्धिगणि क्षमा-श्रमण ने जैनागम पुस्तकारूढ़ किये। उस काल के कुछ ग्रंथों में ओस वंश का प्रासंगिक उल्लेख है। आचार्य हरिभद्र सूरि का 'समराइच्च कहा' एवं आचार्य सिद्धर्षि का 'उपमिति भव प्रपंच कथा' ऐसे ही ग्रंथ हैं। विभिन्न सम्प्रदायों एवं गच्छों की पट्टावलियों, गुर्वा-वलियों आदि में भी ओस वंश के प्रभावक आचार्यों के जीवन चरित्र संग्रहीत हैं। विक्रम की १४वी सदी में रचित 'उपकेश गच्छ पट्टावली 'और' उपकेश गच्छ चरित्र' में उपकेश गच्छीय आचार्यों के विवरण के साथ ही उपकेश जाति की उत्पत्ति और उसके गोत्रों का इतिहास संग्रहीत है। 'नाभिनन्दन जिनोद्धार' ग्रंथ में शत्रुञ्जय तीर्थ के १५वें उद्धारक समरसिंह का जीवन चरित्र देते हुए विद्वान कथाकार ने उनकी जाति और वंश की उत्पत्ति से प्रारम्भ कर आद्योपांत इतिहास अंकित कर दिया है।

मध्य काल में धर्म प्रेमी श्रेष्ठि आगमों की प्रतियाँ लिखवाकर विभिन्न प्रदेशों के ग्रंथ भण्डारों में वितरित एवं संग्रहीत कर पुण्य लाभ लेते थे। ऐसे ग्रंथों के अन्त में लिपिकार आश्रयदाता श्रेष्ठि की प्रशस्ति में उसकी वंशावली एवं परिवार की यशोगाथा भी अंकित कर देते थे। ये प्रशस्तियाँ इतिहास का विशिष्ट स्रोत हैं।

शिलालेख :

ओसवाल गोत्रों के इतिहास जानने का एक और प्रामाणिक स्रोत है–शिलालेख। ओसवालों से सम्बन्धित शिलालेख अधिकतर जैन मन्दिरों या तीर्थों में पाये जाते हैं। ये लेख मन्दिरों में प्रस्थापित मूर्तियों पर खुदे होते हैं या मन्दिर की दीवारों में जड़े होते हैं। बहुधा जब लोग किसी तीर्थ की यात्रा या दर्शन एवं पूजा-दान दक्षिणा करते हैं तो वहाँ अपने नाम का शिलालेख भी लगवा देते हैं। ऐसे हजारों शिलालेख राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश एवं भारत के अन्य प्रदेशों में जैन मन्दिरों एवं तीर्थ स्थानों में पाये जाते हैं। ऐसे लेखों में कालांतर में परिवर्तन की सम्भावना नहीं रहती, अतः विश्वसनीय

हैं। इस शिलालेख की तरफ सर्व प्रथम ध्यान दिलाया पाश्चात्य विद्वानों ने। सन् १९०८ में पेरिस के डा० ए० गेरीयेनर ने अपने अमूल्य ग्रंथ 'रीपोर्टेयर डेपीग्राफी' में ई० पू० २४२ से सन् १८८६ तक के ८५० लेखों का सार प्रकाशित किया। भारतीय पुरातत्ववेत्ताओं में इस ओर पहल की श्री पूर्णचन्द्र जी नाहर ने। सन् १९१५ से १९२८ के बीच नाहर जी के कष्टसाध्य प्रयत्नों से 'जैन लेख संग्रह' (तीन भागों में) में करीब ३००० लेखों का हूबहू पाठ प्रकाशित हुआ। मुनि जिन विजय जी ने जैसलमेर के भंडारों एवं अन्य शोधों पर आधारित 'प्राचीन जैन लेख संग्रह' सन् १९१७ में प्रकाशित किया। इनके अलावा और भी कई उल्लेखनीय लेख संग्रह प्रकाशित हुए, जिनमें आचार्य बुद्धि सागर जी का १९१७ से १९२४ के बीच प्रकाशित 'जैन धातु प्रतिमा लेख संग्रह' (प्रथम एवं द्वितीय भाग), आचार्य विजय धर्म सूरि का सन् १९२९ में प्रकाशित 'प्राचीन जैन लेख संग्रह', मुनि जयन्त विजय जी का १९२७ में प्रकाशित 'प्राचीन अर्बुद लेख संग्रह' एवं १९४८ में प्रकाशित 'अर्बुदाचल प्रदक्षिणा लेख संग्रह', मुनि विजय सागर जी का सन् १९५३ में प्रकाशित 'प्रतिष्ठा लेख संग्रह' एवं अगरचन्द जी भंवरलाल नाहटा द्वारा सन् १९५५ में प्रकाशित 'बीकानेर जैन लेख संग्रह' प्रमुख हैं।

यह स्रोत प्रामाणिक तो है किन्तु इतिहास की दृष्टि से नाकाफी। एक ढांचा मात्र शिलालेखों के नामोल्लेख के आधार पर खड़ा किया जा सकता है, उनमें विस्तार व विवरण के लिये अन्य स्रोतों का सहारा लेना होगा। घटनात्मक विवरण वाले शिलालेख बहुत कम उपलब्ध हैं।

वंशावलियाँ :

जैन धर्म के आचार्यों महात्माओं द्वारा अनुयायी गोत्रों एवं विशिष्ट श्रावकों की वंशावलियाँ रखने का प्रचलन प्राचीन समय से चला आ रहा है। पं० हीरालाल हंसराज ने अपने ग्रंथ 'जैन गोत्र संग्रह' में सं०७७५ में राजा भाण के समय हुई वासक्षेप सम्बन्धी तकरार का जिक्र करते हुए लिखा है कि 'उस समय सभी गच्छों के आचार्यों ने हस्ताक्षर कर ऐसी मर्यादा बांधी कि जिस गच्छ या आचार्य के प्रतिबोधित श्रावक हों, भविष्य में वे ही वासक्षेप दें। वे ही उनकी वंशावलियाँ रखें।' जब सं० ८०२ में पाटण की स्थापना हुई तो भिन्नमाल व मारवाड़ के अन्य प्रदेशों के उपकेश वंशीय लोग भी वहाँ जाकर बसे। उनके कुलगुरु वहाँ जाकर उनकी वंशावलियाँ लिखने लगे।

मध्य युग यानि विक्रम की सातवीं से १५वीं शताब्दी में जैन सम्प्रदायों एवं उसके गच्छों में जैनेतर लोगों को जैन बनाने की प्रतिस्पर्धा इतनी अधिक थी कि वह आपस की खींचातानी में परिणत हो गयी। अमुक श्रावक आज खरतर गच्छ के प्रभाव में था तो कुछ ही दिन बाद वह उपकेश गच्छ के आचार्य के प्रभाव में चला गया। गच्छों का आपसी मतभेद यहाँ तक बढ़ा कि उनकी बहियाँ, पट्टावलियाँ, वंशावलियाँ उनके

अछूती नहीं रहीं। एक ही गोत्र का उल्लेख कई गच्छों की बहियों में मिलता है। इससे यह निर्णय करना मुश्किल हो गया कि किस गोत्र को सर्वप्रथम प्रतिबोध देकर किस गच्छ के आचार्य ने जैन बनाया एवं ओसवाल वंश में शामिल किया। विक्रम की १३वीं से १५वीं सदी के बीच ओसवाल बने लोगों पर खरतर गच्छ के आचार्यों का प्रभाव अधिक था। मारवाड़, मेवाड़ आदि प्रदेशों में खरतर गच्छीय साधु निरन्तर चतुर्मास करते रहते थे। पर गुजरात में तपागच्छीय आचार्यों का अधिक प्रभाव था। सम्प्रदायों के इस आपसी मतभेद के कारण धर्माचार्यों का महत्व भी घटता गया। मतभेद के कारणों को समझकर ही सम्भवतः सं० १६०० के आस पास जैन धर्म अंगीकार करवा कर ओसवाल कुल में जैनेतर लोगों को शामिल कर नये गोत्र बनाने की प्रथा बन्द कर दी गयी।

किन्तु अतीत में प्रतिबोधित गोत्रों को लेकर यह विवाद काफी समय तक चलता रहा। यति रामलाल जी ने अपने ग्रंथ 'महाजन वंश मुक्तावली' में श्रावकों एवं उनके विभिन्न गोत्रों की वंशावलियों को लेकर महात्माओं (गृहस्थों) और यतियों के बीच छिड़े विवाद का जिक्र करते हुए लिखा है कि 'महात्मा लोगों ने श्री जिनचन्द्र सूरि की अवज्ञा करी थी। महाजनों (ओसवालों) की वंशावली पास रहने से मस्त हो रहे थे। करमचन्द (बछावत) ने सोचा—जब लोक बही बट्टों को धन देते रहेंगे तो जैन धर्म के आदि कारण जती साधुओं का बहुमान लोक नहीं करेंगे—ऐसा विचार कर धोखे-वाजी से गृहस्थी महात्माओं को इकट्ठा करके वंशावली की बहिये माणक चौक (बीकानेर) के कुएँ में गिरा दी।' उक्त घटना की प्रामाणिकता संदिग्ध है। परन्तु यह भोजकों/सेवगों एवं बही भाटों द्वारा ओसवाल गोत्रों की संग्रहीत वंशावलियों को अमान्य कर यतियों द्वारा संकलित वंशावलियों को स्थापित करने के प्रयासों की ओर इंगित अवश्य करती है।

यह विवाद कालान्तर में गोत्रों की भिन्न-भिन्न उत्पत्ति कथाओं के रूप में प्रकट हुआ। यतियों ने अपने ग्रन्थों में विभिन्न आचार्यों द्वारा चमत्कार प्रदर्शन कर जैन धर्म अंगीकार कराने एवं विभिन्न गोत्रों की स्थापना के कथानक दिये। मुख्य चमत्कार थे–सर्प दंश एवं विष से मुक्त करना, धातुओं को स्वर्ण बना देना, पुत्र प्राप्ति का वरदान देना, रोग-शोक मिटाना आदि। यति रामलाल जी ने अपने ग्रन्थ 'महाजन वंश मुक्तावली' में ओसवाल गोत्रों की उत्पत्ति के ऐसे ही कथानक दिये हैं। परवर्ती इतिहासकारों—भंडारीजी, भंसालीजी, नाहटा बन्धुओं ने भी ऐसे चमत्कारिक कथानकों को मान्य ठहराया है। उपकेश गच्छीय मुनि ज्ञान सुन्दर जी ने उन्हें अविश्वसनीय मानकर चुनौती दी है एवं धर्म देशना से प्रभावित होकर जैन धर्म अंगीकार करने को ही गोत्रों की उत्पत्ति का मुख्य कारण माना है।

भाटों, भोजकों की बहियों में दर्ज वंशावलियाँ एवं उनके द्वारा रचित कवित्त, गीत, रास, लोक कथाएँ इतिहास के अजस्र स्रोत हैं। परन्तु बढ़ा-चढ़ा कर कहने की प्रवृत्ति के कारण वे भी कहीं-कहीं संदिग्ध प्रतीत होती हैं। यह सामग्री ग्रामांचल में छितराई हुई होने के कारण बड़ी कठिनाई से प्रकाशित हो पाती है। विभिन्न ग्रन्थ भंडारों में संग्रहीत गुटके एवं हस्तलिखित ग्रन्थ जाति एवं गोत्रों के इतिहास की संरचना में अवश्य सहायक हैं।

इतिहास लेखन : प्रकाशन :

२०वीं सदी के शुरू में ओसवाल जाति का प्राचीन इतिहास सहेजने का अभियान आरम्भ हुआ। २४०० वर्षों तक भाटों-चारणों पर निर्भर रहने के बाद कुछ पुरातत्व वेत्ता और विद्वानों का ध्यान इस जाति के अनमोल खजाने को लिपिबद्ध कर प्रकाशित करने की ओर गया। बीकानेर के खरतर गच्छीय यति श्रीपालचन्द्र जी ने सर्व प्रथम अपने वृहद् ग्रन्थ 'जैन सम्प्रदाय शिक्षा' में ओसवाल जाति के विभिन्न गोत्रों का संक्षिप्त इतिहास प्रकाशित किया। यह ग्रन्थ प्रकाशित तो हुआ संवत् १९६७ में, किन्तु विद्वान लेखक ने राजनियमानुसार इस ग्रन्थ का पंजीयन (रजिस्ट्री) संवत् १९२४ में करवा लिया था एवं समस्त अधिकार स्वयं में नियोजित रखे थे। दुर्भाग्यवश बम्बई के जिस 'निर्णय सागर प्रेस' में ग्रन्थ छप रहा था, उसके छपाई बिलों का भुगतान न हो सका। इसी बीच यतिजी का स्वर्गवास हो गया। प्रेस के मालिकों ने कोर्ट में नालिश कर ग्रन्थ के अधिकार खरीदे एवं उन्होंने ही इसे संवत् १९६७ में प्रकाशित किया। इस तरह यह 'ओसवाल गोत्रों के इतिहास' का सर्वप्रथम प्रकाशित ग्रन्थ माना जा सकता है। इस ग्रन्थ में खरतर यतियों एवं महात्माओं की बहियों के आधार पर ओसवाल जाति एवं उसके अनेक गोत्रों की उत्पत्ति कथाएँ एवं विशिष्ट घटनाएँ दी गयी हैं। जैन धर्मावलम्बी अन्य जातियों यथा—पोरवाल, श्रीमाल, खंडेलवाल, माहेश्वरी आदि की उत्पत्ति की कथाएँ एवं उनके विशिष्ट गोत्रों का विवरण भी इसमें सम्मिलित है। इसी ग्रन्थ में उन्होंने ओसवालों के कुल ६०९ गोत्रों की एक तालिका प्रकाशित की है।

संवत् १९६७ में बीकानेर के खरतर गच्छीय यति रामलाल जी ने उपासरों में संग्रहीत वंशावलियों एवं ख्यातों के आधार पर 'महाजन वंश मुक्तावली' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। इस ग्रंथ में ओसवाल जाति की उत्पत्ति कथा विस्तार से दी गई है। ओसवाल जाति के अनेक गोत्रों एवं उपगोत्रों की उत्पत्ति कथाएँ एवं विशिष्ट व्यक्तियों के विवरण भी ग्रन्थ में शामिल हैं। यह ग्रन्थ संक्षिप्त होते हुए भी बहुत लोकप्रिय हुआ एवं परवर्ती ग्रंथकारों की उत्पत्ति कथाओं का आधार बना।

इस काल में धार्मिक एवं सामाजिक प्रभेदों ने आपसी वैमनस्य को बहुत तीव्र कर दिया था। मूलतः क्षत्रिय, जुझारू जाति का जैन धर्म एवं अहिंसा के प्रभाव में शनैः शनैः वणिक जाति में परिवर्तन भी अनेक समस्याओं को जन्म दे गया। वैभवशाली श्रेष्ठियों की समाज में कमी न थी, पर अधिकांश लोग तो गरीब और अशिक्षित थे। और, वैभव टिकता है शोषण पर। अतः नई-नई समस्याएँ उठ खड़ी हुई। मुख्य थीं ओसर मोसर के जीमनवार, पंचायतों पर श्रेष्ठियों का एकाधिकार, विधवाओं की दुर्दशा, रखेलों एवं पासवानों की बढ़ती तादाद, वृद्ध विवाह, विवाहों के खर्च, भगतणों के नाच, कर्जदारी एवं बाल विवाह। सर्वप्रथम इस ओर ध्यान आकर्षित किया नासिक के नैण सुख केवलचन्दाणी निमाणी ने संवत् १९४७ में मारवाड़ी भाषा में प्रकाशित आपकी पुस्तक 'ओसवाल लोका री आजकाल री स्थिति' में इन सभी समस्याओं को उठाया गया। वर्धा (चाँदा) के खुशाल चन्द खजांची ने 'ओसवाल दुर्दशा दर्पण' काव्य लिखा।

संवत् १९७० में रतलाम के रावत शेरसिंह जी ने 'जैन क्षत्रिय इतिहास' (भाग-१) प्रकाशित किया, जिसमें इस जाति के लिए जैन क्षत्रिय या जैन राजपूत नामों का ही व्यवहार किया गया है। इसमें वर्णित उत्पत्ति कथानक यति श्रीपालचन्द्र जी के 'जैन सम्प्रदाय शिक्षा' तथा यति रामलाल जी के 'महाजन वंश मुक्तावली' में वर्णित कथानक के समान हैं। 'ओसवाल' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में लेखक के अनुसार—'कुछ वर्ष बाद खण्डेला में १२ जातियों की एक महासभा हुई, जिसमें ओसिया से आये प्रतिनिधि 'ओसवाल' नाम से पुकारे जाने लगे। यह पुस्तिका इतिहास नहीं, इतिहास की रूपरेखा मात्र ही थी।

संवत् १९७२ में दिल्ली के श्री उमराव सिंह टाँक, जो पंजाब की मुख्य अदालत के माननीय वकील थे, ने 'ओसवाल एवं उनके परिवार' नामक अंग्रेजी पुस्तिकाओं की सीरोज में समाज के इतिहास पुरुषों की गौरव गाथाएँ प्रकाशित की। आपके शोध प्रबन्धों में 'बीये बाइसे' को गुप्ता संवत् २२२ मानते हुए ओस वंश की उत्पत्ति संवत् ५९८ में निर्धारित की गई है। वे भी ओसिया बसाने वाले उप्पल देव को परमार वंश का मान कर चले हैं।

संवत् १९८५ में श्री धीरजमल बच्छावत ने उपकेश वंश नाम से ओसवाल जाति का संक्षिप्त पद्यमय इतिहास लिख कर सादड़ी (फलौदी) से प्रकाशित किया।

बम्बई में ओसवाल मित्रमंडल ने संवत् १९८२ में एक इनामी निबंध योजना का आयोजन किया। विषय रखा गया 'ओसवाल समाज की परिस्थिति और उसके उत्थान के उपाय।' इस योजना में कई विद्वानों के शोध प्रबंध पुरस्कृत किये गये एवं संवत् १९८६ में उन्हें पुस्तकाकार (उक्त शीर्षक से) प्रकाशित किया गया। इन प्रबंधों में समाज

की तत्कालीन समस्याओं का विश्लेषण किया गया। यथा-ओसवालों की घटती जनसंख्या, समाज में फैली तंत्रमंत्र व देव पूजा की प्रवृत्ति, अन्य धर्मावलम्बियों के द्वारा जोर जबर-दस्ती से धर्म परिवर्तन, दसा-बीसा, पांचा—ढाया प्रभेद, औरतों के लिए प्रसव की घिनौनी प्रथाएँ, औसर-मौसर के जीमनवार, बाल विवाह, वृद्ध विवाह, भगतणों के नाच, रखेल और पासवान स्त्रियों की दशा, घरों में जतियों का प्रभाव, पर्दा प्रथा के दोष, विधवा विवाह की वांछनीयता, धार्मिक व सामाजिक अंधविश्वास, उच्च शिक्षा एवं संगीत शिक्षा से अरुचि आदि विषयों का विश्लेषण किया गया।

गुजरात में पण्डित हीरालाल हंसराज ने गुजराती भाषा में 'श्री जैन गोत्र संग्रह' नाम से संवत् १९८० में एक ग्रन्थ प्रकाशित किया। लेखक के अनुसार गोत्रों का इतिहास पहले उनके कुलगुरु ही लिखा करते थे। भाट भोजकों की वहियों में जो विरुदावलियाँ अंकित थीं, वे उन तक ही सीमित थीं। उनको छपवाना उनकी आजी-विका को ही खतरा पैदा करना था, अतः उनकी मीमांसा कभी हो ही नहीं सकी। इस छोटे से ग्रन्थ में कच्छ प्रदेश में फैले ओसवालों एवं उनके गोत्रों का विशद विवेचन हैं। उनके शोध प्रबंध का आधार भी एक हस्तलिखित जैन ग्रन्थ है। उक्त सभी ग्रन्थों में ओसवाल वंश की उत्पत्ति की कथा मूलतः एक सी है।

कलकत्ता में श्री पूर्णचन्दजी नाहर शिलालेखों के संग्रह के कष्टसाध्य कार्य में जुटे हुए थे। उएस, उकेश, उपकेश, ओसवाल एवं ओसवंश के शिलालेखों के आधार पर विभिन्न गोत्रों की स्थिति एवं श्रेष्ठियों के विवरण, उनका समय आदि निश्चय करने का कार्य आगे बढ़ा। नाहरजी ने संवत् १९७५ और १९८५ के बीच ३ खण्डों में 'जैन लेख संग्रह' प्रकाशित कर इस जाति के इतिहास के अंधेरे हिस्सों को रोशन किया।

इसी समय के आसपास एक और भगीरथी प्रयत्न हुआ सादड़ी (मारवाड़) में। उपकेश गच्छीय श्री मुनि ज्ञान सुन्दरजी ने इस जाति की सदियों की नींद उड़ा दी। संवत् १९८६ में प्रकाशित आपके 'जैन जाति महोदय' नामक ग्रन्थ को ओसवाल जाति का महाभारत कहा जा सकता है। आपके ग्रन्थ का मूल आधार 'उपकेश गच्छ चरित्र' है। आपका विशेष जोर उत्पत्ति के काल निर्णय पर है। आपने अनेकानेक तर्कों एवं विभिन्न ग्रन्थों, शिलालेखों एवं ख्यातों के आधार पर इस वंश की उत्पत्ति विक्रम से ४०० वर्ष पूर्व निर्धारित की है। हालांकि अनेक विद्वान उससे सहमत नहीं हैं, पर उन्हें नजर अन्दाज भी नहीं किया जा सकता और इस प्रबंध के लेखक के मतानुसार वे अधिक सटीक भी हैं। मुनि ज्ञान सुन्दर जी ने इस विषय पर एक नहीं, अनेक ग्रन्थों की रचना की। उनका शोध कार्य निरंतर उक्त ग्रन्थ के प्रकाशन के बाद भी चलता रहा। मुश्किल यह है कि कभी-कभी धर्म भी सत्य शोध में बाधक बन जाता है। किसी एक गच्छ को मानने वाले विद्वान भी द्वेष वश अन्य गच्छ के लेखक द्वारा वर्णित विवरणों को अस्वीकार कर दें, यह भी सम्भव लगता है।

अजमेर में श्री सुख सम्पतराय भंडारी एवं उनके सहयोगियों ने ओसवाल जाति के इतिहास को सहेजने का वृहद् प्रयत्न संवत् १९८२ के लगभग शुरू किया। बड़ी लम्बी लम्बी यात्राएँ कर, अनेक पट्टों, सनदों, लेखों, ग्रन्थों एवं घर घर जाकर आंकड़ों तथा विवरणों को संग्रहीत कर प्रायः हर मुख्य गोत्र का इतिहास सहेजना हंसी खेल नहीं था। परन्तु आपके अथक परिश्रम से प्रायः ८०० पृष्ठों का 'ओसवाल जाति का इतिहास' संवत् १९९१ में प्रकाशित हुआ। ओसवाल जाति एवं गोत्रों को उत्पत्ति की कथाएँ भंडारी जी ने भी उक्त ग्रन्थों के आधार पर वर्णित की हैं। जहाँ जहाँ कथाएँ अविश्वसनीय लगती थीं, उन अंशों को छोड़ दिया है। आपके ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता है— ओसवाल जाति की महान् विभूतियों का प्रामाणिक इतिहास। भारत के विभिन्न राज्यों में ओसवाल जाति के अनेक दीवान, कमाण्डर, कोषाध्यक्ष हुए, उन सबका लेखा जोखा पढ़कर किस ओसवाल का हृदय गर्व से फूल नहीं जायेगा ? इस ग्रन्थ की दूसरी विशेषता हैं विभिन्न गोत्रों की प्राचीन वंशावलियों, प्रमुख घटनाओं एवं महापुरुषों का अद्यतन विवरण। प्रायः हर गोत्र के लिए यह एनसाइक्लोपीड़िया का काम देता है।

इन ऐतिहासिक शोध प्रयत्नों का एक और सुफल हुआ कि समाज में अपनी समस्याओं के प्रति जागरूकता आयी जिसका परिणाम संवत् १९८९ के प्रथम ओसवाल महासम्मेलन, अजमेर में स्पष्ट दिखाई दिया।

इनके अलावा अन्य भारतीय इतिहासकारों ने भी अपने अखिल भारतीय एवं क्षत्रिय इतिहास ग्रन्थों में ओसवालों के इतिहास को सम्मिलित किया है। परन्तु प्राचीन सन्दर्भ ग्रन्थों के अभाव में उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। संवत् २०११ में प्रकाशित श्री बजरंगलाल लोहिया के 'राजस्थान की जातियाँ' ग्रन्थ में ओसवालों की उत्पत्ति संवत् २८२ में हुई, लिखा है। लोहिया जी ने कुछ विशिष्ट गोत्रों-महनोत, भंडारी आदि का भी संक्षिप्त इतिहास दिया है।

संवत् २०३२ में अजमेर से श्रीमती मनमोहिनी ने 'ओसवाल : दर्शन-दिग्दर्शन' नामक एक वृहदाकार ग्रन्थ प्रकाशित किया। विद्वान लेखिका ने इस ग्रन्थ में ओसवाल जाति की उत्पत्ति सम्बन्धी मतमतान्तरों की समीक्षा दी है एवं जाति का गौरव बढ़ाने वाले इतिहास पुरुषों तथा विशिष्ट घटनाओं का उल्लेख किया है। उत्पत्ति सम्बन्धी समीक्षा भण्डारीजी के इतिहास ग्रंथ में दी समीक्षा से प्रायः मिलती-जुलती है। ओसवालों के १५०० गोत्रों की क्रमवार सूची ग्रन्थ में है। सौ-सवा सौ पृष्ठों के इतिहास के साथ लगभग २५० वृहद् पृष्ठों में हजारों ओसवालों का परिचय मय उनके फोटो प्रकाशित करने से ग्रंथ का कलेवर बढ़ा एवं नाम की उपादेयता सिद्ध हुई है।

श्री सोहनराज जी भंसाली ने सं० २०३९ में प्रकाशित शोध ग्रंथ 'ओसवाल वंश-अनुसंधान के आलोक में' में मुख्यतः शिलालेखों के आधार पर ओसवाल गोत्रों से

सम्बन्धित कतिपय ऐतिहासिक तथ्य उद्घाटित किये हैं। ग्रन्थ के प्रथम खंड में विद्वान लेखक ने ओसवाल जाति के उद्भव सम्बन्धी विभिन्न मतों की चर्चा की है। निष्पत्ति भंडारीजी के समान होते हुए भी अनेक तर्क मौलिक हैं, जिनकी सम्यक् समीक्षा इस ग्रन्थ में अन्यत्र की गयी है। राजस्थान में जैन धर्म के प्रचार एवं विभिन्न ओसवाल गोत्रों के प्रतिबोधक खरतर गच्छीय आचार्यों का संक्षिप्त परिचय भी इस खण्ड में समाविष्ट है। ग्रन्थ के दूसरे खण्ड में ओसवालों के खरतर गच्छीय आचार्यों द्वारा प्रतिबोधित कुछ विशिष्ट गोत्रों के उत्पत्ति कथानक तथा संक्षिप्त इतिहास हैं। विभिन्न गोत्रों के उपलब्ध शिलालेखों की तालिकाएँ देकर भंसालीजी ने ग्रंथ को संग्रहणीय बना दिया है।

आदरणीय भण्डारीजी का वृहद् इतिहास ग्रंथ मील का पत्थर बन गया। परवर्ती अनेक गंथों तथा पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित ओसवाल जाति एवं विभिन्न गोत्रों का इतिहास भंडारीजी के ग्रंथ से हूबहू उद्धृत कर दिया गया है। यहाँ तक कि अनेक लेखकों ने भण्डारीजी के ग्रंथ का बिना कोई सन्दर्भ दिये अपना ही नाम मौलिक लेखक के रूप में प्रचारित/प्रकाशित किया। यह लेखकीय संहिता के विरुद्ध एवं मूल लेखक के प्रति अन्याय है। ओसवाल जाति के इतिहास की अनुपम भेंट के लिए श्री भंडारी जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन आवश्यक है।



जं इच्छसि अप्पणतो,
जं च ण इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि मा,
एति यग्गं जिण-सासणं ॥

◉

जैसा व्यवहार हम अपने लिए चाहते हैं, वैसा ही दूसरों के साथ करें—यही जिन-शासन है और यही जैन संस्कार है।

◉

जैनाचार्य और ओसवाल | १

जैनाचार्यों ने ओस वंश की उत्पत्ति एवं श्री वृद्धि में बहुत योग दिया—यह सर्व मान्य ऐतिहासिक तथ्य है।

भगवान महावीर के समय पार्श्वनाथ परम्परा के श्रमण ही नहीं, अपितु समकालीन परम्परा के पांच अन्य श्रमण संघ भी विद्यमान थे, जिनका नेतृत्व पूरण काश्यप, मंखलि गोशालक, अजित केश कंबलि, पकुध-कात्यायन तथा संजय वेलट्ठि पुत्र कर रहे थे। कालान्तर में ये संघ महावीर के संघ या काल गर्भ में विलीन हो गये। पार्श्वनाथ

परम्परा के अनेक श्रमणों ने महावीर के पंच आयाम धर्म को अंगीकार कर लिया। परन्तु पार्श्वनाथ परम्परा की श्रमण पीठ इतनी विशाल थी कि अनेक श्रमण संघों ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखा—यह विक्रम पूर्व १७० के सम्राट् खारवेल के प्रसिद्ध शिलालेख से सिद्ध है।

इस युग को इतिहासकारों ने अंध युग कहा है। उसके बारे में बहुत कम तथ्य ज्ञात हैं। इस काल का क्रम बद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं है। उस वक्त लेखन की परम्परा भी नहीं थी। सूत्र-आगम कंठस्थ रखना शक्य था। जब श्रुत ज्ञान का क्रमशः लोप होने लगा एवं अर्थ भेद और विवाद होने लगे, तभी देवर्धिगणि क्षमा श्रमण ने विक्रम की ६वीं सदी में आगमों को पुस्तकारूढ़ किया। बाद के उपलब्ध इतिहास ग्रन्थों या गच्छों की पट्टावलियों में आचार्यों की धर्म प्रभावना का वर्णन है, परन्तु उनके माता पिता या गोत्र का नामोल्लेख अधिकांशतः नहीं मिलता। उस समय ये सन्दर्भ गौण समझे जाते रहे होंगे। अस्तु, आगम कालीन जैनाचार्यों के ओसवाल वंश की श्री वृद्धि में योगदान का वर्णन तो सम्भव है किन्तु उनके गोत्र का निश्चित उल्लेख सम्भव नहीं। जहाँ उन्हें 'वणिक' घोषित किया है, अनुमानतः वे महाजन वंश (जो कालान्तर में ओस वंश हुआ) से सम्बन्धित रहे हों, पर निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

उपकेश गच्छीय आचार्य :

भगवान पार्श्वनाथ की चतुर्याम श्रमण परम्परा के वाहक उपकेश गच्छ एवं ओस वंश के जनक एक ही माने जाते हैं—आचार्य रत्न प्रभ सूरि, जो पार्श्व प्रभु के छठे पट्टधर थे। अधिकांश धर्म संघों द्वारा भगवान महावीर की पंचयाम साधना पद्धति ग्रहण कर लेने के बाद भी इन उपकेश गच्छेय आचार्यों ने पार्श्व प्रभु की सचेल श्रमण परम्परा कायम रखी, जो कालांतर में श्वेताम्बर परम्परा के अनुरूप हो गयी।

उपकेश गच्छ पट्टावली के अनुसार विभिन्न आचार्यों द्वारा धर्म प्रभावना के के लिए किये गये सद्प्रयत्नों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है, जिन्हें अनेक जैन विद्वानों द्वारा मान्य ठहराया गया है। उपकेश गच्छीय आचार्यों के नामों में चार नामों की पुनरावृत्ति मिलती है। उस गच्छ की परम्परा के अनुसार आचार्य पदारोहण के समय आचार्य का मूल नाम बदल कर क्रमशः वे चार नाम रख दिये जाते थे—जैसा कि हिन्दुओं के चार पीठाधीशों का 'शंकराचार्य' नाम दिया जाता है या तिब्बत के बौद्ध धर्माचार्य 'दलाई लामा' कहलाते हैं, जो क्रमशः प्रथम दलाई लामा, द्वितीय दलाई लामा.......आदि नामों से पुकारे जाते हैं या खरतर गच्छ के हर चौथे आचार्य का नाम जिनचन्द्र सूरि रखा जाता है। अनेक ऐसे जैनाचार्य हुए, जिन्होंने स्वयं ओसवाल न होते हुए भी जैनेतर लोगों को जैन बनाकर ओसवाल जाति में शामिल किया एवं विभिन्न

गोत्रों का निर्माण किया। इन सभी जैनाचार्यों से ओस वंश गौरवान्वित हुआ। उनका जीवन वृत्त हमारे लिए प्रेरणास्पद है।

आचार्य रत्न प्रभ सूरि

२३वें जैन तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा में उनके पाँचवें पट्टधर स्वयं प्रभ सूरि हुए। उपलब्ध पट्टावलियों के अनुसार उन्होंने श्रीमाल नगर में सर्व प्रथम ब्राह्मणों के वर्ण बन्धन को तोड़कर हजारों लोगों को प्रतिबोध देकर जैन बनाया। मूलतः यहीं से महाजन वंश का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रदेश के जैन कालांतर में 'श्रीमाल' कहलाने लगे। सूरि जी के उपदेश से प्रभावित हो रत्नचूड़ विद्याधर ने उनसे प्रव्रज्या ग्रहण की। वीरात् ५२ वर्षे वे आचार्य रत्नप्रभ नाम से सूरि पदासीन हुए। इस तरह पार्श्वनाथ की परम्परा में वे छठे पट्टधर थे। अठारह वर्ष अनन्तर वे उपकेश नगर पधारे। उन्होंने उपकेश नगर के क्षत्रिय राजा उपलदेव एवं वहाँ के लाखों लोगों को जैन धर्म अंगीकार करवाया एवं उनकी महाजन जाति बनाई। महाजन उपकेश नगरीय होने से उपकेशीय या उकेश वंशी कहलाने लगे, जो कालान्तर में ओस या ओसवाल के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

रत्न प्रभ सूरि ने विक्रम संवत् ४०० वर्ष पूर्व उपकेश या ओस वंश की नींव रखी। उनका कार्य इतना प्रभावी हुआ कि उनके आज्ञानुवर्ती संतों का समूह भी उसी समय से उपकेश गच्छ कहलाने लगा। मध्य काल में उपकेश गच्छ भगवान महावीर के श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रभाव में रहा। इसका मूल कारण दोनों का सचेल साधना पद्धति में विश्वास माना जाता है।

सूरि जी ने ओस वंश की नींव ही नहीं रखी, उसके प्रथम १८ गोत्र भी स्थापित किये। इन्हीं १८ गोत्रों की शाखाएं प्रशाखाएँ होकर यह वंश वट वृक्ष की तरह फैला। सूरि जी ने कुछ अन्य गोत्र भी स्थापित किये। जैन धर्म की प्रभावना में इस ऐतिहासिक योगदान के लिए वे चिर स्मरणीय हैं। उन्होंने उपकेशपुर एवं पार्श्ववर्ती कोरंटपुर के मन्दिरों में भगवान महावीर के बिम्बों की प्रतिष्ठा की। उन्होंने इक्कीस बार श्री सिद्धगिरि तीर्थ की संघ यात्रा की। वे १४ वर्ष अनन्तर समाधि मरण को उपलब्ध हुए।

आचार्य यक्षदेव सूरि

आचार्य रत्न प्रभ सूरि के विद्वान शिष्य वीर धवल उपाध्याय ने राजगृह में यक्ष को प्रतिबोध देकर नगर को संकट से बचाया था। ये ही यक्षदेव सूरि नाम से उपकेश गच्छ के दूसरे पट्टधर आचार्य हुए। इन्होंने सिंध प्रदेश के शिवनगर में चतुर्मास किया। वहाँ के राजा रुद्राट ने प्रतिबोध पा वहाँ एक आलीशान महावीर मन्दिर का निर्माण करवाया। शिवनगर के राजकुमार कक्कव ने आचार्य से दीक्षा ली। ये कालान्तर में कक्कसूरि नाम से उपकेश गच्छ के तीसरे आचार्य (वीरात् १२८-१८२) हुए।

आचार्य रत्न प्रभ सूरि (द्वितीय)

आप उपकेशपुर के क्षत्रिय राजा उपलदेव, जो कालांतर में जैन बने एवं उपकेश जाति के आदि पुरुष माने जाते हैं, के वंशज थे। इन्होंने आचार्य सिद्ध सूरि से दीक्षा ली। आप अनेक लब्धियों में सिद्धहस्त थे। आपने आचार्य पदासीन होकर पंजाब, सिंध, कच्छ आदि अनेक प्रान्तों में विहार किया। विक्रम संवत् से २१२ वर्ष पूर्व आपने पंजाब के लोहाकोट (लाहौर) नगर में चतुर्मास किया। वहाँ श्रेष्ठि धनपाल द्वारा निर्मित जैन मन्दिर में बिम्ब प्रतिष्ठा करवायी।

आचार्य कक्क सूरि (द्वितीय)

आचार्य यक्षदेव सूरि (द्वितीय) एक बार उपकेशपुर पधारे। तात्कालीन उपकेश पुर नरेश खेतसी एवं उनके छोटे पुत्र लखणसी सूरि जी से प्रतिबोध पाकर जैनधर्म में दीक्षित हुए। ये ही लखणसी कालांतर में आचार्य पदासीन हो कक्क सूरि नाम से विख्यात हुए। ये लब्धिधारी प्रकांड तत्त्वज्ञ थे।

'उपकेश गच्छ चरित्र' एवं 'नाभिनन्दन जिनोद्धार' ग्रन्थों में आचार्य रत्नप्रभ सूरि द्वारा वीरात् ७०वें वर्ष में उपकेशपुर में महावीर मन्दिर की प्रतिष्ठा करने के ३०३ वर्ष बाद यानि विक्रम संवत् से ९७ वर्ष पूर्व महावीर प्रतिमा के ग्रन्थी छेदन की घटना का उल्लेख है। कहते हैं कि किन्हीं श्रावकों द्वारा प्रतिमा के वक्षस्थल पर स्थित दो ग्रन्थियों को छेद कर अलग कर देने से बड़ा उपद्रव हुआ। श्रावक बहुत घबड़ा गये। तब आचार्य श्री कक्क सूरि श्रावक समाज के आग्रह पर उपकेश पुर पधारे। उन्होंने वहाँ शान्ति अनुष्ठान किया एवं स्नात्र पूजा करवायी, जिससे उपद्रव शान्त हुआ।

आचार्य कक्क सूरि (वि० सं० ३३६-३५७)

उपकेश गच्छीय पंचम कक्क सूरि का काल धर्म प्रभावना की दृष्टि से उत्कृष्ट रहा। भावड़ा श्रेष्ठि माला शाह ने शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए संघ समायोजन किया। लाहौर के श्रेष्ठि रणवीर ने सम्मेद शिखर तीर्थ के लिए संघ निकाला। तक्षशिला से ओश वंशीय करणाट गोत्रीय श्रेष्ठि रावत ने शत्रुञ्जय के लिए संघ निकाला, जिसका नेतृत्व आचार्य कक्क सूरि ने किया।

आचार्य सिद्ध सूरि (वि० सं० ३७०-४००)

उपकेश गच्छीय आचार्य सिद्ध सूरि (पंचम) ने मरुप्रदेश पंजाब एवं सिंध प्रदेशों में दूर-दूर तक विहार एवं चतुर्मास किये। आपका वीरपुर चतुर्मास धर्म प्रभावना की दृष्टि से विशिष्ट रहा। मरुकोट (मलोट) में आपने शांतिनाथ भगवान के भव्य मन्दिर की स्थापना करवायी। विक्रम संवत् ३७२ में ओसवाल श्रेष्ठि धवल पि० गोसल शाह गोत्र भूरि ने आपकी अध्यक्षता में वीर पुर से शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए विशाल संघ निकाला।

आचार्य कक्क सूरि (वि० सं० ४४०-४८०)

उपकेश गच्छीय आचार्य कक्क सूरि (षष्ठ) विख्यात पंडित थे। आपके काल में अनेक तीर्थों की यात्राएँ एवं चतुर्विध संघ समायोजन हुए। वीरपुर से श्रावक नारायण ने शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए संघ निकला। वि० सं० ४७० में चोरड़िया गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि गोकुल शाह पुत्र सोभा ने मरुकोट (मलोट) से शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए संघ निकाला।

आचार्य सिद्ध सूरि (वि० सं० ५२०-५५८)

उपकेश गच्छीय आचार्य सिद्ध सूरि (षष्ठ) ने भारत के उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में जैन धर्म के प्रचारार्थ ऐसे समय में पद विहार किया, जब वह समस्त प्रदेश विदेशी हूणों के आक्रमण से आक्रांत हो रहा था। आपने लोहाकोट (लाहौर) उमरेल, वीरपुर, शिवनगर आदि स्थानों में चतुर्मास किये एवं अनेक मुमुक्षुओं को धर्म में दीक्षित किया। आपकी अध्यक्षता में वीरपुर से सांखला गोत्रीय ओस वंशीय श्रावकों ने शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए संघ समायोजन किया।

आचार्य देवगुप्त सूरि (वि० सं० ६०१-६३१)

उपकेश गच्छीय आचार्य देवगुप्त सूरि (सप्तम) ने धर्म प्रभावना में प्रबल योगदान किया। आपके समय में डमरेल में पार्श्वनाथ भगवान के भव्य मन्दिर का निर्माण हुआ। ओश वंशीय गोलेच्छा गोत्रीय श्रेष्ठि भोपतशाह के पुत्र अगरे ने जोगनीपुर (दिल्ली) से वि० संवत् ६१३ में तीर्थ यात्रा के लिए संघ निकाला। उसका नेतृत्व सूरि जी ने ही किया। रांका गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि खेता ने स्यालकोट में एक भव्य मन्दिर का निर्माण कराया। उसमें मल्लिनाथ भगवान की बिम्ब प्रतिष्ठा आचार्य देवगुप्त सूरि के कर कमलों से सम्पन्न हुई।

आचार्य देवगुप्त सूरि (वि० सं० ८३७-८९२)

उपकेश गच्छीय आचार्य देवगुप्त सूरि (नवम) ने अपने दीर्घकालीन अधिनायकत्त्व में अनेक जिन मन्दिरों का निर्माण करवाया। वीरपुर पधारने पर राव सोनग ने बड़े आडम्बर पूर्वक आपका नगर-प्रवेश कराया। उसी समय आपने महावीर मन्दिर में बिम्ब प्रतिष्ठा की। डमरेल में श्रीमाल वंशीय श्रेष्ठि देवल ने एक अपूर्व मन्दिर का निर्माण कराया एवं आचार्य देवगुप्त सूरि के हाथों उसमें वीर वीहरमान (जीवंत स्वामी) की प्रतिमा की प्रतिष्ठापना करवायी। आपकी अध्यक्षता में शिवनगर से कोरपाल मंत्री ने शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए एक संघ समायोजित किया। आपके गोसलपुर चतुर्मास काल में (वि० सं० ८९१) ओसवाल श्रेष्ठि आर्य गोत्रीय श्री भानुजी शाह के पुत्र कावड़ ने ८४ न्यातों का जीमनवार किया।

ओसवाल जाति से संदर्भित ऐसे अनेक उद्धरण 'भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास' 'परम पावन श्री हस्तिनापुर महातीर्थ' आदि ग्रंथों में उपलब्ध हैं, जो उपकेश गच्छीय जैनाचार्यों की धर्म प्रभावना एवं ओस वंश को श्री वृद्धि को उजागर करते हैं। विक्रम की ७वीं से १२वीं शताब्दी के बीच उपकेश गच्छीय आचार्यों ने ओस-वंश के अनेक नवीन गोत्रों को प्रतिबोधित कर उन्हें जैन धर्म अंगीकार करवाया। उनके विवरण ग्रंथ में अन्यत्र दिये जा चुके हैं।

आचार्य कक्क सूरि

विक्रम की १४वीं शताब्दी में उपकेश गच्छ के पट्टधर आचार्य कक्क सूरि हुए। वे शास्त्रों के महान ज्ञाता एवं इतिहास मर्मज्ञ थे। उन्होंने संवत् १३९३ में 'उपकेश गच्छ चरित्र' नामक वृहद् प्रबन्ध की संस्कृत भाषा में रचना की। इसमें उपकेशाचार्य श्री रत्नप्रभ सूरि द्वारा संस्थापित ओस वंश का आद्योपांत प्रामाणिक इतिहास पद्यबद्ध है। आचार्य कक्क सूरि ने एक और संस्कृत प्रबन्ध की रचना की—'नाभिनन्दन जिनोद्धार' जिसमें उनके समकालीन ओस वंशीय श्रेष्ठि गोत्रीय दानवीर समरसिंह का चरित्र वर्णित है। इसमें ओस वंश की उत्पत्ति एवं श्रेष्ठि गोत्र का वंश वृक्ष दिया गया है। समरसिंह ने वि० सं० १३७१ में शत्रुञ्जय तीर्थ का पन्द्रहवाँ उद्धार करवाकर पुण्यार्जन किया था।

स्वर्णकालीन अन्य आचार्य :

मध्य एशिया और पंजाब में जैनधर्म ग्रन्थ के लेखक पं० हीरालाल दूगड़ न्याय तीर्थ के अनुसार विक्रम से १७ वर्ष पूर्व जैनाचार्य कालिक के समय सिन्ध जनपदों में बहुत संख्या में महाजन (ओसवाल) श्रावक आबाद थे। कालिकाचार्य का गच्छ भावहार या भावड़ा था। अतः सिन्धु सौवीर का ओसवाल महाजन समाज 'भावड़ा' कहलाया। यह गच्छ विक्रम की १७वीं शताब्दी तक विद्यमान था। प्राचीन लेख संग्रह में ऐसे ही वि० सं० १५०३ के एक शिलालेख का उल्लेख है, जिसमें भावडार गच्छ संस्थापक श्री कालिकाचार्य के उपासक श्रीमाल गोत्रीय शाह हमीर द्वारा श्री वासु पूज्य स्वामी के बिम्ब की प्रतिस्थापना उत्कीर्णित है।

भगवान महावीर के १९वें पट्टधर श्री मानदेव सूरि ने पंजाब और सिन्ध में अनेक महाजन बनाये। आपने विक्रम संवत् २८० में लघु शान्ति स्तवन की रचना की। नडुलाई (राजस्थान) के चतुर्मास में तक्षशिला नगर में महामारी फैली। वहाँ के संघ की प्रार्थना पर एक स्तवन बनाकर आपने संघ को भेजा, जिससे महामारी शान्त हुई। मानदेव सूरि ने उच्चनगर तक्षशिला में अनेक महाजन (ओसवाल) बनाये। कहते हैं कश्मीर के 'महाजन' वस्तुतः ओसवाल ही थे, जो जम्मू-कश्मीर में जा कर बसे। राज्य धर्म के प्रभाव में वे शनैः शनैः ब्राह्मण धर्म के अनुयायी बन गये।

विक्रम की ७वीं से १६वीं शताब्दी के बीच श्वेताम्बर सम्प्रदाय के तपागच्छ, खरतर गच्छ एवं अन्यान्य गच्छों में ओस वंश उत्थान हेतु होड़ सी लगी रही। उपकेश गच्छ पीछे पड़ गया। इन एक हजार वर्षों में लाखों लोग जैन बने एवं ओसवंश में शामिल हुए। इसी बीच ओसवालों के अनेक नये गोत्रों का निर्माण हुआ।

आचार्य हरिभद्र (वि० ५३० से ५८५)

शास्त्र विशारद आचार्य हरिभद्र का जन्म चित्तौड़ के ब्राह्मण परिवार में हुआ। वे राजपुरोहित थे। वे साध्वी महत्तरा (पं० हीरालाल के अनुसार साध्वी याकिनी) से प्रभावित हो आचार्य जिनभद्र के पास दीक्षित हुए। वे निर्मल ज्ञान के धनी थे। वे आगमों के सर्व प्रथम टीकाकार थे। 'समराइच्च कहा' उनका अत्यन्त प्रसिद्ध प्राकृत-कथा ग्रन्थ है। उन्होंने विपुल साहित्य निर्माण किया। उनके ग्रन्थों की संख्या १४४४ बताई जाती है। प्राचीन विद्वानों के अनुसार उनका समय विक्रम संवत् ५३० से ५८५ माना जाता है। पं० हीरालाल हंसराज के अनुसार उनकी मृत्यु विक्रम संवत् ५३५ में हुई। मुनि जिन विजय जी उनका समय वि० सं० ७५७ से ७८७ मानते हैं।

'समराइच्च कहा' मूलतः प्रथम इतिहास ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थ में उएश नगर की उएस या उपकेश (कालान्तर में 'ओस') जाति का उल्लेख बड़ी श्रद्धा से किया गया है। इसके अनुसार उस वक्त उपकेश जाति ब्राह्मण कर से मुक्त थी। सम्भवतः आचार्य हरिभद्र का उपकेश जाति के श्रेष्ठियों से अच्छा सम्पर्क था। वे श्वेताम्बर परम्परा से भिन्न मतावलम्बी थे—यह भी उल्लेखों से सिद्ध है। आचार्य हरिभद्र श्वेताम्बर परम्परा के विद्याधर गच्छीय आचार्य जिनदत्त के शिष्य थे।

आचार्य उद्योतन

इसी ९ठी शताब्दी में प्रसिद्ध प्राकृत ग्रन्थ 'कुवलयमाला' के रचनाकार आचार्य उद्योतन हुए। वे उपकेश गच्छीय आचार्य हरिगुप्त सूरि की शिष्य परम्परा में आचार्य यक्ष के शिष्य थे। इन्होंने जावालिपुर (जालौर) में 'कुवलयमाला' ग्रन्थ की रचना की। इस प्रसाद पूर्ण कथा-ग्रन्थ में श्वेत हूण सम्राट् तोरमाण के पुत्र मिहिरगुल के अत्याचारों से भयभीत हो भिन्नमाल वासी उपकेश जाति के व्यापारियों का गुर्जर प्रदेश (गुजरात) पलायन वर्णित है। तब जो ओसवाल गुजरात जाकर बसे, उनके वंशज आज भी वहाँ निवास करते हैं।

उक्त उद्योतन सूरि, वड़ गच्छ एवं ८४ अन्य गच्छों के संस्थापक आचार्य उद्योतन से भिन्न हैं। उनका समय विक्रम की १०वीं शताब्दी माना जाता है।

आचार्य सिद्धर्षि

सुप्रसिद्ध जैनाचार्य सिद्धर्षि द्वारा रचित प्राकृत का कथा ग्रन्थ 'उपमिति भव प्रपञ्चकथा' साहित्य जगत् की सर्वांग सुन्दर कृति माना जाता है। आचार्य सिद्धर्षि

विक्रम की ५वीं/६ठी सदी में हुए। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ 'पुरातन प्रवन्ध संग्रह' के अनुसार उनकी माता का नाम लक्ष्मी और पिता का नाम शुभंकर था। वे श्रीमालपुर (भिन्नमाल) के श्रीमाल गोत्रीय श्रेष्ठि थे। ग्रन्थ के 'सिद्धर्षि प्रवन्ध' अध्याय का निम्न श्लोक दृष्टव्य है :

श्रीमाल पुरे दत्त-शुभंकरौ भ्रातरौ महर्द्धिकौ श्रीमाल ज्ञातीयौ।

श्री प्रभाचन्द्र विरचित संस्कृत भाषा के प्राचीन प्रबन्ध ग्रन्थ 'प्रभावक चरित' में शुभंकर के पिता सुप्रभदेव, जो श्रीमाल नगर के राजा वर्मलात के मन्त्री थे, को 'सर्व व्यापार मुद्रा भृन्मुद्रा कृद्युर्जनानने' वताया है। दोनों भ्राताओं को 'वित्तोऽनुजीविभ्यो' कहा है। इससे भी श्रेष्ठि शुभंकर के पुत्र आचार्य सिद्धर्षि के श्रीमाल गोत्रीय श्रेष्ठि होने की पुष्टि होती है। शुभंकर के अग्रज दंत या दत्त भी समृद्ध श्रेष्ठि थे। दत्त के पुत्र माघ राजा भोज के प्रिय सखा और सुप्रसिद्ध कवि थे। यही कवि माघ 'शिशुपाल वधम्' आदि उत्कृष्ट काव्यों के रचयिता थे। इस तरह महा कवि माघ का भी ओसवाल होना सिद्ध है।

सिद्धर्षि गृहस्थावस्था में बड़े द्यूत व्यसनी थे। मां के क्रुद्ध वचनों से पुत्र का मन सदैव के लिए परिवर्तित हो गया और कठोर मुनिव्रत ग्रहण किया। 'प्रवन्ध कोष' के अनुसार श्रीमालपुर के एक धनी जैन उपासक ने युवा सिद्धर्षि का द्यूत ऋण चुकाया।

इनके दीक्षा गुरु आचार्य हरिभद्र थे। उन्हीं की आज्ञा से सिद्धर्षि ने वौद्ध दर्शन का अध्ययन किया। कहते हैं इक्कीस बार मुनि सिद्धर्षि ने बौद्धों और जैनों के बीच आवृत्ति की। आचार्य हरिभद्र के 'ललित विस्तार' ग्रन्थ के अध्ययन से उन्हें बोध प्राप्त हुआ। 'प्रभावक चरित' के अनुसार सिद्धर्षि के गुरु गर्गर्षि थे। उन्होंने सिद्धर्षि को 'ललित विस्तार' ग्रन्थ पढ़ने को दिया, जिसे पढ़कर उन्हें वोध हुआ। सिद्धर्षि के अनमोल ग्रन्थ 'उपमिति भव प्रपंच—कथा' की रचना भिन्नमाल नगर के देरासर में संवत् ९६२ में सम्पन्न हुई, जैसा कि निम्न श्लोक से परिलक्षित है :

संवत्सर शत नव द्विषष्टि सहिते ऽतिलंघिते चास्याः
ज्येष्ठे सित पंचम्यां पुनर्वसौ गुरु दिने समाप्तिरभूत्।

यह संवत्सर वीर संवत् समझना चाहिए। आचार्य हरिभद्र की मृत्यु विक्रम संवत् ५८५ में हुई। श्री चन्द्र केवली चरित्र में सिद्धर्षि का समय ५९८ अंकेपु दिया है। अगर ९६२ को वीर संवत् माने तो यह समय विक्रम संवद् ४९२ ठहरता है। पाश्चात्य विद्वान प्रो० पीटरसन ने इसे वीर संवत् ही माना है। पं० हीरालाल हंसराज ने अपने इतिहास ग्रन्थ में 'वि० सं० ५९२ में सिद्ध सूरि दिवंगत हुए'—लिखा है। अतः निश्चित रूप से सिद्धर्षि का समय ६ठी शताब्दी से पूर्व ठहरता है। कहा जाता है इस रचना की प्रेरणा उन्हें 'कुवलयमाला' के रचनाकार आचार्य उद्योतन सूरि ने दी,

जो उनके गुरु भाई थे। उपमिति भव प्रपंच कथा ग्रंथ भारतीय रूपक ग्रन्थों में शिरोमणि माना गया है। डा० हरमन जैकोबी ने इसे भारतीय वाङ्मय का प्रथम रूपक ग्रन्थ माना है। धर्म एवं नीति विषयक संस्कृत ग्रंथों में भी इसे अनमोल एवं सर्वोपरि माना गया है। आचार्य सिद्धर्षि ने सिद्धसेन दिवाकर के 'न्यायावतरण' धर्म तथा कीर्ति के 'उपदेशमाला' ग्रंथ पर भी अत्युत्तम टीकाएँ लिखी हैं।

आचार्य बप्प भट्ट

विक्रम की ९वीं शताब्दी में आचार्य वप्पभट्ट सूरि हुए। इनका जन्म वि० सं० ८०० में माना जाता है। ये श्वेताम्बर परम्परा के मोढ़ गच्छीय आचार्य सिद्ध सेन के शिष्य थे। इन्हीं वप्पभट्ट सूरि ने कन्नौज के राजा नागभट्ट प्रतिहार (जो आम राजा के नाम से प्रसिद्ध था) को प्रतिवोध देकर जैनी बनाया। इसी आम राजा ने कन्नौज में एक सौ हाथ ऊँचा जिनालय बनवाकर उसमें आचार्य वप्प भट्ट सूरि के हाथ से महावीर स्वामी की स्वर्ण प्रतिमा प्रतिष्ठित करवाई। इन्हीं की प्रेरणा से आम राजा ने मथुरा, अणहिलपुर, पट्टण, सतारक, मोदेरा आदि जगहों पर जैन मन्दिर बनवाये। आचार्य वप्पभट्ट गौड़ देश (बंगाल) की राजधानी लक्षणावती गये और वहाँ के राजा को उपदेश दे आम राजा के प्रति बढ़ते जा रहे वैमनस्य को शान्त किया। इसी आम राजा का पुत्र भोज भारत के इतिहास का मशहूर जनश्रुति नायक रहा है।

आचार्य वप्पभट्ट ने आम राजा की एक रानी, जो वणिक पुत्री थी, की सन्तान को ओसवंश में शामिल कर उनका राजकोष्ठागार गोत्र निर्धारित किया। आज भी 'राज कोठारी' अपने को आम राजा की सन्तान वताते हैं। कालान्तर में इसी परिवारों में सिद्धाचल का अन्तिम उद्धार कर्ता करमाशाह हुआ। शत्रुञ्जय तीर्थ के विमल वासी आदीश्वर मन्दिर में उत्कीर्णित शिलालेख उक्त तथ्यों का साक्षी है। आचार्य बप्पभट्ट ने ओस वंश की प्रभावना में वड़ा योग दिया। ९वीं शताब्दी तक ओस वंश अन्य जैन सम्प्रदायों के प्रभाव में आ चुका था। इनका स्वर्गवास वि० सं० ८९५ में हुआ।

आचार्य नेमिचन्द सूरि

'गोमट्टसार' जैसे प्रसिद्ध प्राकृत जैन ग्रन्थ के रचनाकार नेमिचन्द सूरि दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य थे। वे गंग वंशीय राजा मल्व के प्रधान मंत्री चामुण्डराय के गुरु थे। उनके अगाध शास्त्र ज्ञान पर उन्हें सिद्धान्त चक्रवर्ती की उपाधि दी गई। समस्त दक्षिण में जैन धर्म की प्रभावना का श्रेय उन्हीं को है। 'गोमट्टसार' के अलावा उन्होंने लब्धिसार, त्रिलोकसार, क्षपणसार आदि ग्रन्थों की रचना की। ये इतिहास प्रसिद्ध आचार्य उद्योतन सूरि के गुरु कहे जाते हैं। आपने मालव देश में वि० सं० ९५४ में ओसवालों के बरड़िया गोत्र की स्थापना की। ओसवाल जाति के अभ्युदय में आपका विशेष योगदान रहा।

आचार्य वर्धमान सूरि

चैत्यवासी परम्परा में पनपते शिथिलाचार से हटकर सुविहित मार्गीय साधना पद्धति की नींव रखने वाले आचार्य वर्धमान सूरि प्रद्योतन सूरि के शिष्य थे। इनका समय वि० सं० १००० से १०८८ माना जाता है। इनके द्वारा प्रतिष्ठित कटिग्राम की प्रतिमा का लेख वि० सं० १०४५ का है। ये चन्द्र गच्छ के थे। इन्होंने अनेक टीकाएँ लिखी। 'उपदेश माला वृहद्' नामक कृति के रचनाकार वर्धमान सूरि ही थे। इनके उपदेश से प्रभावित होकर, विमल शाह मंत्रीश्वर ने आबूतीर्थ पर अठारह करोड़ तिरपन लाख रुपये खर्च कर मंदिर बनवाये। इन्हें १३ राज्यों के राजा-बादशाहों से सम्मान मिला। लोढ़ा एवं पोपाड़ा गोत्र स्थापित करने का श्रेय भी आप ही को है।

आचार्य हेमचन्द्र सूरि

आचार्य हेमचन्द्र सूरि का जन्म वि० सं० ११४५ में धन्धक निवासी ओढ़ (हंसराज हीरालाल के अनुसार मोढ़ जाति) वणिक परिवार में हुआ। इनका मूल नाम प्रद्युम्न था। ये राजसचिव थे। इनकी चार पत्नियाँ थीं। ये चन्द्र गच्छीय देवचन्द्र सूरि के शिष्य थे। इनका दीक्षा महोत्सव खम्भात में राजा उदयन के सान्निध्य में बड़ी धूमधाम से हुआ। इक्कीसवें वर्ष सं० ११६२ में ये नागौर में आचार्य नियुक्त हुए।

गुजरात के सिद्धराज जयसिंह की प्रेरणा से आपने संस्कृत में 'सिद्ध हेम व्याकरण' की रचना की। ग्रंथ समाप्ति पर उसे हाथी के सिंहासन पर रखकर सुन्दरियों द्वारा चँवर डुलाते हुए राज्य सभा में लाया गया था। उसकी प्रतिलिपियाँ अनेक देशों को भेजी गयीं। इस व्याकरण का वही स्थान है, जो पाणिनी एवं शकटायन के व्याकरणों का है। आपका सर्वाधिक मूल्यवान ग्रंथ 'त्रिषष्ठीशलाका—पुरुष चरित्र' है। कहते हैं यह ग्रंथ निवृत्ति गच्छ के मानदेव सूरि के विद्वान शिष्य शिलाचार्य द्वारा वि० सं० ९२५ में रचित प्राकृत ग्रंथ 'महापुरुषद्मर्य' की संस्कृत छाया है। प्रमाण मीमांसा, अभिधान चिंतामणि, देशीनाम माला, निघंटू कोष, हेम अनेकार्थ संग्रह आदि उनके विशिष्ट ग्रंथ हैं। योग शास्त्र उनकी अनूठी कृति है। उन्होंने कुल साढ़े तीन करोड़ परिमाण श्लोक रचे। वे भविष्य वक्ता भी थे। कुमार पाल सम्बन्धी उनकी भविष्य वाणी सत्य सिद्ध हुई। कुमारपाल ने सिंहासनरूढ़ होते ही उनकी प्रेरणा से 'अमारि' की घोषणा कर दी। उनके सर्व धर्म समन्वयात्मक दर्शन से कुमारपाल बहुत प्रभावित था। वि० सं० १२२९ में पाटण में वे स्वर्गस्थ हुए। पाश्चात्य विद्वान पिटर्सन ने उन्हें 'ज्ञान का सागर' कहा है।

आपने ओसवालों के सांखला, सुराणा, सियाल, सांड, सालेचा, पूनमिया आदि गोत्रों की स्थापना की।

अंचल गच्छीय आचार्य :

श्वेताम्वर सम्प्रदाय के अंचल गच्छ का उदय विक्रम की वारहवीं शताव्दी में हुआ। सुविहित मार्गीय आचार्य आर्य रक्षित सूरि (वि० सं० ११६९-१२५८) इसके संस्थापक माने जाते हैं। एक अनुश्रुति के अनुसार चालुक्यराज जयसिंह सिद्धराज द्वारा पुत्रकाभेष्टि यज्ञ के समय आचार्य ने मरी गाय में विधि द्वारा परकाय-प्रवेश कर उसे यज्ञस्थल से वाहर निकाल दिया। राजा ने यह चमत्कार देख सूरि जी को वचन-पालन में 'अचल' कहकर अभिनन्दित किया। इसी से उनके गच्छ का नाम 'अचल गच्छ' हुआ। एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार चालुक्य राज कुमारपाल के समय आचार्य आर्य रक्षित सूरि के सुश्रावक मन्त्री कपर्दी द्वारा अपने उत्तरासंग (वस्त्रांचल) से भूमि साफ कर आचार्य हेम चन्द्र सूरि की वन्दना करने पर उसे विधि संगत वताया। इससे उनके गच्छ का नाम अंचल गच्छ पड़ा। गच्छ की पट्टावलियों में इस गच्छ की स्थापना वि० सं० १२१३ में हुई वतायी जाती है। इस गच्छ को 'विधि पक्ष' भी कहा जाता है।

अंचल गच्छ का गुजरात एवं राजस्थान के दक्षिणी प्रदेशों में वहुत प्रभाव रहा। इस गच्छ के अनेक आचार्य श्रीमाल—ओसवाल वंशीय हुए। ओसवाल जाति की श्री वृद्धि में उनका अनुपम योगदान रहा।

आचार्य आर्यरक्षित सूरि (वि० सं० ११६९-१२५८)

आपका जन्म 'दंताणी नगर में प्राग्वाट' (पोर वाल) जाति के श्रेष्ठि द्रोण के घर वि० सं० ११३९ में हुआ। आप सुविहित मार्ग में दीक्षित हुए। सं० ११६९ में आप सूरि पदासीन हुए। श्रावक यशोधन भंशाली द्वारा आपका पाट-महोत्सव मनाया गया। वेणप नगर के श्रीमाल वंशीय श्रेष्ठि वशीकोडी (सुपुत्र राका वंका शाह) ने सूरिजी से श्रावकत्व ग्रहण किया। उसकी पुत्री सोमाई करोड़ों के आभूषणों का त्याग कर विधि पक्ष में दीक्षित हुई। कालान्तर में वे 'समय श्री' नाम से महत्तरा (अग्रणी) साध्वी हुई। उन्होंने अद्वितीय कीर्ति पाई।

वि० सं० ११७२ में आचार्य रक्षित ने सिंध के पारकर देश में विहार किया। वहाँ के राजा महीपाल ने जैन धर्म अंगीकार किया। सूरिजी की कृपा से नगर की महामारी शांत हुई। राजा ओसवाल कुल में शामिल हुआ। उसके वंशजों का 'महीपाल' गोत्र हुआ। संवत १२१० में भीनमाल प्रदेश के रतनपुर गाँव में परमार वंशीय राजा हमीर सूरि जी के उपदेश से जैन-ओसवाल वना। उसके पुत्र जयसिंह का 'सहस गुणा गांधी' गोत्र स्थिर हुआ। जयसिंह ने शत्रुञ्जय तीर्थ का संघ निकाला। उसके कुछ वंशज कच्छ जाकर बस गये, जो 'माल्दे' कहालाते हैं। सं० १२१६ में सूरिजी ने वाडमेर में भिन्नमाल के राजा सोमकरण के वंशज गुणचन्द्र को प्रतिवोध देकर ओसवाल वनाया। उसके वंश में 'आल्हा' नामक प्रतापी पुरुष हुआ। उसका कुटुम्व गाँव के समस्त

ओसवाल समाज में सम्मानित हो 'वडेरा' कहलाया। आल्हा ने तीन वर्ष के दुष्काल में गरीबों को मुफ्त अन्न देने के लिए दानशाला खोल दी थी।

बाड़मेर के गुराँसा की बही के अनुसार आचार्य आर्यरक्षित ने अपने शासनकाल में २२०२ साधु एवं १३१५ साध्वियाँ दीक्षित कीं। उन्होंने १४ विभिन्न स्थानों के मन्दिरों में एक ही समय में बिम्ब प्रतिष्ठा सन्पन्न करवायी—ऐसी भी जनश्रुति है। सं० १२३६ में बनासकांठा नगर में आप स्वर्गस्थ हुए।

आचार्य जयसिंह सूरि (वि० सं० १२०२-१२५८)

आपका जन्म कोंकण प्रदेश (गुजरात) के सोपारा ग्राम में ओसवाल वंश के कोट्याधिपति दाहड़ (द्रोण) के घर वि० सं० ११७९ में हुआ। बचपन से ही संसार के प्रति विरक्त रहने लगे। सं० ११९७ में आचार्य आर्य रक्षित से दीक्षित होकर शास्त्रों के अध्ययन में लगे और जल्दी ही व्याकरण, न्याय, आगम आदि के प्रकाण्ड विद्वानों में गिने जाने लगे। सं० १२०२ में आप सूरि पदासीन हुए। सिद्धराज जयसिंह आपसे बहुत प्रभावित थे। सम्राट् ने आपको 'युग प्रधान' की पदवी से विभूषित किया। परमार्हत कुमारपाल ने भी आपको सम्मानित किया। पाटण में दिगम्बराचार्य छत्रसेन भट्टारक को आपने शास्त्रार्थ में हराया। उन्होंने सूरिजी से नई दीक्षा ग्रहण की। सं० १२१७ में इनसे अंचल गच्छ की 'हर्ष शाखा' निकली।

सूरिजी ने ओसवाल वंश की श्रीवृद्धि में कोई कसर नहीं छोड़ी। वि० सं०१२०८ में हस्तिकुण्ड नगर पधारे। वहाँ का राजा अनन्तसिंह राठौड़ आपके उपदेशों से प्रभावित हो जैन बना। उनके वंशज हथुपुड़िया राठौड़ कहलाये। मारवाड़ के कोटरा ग्राम में यदुवंशी सोमचन्द लूटपाट करते थे। सं० १२११ में सूरिजी उधर से गुजरे। कहते हैं जनसाधारण की प्रार्थना पर आपने सोमचन्द को स्तम्भित कर दिया। माँ की विनती पर मुक्त होकर उसने जैन धर्म अंगीकार किया और ओसवाल कुल में शामिल हुआ। उसके पुत्र गला के वंशजों का गला गोत्र हुआ। इसी तरह मीठड़िया, लोलड़िया, पड़ाईया, नागड़ा आदि गोत्रों की स्थापना भी सूरि जी के उपदेश से हुई। सं०१२२९ में सिंध के पीलुड़ा ग्राम के राव राजा के पुत्र लालन को कंठ रोग से मुक्त कर उसे जैन-ओसवाल बनाया। उनके वंशज 'लालन' कहलाये। इतिहास प्रसिद्ध मंत्री-श्रेष्ठि वर्धमान शाह और पद्मसिंह शाह इसी गोत्र के थे। इन्होंने अनेक जिनालयों का निर्माण कराया। इनके जीवन प्रसंग ग्रंथ में अन्यत्र दिये जा रहे हैं। ओसवालों के कटारिया, पोलडीया, देवड़ा, ढेढिया, छाजेड़ आदि गोत्रों की संस्थापना का श्रेय भी सूरिजी को दिया जाता है।

सूरिजी ने अनेक ग्रंथों की रचना की, जिनमें 'कर्म विपाक, ठाणांग टीका, जैन तर्क वार्तिक प्रसिद्ध हैं। सं० १२५८ में आपने समाधि मरण प्राप्त किया।

आचार्य धर्म घोष सूरि (वि० सं० १२३४-१२९८)

आपका जन्म वि० सं० १२०८ में मारवाड़ के महावपुर नगर में श्रीमाल श्रेष्ठि श्रीचन्द के घर हुआ। आप ८ वर्ष की अल्प आयु में आचार्य जयसिंह के करकमलों से दीक्षित हुए। सं०१२३४ में आप सूरिपदासीन हुए। आप बड़े चमत्कारी सन्त थे। मुक्तेसर गढ़ में आपने ऊर्ध्वासन का अद्भुत प्रयोग किया। १०८ कम्बलों पर पद्मासन लगाकर आप ध्यानस्थ हो गये। एक एक कर सारे कम्बल निकाल लिये गये—किन्तु सूरिजी ऊँचे आसन पर अविचलित बने रहे।

आपने शाकम्भरी के राजा प्रथमराज को उद्‌बोधन दिया। सं० १२४६ में खीमली नगर के डोड़िया जाति के राजपूत रावत बोहड़ी को जैन धर्म अंगीकार करवाया। उसके वंशजों से ओसवाल जाति का बहुल गोत्र बना। इस परिवार ने शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए संघ समायोजन किया। मन्त्रीश्वर वस्तुपाल तेजपाल ने उन्हें संघ नरेन्द्र के विरुद से विभूषित किया। महावपुर में सूरिजी के चमत्कारों से प्रभावित होकर दिनकरभट्ट नामक ब्राह्मण पंडित जैन बना। जब ब्राह्मणों ने उसे न्यात बाहर कर दिया तो वह ओसवाल कुल में शामिल किया गया। उसके वंशज देवानन्द-सखा कहलाये। इस गोत्र से कालान्तर में गोठी, गोसलीया, चोथाणी, वीसलाणी, देसलाणी, हीराणी, भुवांणी, कोकलिया, मूलाणी, थावराणी आदि खापें निकलीं।

सं० १२६५ में सूरिजी के प्रतिबोध से जालौर के चौहान सामन्त भीम ने जैन धर्म अंगीकार किया। उसने डोड गाँव में वासु पूज्य स्वामी का विशाल जिनालय बनवाया। भीम के वंशज डोडियालेचा कहलाये—जिनसे कालान्तर में गोपावत, सुवर्ण गिरा, संघवी, पालणपुरा आदि शाखाएँ निकलीं। सं० १२६९ में भालाणी नगर के रणमल परमार के कुँवर हरिया को सूरिजी ने सर्प दंश से विष-मुक्त कर दिया। उसका परिवार जैन बना। वे 'हरिया' कहलाये। कालान्तर में इस गोत्र की अनेक शाखा-प्रशाखाएं हुईं—सहस्र गुणा, कका, साईंया, ग्रथलिया, मरुथालिया, बिजल, नपाणी, कपाइया आदि।

सं० १२६३ में उपकेश जाति के श्रेष्ठि आंवड़ के पुत्र जगसिंह ने जीरावली तीर्थ में भव्य देव कलिका बनवायी। इसी वर्ष आचार्य ने 'शतपदी' की रचना की। धर्म घोष सूरि की एक और रचना 'ऋषि मण्डल प्रकरण' बहुत प्रसिद्ध है। इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं। ये अंचल गच्छ के महाप्रभावक आचार्य माने जाते हैं। आपने गुजरात, कच्छ, सिंध, मारवाड़, मालवा, महाराष्ट्र एवं सोरठ प्रदेशों में अप्रतिहत विहार किये। सं० १२९८ में आप स्वर्गस्थ हुए।

आचार्य मेरुतुंग सूरि (वि० सं० १४२६-१४७१)

अंचल गच्छ के अत्यंत प्रभावी आचार्य मेरु तुङ्ग सूरि का जन्म सं० १४०३ में प्राग्वाट वंशीय श्रेष्ठि वचरसिंह वोरा के घर मारवाड़ के नाणी ग्राम में हुआ। जन्म से पूर्व आपकी माता ने सहस्र किरण सूर्य को स्वप्न में मुख-प्रवेश करते देखा था। मात्र ७ वर्ष की अल्प वय में आप महेन्द्र प्रभ सूरि द्वारा दीक्षित हुए। सं० १४२६ में आप सूरि-पदारूढ हुए। आपने अनेक मुसलमान सुलतानों को प्रतिबोध दिया। आप बड़े मन्त्र प्रभावक थे। आपके चमत्कारों की अनेक दन्त कथाएँ प्रचलित हैं। आपकी प्रेरणा से अनेक नगरों में जिनालयों का निर्माण हुआ। सं० १४४५ में आप गच्छ-नायक पद से विभूषित हुए। आपने 'षड् दर्शन समुच्चय' एवं 'नेमीदूत महाकाव्य' ग्रन्थों की रचना की। आप उग्रबिहारी एवं महातपस्वी थे। आप सर्वत्र 'ऋषि' नाम से सम्बोधित किये जाते थे। आपके विशाल शिष्य परिवार में गुर्जर भाषा के प्रसिद्ध कवि माणिक्य सुन्दर सूरि जी ने 'श्रीधर चरित' महाकाव्य की रचना की। महत्तरा साध्वी महिमा श्री जी ने 'श्री उपदेश चिन्तामणि' ग्रंथ की रचना की।

ओस वंश के मीठड़िया गोत्रीय बहुरा श्रेष्ठि मेघा शाह ने आपकी प्रेरणा से ही गौड़ी पार्श्वनाथ तीर्थ का निर्माण करवाया। सं० १४३२ में पाटण के एक भव्य जिन मन्दिर में गौड़ी पार्श्वनाथ के बिम्ब की प्रतिष्ठा हुई थी। वह प्रतिमा सं० १४४५ के मुस्लिम आक्रमण से जमींदोज हो गयी। सं० १४६५ में हुसेन खाँ पाटण का सरदार बना। उसकी बीबी एक जैन कन्या थी। उसके प्रयास से प्रतिमा प्रगट हुई। आचार्य मेरु तुङ्ग सूरि सं० १४७० में पाटण पधारे। उन्होंने मेघा शाह को वह चमत्कारी प्रतिमा पारकर (सिंध) ले जाकर प्रतिष्ठित करने की प्रेरणा दी। मेघा शाह ने विपुल धन खर्च कर पारकर में गौड़ी पुर गाँव बसाया एवं भव्य जिनालय का निर्माण करवाया। सं० १४८२ में जिनालय तैयार हो गया। मेघा शाह की कीर्ति खूब फैली। ईर्ष्या वश मेघा शाह के साले काजल शाह ने सं० १४९४ में विष देकर मेघा शाह की हत्या करवा दी। काजल ने जिनालय का रंग मण्डप बनवा कर बिम्ब प्रतिष्ठा की। पश्चात्ताप स्वरूप उसने शत्रुञ्जय तीर्थ का संघ निकाला। पारकर गाँव अब पाकिस्तान में है। पार्श्वनाथ की वह चमत्कारी प्रतिमा अब कहाँ है, यह विवाद ग्रस्त है।

सं० १४७१ में पाटण में आचार्य मेरुतुङ्ग सूरि स्वर्गस्थ हुए।

आचार्य धर्म मूर्ति सूरि (वि० सं० १६०२-१६७०)

प्रसिद्ध क्रियोद्धारक आचार्य धर्म मूर्ति का जन्म खम्भात नगर में श्रीमाली श्रेष्ठि हंसराज के घर सं० १५८५ में हुआ। सं० १५९९ में आपकी दीक्षा हुई। सं० १६०२ में आप सूरि-पदासीन हुए। आप बड़े क्रांतिकारी संत थे। संघ में आचार शिथिलता

देखकर सं० १६१४ में शत्रुञ्जय तीर्थ में आपने क्रियोद्धार किया। आगरा के ओसवाल वंशीय लोढा गोत्रीय श्रेष्ठि ऋषभदास के पुत्र मंत्री सोन पाल कुँवरपाल आपके अनन्य भक्त थे। आपकी प्रेरणा से उन्होंने सं० १६६५ में २००० यात्रियों का सम्मेद शिखर तीर्थ का संघ समायोजन किया। अहमदाबाद के नगर-संघ ने आपको 'युग प्रधान' की पदवी दी। सं० १६७० में पाटण में आपका स्वर्गवास हुआ।

आचार्य कल्याण सागर सूरि (वि० सं० १६४९-१७१७)

आपका जन्म गुजरात के लोलड़ा गाँव में श्रीमाली सेठ नानिग कोठारी के घर सं० १६३३ में हुआ। सं० १६४२ में आप दीक्षित हुए। सं० १६४९ में आप सूरि पदारूढ हुए।

सं० १६५० में आपकी अध्यक्षता में भद्रावती के ओशवंशीय लालन गोत्रीय श्रेष्ठि अमरसिंह के पुत्र मंत्रीश्वर वर्धमान शाह और पद्मसिंह शाह द्वारा १५००० यात्रियों का शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए संघ समायोजन हुआ। शाह बन्धुओं ने अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया। सं० १६७१ में आपने आगरा के प्रसिद्ध श्रावक ओस वंशीय लोढ़ा गोत्रीय कुंवरपाल सोनपाल के जिनालय में ४५० नूतन भव्य प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की। बादशाह जहाँगीर ने आपके चरित्र से प्रभावित होकर आपसे दर्शन देने की प्रार्थना करवाई तो सूरिजी ने आकाशगामिनी विद्या द्वारा वहाँ पहुँच कर सबको चमत्कृत कर दिया—ऐसी किंवदन्ती प्रसिद्ध है। सं० १६७२ में सकल संघ द्वारा उदयपुर में आपको 'युग प्रधान' की पदवी से विभूषित किया गया। आपकी प्रेरणा से शाह पद्मसिंह की भार्या कमला देवी ने जामगढ़ में ७२ जिनालयों का निर्माण कराया। सं० १६७८ में आपने वहाँ ५०१ बिम्बों की प्रतिष्ठा की।

सं० १६५४ में कच्छ में आपकी प्रेरणा से ७५ पुरुषों तथा १२७ महिलाओं ने दीक्षा ली। आपने कच्छ व जामनगर के राजाओं को प्रतिबोध दिया। सं० १७१७ में भुज में आपका देहावसान हुआ। वर्धमान शाह के पुत्र जगडूशाह ने इस अवसर पर पाँच हजार मुद्रिकाओं की उछाल की।

अठारहवीं सदी के अंचल गच्छीय आचार्यों में श्री विद्या सागर सूरि (सं० १७४७) कच्छ प्रदेश के नागड़ा गोत्रीय दसा ओसवाल थे। श्री उदय सागर सूरि (सं० १७६३) एवं कीर्ति सागर सूरि (सं० १७९६) भी ओसवंशीय श्रेष्ठि-पुत्र थे। उन्नीसवीं सदी के आचार्यों में श्री मुक्तिसागर सूरि (सं० १८५७) एवं रत्न सागर सूरि (सं० १८९२) ओसवंशीय थे। बीसवीं सदी के अंचल गच्छीय आचार्य विवेक सागर सूरि (सं० १९११), जिनेन्द्र सागर सूरि (सं० १९२९) एवं दान सागर सूरि (सं० १९४४) वीसा ओसवाल वंशीय श्रेष्ठि पुत्र थे। इन सभी आचार्यों से ओसवंश की श्रीवृद्धि हुई।

आचार्य गुण सागर सूरीश्वर

विक्रम की इक्कीसवीं सदी के प्रमुख अंचल गच्छीय आचार्य गुण सागर सूरीश्वर का जन्म सं० १९६९ में कच्छ प्रदेश के ढेढ़िया गाँव में बीसा ओसवाल श्रेष्ठि लालजी देवशी के घर हुआ। आप बचपन में शीतला से आक्रांत हो गये। रोग मुक्त होने पर आपने सम्मेद शिखर की तीर्थ यात्रा की। १८ वर्ष की अवस्था में बरसी तप किया। सं० १९९३ में आपकी दीक्षा हुई। सं० २०१२ में बम्बई नगर में आप सूरि पदारूढ़ हुए। आपकी प्रेरणा से संघ में अनेक नवीन प्रवृत्तियाँ चालू हुईं। सं० २०२४ में भद्रेश्वर में अंचल गच्छ के चतुर्विध संघ का प्रथम अखिल भारतीय अधिवेशन हुआ। सं० २०२९ में समस्त अंचल गच्छीय संघों की तरफ से आपको 'तीर्थ प्रभावक' विरुद से विभूषित किया गया। आप अंचल गच्छाधिपति बने। सं० २०३० में आपकी प्रेरणा से नागलपुर में श्राविका-विद्यापीठ की स्थापना हुई। आपकी अध्यक्षता में समाज में अनेक तीर्थों के लिए संघ समायोजन हुए।

खरतर गच्छीय आचार्य :

आचार्य जिनेश्वर सूरि : (वि० सं० १०६१–११११)

विक्रम की पाँचवी शताब्दी में जैनों में चैत्यवासी परम्परा परिलक्षित थी। साधु जन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, ज्योतिष, औषधि, उपचार आदि का सहारा लेने लगे थे। आचार शिथिल हो गये। चैत्यों के आचार्य राजाओं के उत्थान पतन में दिलचस्पी लेने लगे। चैत्य शिथिलाचार के केन्द्र बन गये। वे धन संग्रह करते, मिष्ठान्न, घृत, ताम्बूल सेवन करते, नृत्य संगीत का आनन्द लेते, धार्मिक विषय श्रावक गम्य नहीं–कह कर टाल देते, स्त्रियों की संगति करते एवं मन्दिर में वेश्याओं का नाच करवाते थे। यह सब असह्य समझकर आचार्य हरिभद्र सूरि ने शिथिलाचार के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ा। परन्तु आन्दोलन को गतिशीलता जिनेश्वर सूरि ने दी। उस समय पंचाक्षरा पार्श्वनाथ चैत्य (यति रामलाल जी के अनुसार–उपकेश गच्छीय) के मुख्य अधिष्ठाता थे सुराचार्य। पाटन (गुजरात) के राजा दुर्लभराज की सभा में वि० सं० १०७४ में (यति श्री रामलाल जी के अनुसार सं० १०८० में) जिनेश्वर सूरि ने सुराचार्य को शास्त्रार्थ करके हराया। राजा ने 'तमे खराछो' कहकर जिनेश्वर सूरि का सम्मान किया। इन्होंने अपने संघ का नाम रखा–'सुविहित पक्ष' इसी से खरतर गच्छ का प्रादुर्भाव हुआ और चैत्यवासी परम्परा समाप्त प्रायः हो गयी।

आचार्य जिनेश्वर सूरि सुविहित मार्गीय आचार्य वर्धमान सूरि के शिष्य थे। इनका समय वि० सं० १०६१ से ११११ माना जाता है। आपने लीलावती कथा कोष, वीर चरित्र, पंच लिंगी प्रकरण आदि ग्रंथों की रचना की। आचार्य हरिभद्र के अष्टकों पर निर्मित आपकी टीका जैन जगत की अमूल्य निधि मानी जाती है।

ओसवाल समाज से आपका अगाध सम्पर्क रहा। आपने ब्राह्मण परिवार में जन्म लिया था किन्तु जैन धर्म की प्रभावना हेतु अनेक ब्राह्मण व क्षत्रिय परिवारों को प्रतिबोधित कर जैन बनाया एवं ओसवाल वंश में सम्मिलित किया। ओस वंश के श्रीपति गोत्र की स्थापना आपके गार्हस्थीय नाम श्रीपति के नाम पर हुई, जिनसे कालान्तर में ढ़ढ़ा, तिलैरा आदि गोत्र बने। भणसाली एवं चील मेहता गोत्रों की स्थापना का श्रेय भी आपको ही है।

आचार्य जिनचन्द्र सूरि

आचार्य जिनेश्वर सूरि द्वारा सूरि पद से विभूषित आचार्य जिनचन्द्र सूरि शास्त्रों में पारंगत थे। आपने वि० सं० ११२५ में अठारह हजार प्रमाण वाले 'संवेग रंगशाला' ग्रंथ की रचना की। श्री जिनचन्द्र सूरि श्रीमाल जातीय शैव धर्मियों को उपदेश देकर जैन धर्म अंगीकार करवाने के लिये प्रसिद्ध हैं। श्रीमाल जाति की उत्पत्ति जैनाचार्यों से हुई, किन्तु कालान्तर में वे शंकराचार्य के प्रभाव से शैव हो गये। उनका महतियाण गोत्र था। श्रेष्ठि धनपाल श्रीमाल के साथ श्रीमालों के १३५ गोत्रों ने जैन धर्म पुनः अंगीकार किया। दिल्ली, आगरा, लखनऊ, भिवानी, जयपुर, झुन्झूनू आदि स्थानों में बसे श्रीमाल परिवार श्रावक बने।

आचार्य अभयदेव सूरि (वि० सं० १०७१–११३५)

इतिहास प्रसिद्ध धारा नगरी में महीधर श्रेष्ठि के घर वि० सं० १०७२ में जन्म लेने वाले अभयदेव सूरि बाल-वय में आचार्य जिनेश्वर सूरि से दीक्षा ले आगम सिद्धान्तों के गम्भीर ज्ञाता बने। सोलह वर्ष की अल्प वय में आपको आचार्य पद प्राप्त हुआ। शासन देवी की प्रेरणा से आपने निरन्तर आयंबिल तप के साथ आगमों पर टीकाएँ लिखनी प्रारम्भ की। एक निष्ठ सतत साधना एवं तपोबल से वे ९ अंगों की टीकाएँ लिखने में सफल हुए। उनके तप-चमत्कार की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। कहते हैं, उन्हें कुष्ठ रोग हो गया था, जो खम्भात में पार्श्वनाथ प्रतिमा के प्रकट होने से समाप्त हो गया। आपके चमत्कार से पाल्हउदा ग्राम के श्रावक समाज के खोये मालवाही हुए जहाज अकस्मात् मिल जाने की खुशी में समाज द्वारा प्रदत्त धनराशि से समस्त टीकाओं की प्रतिलिपियाँ करवाकर तत्कालीन प्रमुख आचार्यों में वितरित की गई। इन नवांगी टीकाओं का रचनाकाल वि० सं० ११२० से ११२४ है। आपकी मृत्यु वि० सं० ११३५ में हुई।

इन्होंने ओसवालों के खेतसी, पगारिया, मेड़तवाल आदि गोत्रों की स्थापना की।

आचार्य जिन वल्लभ सूरि (११६७)

धर्म साहित्य के सर्जक एवं गणी रूप में धर्म की प्रभावना करने वाले आचार्य जिनवल्लभ सूरि मृत्यु से ४ मास पूर्व ही वि० सं० ११६७ में आचार्य नियुक्त हुए। आपके

दीक्षागुरु जिनेश्वर सूरि शिथिलाचार के शिकार हो रहे थे। वे धन का उपयोग करते, नृत्य—गीत का आनन्द लेते थे। चैत्यवासी परम्परा की इस अवनति को देखकर आपने विद्रोह किया। आपने अभयदेव सूरि के पास पुनः दीक्षा ली। ज्योतिष शास्त्र पर आपका अच्छा अधिकार था। आपने विधि चैत्यों की स्थापना की। आपने मेवाड़, बागड़ आदि प्रदेशों में विहार कर लाखों जैन बनाये। धारा नगरी के राजा नर वर्मा की सभा में आपने बहुत ख्याति अर्जित की। नागौर में आपने नेमि जिनालय की प्रतिष्ठा की। आपने विक्रम संवत् ११५६ में ओसवालों के चोपड़ा, गणधर चोपड़ा, कूकड़ चोपड़ा, बडेर, कुकड़, सांड आदि गोत्रों की एवं वि० सं० ११६७ में बांठिया, ललवाणी, ब्रह्मेचा, हरकावत, मल्लावत, शाह, कांकरिया, सिंघी आदि गोत्रों की स्थापना की।

आचार्य जिनदत्त सूरि (वि० सं० ११३२–१२११)

खरतर के गच्छ आचार्यों का ओसवाल जाति के अनेक गोत्रों की स्थापना में प्रमुख हाथ था। विक्रम की ११वीं से १६वीं शताब्दी के बीच खरतर गच्छ के अनेक प्रभावी आचार्य हुए, जिन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, माहेश्वरी, कायस्थ आदि कौमों के हजारों लोगों को प्रतिबोध देकर जैन बनाया एवं ओसवाल वंश में शामिल किया। जिनेश्वर सूरि की परम्परा के चार प्रमुख आचार्य 'दादाजी' के नाम से विख्यात हैं : जिनदत्त सूरि (वि० सं० ११३२–१२११), जिनचन्द्र सूरि (वि० सं० ११९७–१२२३) जिन कुशल सूरि (वि० सं० १३३७–१३८९) एवं अकबर प्रतिबोधक जिनचन्द्र सूरि (वि० सं० १५९५–१६७०)। इनमें से पहले आचार्य जिनदत्त सूरि को छोड़कर बाकी तीनों आचार्यों का जन्म ओसवाल परिवारों में हुआ।

आचार्य जिनदत्त का जन्म वि० सं० ११३२ में धन्धुक (धोलका) नगर के हुँबड़ जातीय (कुछ इतिहासकार इसे ओसवालों का ही एक गोत्र मानते हैं) श्रेष्ठि वाछिग के घर हुआ। वि० सं० ११४१ में ९ वर्ष की अल्पवय में आप दीक्षित हुए। वि० सं० ११६९ में आपको आचार्य पद प्राप्त हुआ। आप चमत्कारी आचार्य कहे जाते हैं। समाज में आप प्रथम दादा गुरु के नाम से विख्यात हुए। चैत्यवासी परम्परा को समाप्त करने में आपका प्रमुख योग था। उस समय चैत्यों में शिथिलाचार व्याप्त था। धनाधिक्य के कारण वे विलासी बन गये थे। मन्दिरों में वेश्याओं के नृत्य होते थे। आपने इस अनाचार का विरोध किया। फलस्वरूप मन्दिरों में रात्रि में स्त्री प्रवेश का निषेध करना पड़ा। बागड़, रुद्रपल्ली, नागौर आदि प्रदेशों के चैत्यवासियों को आपने उपसम्पदा दी।

सूरि जी ने त्रिभुवनगिरि में महाराजा कुमारपाल को प्रतिबोध दिया। यहाँ से सूरिजी उज्जैन पधारे। यहाँ ६४ योगिनियों को प्रतिबोध दिया। आपने अनेक स्तोत्र रचे। प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश में रचे ये स्तोत्र बड़े मंत्र गर्भित एवं प्रभावक हैं। आप संघ द्वारा 'युग प्रधान' पद से विभूषित किये गये।

आपने कुल एक लाख छत्तीस हजार जैन बनाकर एक कीर्तिमान स्थापित किया। खरतर गच्छीय इतिहास लेखकों के अनुसार आपने वि० सं० ११६९ से १२२० के बीच ओसवालों के अनेक गोत्रों की स्थापना की। उनमें मुख्य हैं—घाड़ेवा, पाटवा, टांटिया, कोठारी, (११६९) बोरड़, खीमसरा, समदड़िया (११७५), कठौतिया (११७६), रत्नपुरा, कटारिया, ललवाणी (११८१), डागा, मालू भीभ (११८१) सेठी, सेठिया, रांका, बांका (११८५), रांगेचा, पूगलिया (११८७), चोरडिया, सावण सखा, गोरमेछा, लूनिया (११९२), सोनी पीतलिया, बोहित्थरा (११९७), लूनावत, बापना (११९८), भंडसाली, चंडालिया (११९६), खटोल (१२०१) गडवाणी, मेड़गतिया, पोकरणा (१२०२) आदि। भारत के अनेक नगरों में स्थापित दादा वाड़ियों में आपके चरण प्रतिष्ठित हैं।

आपने अजमेर में सं० १२०३ में मात्र ६ वर्ष की वय के जिनचन्द्र को दीक्षा दी एवं ज्ञान बल से शासन की उन्नति जानकर सं० १२०५ में उन्हें अपने पाट पर बिठाया। आठ वर्ष के बालक को अपना उत्तराधिकार सौंप कर आपने दूरदर्शिता का परिचय दिया। वि० सं० १२११ में आपका स्वर्गवास हुआ।

आचार्य मणिधारी जिनचन्द्र सूरि (११९७–१२२३)

खरतर गच्छ के सर्वाधिक प्रभावी दादा आचार्यों में आपकी गणना है। आपका जन्म वि, सं० ११९७ में हुआ। नितान्त अल्पवय ६ वर्ष में दीक्षा लेकर ८ वर्ष की अवस्था में (वि० सं, १२०५) आचार्य पद पर नियुक्त होने वाले जिनचन्द्र विक्रमपुर के ओस वंशीय रासल श्रेष्ठि एवं माता देल्हणदे के पुत्र थे। जिनपाल उपाध्याय रचित युगप्रधानाचार्य गुर्वावली के अनुसार आचार्य जिनदत्त सूरि के वृद्ध होने पर एक वार श्रावक श्रेष्ठि रामदेव ने प्रश्न किया—'पट्ट योग्य शिष्य कौन है?' आचार्य ने फरमाया—'अमुक दिन देवलोक से च्यव कर विक्रमपुर के साह रासल की लघु पत्नि की कुक्षि से अवतीर्ण होगा।' श्रेष्ठि रामदेव ने विक्रमपुर जाकर यह सम्वाद रासल को सुनाया एवं हार पहना कर उत्सव मनाया। पुत्रोत्पन्न होने पर रासल ने ६ वर्ष की वय में ही बालक को गुरुदेव को समर्पित कर दिया। गुरुदेव ने सं० १२११ में स्वर्गस्थ होने से पूर्व आपका युवा वय में मृत्यु योग देख कर योगिनीपुर (दिल्ली) जाने से मना किया। जिनदत्त सूरि के स्वर्गस्थ होने पर वे गच्छ नायक बने।

संवत् १२१४ में जिनचन्द्र सूरि त्रिभुवन गिरि पधारे। संवत् १२२२ में रुद्रपल्ली में चैत्यवासी आचार्य पद्मचन्द्र से शास्त्रार्थ किया। 'अंधकार द्रव्य है' प्रश्न पर हुए इस विवाद में सूरिजी की विजय हुई। श्रावकों ने उन्हें 'जयति हट्ट' विरुद से विभूषित किया। यहाँ से विहार कर चले तो चोरसिदान ग्राम निकट म्लेच्छों के आने की खबर लगी। सूरिजी ने संघ को एक जगह इकट्ठा कर रेखा खींच दी। कहते हैं, म्लेच्छ उन्हें देख भी न सके।

उनके मस्तक के बीच मणि का आकार होने से उन्हें मणिधारी कहा जाता था। वे अगाध ज्ञान एवं तीक्ष्ण प्रतिभा के धनी थे। दिल्ली के महाराज मदनपाल उनसे बहुत प्रभावित थे। कुछ इतिहासकार उन्हें श्रीमाल जातीय श्रावक लिखते हैं। ठक्कर फेरु के द्रव्य परीक्षा ग्रंथ में मदनपाल के सिक्कों का उल्लेख है। गुरु की निषेधाज्ञा के बावजूद महाराज मदनपाल के विशेष अनुरोध पर जिनचन्द्र सूरि दिल्ली पधारे। वहाँ सूरिजी द्वारा श्रेष्ठि कुलचन्द्र, जो दरिद्र था, को मंत्राक्षर युक्त यंत्रपट्ट देने का उल्लेख गुर्वावली में है। कहते हैं यंत्रपट्ट की पूजा कर वासक्षेप डालने से कुलचन्द्र को स्वर्ण की प्राप्ति हुई और वह अल्पकाल में ही करोड़पति हो गया।

वि० सं० १२२३ में अल्प आयु में ही ये स्वर्गस्थ हो गये। दिल्ली के निकट महरौली की दादा बाड़ी में उनका चामत्कारिक स्तूप है। मणिधारी जिनचन्द्र सूरि इतने प्रतिभा शाली आचार्य थे कि खरतर गच्छ में प्रति चौथे पट्टधर का नाम यही रखने की परिपाटी प्रचलित होने का उल्लेख पट्टावलियों में है।

उन्होंने अनेक जैनेतर लोगों को प्रतिबोध देकर धर्म अंगीकार करवाया एवं ओसवाल वंश में सम्मिलित किया। वि० सं० १२१४ से १२१७ के बीच आछारिया, छाजेड़, खजांची, भगड़ी, श्री श्रीमाल, सालेचा, दूगड़, सूगड़, कोठारी, आलावत, पालावत आदि गोत्रों की स्थापना उन्हीं की प्रेरणा से हुई है।

आचार्य जिनपति सूरि (वि० सं० १२१०-१२७७)

आचार्य जिनचन्द्र सूरि के पट्टधर थे। उनका जन्म संवत् १२१० में माल गोत्रीय ओसवाल परिवार में हुआ था। सात वर्ष की अल्प वय में दीक्षित होकर १३ वर्ष की वय में पट्टासीन हुए। सं० १२२८ में आशिका नगरी में पंडितराज दिगम्बराचार्य से शास्त्रार्थ में विजय पायी एवं राजकीय सम्मान प्राप्त किया। 'युगप्रधानाचार्य गुर्वावली' के अनुसार सं० १२३९ में अजमेर में उपकेश गच्छाचार्य पद्मप्रभ को राज्य सभा में शास्त्रार्थ कर हराया। इसी तरह पूर्णिमा गच्छ के श्री अकलंकदेव सूरि एवं तिलकप्रभ सूरि से भी आपका शास्त्रार्थ हुआ। सं० १२७७ में आपका संग्रहणी रोग के कारण शरीरांत हुआ।

आचार्य जिनप्रभसूरि

लाडनूं मोहिल वाटी क्षेत्र में श्रीमाल ताम्बी गोत्रीय ओसवाल परिवार में आपका जन्म हुआ। खरतर गच्छ पट्टावली में नगर का नाम 'झुंझनू' बताया गया है। आपके गुरु जिन सिद्ध सूरि थे। उनसे खरतर गच्छ की लघु शाखा का विकास हुआ। 'विविध तीर्थ कल्प' आचार्य जिनप्रभ सूरि की ऐतिहासिक वृत्ति है, जिसमें ३८ तीर्थ स्थानों का विशद वर्णन है। इसमें विभिन्न प्रदेशों में उनकी यात्राओं, जनश्रुति के आधार पर उन प्रदेशों से सम्बन्धित विशेष घटनाओं का विवरण है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से वि० सं०

१३८९ में रचित यह बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। आचार्य जिनप्रभ अपने स्तोत्र साहित्य के लिए भी प्रसिद्ध हैं।

आचार्य जिनप्रभ की सर्वाधिक ख्याति उनके मुस्लिम शासकों पर प्रभाव के कारण हुई। वि० सं० १३८५ में उन्होंने मुगल बादशाह मुहम्मद तुगलक को प्रतिबोध दिया। वे पहले जैन आचार्य थे, जिन्होंने मुगलिया सल्तनत को प्रभावित कर जैन तीर्थों की रक्षार्थ फरमान जारी करवाये। उन्हें सुल्तान ने 'सुरतान सराई' भेंट की।

आचार्य जिन कुशल सूरि (वि० सं० १३३७-१३८९)

ये खरतर गच्छ के तीसरे आचार्य थे, जो दादा विशेषण से प्रसिद्ध हुए। आपका वि० सं० १३३७ में छाजेहड़ गोत्रीय शिवाना (समियाणा) के ओसवाल परिवार में जन्म हुआ। आपके पिता राजमन्त्री जैसल (जिल्हा) थे। दस वर्ष की लघुवय में दीक्षित हो आप वि० सं० १३७७ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। राजस्थान और सिन्ध आपके धर्म प्रचार के प्रमुख क्षेत्र थे। ये बड़े चमत्कारिक आचार्य थे। भक्तगण उन्हें कल्पवृक्ष के समान फलदायक मानते थे। 'चैत्यवंदन कुलक वृत्ति' आपकी प्रमुख रचना है।

आपके शासन काल में धर्म की महती प्रभावता हुई। आपकी प्रेरणा से पोरवाल श्रेष्ठि साह तेजपाल ने पाटण में नन्दि महोत्सव करवाया एवं योगिनीपुर (दिल्ली), उच्च नगर देवगिरि, चित्तौड़, खम्भात के संघ निकाले। आपने भीमपाली, जैसलमेर, जालीर आदि नगरों में पार्श्वनाथ मन्दिरों की प्रतिष्ठा करवायी। दिल्ली के श्रीमाल श्रेष्ठि रयपति ने सं० १३८० में एवं भीमपट्टी के ओसवाल श्रेष्ठि धीरदेव ने १३८१ में आपकी प्रेरणा से सम्राट् गयासुद्दीन तुगलक से फरमान प्राप्त कर शत्रुञ्जय के संघ निकाले। आपने जैनेतर लोगों को जैन धर्म अंगीकार करवाकर ओसवालों के विभिन्न २१ गोत्र निर्धारित किये, जिनमें बावेल, संघवी, जड़िया, डागा आदि प्रमुख हैं। सं० १३८५ में आपने सिंध देश एवं उच्च नगर की यात्राएँ कर धर्म प्रचार किया।

आपको 'युग प्रधान' की उपाधि से विभूषित किया गया। वि० सं० १३८९ में आप स्वर्गस्थ हुए।

आचार्य जिनलब्ध सूरि (वि० सं० १३७८–१४०६)

आपका जन्म वि० सं० १३७८ में मालू गोत्रीय ओसवाल परिवार में हुआ। संवत् १३८८ में पाटण में आपने दीक्षा ग्रहण की। आचार्य जिनपद्मसूरि के स्वर्गवासोपरान्त संवत् १४०० में आपका पट्टाभिषेक हुआ। पाटण के नवलखा गोत्रीय साह अमरसी ने नन्दि महोत्सव सम्पन्न कराया। आप सिद्धान्तज्ञों के शिरोमणि एवं अष्ट विधान पूरक माने जाते हैं। संवत् १४०६ में नागपुर में आपका स्वर्गवास हुआ।

आचार्य जिनचन्द्र सूरि (वि० सं० १३८५–१४१४)

आपका जन्म वि० संवत् १३८५ में मरु प्रदेश के कुसुमाण गाँव में छाजहड़ गोत्रीय मंत्रि श्रेष्ठि केल्हा के ओसवाल परिवार में हुआ। माता सरस्वती ने आपका नाम पाताल कुमार रखा। संवत् १३९० में दिल्ली के संघपति रयपति ने शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रार्थ संघ निकाला! कुसुमाण आने पर श्रेष्ठि केल्हा का परिवार भी संघ में सम्मिलित हो गया। शत्रुञ्जय में गच्छनायक श्री जिनकुशल सूरि के उपदेश से वालक को वैराग्य उत्पन्न हुआ। पाँच वर्ष के अल्पवय बालक को माता ने प्रव्रज्या की अनुमति न दी। परन्तु चतुर्विध संघ के अनुनय पर माता राजी हुईं। आचार्य ने आपका दीक्षा नाम यशोभद्र रखा। संवत् १४०६ में जैसलमेर में आप आचार्य पदारूढ़ हुए। नागपुर निवासी राखेचा गोत्रीय साह हाथी ने नन्दिमहोत्सव सम्पन्न कराया। संवत् १४१४ में स्तम्भ तीर्थ में आप स्वर्गस्थ हुए।

आचार्य जिनोदय सूरि (वि० सं० १३७५–१४३२)

आपका जन्म वि० सं० १३७५ में पाल्हणपुर निवासी माल्हू गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि रुद्रपाल के घर हुआ। सं० १३८९ में आचार्य जिनकुशल सूरि द्वारा दीक्षित हो सं० १४१५ में स्तम्भतीर्थ में पट्टासीन हुए। आपने मेवाड़ के चौरासी गाँवों में अमारि की घोषणा कराने वाले बोथरा गोत्रीय मन्त्रीश्वर अरिसिंह के पौत्र धीणाक को दीक्षित किया। शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा कर आपने वहाँ ६८ मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। सं० १४३२ में पाटण में आपका स्वर्गवास हुआ।

आचार्य जिनभद्र सूरि (वि० सं० १४४९–१५१४)

आप खरतर गच्छ के प्रभावी आचार्यों में से थे। वि० सं० १४४९ में देउलपुर (मेवाड़) के छाजेहड़ गोत्रीय ओसवाल परिवार में सेठ धीणिग भार्या खेतलदे के घर जन्म लिया था। कुछ इतिहासकारों ने आपको भणशाली गोत्रीय लिखा है। सं० १४६१ में आप दीक्षित हुए। सं० १४७५ में आप आचार्य पदासीन हुए। आपही के प्रयत्नों से जैसलमेर, जाबालिपुर (जालौर) पाटण देवगिरि, माण्डवगढ़, आशापल्ली, खम्भात, कर्णावती आदि स्थानों पर पुस्तक भण्डारों की स्थापना हुई। आपने गिरनार, चित्तौड़, मण्डोर आदि स्थानों पर बड़े-बड़े जिन मन्दिर बनवाये। वि० सं० १४९४ में साह शिवा आदि चार भाईयों ने आपकी प्रेरणा से जैसलमेर में एक भव्य मन्दिर का निर्माण किया, जिसमें ३०० विम्बों की प्रतिष्ठा की गयी। आपने 'जिन सत्तरी प्रकरण' एवं 'अपवर्गमाला' नामक ग्रंथों की रचना की।

इन्होंने वि० सं० १४७८ में ओसवालों के भण्डारी गोत्र की स्थापना की। सं० १५१४ में कुम्भलमेर में आपका स्वर्गवास हुआ।

आचार्य जिनचन्द्र सूरि (वि० १४८७–१५३०)

आपका जन्म सं० १४८७ में जैसलमेर निवासी चम्म गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि साह बच्छराज के घर हुआ। आप ५ वर्ष की अल्प वय में दीक्षित हुए। सं० १५१५ में कुम्भलमेर में आप आचार्य पदासीन हुए। कूकड़ चोपड़ा गोत्रीय साह समरसिंह ने आपका नन्दी महोत्सव सम्पन्न किया। सं० १५३० में जैसलमेर में आपका स्वर्गवास हुआ।

आचार्य जिन समुद्र सूरि (वि० १५०६–१५५५)

बाड़मेर निवासी पारख गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि देको साह के घर सं० १५०६ में आपका जन्म हुआ। सं० १५२१ में दीक्षित हुए। सं० १५३३ में आचार्य पदासीन हुए। श्रीमाल वंशीय संघपति सोनपाल ने आपका नन्दी महोत्सव कराया। सं० १५५५ में अहमदाबाद में आपका स्वर्गवास हुआ।

आचार्य जिनहंस सूरि (वि० १५२४–१५८२)

सेत्रावा निवासी चोपड़ा गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि साह मेघराज के घर सं० १५२४ में आपका जन्म हुआ। आपकी माँ कमला देवी आचार्य जिनसमुद्रसूरि की बहिन थी। सं० १५३५ में आप दीक्षित हुए। सं० १५५५ में अहमदाबाद में आचार्य पदासीन हुए। वोहित्थरा गोत्रीय मन्त्रीश्वर करमसी ने बीकानेर में आपका पद महोत्सव कराया। 'युग प्रधानाचार्य गुर्वावली' के अनुसार जब आप आगरा पधारे तो बादशाह ने आपको धवलपुर में रक्षित कर चमत्कार दिखाने को कहा। तब आपने अपनी दैविक शक्ति से बादशाह का मनोरंजन कर ५०० कैदियों को छुड़वाया। सं० १५८२ में पाटण में आप स्वर्गस्थ हुए।

आचार्य जिन माणिक्य सूरि (वि० सं० १५४९–१६१२)

आपका जन्म सं० १५४९ में कूकड़ चोपड़ा गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि साह राउल देव के घर हुआ। ग्यारह वर्ष की आयु में आप दीक्षित हुए। सं० १५८२ में पाटण में आप आचार्य पदासीन हुए। सं० १६१२ में आपका स्वर्गवास हुआ।

युग प्रधान आचार्य जिनचन्द्रसूरि (वि० १५९५-१६७०)

आचार्य जिनचन्द्र चतुर्थ दादा संज्ञक खरतर गच्छीय आचार्य थे। उनका जन्म वि० सं० १५९५ में बडली गाँव के ओसवाल वंश में बीसा रीहड़ गोत्रीय श्रीवंत श्रेष्ठि के घर हुआ। आपने मुसलमान शासकों में सर्वाधिक ख्याति अर्जित की। ९ वर्ष की अल्पवय में दीक्षित होकर आप वि० सं० १५१२ में आचार्य पद पर आरूढ़ हुए। बीकानेर के यतियों में फैले शिथिलाचार के विरुद्ध इन्होंने बड़े क्रान्तिकारी कदम उठाये। उन्हें संघ से बहिष्कृत कर दिया। उन्हीं संयम से असमर्थ, यतियों का मत्थेरण सम्प्रदाय बना।

संवत् १६१४ में आपने क्रियोद्धार किया। सं० १६१७ में जब तप गच्छ के कलह प्रिय धर्मसागर उपाध्याय ने 'अभयदेव सूरि (जो सर्व गच्छ प्रिय थे) खरतर गच्छ में नहीं हुए'—कह कर विवाद सृष्टि की तो आचार्य जिनचन्द्र के उद्योग से ८४ गच्छों के प्रतिनिधियों की उपस्थिति में मत पत्र लिखवाकर धर्मसागरजी को जैन संघ से वहिष्कृत किया गया।

वीकानेर राज्य के मंत्रीवर कर्मचन्द जी वच्छावत के आग्रह पर आचार्य जी खम्भात से नागोर, राजलदेसर सरसा होते हुए लाहोर पधारे—वहाँ वि० सं० १६४८ में वादशाह अकवर को सदुपदेश दिया। आपकी उपस्थिति में हुई चमत्कार पूर्ण घटनाओं से प्रभावित होकर वादशाह ने जैन तीर्थों की रक्षार्थ कई फरमान प्राप्त किये। वादशाह उन्हें 'वृहद गुरु' कह कर सम्वोधित करते थे। शाहजादा सलीम की पुत्री मूल नक्षत्र में उत्पन्न होने से ज्योतिषयों ने उसे अनिष्टकारी वताया था—वादशाह वहुत चिंतित थे। आचार्य जी के उपदेश से उनका मन शांत हुआ।



ओशवंशीय रोहड़ गोत्रीय श्रीवंत श्रेष्ठि के घर जन्मे खरतर गच्छीय युग प्रधान दादा आचार्य श्री जिनचन्द्र सूरि जिनके योगवल से घटित चमत्कार देखकर वादशाह अकवर आश्चर्यान्वित हुए विना न रह सके। आपका उपदेश सुनकर वादशाह दुश्चिन्ताओं से मुक्त हुए।

आपके कहने से सम्राट् अकबर ने द्वारका, शत्रुञ्जय, पालीताना, गिरनार तीर्थ के समस्त जैन मन्दिरों की व्यवस्था मंत्रीश्वर कर्मचन्द बछावत के सुपुर्द कर दी एवं तत्सम्बंधी फरमान जारी किया। जैन तीर्थों पर होने वाले अत्याचार बन्द कर दिये गये।

आपके सद्प्रयत्नों से सम्राट् ने राज्य में निर्धारित दिनों पर जीव हिंसा न करने के फर्मान जारी किये। सिंधिया बहादुर के यहाँ सुरक्षित एक फरमान में साफ लिखा मिला है कि "यदि कोई आदमी शाही फरमान का उल्लंघन करेगा और वर्जित काम को नहीं छोड़ेगा तो वह समझ ले कि उसको सुलतानी गजब में, जो ईश्वरीय कोप का एक नमूना है, फंसना पड़ेगा और वह दंडनीय होगा।"

सम्राट् अकबर ने सं० १५४९ में इन्हें 'युग-प्रधान' घोषित किया। इनके चमत्कारों की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। अकबर के दरबार में मौलवी जी की टोपी को रजोहरण से पीटते हुए आकाश से नीचे लाना—एवं अमावस्या के दिन आकाश में चाँद के दर्शन कराना आदि चमत्कारों सम्बन्धी जनश्रुतियाँ उनके नाम से जुड़ी हैं।



आचार्य जिनचन्द्र सूरि के चमत्कारों की अनेक घटनाएँ कही जाती हैं।
एक वार एक मौलवी ने मंत्रवल से अपनी टोपी आकाश में उड़ा
दी। कहते हैं आचार्य श्री के रजोहरण की मार
से टोपी पुनः यथा स्थान आ गयी।



आचार्य श्री ने अपने एक शिष्य की भूल सुधारने के लिए स्वर्णथाल आसमान में उड़ा कर अमावस्या को पूर्णिमा में परिवर्तित कर दिया।

सम्राट् जहाँगीर ने वि० सं० १५९४ में एक फरमान जारी कर समस्त साधुओं को देश से बाहर निकालने की ठानी तो आचार्य जिनचन्द्र सूरि पाटन से विहार कर आगरा पधारे एवं आपके समझाने से सम्राट् जहाँगीर ने वह फरमान रद्द कर दिया।

आपने जैन धर्म की प्रभावना एवं ओसवाल वंश की श्री वृद्धि में बहुत योग दिया। आपने जैनेतर लोगों को जैन धर्म अंगीकार करवा कर वि० सं० १६२७ में ओसवालों के पींचा गोत्र की स्थापना की। आप वि० सं० १६७० में दिवंगत हुए।

आचार्य जिनसिंह सूरि (वि० सं० १६१५-१६७४)

आपका जन्म खेतासर ग्राम (सूरचन्द्र कृत रास के अनुसार—बीठावास) में सं० १६१५ चोपड़ा गोत्रीय शाह चांपसी के घर हुआ। आठ वर्ष की अल्पायु में आप दीक्षित हुए। आचार्य जिनचन्द्र बादशाह के आमंत्रण पर जब लाहौर पधारे तो आपको इससे पूर्व ही लाहौर भेज दिया था। शाहजादा की पुत्री के मूल नक्षत्र में उत्पन्न होने पर शांति स्नात्र पूजा भी आपने ही सम्पन्न करवायी थी। आपकी उत्कृष्ट साधुता से प्रभावित होकर बादशाह ने काबुल और कश्मीर में अमारि की घोषणा करवाई। बादशाह के अनुरोध पर सं० १६४९ में आपको आचार्य पदासीन किया गया। बादशाह जहाँगीर ने आपको 'युग प्रधान' पद प्रदान किया। मेड़ता निवासी चोपड़ा गोत्रीय शाह आसकरण

ने आपकी अध्यक्षता में शत्रुञ्जय तीर्थं का संघ निकाला। सं० १६७४ बादशाह के आमंत्रण पर आगरा आते हुए राह में ही (मेड़ता) आपका स्वर्गवास हो गया।

आचार्य जिनराज सूरि (वि० सं० १६४७-१६९९)

आपका जन्म बीकानेर के बौहिथरा गोत्रीय श्रेष्ठि धर्मसी के घर सं० १६४७ में हुआ। नौ वर्ष की अल्प वय में आप दीक्षित हुए। जैसलमेर में आपने तपागच्छीय सोमविजय जी से शास्त्रार्थ किया। सं० १६७४ में आप आचार्य पदासीन हुए। सं० १६७५ में आपकी निश्रा में ही थाहरू शाह ने शत्रुञ्जय तीर्थ का संघ निकाला। आपने तीर्थ पर ७०० मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। आपने आठ बार शत्रुञ्जय की यात्रा की। आप न्याय, सिद्धांत और साहित्य के उद्भट विद्वान थे। आपने अनेक ग्रन्थ रचे। सं० १६९९ में पाटण में आपका स्वर्गवास हुआ।

आचार्य जिनरत्न सूरि (वि० सं० १६७०-१७११)

आप सैरूणा गाँव के लूणिया गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि साह तिलोकसी के पुत्र थे। आपका जन्म सं० १६७० में हुआ। सं० १६८४ में जोधपुर में आप दीक्षित हुए। सं० १७०० में आप पट्टधर घोषित हुए। आप शुद्ध क्रिया चरित्र के अभ्यासी थे। सं० १७११ में आगरा में स्वर्ग सिधारे।

आचार्य जिनचन्द्र सूरि (वि० सं० १७६३)

आप बीकानेर निवासी गणधर चोपड़ा गोत्रीय साह सहसकिरण के पुत्र थे। बारह वर्ष की अवस्था में आप दीक्षित हुए। सं० १७११ में आप सूरि पदारूढ़ हुए। गच्छ में क्रिया शैथिल्य देख कर सं० १७१८ में बीकानेर मे आपने व्यवस्था पत्र लिख कर शैथिल्य दूर किया। आपने शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा की। सं० १७६३ में आप सूरत में देवलोक वासी हुए।

आचार्य जिन सुख सूरि (वि० स० १७३९-१७८०)

आपका जन्म फोगपत्तन निवासी साहलेचा बोहरा गोत्रीय साह रूपसी के घर सं० १७३९ में हुआ। सं० १७५१ में आप दीक्षित हुए। सं० १७६३ में आप आचार्य पदासीन हुए। आपने शत्रुञ्जय आदि तीर्थों की यात्रा की। सं० १७८० में आप स्वर्ग सिधारे।

आचार्य जिनभक्ति सूरि (वि० सं० १७७०-१८०४)

आपका जन्म इन्द्रपालसर निवासी श्रेष्ठि गोत्रीय साह हरिश्चन्द्र के घर सं० १७७० में हुआ। नौ वर्ष की अल्पवय में आप दीक्षित हुए। सं० १७८० में रिणी में आप आचार्य पदासीन हुए। आपने अनेक तीर्थों की यात्रा की। सं० १८०४ में आप दिवंगत हुए।

आचार्य जिन लाभ सूरि (वि० सं० १७८४-१८३४)

आप बीकानेर निवासी बोहित्थरा गोत्रीय साह पंचायणदास के पुत्र थे। सं० १७९६ में बारह वर्ष की आयु में अपने दीक्षा ग्रहण की। सं० १८०४ में आप आचार्य पदासीन हुए। छाजहड़ गोत्रीय साह भोजराज ने आपका पट्ट महोत्सव करवाया। आपने अनेक तीर्थों की यात्राएँ की एवं अनेक प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित कीं। सं० १८३४ में आपने गूढ़ा में देवगति प्राप्त की।

आचार्य जिनचन्द्र सूरि (वि० सं० १८०९-१८५६)

आपका जन्म सं० १८०९ में कल्याणसर गाँव में बच्छावत मुंहता श्री रूपचन्द के घर हुआ। सं० १८२२ में मंडोवर में आप दीक्षित हुए। सं० १८३४ में गूढ़ा नगर में आपका सूरि पदाभिषेक हुआ। आपने अनेक तीर्थों की यात्राएँ कीं एवं सूदूर पूर्व में विहार कराये। लखनऊ के सुश्रावक राजा बच्छराज नाहटा ने आपके चतुर्मास बड़े महोत्सव पूर्वक करवाये। सं० १८५६ में आप सूरत में देवलोक सिधारे।

आचार्य जिनहर्ष सूरि

आपका जन्म मीठड़िया बुहरा गोत्रीय सेठ तिलोकचन्द के घर हुआ। वि० सं० १८४१ में आपने दीक्षा ली। १८५६ में आचार्य पदासीन हुए। वि० १८६६ में जोधपुर के राजाराम गिड़िया और तिलोकचन्द लूणिया के संघ के साथ शत्रुञ्जय एवं गिरनार तीर्थों की यात्रा की। इस संघ में ११०० साधु और सवा लाख श्रावक थे। वि० १८७० में सम्मेद शिखर की यात्रा की। सं० १८७१ में कलकत्ता में शांतिनाथ जिनालय की प्रतिष्ठा की। आपने अन्य अनेक तीर्थों की यात्राएँ सम्पन्न की। भव्य जिनमूर्तियों की स्थापना की।

आचार्य लब्धिचन्द्र सूरि

आपका जन्म बीकानेर निवासी छाजेड़ गोत्रीय शाह गिरधर की पत्नि गौरमदे की कुक्षी से सं० १८३५ में हुआ। सं० १८४९ में आपकी खम्भात में दीक्षा हुई। आप सं० १८५४ में आचार्य पदासीन हुए। उज्जैन में आपको 'भट्टारक' पद से विभूपित किया गया। सं० १८६७ में आपने कलकत्ता पधार कर अनेक बिम्बों की प्रतिष्ठा की। आपने सिद्धांत रत्निका व्याकरण, ज्योतिष जातक आदि ग्रंथों की रचना की। सं० १८८३ में आपका बीकानेर में स्वर्गवास हुआ।

गणाधीश सुखसागर जी

आपने सरसा के दूगड़ गोत्रीय ओसवाल परिवार में जन्म लिया। आप यतियों के साधु आचार में शिथिलाचार देखकर वि० सं० १९१८ में सुविहित मार्ग का प्रचार करने लगे।

आचार्य जिनकृपाचन्द्र सूरि (वि० सं० १९१३-९४)

आपका जन्म चोम के ओसवाल बापना गोत्रीय श्रेष्ठि के परिवार में हुआ। आपने भी यतियों के परिग्रह एवं कर्मकाण्ड के विरोध में क्रियोद्धार कर आत्म साधना की।

बड़ (वृहद्) गच्छ के आचार्य :

श्री शेखर सूरि (वि० १४वीं सदी)

दूगड़ गोत्र के आदि पुरुष दूगड की ८वीं पीढ़ी में जसदेव जी हुए। वे आघाट (राजस्थान) में निवास करते थे। इनके पुत्र ईश्वरचन्द १३वीं शताब्दी में उच्चनगर (तक्षशिला) जा बसे। ये जैन धर्मानुयायी थे। इनके पुत्र मुनि शेखर हुए। उन्होंने आ० मणिरत्न सूरि से दीक्षा ली। मणिरत्न सूरि भी दूगड़ गोत्रीय थे। मणिरत्न सूरि के देहावसान पर आचार्य शेखर सूरि उनके पट्टधर हुए। वृहद् गच्छ गुर्वावली के अनुसार ये बड़े चमत्कारी महात्मा थे। बड़गच्छ की भट्टनेर (हनुमानगढ़) शाखा के आप श्री पूज्य थे। गुर्वावली में 'युग प्रधान' कह कर आपकी प्रशस्ति की गयी है। आप विशेष लब्धि सम्पन्न थे। कहते हैं ६४ योगिनियाँ सदैव आपकी हाजिरी में रहती थी। आप 'दादा' नाम से भी प्रसिद्ध थे। आज भी बड़गच्छ में आपका कायोत्सर्ग किया जाता है। वि० सं० १३४५ में इनके भाई थिरदेव ने शत्रुञ्जय तीर्थ का संघ निकाला। उसमें आप भी साथ रहे।

श्री भावदेव सूरि (वि० सं० १६०४)

आप बड़गच्छीय जैनाचार्य पुण्यप्रभसूरि के शिष्य एवं पट्टधर थे। आप वीसा-ओसवाल लोढ़ा गोत्रीय शाह डूमा एवं माता लक्ष्मी के एक मात्र पुत्र थे। वि० सं० १६०४ में आप यति सम्प्रदाय में आचार्य हुए एवं 'श्री पूज्य' की पदवी दी गई। आप बड़े चमत्कारी सन्त माने जाते थे। भटनेर (हनुमानगढ़) में आपकी प्रमुख गद्दी थी। कहते हैं क्षेत्रपाल देव उनका सेवक था। अनेक विद्याएँ सिद्ध थीं। एक बार भटनेर के शासक खेतसी ने समस्त जैन श्रावकों को वन्दी बना लिया। खेतसी भस्म रोग का रोगी था। उस रोग का कोई उपचार न बताने से उसने आचार्य को भी वन्दी बनाकर कुएँ में लटकवा दिया। क्षेत्रपाल की सहायता से आचार्य कुएँ से निकले और लाहौर जाकर उन्होंने बादशाह को अनेक चमत्कार दिखाये। बादशाह ने प्रसन्न होकर आपकी सेवा की। बादशाह की सेना ने भटनेर शासक खेतसी को युद्ध में पछाड़ा। खेतसी ने क्षमा माँग ली। बादशाह ने सामाना में मस्जिद के समीप एक जैन मन्दिर बनवाया, जिसमें सूरिजी ने अनन्त जिन प्रतिमा प्रतिष्ठित की। उनकी प्रशस्ति में सं० १७८४ में भटनेर में बड़ गच्छीय यति जगरूप जी ने 'भावदेव सूरि रास' की रचना की।

तपागच्छ के आचार्य :

आचार्य हीर विजय सूरि (वि० १६१०–१६५२)

आप तपागच्छ के प्रमुख आचार्य थे। आप वि० सं० १५८३ में पालूपुर के ओसवाल कुरां गोत्रीय बीसा श्रेष्ठि कुमार के घर जन्म लेकर तपागच्छाचार्य विजय सूरि के पास सं० १५९६ में दीक्षित हुए। सं० १६०७-८ में पंडित, वाचक एवं उपाध्याय उपाधि मण्डित हो आप वि० सं० १६१० में आचार्य बने। नाडेलाई के राज्य मन्त्री श्रेष्ठि चांगा सिंघी ने इस अवसर पर महोत्सव किया। आचार्य के पाटन पधारने पर राज्य मन्त्री श्रेष्ठि समर्थ भंसाली ने महोत्सव का समायोजन किया। मुगल बादशाह अकबर उनसे बहुत प्रभावित थे। सम्राट् के आमन्त्रण पर वि० सं० १६३९ में वे फतेहपुर सीकरी पधारे, जहाँ उनका राजकीय सम्मान किया गया। स्वयं अकबर ने समस्त सभासदों सहित खड़े होकर सूरि जी के प्रति श्रद्धा व्यक्त की। 'आइने अकबरी' का लेखक एवं अकबर की सभा का उद्‌भट विद्वान अब्दुल फजल उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित था। वि० सं १६४० में बादशाह ने उन्हें 'जगद्‌गुरु' की उपाधि से विभूपित किया।

आपकी प्रेरणा से वि० सं० १६४२ में बादशाह ने फरमान जारी कर पर्युषण पर्व के उपलक्ष में १२ दिनों तक समस्त साम्राज्य में हिंसा बन्द करवायी। 'आइने अकबरी' के लेखानुसार स्वयं बादशाह ने शिकार न करने की प्रतिज्ञा ली। वि० सं० १६४० में नवरोज के अवसर पर जब आचार्यजी को जगद्‌गुरु का विरुद प्रदान किया गया, बादशाह ने राज्य के समस्त कैदियों को छोड़ दिया। फारसी इतिहासकार बदाउनी के अनुसार वर्ष में कुल ६ महीने ६ दिन सारे साम्राज्य में कोई भी जीव हिंसा न करे—इस प्रकार के फरमान बादशाह ने जारी किये एवं इन आज्ञाओं के उल्लंघन पर सख्त सजाएँ निर्धारित कीं। आचार्य जी संवत् १६४२ में गुजरात लौट गये। उनके शिष्य उपाध्याय मुनि शांति चन्द्र अकबर के पास ही रहे। इन्होंने अकबर के सुकृत्यों पर 'कृपारस कोष' नामक ग्रन्थ की रचना की। सं० १६४५ में वे सहध्यायी मुनि भानुचन्द्र एवं शिष्य सिद्धिचन्द्र को अकबर के पास छोड़कर गुरु हीर विजय जी के पास गुजरात चले गये। ये दोनों ही शतावधानी थे। मुनि सिद्धिचन्द्र को 'खुशफहम' का विरुद मिला।

सं० १६४९ में आचार्यजी ने अपने पट्टधर शिष्य विजयसेन सूरि को अकबर के निमन्त्रण पर लाहौर भेजा, जहाँ उनका शाही सम्मान किया गया। आपके शिष्य नन्दी विजय ने अकबर के दरबार में अष्टावधान किया और 'खुशफहम' की पदवी पाई। विजयसेन सूरि जी ने यहाँ ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ में हरा कर 'सवाई' विरुद पाया।

आचार्यजी के सं० १६५० में पालीताना पधारने पर भारी उत्सव हुआ। तत्पश्चात् ऊना पधारने पर जामनगर के नरेश और मन्त्री अब्बजी भंसाली ने ढाई

सेर स्वर्ण मुद्राओं से पूजा की। जैन शासन का व्यापक प्रसार करने वाले आचार्य हीर विजय सं० १६५२ में ऊना नगर में दिवंगत हुए।

सत्यवीर मुनि बुद्धिविजय जी (बूटे राय)

वि० सं० १८६३ में लुधियाना के दलुआ ग्राम के सिक्ख-जाट जमींदार सरदार टेकसिंह गिल के घर जन्मे बूटासिंह ने २५ वर्ष की आयु में जैन ढूंढ़क मत के साधु नागरमल से दिल्ली में दीक्षा ली और आगम अध्ययन में जुट गये। वि० सं० १८९१ में तेरापंथी आचार्य जीतमल जी के जोधपुर चतुर्मास के समय उनके आचार विचार का गहरा अध्ययन किया। वि० सं० १८९७ में गुजरानवाला में आप तपागच्छीय मूर्ति पूजक सम्प्रदाय के अनन्य श्रावक एवं जैनागमों के मार्मिक विद्वान लाला कर्मचन्द्र दुग्गड़ के सम्पर्क में आये। वि०सं० १९०३ में आपने मुँहपत्ती छोड़ दी। आपने जैन तीर्थों की यात्रा की एवं अनेक ओसवाल सद्धर्मियों अमरसिंह तातेड़, मूलचन्द भावड़ा-बरड़, कृपा-राम भावड़ा-गद्दहिया आदि को दीक्षा दी। वि० सं० १९१२ में आपने तपागच्छीय गणि मणि विजय जी से मूर्ति पूजक संघ की संवेगी दीक्षा ग्रहण की—तब से आपका नाम बुद्धि विजय जी हुआ। पंजाब में अनेक जिन मन्दिर की प्रतिष्ठा कराने का श्रेय आपको है! वि० सं० १९३२ में अहमदाबाद में पंजाब से आये ऋषि आत्माराम जी एवं उनके शिष्यों को स्थानकवासी अवस्था का त्याग करवाकर संवेगी दीक्षा प्रदान की। ऋषि आत्माराम जी वि० सं० १९४३ में आचार्य पदासीन हुए, तब से उनका नाम विजयानन्द सूरि हुआ। संवेगी परम्परा की पहचान स्वरूप मुनियों के पीली चादर ओढ़ने का प्रच-लन वि० सं० १७०९ में पंन्यास सत्य विजय जी ने किया था।

मुनि बुद्धि विजय जी धर्म क्रांति के वाहक थे। आपने सदैव चैत्यवासी यतियों के परिग्रह-संचय, स्थानकवासी मुनियों की प्रतिमा विरोधी मान्यताओं, संवेगी साधुओं के शिथिलाचार का डटकर विरोध किया। आपने पंजाब में सदैव एकाकी विहार किया एवं घोर उपसर्गों, कठिन परिषहों को बरदास्त किया। वास्तविक सत्य धर्म की प्रतिष्ठा के लिए आप सदैव प्रयत्नशील रहे। आज तपागच्छ में अधिकतम साधु-साध्वी समुदाय बुद्धि विजय जी का ही है।

आचार्य विजयानन्द सूरि (आत्माराम जी)

पंजाब के लहरा ग्राम (जिला फिरोजपुर) में वि० सं० १८९४ में कलश क्षत्रिय कपूर गोत्रीय श्री गणेशचन्द्र के घर आत्माराम जी का जन्म हुआ। अल्पवय में ही पिता का देहान्त हो जाने से लालन-पालन समस्त पिता के परम मित्र ओसवाल भावड़ा नौलखा गोत्रीय जीरा निवासी लाला जोधामल जी के घर हुआ। लाला जी ढूंढक मता-वलम्बी थे। वि० सं० १९१० में १६ वर्ष की अवस्था में बालक आत्माराम ने ढूंढक मुनि जीवनराम जी से दीक्षा ली। ५-६ वर्षों में ही बालक मुनि सूत्रों में निष्णात हो गये।

मूल आगम, चूर्णि, टीका निर्युक्ति भाष्यों आदि के सूक्ष्म अध्ययनोपरान्त आपने सत्य धर्म का बिगुल फूंका। वि० सं० १९३२ में उन्होंने अपने १५ साथियों के साथ अहमदाबाद में तपागच्छीय मुनि बुद्धि विजय जी से दीक्षा ग्रहण की। १९३५ में वापिस पंजाब पधार कर आपने अनेक जिन मन्दिरों का निर्माण एवं प्रतिमा प्रतिष्ठिाएँ करवायीं। अनेक मुमुक्षुओं को दीक्षा दी। वि० सं० १९४३ में पालीताना में तपागच्छ धर्म संघ द्वारा पिछली चार शताब्दियों में आप पहली बार आचार्य पदवी से विभूषित किये गये एवं तब से आप आचार्य विजयानन्द सूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। आपने अनेक जैन तीर्थों की यात्रा की। वि० सं० १९५० में आपने अमरीका (शिकागो) में हुई प्रथम 'विश्व धर्म परिषद' में जैन श्रावक श्री वीरचन्द्र राघव जी गांधी को अपने प्रतिनिधि के रूप में धर्म प्रचारार्थ भेजा। उस वक्त समाज में वीरचन्द्र भाई को संघ बहिष्कृत करने का आन्दोलन उठा, पर गुरुदेव आत्माराम जी के प्रभाव से वह अपनी मौत स्वयं मर गया। रायल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता के तात्कालीन मन्त्री डा० रूडोल्फ हारनाल ने आपको जैनधर्म की धुरा माना। वि० सं० १९५३ में आपका स्वर्गवास हुआ। आपके पट्टधर श्री विजय वल्लभ सूरि ने वि० सं० १९८१ में गुजरानवाला में 'श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल' की स्थापना कर आपकी स्मृति अक्षुण्ण बना दी।

वर्तमान युग के आप ही ऐसे युगप्रधान आचार्य हुए हैं जिनकी एक मात्र प्रतिमा श्री सिद्धगिरि पर विराजमान की गयी है। आप स्वभाव से परम विनोदी एवं शास्त्रीय राग-रागिनियों के जानकार थे। आपका अगाध शास्त्र ज्ञान सदैव शास्त्रार्थ में विजयश्री दिलाता रहा।

आचार्य विजयवल्लभ सूरि

बीसवीं सदी के सुप्रसिद्ध धर्म गुरु, तत्वज्ञ, शिक्षा प्रेमी एवं समाज सुधारक आचार्य विजय वल्लभ सूरि तपागच्छीय आचार्य विजयानन्द सूरि (आत्मारामजी) के पट्टधर थे। आपने सारे भारत, विशेषतः पंजाब में 'जैन धर्म' को लोकप्रिय एवं सुदृढ़ बनाया। आपका जन्म वि० सं० १९२७ में बड़ौदा में हुआ। आपके पिता बीसा श्रीमाल शाह दीपचन्द जी एवं माता इच्छाबाई ने आपका नाम छगनलाल रखा। वि० सं १९४४ में आपने १७ वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण की। वि० सं० १९८१ में लाहौर में आपको जैन संघ द्वारा आचार्य पद से विभूषित किया गया। भृगु संहिता में दी हुई आपकी कुण्डली एवं फलाशय के अनुसार आपका दूसरे जन्म में मोक्ष सुनिश्चित है।

आप जैन समाज की फिरका परस्ती पर बराबर चोट करते रहे। आपने अपने को सदैव परमात्मा के सत्पथ का यात्री बताते हुए उद्घोषणा की—'न मैं जैन हूँ, न बौद्ध, न वैष्णव, न शैव, न हिन्दू, न मुसलमान।' शांति की खोज सबसे पहले अपने मन में होनी चाहिए। आपने वर्ण व्यवस्था को कर्तव्य गत बताते हुए हरिजनोद्धार के

अनेक कार्य किये। आचार्य विजयानन्द जी सूरि के अन्तिम आदेशानुसार शिक्षा प्रसार को अपना मिशन बना लिया। आपने भारत के विभिन्न भागों में २ जैन गुरुकुल, ७ जैन विद्यालय डिग्री कालेज, ७ पाठशालाएँ एवं अनेक पुस्तकालय एवं वाचनालय स्थापित करवाये। स्त्री शिक्षा के आप प्रबल समर्थक थे। राष्ट्र पिता गांधी के अहिंसा प्रचार एवं स्वदेशी आन्दोलन को बराबर प्रोत्साहन देते रहे। राष्ट्रीय नेताओं में आपका बड़ा सम्मान था। पंजाब में राष्ट्रीय आन्दोलन एवं खादी को लोकप्रिय बनाने में आपका प्रमुख हाथ था। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में पं० मदनमोहन मालवीय को प्रेरित कर जैन चेयर स्थापित करवा कर वहाँ प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी सिंघवी की नियुक्ति करवाने का श्रेय आपको ही है। पाकिस्तान बनने के समय आप गुजरान वाला में थे, जहाँ के मुसलमानों ने उपाश्रय पर बम फेंका, पर कहते हैं, उसका विस्फोट नहीं हुआ। बम फेंकने वाला अपने ही साथी की गोली से मारा गया। मुस्लिम जनता ने इसे करिश्मा मानकर पूरी हिफाजत से आपको पूरे श्वेताम्बर एवं स्थानक वासी जैन संघ के साथ हिन्दुस्तान पहुँचाया। आपके साथ इस काफिले में आने वालों में सुप्रसिद्ध आगमविद् स्थानक वासी संत अमोलक ऋषि जी भी थे।

वि० सं० १९९० में अहमदाबाद में आपने जैन श्वेताम्बर सर्व गच्छीय मुनि सम्मेलन करवाया। वि० सं० १९८२ में गुजरानवाला में आत्मानन्द जैन महा सभा के मंच से आपकी निश्रा में ओसवाल, खण्डेलवाल, पोरवाल आदि जैन जातियों में परस्पर बेटी-बेटों के रिश्ते करने का प्रस्ताव पास हुआ एवं पंजाब में निःसंकोच भाव से ऐसी शादियाँ होने लगीं। आपके अभिग्रह एवं प्रतिज्ञा बल से समाज को अनेक शिक्षण संस्थाएँ एवं कल्याणकारी अभियान प्राप्त हुए। उनके वासक्षेप से चमत्कार की अनेक जनश्रुतियाँ कही जाती हैं।

वि० सं० २०१० में बम्बई में आपका स्वर्गवास हुआ। आपने अनेक राजा-महाराजा एवं राष्ट्रीय नेताओं को प्रतिबोधित किया, अनेक तीर्थ यात्राएँ की एवं जिन मन्दिरों में बिम्ब एवं अंजन शलाका की प्रतिष्ठा करवायी।

आचार्य विजय समुद्र सूरि

वि० सं० १९४८ में पाली नगर (राजस्थान) में वीसा ओसवाल बागरेचा गोत्रीय सेठ शोभाचन्द्र के घर पुत्र सुखराज का जन्म हुआ। १९ वर्ष की वय में सुखराज ने आचार्य विजय वल्लभ सूरि से दीक्षा ग्रहण की। वि० सं० १९९४ में आपको गणि पद, २००८ में उपाध्याय एवं २००९ में आचार्य पद से विभूषित किया गया। वि० सं० २०२७ में सरकार द्वारा गठित अखिल भारतवर्षीय भगवान महावीर २५००वीं निर्वाण महोत्सव समिति के सदस्य मनोनीत होने वाले एक मात्र जैनाचार्य थे। वि० सं० २०३१ में आपके ८४वें जन्म दिन पर धर्म संघ की ओर से आपको 'जिन शासन रत्न' की

पदवी से विभूषित किया गया। आप हाथ के कते खादी वस्त्र धारण करते थे। वि० सं० २०३४ में मुरादाबाद में आपका स्वर्गवास हुआ, जहाँ धर्म संघ ने भव्य समाधि मन्दिर का निर्माण करवाया है।

उपाध्याय सोहन विजय जी

कश्मीर के जम्मूनगर में ओसवाल कुल भूषण दूगड़ गोत्रीय लाला विशणदास राज्य के दीवान रह चुके हैं। वि० सं० १९३८ में इसी नगर के ओसवाल जैन श्रेष्ठि दूगड़ गोत्रीय लाला निहालचन्द्र को पुत्र प्राप्ति हुई, जिसका नाम बसंतामल रखा गया। अल्प वय में माता-पिता का देहान्त हो जाने से बसंतामल का लालन पालन बहन के घर जंडियाला (अमृतसर) में हुआ। वि० सं० १९६० में २२ वर्ष की वय में आपने ढूंढ़क मत के साधु ऋषि भेड़ाराज से दीक्षा ग्रहण की, किन्तु चार मास पश्चात्, ही आपने साधु वेश त्याग दिया और सत्य की खोज में लगे रहे। आचार्य विजय वल्लभ सूरि की प्रेरणा से गुजरात जाकर मुनि ललित विजय जी के पास आगम शास्त्रों का अध्ययन किया। वि० सं० १९६१ में आपकी संवेगी दीक्षा हुई, तभी आपका नाम सोहन विजय रखा गया। वि० सं० १९७१ में रतलाम में आपको पन्यास और गणि की पदवी से अलंकृत किया गया। वि० सं० १९७२ तक गुजरात में रह कर आपने तीर्थ यात्राएँ कीं। आप प्रभावशाली प्रवचनकार थे। वि० सं० १९७५ में उदयपुर के चतुर्मास में आपकी प्रेरणा से समाज में वैश्या नृत्य, बाल विवाह, वृद्ध विवाह, मोसर आदि के विरुद्ध अभियान चला एवं अनेक कुरीतियों का बहिष्कार हुआ। वि० सं० १९७८ में गुजरानवाला में लाला मोतीलाल जी गद्दैया (जौहरी) की अध्यक्षता में 'आतमानन्द जैन महासभा' की स्थापना का श्रेय भी आपको ही है। लाला मोतीलाल—लाहौर एवं बनारस के प्रसिद्ध पुस्तक विक्रेता—प्रकाशक 'मोतीलाल बनारसी दास' के मालिक थे। इस अधिवेशन में आपकी प्रेरणा से जैन बिरादरियों—दसा बीसा, ओसवाल, खण्डेलवाल, पोरवाल आदि समाजों में परस्पर विवाह का प्रस्ताव सर्व सम्मति से पारित एवं क्रियान्वित किया गया। सनखतरा में सैकड़ों अजैन भाई, कसाई, मुसलमान आपके उपदेशों से प्रभावित होकर हिंसा एवं कुव्यवसनों से मुक्त हुए।

वि० सं० १९८२ में गुजरानवाला में आपका स्वर्गवास हुआ।

आचार्य विजय विद्या सूरि

होशियारपुर (पंजाब) के वासी ओसवाल-भावड़ा नाहर गोत्रीय अच्छरमल और मच्छरमल दो भाई वि० सं० १९४४ में युगल (जोड़ा) जन्मे। दोनों भाइयों ने जयपुर में वि० सं० १९६५ में आचार्य विजय वल्लभ सूरिजी से दीक्षा ग्रहण की। अच्छरमल का नाम मुनि विद्या विजय तथा मच्छरमल का नाम मुनि विचार विजय रखा गया। मुनि विद्याविजय जी क्रमशः गणि, पन्यास एवं आचार्य पद से विभूपित हुए। आचार्य पदासीन होने पर आपका नाम विजय विद्या सूरि हुआ। आप बाल ब्रह्मचारी,

स्वरूपवान, सरल स्वभावी, मिलनसार, महा तेजस्वी थे। दोनों भाइयों का चेहरा इतना मिलता था कि कभी-कभी पहचानना दुष्कर हो जाता था। आचार्य विजय विद्या सूरि का स्वर्गवास वि० सं० २०१० में दिल्ली में हुआ। मुनि विचारविजय जी के शिष्य बीसा ओसवाल नौलखा गोत्रीय मुनि बसन्त विजय जी बड़े तपस्वी हैं।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के प्रभावक आचार्य :

विक्रम की १६वीं शताब्दी में श्वेताम्बर परम्परा के चैत्यवासी यतियों के शिथिलाचार के विरुद्ध गुजरात में लोकाशाह ने क्रान्ति का शंख फूँका। कल्प सूत्र में भगवान महावीर के जन्म नक्षत्र पर भस्म ग्रह के संक्रमण को लेकर इसके परिणाम को लक्ष्य कर इन्द्रभूति गौतम द्वारा भगवान से की गई जिज्ञासा का वर्णन है, जहाँ भगवान ने उत्तर दिया कि इस ग्रह के कारण दो हजार वर्ष तक संघ में जड़ता बढ़ेगी एवं मिथ्याचारों की वृद्धि होगी। सत्य ही यह शिथिलाचार बढ़ा। श्रमण संघ विविध गच्छों में ही नहीं बंटा, आचार में भी फरक आ गया। परिग्रह बढ़ने लगा। पूजा में जड़त्व घर करने लगा। लोकाशाह की प्रेरणा से वि० सं० १५३१ में ४५ व्यक्तियों ने उनके सिद्धान्तों के अनुसार श्रमण दीक्षा ली, शीघ्र ही 'लोकागच्छ' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस गच्छ के आचार्य पट्टधर लोकाशाह निर्धारित साध्वाचार का अनुसरण करते रहे। तदन्तर आचारों में ढिलाई आ गई एवं संगठन की जड़ें खोखली हो गयीं। सतरहवीं सदी के अन्तिम चरण में ऋषि लवजी जैसे क्रियोद्धारक आचार्य का अभ्युदय हुआ, जिन्होंने सम्प्रदाय को फिर से व्यवस्थित किया। वि० सं० १७०२ में आचार्य धर्मदास जी की मृत्यु के बाद सम्प्रदाय २२ शाखाओं में विभक्त हो गया एवं 'बाईस टोला' कहलाने लगा। इन्हें साधु मार्गी या स्थानकवासी भी कहा जाता है। वि० की २१वीं सदी के प्रथम दशक में स्थानकवासी मुनियों का सादड़ी में वृहद् सम्मेलन हुआ; जिसमें आचार्य आत्माराम जी समस्त शाखाओं के प्रमुख चुने गये।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के जनक—लोकाशाह

वि० सं० १४७२ में सिरोही के अरहट्टवाड़ा गाँव में ओसवाल वंश के दफ्तरी गोत्रीय हेमाशाह के घर लोकाशाह का जन्म हुआ। पेशे से जौहरी थे। अहमदाबाद के सुल्तान मुहम्मद के खजाँची थे। लोकाशाह यति ज्ञान सुन्दरजी के सम्पर्क में आये। उनकी प्रेरणा से चैत्य में शास्त्रों की प्रतिलिपि करने का कार्य संभाल लिया। आगम लेखन के साथ चिन्तन मनन ने सिद्धान्तों का यथारूप उजागर कर दिया। चैत्यों के परिग्रह और मूर्तिपूजा के रूढ़ विधानों एवं अन्य धार्मिक आडम्बरों का खोखला पन उन्हें कचोट गया। वे खुलेआम इनकी निन्दा एवं आलोचना करने लगे। सिद्धांत और साध्वाचार की भेद रेखा स्पष्ट होते ही उन्होंने निर्भयता पूर्वक क्रान्ति का उद्घोष किया

एवं सर्व प्रथम वि० सं० १५०८ में अहमदाबाद में जिन प्रतिमा का उत्थापन प्रारम्भ किया। अणहिल पाटन के कोट्यावीश शाह लखमसी उनके भक्त बन गये। वि० सं० १५३१ में भाण आदि ४५ श्रमणों ने उनकी आगम परूपणा के अनुसार दीक्षा ग्रहण की। इस तरह लोकागच्छ की नींव पड़ी। कालांन्तर में इनको २२ विभिन्न आचार्य होने से 'बाईस पंथी' या 'बाईसटोला' कहा जाने लगा। सत्य के साधकों का जो हश्र इतिहासानुगत है, वही लोकाशाह का हुआ। विद्वेषी यतियों की प्रेरणा से अलवर में वि० सं० १५४६ में पारणे में विष युक्त आहार बहरा दिया गया, इसी से लोकाशाह दिवंगत हुए।

आचार्य ऋषि लवजी

स्थानकवासी परम्परा में प्रथम क्रियोद्धारक आचार्य ऋषि लव जी सूरत के ओसवाल, (श्रीमाल) परिवार में जन्मे। पिता श्री वीर जी वोहरा का वियोग अल्पवय में ही हो गया। तदन्तर नाना के घर रहे, जो श्रीमाल गोत्रीय बोहरा थे। बचपन में ही जैन संस्कार मिले। नाना की करोड़ों की सम्पत्ति का व्यामोह छोड़कर वि० सं० १६९२ में यति बजरंग जी के पास दीक्षित हुए। जल्द ही यति वर्ग के शिथिलाचार के प्रति असन्तोष होने से विद्रोह कर दिया एवं क्रियोद्धार की अपेक्षा से वि० सं० १७०४ में नई दीक्षा ग्रहण की। वे जैनागमों के ज्ञाता थे। उन्होंने सर्वप्रथ मुंहपत्ती का चलन प्रारम्भ किया। सत्य को ढूंढ़ कर प्रचलित करने के कारण इन्हें 'ढूँढ़िया' कहा जाने लगा। उस समय उनके साथ २१ अन्य यतियों ने इस पंथ को स्वीकार किया। कई लोग उनके ढूँढ़ (जयपुर प्रदेश) में अधिक विहार करने से 'ढूँढ़िया' नाम प्रचलित हुआ, मानते हैं। उनके आचार विचार की सर्वत्र चर्चा होने लगी। यह यतियों को सहन नहीं हुआ। उनकी शिकायत पर खम्भात के नवाब ने उन्हें जेल में डाल दिया। जेल में भी वे साधना रत रहे। इससे नवाब की बेगम बहुत प्रभावित हुईं एवं उनके हस्तक्षेप से नवाब ने उन्हें मुक्त कर दिया। गुजरात उनका धर्म प्रचार का मुख्य क्षेत्र रहा। यति सम्प्रदाय का विद्वेष बना ही रहा। अन्ततः बुरहानपुर में बेले की तपस्या के पारणे में विद्वेषी व्यक्ति द्वारा बहराये गये विष मिश्रित मोदक खा लेने से उनकी मृत्यु हुई।

आचार्य धर्म सिंह

विलक्षण स्मरण शक्ति के धनी आचार्य धर्मसिंह स्थानकवासी सम्प्रदाय के प्रभावी आचार्य थे। उनका जन्म गुजरात के सखानियाँ ग्राम के दसा श्रीमाली ओसवाल परिवार में हुआ। आपके पिता श्री जिनदास चैत्यानुयायी थे। धर्मसिंह जी ने यति देवजी से दीक्षा ली। आपने भी यतिवर्ग के शैथिल्य के प्रति क्रान्ति की। आगम मर्मज्ञ और गम्भीर साधक थे। वि० सं० १६९२ में अहमदावाद में उन्होंने लोकागच्छ के नीति-दर्शन का समर्थन किया। उनका विचरण क्षेत्र भी गुजरात सौराष्ट्र था। उन्होंने २७ आगमों पर गुजराती में टब्बे लिखे, जो जैन साहित्य में बड़े प्रामाणिक एवं महत्वपूर्ण माने

जाते हैं। वे प्रसिद्ध अवधान-कार थे। संयम साधना के क्षेत्र में वे दृढ़ क्रियोद्धारक आचार्य माने जाते हैं। वि० सं० १७२८ में आचार्य धर्मसिंह का स्वर्गवास हुआ।

आचार्य भूधर जी

मारवाड़ के नागौर शहर के निवासी ओसवाल वंशीय माणकचन्द जी मुणोत के घर वि० सं० १७१२ में भूधर जी का जन्म हुआ। उस समय ओसवाल मुसद्दी एवं प्रधानों का रियासतों में बोलबाला था। आपकी शिक्षा भी उस तरह की हुई। सोजत के शाह दलाजी रातड़िया (मून्था) की पुत्री से आपका विवाह हुआ। आप राज्याधिकारी मनोनीत हुए। वि० सं० १७४० में कंटालिया ग्राम में डाकुओं का आतंक शान्त करने में आपने प्रमुख भूमिका निभायी। वहीं युद्ध में घायल घोड़े की मरणातंक वेदना देख कर आपको वैराग्य उत्पन्न हुआ। तत्काल आप राज्य सेवा से अवकाश लेकर पोतिया बन्ध सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। वि० सं० १७५१ में मालवा में लोकागच्छीय आचार्य धन्ना जी से आर्हती दीक्षा ली।

एक बार दिल्ली प्रवास के समय बादशाह की शाहजादी को निकाह पूर्व गर्भ रह गया। बादशाह क्रोध से संतप्त हो राजकुमारी को दण्डित करना चाहता था। खींवसी भण्डारी उन दिनों दरबार में आते जाते थे--वे बादशाह से कुछ दिन दण्ड न देने का आश्वासन लेकर आचार्य भूधर जी से मिले। उन्होंने स्थानांग सूत्र में उल्लिखित गर्भ के ५ कारण बताये : (१) जल में पुरुष स्नान के बाद स्त्री का निर्वस्त्र स्नान करना (२) ऋतुमती स्त्री का निर्वस्त्र खुले में सोना (३) वीर्य लिप्त वस्त्र का योनि स्पर्श (४) सम्भोग (५) देवयोग।

साथ ही यह भी समझा दिया कि मनुष्य सम्भोग के अलावा किसी अन्य कारण से गर्भ रहने पर बच्चे के शरीर में हड्डी नहीं होती। वह रुई की तरह मुलायम होता है। बादशाह ने प्रसव तक इन्तजार किया। बात ठीक थी। शाहजादी निर्दोष निकली और दण्ड से बच गयी। आचार्य भूधर जी ने बादशाह के आग्रह पर दिल्ली चतुर्मास किया। बादशाह ने आचार्य के सम्मान में फरमान जारी किये ताकि अन्य प्रदेशों में कहीं राह में उन्हें कोई कष्ट न हो।

वि० सं० १७८० में भूधरजी मेड़ता पधारे। इन्हीं दिनों उनके गुरु आचार्य धन्नाजी का स्वर्गवास हो गया। कालू में जाटों में धर्म प्रचार कर आचार्यजी ने नये कीर्तिमान स्थापित किये। यतियों का विरोध अपनी चर्म सीमा पर था। उनके बहकाये रामा जाट द्वारा आचार्य जी को कांटों में घटीसने से शरीर पर घाव हो गये। सिर पर कुल्हाड़ी का आघात करने से रक्तस्राव से पृथ्वी लाल हो गयी। फिर भी, आचार्य ने करुणा कर आक्रान्त दिग्भ्रमित रामा जाट को थाने से छुड़वा दिया। सोजत में फिर एक बार

उन्हें मारने का षड्यन्त्र रचा गया। संयोग से वह भी विफल हुआ। आचार्य भूधर जी ने अनेक बार इन उपद्रवों का सामना अनशन करके किया।

आचार्य रघुनाथ जी

स्थानकवासी श्वेताम्बर सम्प्रदाय के श्रमण कुल तिलक आचार्य रघुनाथजी ने ओसवाल वंश के वल्लावत उपगोत्र (बाफणा गोत्र) में शाह नथमल जी के घर १७६६ में जन्म लिया। नथमल जी का परिवार प्रारम्भ में रामानुज (वैष्णव) सम्प्रदाय का अनुयायी था। माता-पिता ने सोजत के शाह कुन्दलमल जी बैदमूंथा की कन्या रत्नावली से आपकी सगाई कर दी। उसी दिन आप सोजत के हाकिम (न्यायाधीश) नियुक्त हुए। अचानक एक परम मित्र की अकाल मृत्यु से आपको वैराग्य हुआ। किसी तांत्रिक ने अमरत्व सिद्धि के लिए सिर काट कर चामुण्डा को भेंट चढ़ाने का विधान बताया—आप तत्पर हो गये। संयोग से तभी स्थानकवासी आचार्य भूधर जी नगर में पधारे। तीन दिन तक उनसे चर्चा चली। समाधान पाकर आप दीक्षा के लिए उद्यत हो गये। रत्नावली के घर वालों को सन्देश भेजा गया। यह सुनते ही रत्नावलो अन्य किसी से विवाह न करने का निश्चय कर आत्म हत्या के लिए उद्यत हो गयी। आचार्य भूधर जी को जब इस नई समस्या की जानकारी हुई तो उन्होंने रघुनाथ जी से ४ वर्ष तक गृहस्थ रहने का आग्रह किया एवं तदनन्तर दीक्षा देने का आश्वासन दिया। रघुनाथ जी कठोर साधना में लग गये। इसी बीच माता-पिता का देहान्त हो गया। श्वसुर ने घर पर पहरा बिठा दिया। उधर रत्नावली भी वैराग्य साधना में लग गई। चार वर्ष व्यतीत हो गये। एक रात रघुनाथ जी मकान की छत से कूद कर २२ कोस रात में पैदल चल कर जोधपुर आये एवं आचार्य भूधर जी से दीक्षा देने की प्रार्थना की। खींवसीजी भण्डारी के घर सात दिन तक उत्सव मनाया गया। तदनन्तर वि० सं० १७८७ में धूम-धाम से दीक्षा हुई। उधर रत्नावली की साधना भी रंग लाई। वि० सं० १७८८ में वे ११ अन्य बहिनों के साथ दीक्षित हुई। वह मारवाड़ में प्रथम नारी दीक्षा थी।

विद्वेषी यतियों एवं पोतिया बंध सम्प्रदाय वालों ने आपका जबरदस्त विरोध किया। जालौर में लाठियों के प्रहार हुए—स्थानक तक देने से इन्कार कर दिया। भिक्षा नहीं मिली। आपको तीन दिन जालौर में हाकिम ने अपने बंगले पर ठहराया। यतियों से शास्त्रार्थ में विजयी हुए। वहीं वि० सं० १७८९ का चातुर्मास किया। करीब १००० घरों ने आपकी श्रद्धा स्वीकारी। वि० सं० १८०३ में सोजत में आपका आचार्य पदारोहण हुआ। वि० सं० १८०८ में भीखण जी आपके पास दीक्षित हुए। १८१३ में मेड़ता चतुर्मास में भगवती सूत्र की वाचना को लेकर भीखण जी से विवाद हुआ। 'अव्रती के प्राण बचाने में एकान्त पाप होता है'—यह स्थापना

भीखण जी ने एक हस्तलिखित गुटके के आधार पर की। उन्होंने इस स्थापना का प्रचार भी शुरू कर दिया। अन्ततः वि० सं० १८१६ में उन्हें संघ से बहिष्कृत कर दिया गया।

आचार्य रघुनाथ जी के समय यतियों का समाज पर बहुत प्रभाव था। गोडवाड जिले में उपद्रव हुए। यातनाएँ दी गयीं। सादड़ी में भी कम उपद्रव नहीं हुए। वि० सं० १८४६ में ६०वाँ चतुर्मास पाली में किया। वहाँ स्वास्थ्य गिर गया। समाधि-मरण प्राप्त हुए। आपके उत्तराधिकारी आचार्य टोडरमल जी हुए।

आचार्य जयमल जी

इन तपोनिष्ठ स्थानकवासी आचार्य का जन्म राजस्थान के ताम्बिया ग्राम में समदड़िया गोत्रीय बीसा ओसवाल श्रेष्ठि मोहनदास मेहता के घर हुआ। विवाह हुए ६ मास भी न हुए थे कि जयमल जी आचार्य भूधर के पास वि० सं० १७८९ में सपत्नीक दीक्षित हो गये। उन्होंने १३ वर्ष निरन्तर एकान्तर तप किया। सो कर नींद न लेने के महा संकल्प को ५० वर्षों तक पूर्ण जागरूकता से निभाने वाले वे एक मात्र जैन श्रमण थे। वे उच्च कोटि के साहित्यकार थे। उनके धर्म प्रचार का क्षेत्र दिल्ली, पंजाब, मालवा व राजस्थान रहा। तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भीखण जी के साथ उनके सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध थे। आचार्य भारमल जी के पिता किसनोजी की कठोर प्रकृति के कारण भीखण जी ने उन्हें आचार्य जयमल जी को सौंप दिया था। क्षमा मूर्ति आचार्य जयमल ने उन्हें भी सँभाल लिया।

आचार्य अमरसिंह जी

अमृतसर के ओसवाल श्रेष्ठि तातेड़ गोत्रीय लाला बुद्धसिंह के घर सं० १८६२ में एक कांतिवान तेज पुञ्ज अवतरित हुए—जिन्होंने बड़े होकर सं० १८९८ में स्थानकवासी सम्प्रदाय में दीक्षा ली। ये बड़े प्रभावी संत थे। सं० १९१३ में वे आचार्य पद से विभूषित हुए। आपने पंजाब में नये धार्मिक संगठन की सृष्टि की एवं जन मानस में स्फूर्ति फूंकी। सं० १९३९ में आपका निधन हुआ।

आचार्य सोहनलाल जी

सियालकोट जिले के सम्बड़पाल गांव में गधैया गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि मथुरादास जी के घर सं० १९०६ में सोहनलाल जी का जन्म हुआ। आप ३० वर्ष की वय में स्थानकवासी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। आप बड़े साहसी, मेधावी एवं तर्कनिष्ठ संत थे। शास्त्रों एवं ज्योतिष के ज्ञाता थे। सं० १९५८ में आप आचार्य पदासीन हुए। अनेक वर्षों के धर्म प्रचार के बाद आपने अमृतसर में एकान्त वास किया।

आचार्य अमोलक ऋषि

स्थानकवासी सम्प्रदाय की ऋषि परम्परा में आचार्य अमोलक ऋषि अपने युग के विश्रुत विद्वान थे। उनका जन्म मेड़ता निवासी कांसटिया गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि केवलचन्द जी के घर वि० सं० १९३४ में हुआ। माँ की मृत्यु के बाद पिता एवं पितामह भी श्रमण संघ में दीक्षित हो गये। वि० सं० १९४४ में अमोलक ऋषि रत्न ऋषि के पास दीक्षित हुए। वि० सं० १९८९ में वे आचार्य पद से विभूषित हुए। उन्होंने ३२ सूत्रों का सरल हिन्दी में अनुवाद किया, जो आगम पिपासु प्राकृत न समझने वाले भक्तों में बहुत लोकप्रिय हुआ। उनका प्रमुख विचरण क्षेत्र मालवा था। उनके कुल १०२ ग्रंथ हैं, जिनमें अनेक ग्रंथों की आवृत्तियाँ गुजराती, मराठी, कन्नड़, उर्दू आदि भाषाओं में हुई है। वे वि० सं० १९९३ में स्वर्गस्थ हुए।

आचार्य आत्माराम जी

स्थानकवासी बृहद् श्रमण संघ के मनोनीत आचार्य आत्माराम जी महान तत्वज्ञ थे। उनका जन्म पंजाब के राहो नगर में ओसवाल वंश के चोपड़ा गोत्रीय मनसाराम जी के घर में हुआ। दो वर्ष की वय में माता का वियोग हो गया। ८ वर्ष की अवस्था में पिता का भी देहान्त हो गया। निराश्रित बालक में वैराग्य का बीज वपन हुआ। आप वि० सं० १९५९ में दीक्षित हुए। पहले आप उपाध्याय बने, फिर २००३ में आचार्य पद से विभूषित हुए। वि० सं० २००९ में सादड़ी सम्मेलन में समस्त स्थानकवासी सम्प्रदाय ने उन्हें श्रमण संघ का प्रमुख चुना। वे आगमों के प्रभावकारी व्याख्याता थे। पं० नेहरू तथा अनेक जर्मन विद्वान उनसे प्रभावित हुए। उन्होंने सूत्रों के हिन्दी अनुवाद किये। अन्यान्य धर्म दर्शनों की रचना कर जैन वाङ्मय को अनेक मूल्यवान उपहार दिये। उन्हें 'जैनागम रत्नाकर' की उपाधि से विभूषित किया गया।

आचार्य आनन्द ऋषि

स्थानकवासी सम्प्रदाय की ऋषि परम्परा में आचार्य आनन्द ऋषि उल्लेखनीय हैं। उनका जन्म अहमदनगर (महाराष्ट्र) जिले के सिराल चिंचोड़ी गाँव में ओस वंश के गूगलिया गोत्रीय सेठ देवीचन्द जी के घर हुआ। धर्म परायण माँ से प्रेरणा प्राप्त कर आचार्य रत्न ऋषि से वि० सं० १९७० में उन्होंने भगवती दीक्षा ग्रहण की। वे वि० सं० १९९९ में आचार्य पद से विभूषित हुए। आपकी प्रेरणा से संवत् २००६ में ब्यावर में पांच सम्प्रदायों का संगम हुआ एवं श्री वर्धमान श्रमण संघ की स्थापना हुई। आपके सद्प्रयत्नों से समस्त श्रमण संघ सादड़ी में फिर मिला। आचार्य आत्माराम जी के नायकत्व में वि० सं० २००९ के सादड़ी सम्मेलन में समस्त श्रमण संघ ने उन्हें उपाचार्य चुना। आप प्रसिद्ध वक्ता ही नहीं, पंडित रत्न भी हैं। आपने विपुल साहित्य सृजन किया है।

तेरापंथ सम्प्रदाय के आचार्य :

जैन सम्प्रदायों का इतिहास धर्म क्रान्ति की मशाल जलाये रखने वाला है। भ० पार्श्वनाथ प्रभु के चतुर्याम धर्म में ब्रह्मचर्य का महाव्रत जोड़ना एवं साधना को अपरिग्रह के उच्चतम शिखर—नग्नत्व तक पहुँचा देना—महावीर प्रभु जैसे वुद्ध पुरुष का ही काम था। कालान्तर में यह धर्म संघ राज्याश्रय पाकर सुख सुविधा भोगी हो गया। श्रुत केवली महाश्रमण आचार्य भद्र बाहु के बाद बारह वर्षीय दुर्भिक्ष को निमित्त बनाकर इस संघ ने सचेल और और अचेल (निर्वस्त्र) साधना पद्धतियों के कारण दिगम्बर और श्वेताम्बर भेद को जन्म दिया—उसके मूल में भी क्रान्ति की प्रक्रिया ही थी। विक्रम की पांचवी शताब्दी में चैत्यवासी परम्परा का जन्म उसी प्रक्रिया का अंग था। कालान्तर में चैत्यवासी शिथिलाचार से ग्रसित हो गये।

जिस तरह चैत्यवासी श्वेताम्बर सुविदित यानि संवेगी यति सम्प्रदाय के शिथिलाचार एवं कर्मकांड के विरोध में विक्रम की १६वीं शताब्दी के मध्य लोकाशाह ने क्रान्ति का शंख फूँका और भगवत पूजा के नाम पर पल रही संग्रह वृत्ति और बाह्याडम्बर का विरोध किया, जिससे स्थानकवासी सम्प्रदाय का जन्म हुआ, उसी तरह १९वीं शताब्दी के शुरू में एक और वैचारिक आंधी स्थानकवासी सम्प्रदाय में दान-दया सम्बन्धी आचार को लेकर उठी, जिसके नायक थे आचार्य रघुनाथ जी के शिष्य भीखण जी स्वामी। वि० सं० १८१७ में उन्होंने रघुनाथ जी से अलग होकर तेरापंथ सम्प्रदाय की स्थापना की। अपनी संगठनात्मक क्षमता से इस सम्प्रदाय ने ओसवाल समाज में अपना अग्रणी स्थान बना लिया। २२५ वर्षों की अवधि में इस सम्प्रदाय के नौ आचार्य हुए हैं।

यों तो सभी जैन सम्प्रदायों में ओसवालों का विशिष्ट योग रहा है किन्तु तेरापंथ का इतिहास मूलतः ओसवाल आचार्यों एवं ओसवाल श्रमण-श्रमणियों का ही इतिहास है। आज भी यह सम्प्रदाय थली प्रदेश के ओसवाल समाज का धार्मिक नेतृत्व संभाले हुए है। वैसे अगरवाल, पोरवाल, सरावगी, माहेश्वरी, सुनार, कुम्हार आदि अनेक कौमों के व्यक्ति इस सम्प्रदाय में दीक्षित हुए हैं परन्तु ९२ प्रतिशत श्रमण-श्रमणियाँ ओसवाल जाति की हुई हैं। आज भी इनके ८५ प्रतिशत अनुयायी मारवाड़, मेवाड़ एवं थली प्रदेश के ओसवाल हैं।

आचार्य भीखण जी (वि० सं० १८१७–१८६०)

तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भीखण जी का जन्म वि० सं० १७८३ में कंटालिया ग्राम (जोधपुर) के बड़ साजन ओसवाल वंश के सकलेचा गोत्रीय शाह बल्लू जी के घर हुआ। उनकी धर्मपत्नी दीपांजी ने स्वप्न में तेजस्वी सिंह देखा। इस स्वप्न के ठीक १८३ दिन बाद पुत्र का जन्म हुआ। उनकी तेजस्विता

देखकर भीखण नाम रखा गया। बड़े होकर वे महाजनी विद्या में निपुण हो गये। भीखणजी के पड़दादा कपूर जी ने ढूँढ़िया सम्प्रदाय में दीक्षा ली। बाबा पेमोजी पोतिया बंध सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। बल्लू जी गच्छ (चैत्य) वासी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। भीखग जी की आध्यात्म यात्रा में वे तीनों पड़ाव आये। उनका विवाह बगड़ी गाँव के बांठिया परिवार की कन्या से हुआ। एक पुत्री का भी जन्म हुआ, जिसका विवाह कालान्तर में नीभावत के वाफणा परिवार में हुआ। भीखण जी एवं उनकी पत्नी ने संयम साधना के लिए तांबे के लोटे में वैंगे का घोवण डाल कर दिन भर धूप में रखकर उसे पीना शुरू किया। भीखणजी की पत्नी रोग ग्रस्त हो गई और रोग की भयंकर वेदना में ही उनका अकस्मात् देहान्त हो गया। पत्नी की अकाल मृत्यु के उपरांत संयम साधगा में लीन भीखण जी ने वि० सं० १८०८ में स्थानकवासी परम्परा के आचार्य रघुनाथ जी से बगड़ी गांव में दीक्षा ग्रहण की और भिक्षु स्वामी कहलाने लगे। शास्त्रों के गंभीर मनन एवं सत्यान्वेषी मानस ने शीघ्र ही प्रचलित परम्परा से विद्रोह कर दिया। उन्होंने देखा कि साधु अपने लिए बनाये गये स्थानकों में रहते हैं, दोषपूर्ण क्रियाओं को शुद्धाचार बताते हैं। वि० सं० १८१४ में आचार्य जयमल जी, उनके शिष्य और अनेक श्रावकों ने पोरवाल श्रावक चतरोजी के नेतृत्व में राजनगर में विद्रोह का झण्डा गाड़ा। आचार्य रघुनाथ जी ने अपने प्रिय शिष्य भिक्षु को वि० सं० १८१५ में विद्रोह शमन करने के लिए राजगनर भेजा। भिक्षु स्वामी ने उन्हें समझाया बुझाया, पर स्वयं उनका अर्न्तमन भी विद्रोह कर उठा। उन्हें तीव्र ज्वर का प्रकोप हुआ। इस प्रवचंना से मुक्त होने का इरादा कर लिया। वि० सं० १८१६ का चतुर्मास जोधपुर हुआ। वहाँ आचार्य जयमल जी ने उनके प्रति सद्भावना प्रकट की। चतुर्मास समास होते ही बगड़ी में आचार्य रघुनाथ जो के दर्शन किये एवं स्पष्टतः अपना मन्तव्य रखकर ४ अन्य सन्तों के साथ संघ का परित्याग कर दिया। आचार्य जयमल जी के ६ अन्य प्रशिष्य भी उनसे आ मिले। आचार्य श्यामदास जी के २ साधु भी भिक्षु स्वामी के साथ हो गये। जोधपुर में उनकी श्रद्धा के १३ श्रावकों को उपासना में लगा देख कर एक सेवक ने फब्ती कसी :

साध साध रो मिलो करे, ते आप आपरो मंत।
सुणजो रे शहर रा लोकां, ऐ तेरापंथी तन्त॥

बस, दोहा प्रसिद्ध हो गया। लोगों ने उपहास करते हुए भिक्षु स्वामी के अनुयायियों को तेरहपंथी कहना शुरू कर दिया। स्वामी जी ने जब सुना तो इस नाम के अर्थ गाम्भीर्य को देखते हुए बोले—'हे प्रभो! यह तेरापंथ।' इस तरह अप्रत्याशित रूप से यह नामकरण हुआ। हर नई क्रान्ति का विरोध होता ही है। वही हुआ। भिक्षु स्वामी को ५ वर्ष तक पूरा आहार पानी नहीं मिला। लोग बाग किनारा कर लेते। ७ साधु विचलित होकर साथ छोड़ कर चले गये। पूरे ३६ वर्षों तक १३ साधु पूरे न हो सके।

स्वामी जी की लोकोपकार की भावना कम हो गई एवं उन्होंने मात्र अपने आत्म कल्याण का मार्ग चुन कर तपस्या प्रारम्भ कर दी। २ वर्ष तक इसी तरह चला। धीरे-धीरे विरोध की आंच मन्द पड़ी। सं० १८२१ में सर्वप्रथम ३ महिलाएँ दीक्षित हुईं। स्वामी जी ने कुल ४१ साधु एवं ५६ साध्वियों को प्रवज्या दी, जिनमें से २० साधु और १७ साध्वियों ने कालान्तर में संघ छोड़ दिया।

सं० १८३२ में आचार्य भीखण जी ने संघ की मर्यादा बांधी एवं सुदृढ़ संगठन की नींव डाली। एक आचार्य, एक आचार और एक विचार की महत्वपूर्ण त्रिपदी इस सम्प्रदाय की आधार शिला बन गयी। आचार्य भिक्षु ने राजस्थानी में ३८ हजार पद्यों का प्रचुर साहित्य निर्माण किया। उनका विचरण क्षेत्र मुख्यतः मेवाड़ व मारवाड़ रहा। सं० १८६० का चतुर्मास सिरयारी में हुआ, जो उस समय बड़ा कस्बा था वहाँ ७०० घर ओसवाल थे, पर अब मुश्किल से ५० घर हैं। वहाँ स्वामीजी का स्वास्थ्य गिरने लगा। उन्होंने संथारा पचख लिया। कहते हैं अन्तिम समय में उन्हें अवधिज्ञान हो गया था। भाद्र शुक्ला त्रयोदशी को उन्होंने यह नश्वर शरीर छोड़ दिया।

आचार्य भारीमल जी (वि० सं० १८६०–१८७८)

आपका जन्म मेवाड़ के मुहाँ ग्राम में वि० सं० १८०४ में ओसवाल वंशीय लोढ़ा गोत्रीय श्री कृष्णमल (किसनो) जी के घर हुआ। केलवा ग्राम में सं० १८१३ में आपकी दीक्षा हुई। सं० १८१७ में स्थानकवासी संघ से महाभिनिष्क्रमण के बाद केलवा चतुर्मास में अंधेरी ओरी की घटना एवं सर्पका उपसर्ग हुआ, तब आपने अजेय आत्मबल का परिचय दिया। कठिन परिस्थितियों में भी आपने भिक्षु स्वामी का साथ न छोड़ा। सं १८३२ में उन्हें युवाचार्य का पद दिया गया। आचार्य भीखण जी के स्वर्गारोहण पर वि० सं० १८६० में आपने आचार्य पद ग्रहण किया। आपकी प्रकृति गम्भीर व शान्त थी। आपकी व्याख्यान शैली आकर्षक और आवाज बुलन्द थी। आपकी गम्भीरता एवं निर्मल आत्मा के कारण कई मूर्तिपूजक व स्थानकवासी साधु तक आपके पास प्रायश्चित लेने आते। एक बार उदयपुर के महाराणा ने राज्य में वर्षा न होने का दोष तेरापंथी साधुओं पर थोप कर उन्हें शहर से बाहर निकाल दिया। उसी समय राज्य में महामारी फैल गई। प्रच्छन्न श्रावक केशरजी भण्डारी की विनती पर महाराणा ने पश्चाताप किया। पत्र लिखकर आचार्य भारीमलजी से क्षमा मांगी एवं पुनः शहर में पधारने का अनुरोध किया। आपने स्वामी हेमराज जी को भेज दिया, पर स्वयं नहीं गये। आपके चतुर्मास भी अधिकांश मेवाड़, मारवाड़ में हुए। आपने कुल ३८ साधु एवं ४४ साध्वियाँ प्रवजित की। आप कुशल लिपिकर्ता थे। सं० १८७७ में आप अस्वस्थ हो गये। सं० १८७८ में आपका स्वर्गवास हुआ। मुनि हेमराज जी ने 'भारीमाल चरित्र' लिख कर आपकी स्मृति अक्षुण्ण कर दी।

आचार्य रायचन्दजी (नि० सं० १७७८-१९०८)

तेरापंथ के तृतीय आचार्य रायचन्दजी का जन्म वि० सं० १८४७ में बड़ी रावलिया ग्राम (उदयपुर) के ओसवाल वंश के बम्ब गोत्रीय शाह चतुरो जी के घर में हुआ। आपके मामा खेतसो जो को भिक्षु स्वामी ने दीक्षित किया था। वे संघ के प्रभावक संत थे। आपकी मौसी ने भी नानाविध कष्ट सहकर स्वामीजी से दीक्षा ग्रहण की थी। उन्हीं संस्कारों ने रायचन्द जी को प्रेरित किया। सं० १८५७ में माँ-पुत्र दोनों स्वामी जी से दीक्षित हुए। आपकी प्रतिभा से प्रभावित होकर स्वामीजी ने घोषणा की थी-'यह बालक आचार्य पद के योग्य प्रतीत होता है।' भविष्य वाणी सत्य हुई। आपकी दीक्षा के बाद संघ की श्रीवृद्धि हुई। आपके ओजस्वी मुख मण्डल के कारण स्वामी जी आपको ब्रह्मचारी कहकर पुकारते थे। सं० १८७७ में आपको युवराज पद प्राप्त हुआ एवं १८७८ में आचार्य बनकर शासन संभाला। आपको ऋषिराय कहा जाता है।

आपके समय में थली प्रदेश में तेरापंथ आचार्य का प्रथम चतुर्मास हुआ। बीदासर एवं बाद में लाडनूं को यह श्रेय प्राप्त हुआ। इससे पूर्व आचार्य भीखणजी एवं भारीमल जी का पाद विहार एवं चतुर्मास मेवाड़ एवं मारवाड़ तक ही सीमित थे।

ऋषिराय ने मेवाड़-मारवाड़ के बाहर पाद-विहार की परम्परा कायम की। सं० १८८३ में मालवा प्रदेश में आपने अपूर्व अध्यात्म जागरणा पैदा कर दी। उज्जैन, रतलाम झाबुआ आदि क्षेत्रों में बड़ा प्रभाव पड़ा। बीदासर में एक यति के शिथिलाचार एवं पाखण्ड से लोग परेशान थे। सं० १८८६ में आप थली प्रदेश में पहली बार पधारे। १८८७ का चतुर्मास बीदासर किया। उस समय तेरापंथ संघ का जो बीजारोपण किया उसी का परिणाम है कि आज बीदासर तेरापंथ का प्रमुख क्षेत्र है। साधु साध्वी एवं श्रावक-श्राविकाओं की संख्या की दृष्टि से वह सर्वोपरि है। सं० १८८९ में गुजरात, सौराष्ट्र एवं कच्छ की लम्बी यात्रा की। क्षेत्रीय विकास की दृष्टि से यह नई परम्परा बनी। सं० १८९४ में नाथद्वारा चतुर्मास के समय ऐसा भी अवसर आया, जब आचार्य अकेले रह गये। सहवर्ती एक भी साधु पास न रहा। आचार्य परम्परा के इतिहास में ऐसा एक मात्र अवसर घटित हुआ।

वि० सं० १९०८ में श्वांस व्याधि के फलस्वरूप आपका देहान्त हुआ।

आचार्य जीतमलजी (नि० सं० १९०८-१९३८)

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य जीतमलजी बड़े प्रतिभा सम्पन्न एवं प्रभावक आचार्य थे। उनका जन्म वि० सं० १८६० में रोयट ग्राम (पाली) के ओसवाल वंशीय गोलेछा गोत्रीय सेठ आईदान जी के परिवार में हुआ। भिक्षु स्वामी का स्वर्गवास सं १८६० भादवा सूदी १३ को हुआ था, ठीक एक मास बाद मानो सूर्य अस्तांचल से फिर उग आया हो। जिस संघकी भिक्षु स्वामी ने नींव डाली, उसे भव्यता प्रदान आपने की। आचार्य भिक्षु,

सूत्रकार थे तो आचार्य जीतमलजी उनके भाष्यकार। तेरापंथ का वर्तमान स्वरूप उन्हीं की बुद्धि कुशलता एवं दूरदर्शिता का परिणाम है।

आप जब ३ वर्ष के थे, तब मीरखाँ डाकू ने रोयट में डाका डाला। उसके आघात से आपके पिता की मृत्यु हो गयी। माँ बच्चों को लेकर किशनगढ़ आ गयीं। नौ वर्ष की अवस्था में जीतमलजी आचार्य रायचन्द जी के पास दीक्षित हुए। १८ वर्ष की अवस्था में आपने पन्नवणा सूत्र का राजस्थानी भाषा में पद्यानुवाद किया।

मुनि हेमराज जी के कुशल संरक्षण में ज्ञान दर्शन चरित्र की ऊर्जा उर्ध्वरेता होकर आपमें प्रवाहित होने लगी। सं० १८८१ में आपको अग्रणी बना दिया गया। आपने अनेक अन्य सम्प्रदायों के मुनियों से शास्त्रार्थ कर उन्हें समाधान दिया। जगह-जगह भयंकर विरोध के बावजूद आपने भ्रान्तियों का निराकरण किया एवं सैंकड़ों लोगों को प्रभावित किया। सं० १८९० में ७०० कोस की ऐतिहासिक यात्रा की। कच्छ-सौराष्ट्र-गुजरात में विहार कर अनेक अजैनों को श्रद्धा दिलाई। सं० १८९३ में आपको युवाचार्य पद दिया गया। सं० १९०३ में आपने नाथद्वारा चतुर्मास में 'भिक्षु दृष्टान्त' नामक इतिहास, तत्वज्ञान एवं साहित्य की बेजोड़ कृति की रचना की। सं० १९०८ में वे आचार्य पदारूढ़ हुए। तब मर्यादाएँ बांध कर संघ को सुव्यवस्थित रूप दिया। आपने ग्रंथों का संघीकरण और गाथा प्रणाली का प्रणयन किया। हाजरी की शुरूआत की। मर्यादा महोत्सव आप ही की देन है। आपने महत्वपूर्ण साहित्य सृजन किया। आगमों पर साढ़े तीन लाख पद्यों की रचना कर आप ने साहित्य सृजन का एक कीर्तिमान स्थापित किया। मारवाड़ी भापा में पद्यबद्ध टीका रचना करने वाले आप प्रथम टीकाकार थे।

इतिहास लिखने की परम्परा के सूत्रधार भी आचार्य जीतमल जी थे। उन्होंने संघ में संस्कृत के अध्ययन पर विशेष जोर देकर दूरदर्शिता दिखाई, जो धर्म प्रभावना का आधार बना। भगवती की जोड़, भ्रम विध्वंसनम्, आदि अनेक तात्त्विक ग्रन्थ, भिक्षु यश रसायण, खेतसी चरित्र आदि इतिहास ग्रन्थ, लघुरास, शासन विलास आदि पौराणिक आख्यायिकाएँ आपकी महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

आचार्य जीतमलजी ने सं० १९१० में साध्वी प्रमुखा का पद सृजन कर 'सरदार सती' को पदासीन किया। उन्होंने संघ में तीन महोत्सवों की परम्परा डाली—पट्ट महोत्सव, भिक्षु चरमोत्सव एवं मर्यादा महोत्सव—जो अब तक कायम है। सं० १९१४ में लाडनूं के सेवा केन्द्र की स्थापना हुई। इससे संघ की साध्वियों की चित्त-समाधि एवं स्थिरता में बड़ा योग मिला। अब तक साधु-साध्वियों की वेशभूषा स्थानकवासी परम्परानुसार ही चली आ रही थी। आचार्य जीतमल जी ने मुंहपत्ती, रजोहरण, चोलपट्टा, चद्दर, पहनने के ढंग आदि को कलात्मक रूप देकर सुन्दरता प्रदान

की। आपके शासन काल में ३२९ दीक्षाएँ हुई—१०५ साधुओं की एवं २२४ साध्वियों की।

जयाचार्य का समूचा जीवन अंतश्चेतना के जागरण का प्रतीक था। अनेक बार उपसर्ग का शमन साधना का अंग बना। कहते हैं संवत् १९१३ (सन् १८५५) में सिरियारी में ५ तपस्वी सन्तों की स्तुति में रची गीतिका से कालों की फौज (गदर) का उपद्रव टला। संवत् १९१४ में 'मुणिद मोरा' स्तवन से बीदासर में आकाश से अंगार बरसने एवं सन्तों के मूर्छित हो जाने का उपसर्ग शांत हुआ। संवत् १९२९ में आप घोर वेदना से ग्रसित हुए। भिक्षु संस्तुति गाते गाते ऐसे भाव विभोर हुए कि वेदना स्वतः शान्त हो गयी। आप शकुन शास्त्र के भी मर्मज्ञ थे। स्वप्न में घटनाओं का पूर्वाभास होता रहता। संवत् १९२० में मुनि पतजी को दीक्षा को लेकर बड़ा बवण्डर उठा। जोधपुर नरेश ने आपकी गिरफ्तारी का वारंट जारी कर दिया। योग्य श्रावक श्री बादरमल जी भंडारी के प्रयत्नों से वारंट निरस्त कराया गया। सं० १९३१ में राजलदेसर के लछीराम जो बैंद राजा से अणबन के कारण लाडनूं चले आये—वहाँ पहलीपट्टी में दो हवेलियाँ बनवायीं—कहते हैं उनमें पीर जी का उपद्रव था। जयाचार्य वहाँ विराजे। आज तक वे हवेलियाँ संत-सतियों का प्रवास स्थान बनी हुई हैं—कभी कोई विघ्न उपस्थित नहीं हुआ।

संवत् १९३८ में इस युग प्रवर्तक आचार्य का देहावसान हुआ।

आचार्य मघवागणि (वि० सं० १९३८–१९४९)

आपका जन्म वि० सं० १९८७ में बीदासर के ओसवाल जातीय बैंगानी गोत्रीय सेठ पूरणमल जी के घर में हुआ। आपका पूर्व नाम मघराज जी था। आपका आपकी छोटी बहन गुलाब कँवर से आकार प्रकार में सादृश्य था। दोनों भाई बहन यौगलिक-युगल से लगते थे। अल्पायु में पिता का देहान्त हो गया। सरदार सती की प्रेरणा से भाई बहन में वैराग्य का बीज वपन हुआ। सं० १९०८ में जयाचार्य के बीदासर चतुर्मास में दोनों को दीक्षा का हुक्म हुआ। पूर्वोत्सव में लोगों के व्यंगबाण सुनकर चाचा पोमराज जी ने उन्हें घोड़ी से उतार कर गढ़ में छिपा दिया। किन्तु बाद में गढ़ के ठाकुर के हस्तक्षेप से उन्हें दीक्षा की आज्ञा देने हेतु राजी होना पड़ा। कुछ समय के अन्तर से दोनों दीक्षाएं सम्पन्न हुई।

आपने दत्तचित्त होकर विद्याभ्यास किया। संस्कृत एवं व्याकरणविज्ञ बने। आप स्थिर-चित्त वृत्ति एवं अपूर्व लगन के लिए प्रसिद्ध थे। सभी सहवर्ती सन्त उन्हें 'पंडित' कह कर सम्बोधित करते थे। आप शासन की दण्ड व्यवस्था के सरपंच नियुक्त हुए। १९१९ में जयाचार्य ने सामूहिक बोझ भार से आपको मुक्त कर दिया। सं० १९२० में आप युवाचार्य बने। आप बड़े निरभिमानी थे। लिपि-कला में दक्ष थे। आपके

व्याख्यान कौशल से जनता मंत्रमुग्ध हो जाती थी। आप सं० १३८ में संघ के पाँचवें आचार्य बने।

आपने संस्कृत में स्फुट कविताएँ एवं मारवाड़ी में 'जय सुयश' की रचना की। मेवाड़, मारवाड़, थली आदि प्रदेशों में सर्वत्र धर्म संघ को महिमा फैलाई। सं० १९४९ में रतनगढ़ चतुर्मास के समय आप अस्वस्थ हुए। शासन की बागडोर माणक गणि को युवाचार्य बनाकर सौंप दी। आपके अल्प कालीन शासन में ११९ दीक्षाएँ हुई। ६३ वर्ष की आयु में वि० सं० १९४९ में आप दिवंगत हुए।

आचार्य माणक गणि [वि० सं० १९४९-१९५४]

आपका जन्म वि० सं० १९१२ में जयपुर के खारड़ गोत्रीय श्री श्रीमाल [ओसवाल] श्री हुक्मीचन्द जी जौहरी के परिवार में हुआ। आपका पूर्वनाम माणक लाल था। शिशुवय में माता का देहान्त हो गया। दो वर्ष बाद ही गदर के समय डाकूओं की लूट पाट में दुर्घटना ग्रस्त होने से पिता भी चल वसे। पिता के बड़े भाई लाला लक्ष्मणदास बड़े तत्वज्ञ और उदार व्यक्ति थे। बम्बई, सूरत एवं महाराष्ट्र में तेरापंथ के बीज वपन का श्रेय उन्हीं को है। उन्हीं के अभिभावकत्व में माणक गणि में धर्म-संस्कार पड़े। संवत् १४२८ के चतुर्मास में जयाचार्य के मार्मिक प्रवचनों से आप में वैराग्य जगा। लालाजी ने जयाचार्य के अनुग्रह वचन 'मेरा उत्तरदायित्व तो मघ जी संभाल लेंगे, उनका भार संभालने वाला भी तो चाहिए' सुनकर तत्काल दीक्षा की अनुमति दे दी। लाडनूं में आपकी दीक्षा हुई। संवत् १९३१ में आप अग्रणी बने। संवत् १९४९ में आप संघ के छठे आचार्य बने। आपकी आकृति सुन्दर व कद लम्बा था। प्रकृति कोमल एवं कंठ मधुर था। स्वभाव से दयालु थे। देशाटन की बहुत रुचि थी। हरियाणा प्रान्त में विहार कर सर्वप्रथम वहाँ तेरापंथ का बीज वपन किया। संवत् १९५४ के सुजानगढ़ चतुर्मास में आप अस्वस्थ हो गये। आपको ज्योतिष में बड़ा विश्वास था। आपकी कुण्डली में ६२ वर्ष की आयु का योग था। अतः युवाचार्य का मनोनयन अनेक सन्तों के अनुरोध करने पर भी नहीं किया और स्वर्ग सिधार गये। तेरापंथ के इतिहास में यह पहला अवसर था, जब भावी आचार्य का मनोनयन न किया गया हो। जिस संघ की समस्त व्यवस्था आचार्य केन्द्रित हो, उसके लिए यह चुनौतीमय अवसर था, जिसका समाधान संघ ने बड़े मर्यादित ढंग से निकाला। आप ४३ वर्ष की अल्पायु में वि० सं० १९५४ में स्वर्गस्थ हुए।

आचार्य डाल गणि [वि० सं० १९५४-१९६६]

आप तेरापंथ धर्म संघ के एक मात्र ऐसे आचार्य हैं, जिन्हें यह पद गुरु द्वारा से नहीं, अपितु अपने पुरुषार्थ और कृतित्व से मिला।

आपका जन्म वि० सं० १९०९ में उज्जैन के पीपाड़ा गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि श्री कानीराम जी के घर में हुआ। आपका पूर्व नाम डालचन्द था। छोटी अवस्था में ही आप के पिता का देहान्त हो गया। आपकी माता श्री का मन संसार से विरक्त हो गया अतः उन्होंने परिजनों की अनुमति से सं० १९२० में दीक्षा ले ली। तब ये ११ वर्ष के थे। इससे इनके मन में भी वैराग्य उत्पन्न हुआ। सं० १९२३ में आपने भी मुनि हीरालाल जी से दीक्षा ले ली। सं १९३० में जयाचार्य ने आपको अग्रणी बना दिया।

आप सैद्धान्तिक ज्ञान के पंडित थे। वक्तृत्व कला एवं तर्क चर्चा में निष्णात थे। मघवागणि के उदयपुर चतुर्मास में संघ को बड़े उग्र विरोध का सामना करना पड़ा। स्थान-स्थान पर चर्चा से क्लेश वढ़ता देखकर उदयपुर के महाराणा को आदेश देना पड़ा कि जहाँ तेरापंथी आचार्य हो, वहाँ स्थानकवासी मुनि न जायें ताकि शान्ति भंग न हो। आपने कच्छ की तीन यात्राएँ की और वहाँ इतना प्रभाव छोड़ा कि लोग इन्हें 'कच्छी पूज्य' कहने लगे। आप पालीताणा पधारे। शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा की। आपने ध्रांगध्रा में ऋषि सन्त अमरसी से भेंट की। वे मन्त्र तन्त्र के ज्ञाता थे एवं उस क्षेत्र में व्यापक प्रभाव रखते थे। उन्होंने आपको आग्रह पूर्वक अनेक बहुमूल्य वस्तुएँ देनी चाही, पर आपने अस्वीकार कर दीं। अमरसी जी आपकी निस्पृहता से प्रभावित हुए।

सं० १९५४ में आ० माणकगणि के देहावसान पर भावी आचार्य का मनोनयन न होने से बड़ी विकट स्थिति पैदा हो गयी थी। लाडनूं में समस्त संघ एकत्रित हुआ। अन्तरिम काल में दीक्षा-ज्येष्ठ मुनि भीम जी का शासन रहा। संघ ने आचार्य चयन का भार संघ हितैषी मुनि कालूजी [बड़े] पर छोड़ा। मुनि कालू जी ने डालगणि को संघ को सप्तम आचार्य घोषित किया। उस समय तक डालगणि कच्छ से लाडनूं पहुँचे न थे। आपने जोधपुर में यह समाचार सुना। लाडनूं पधारने पर आपका अभूतपूर्व स्वागत किया गया। तेरापंथ धर्म संघ में यह घटना निराली थी।

आपका अनुशासन बहुत कड़ा था। सं० १९५९ में आपका स्थानकवासी आचार्य जवाहरलाल जी से दो दिन तक शास्त्रार्थ हुआ। आपके आचार्य काल में आचार्यों की महिमा व गरिमा जितनी वढ़ी, उतनी पहले कभी नहीं थी। आपके अल्पकालीन शासन में १६२ दीक्षाएँ हुई। स० १९६४ से आपका स्वास्थ्य गिरने लगा। सं० १९६६ तक आपका लाडनूं में स्थिरवास रहा। इस दरम्यान भयंकर रुग्णावस्था में भी आप व्याख्यान अवश्य देते एवं सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करते थे। १९६६ में लाडनूं में ही आप स्वर्गस्थ हुए।

आचार्य कालू गणि [वि० सं० १९६६–१९९३]

तेरापंथ धर्म संघ के आठवें आचार्य-कालूराम जी स्वामी बड़े तेजस्वी एवं प्रभावक थे। आपका जन्म वि० सं० १९३३ में छापर (थली) के ओसवाल वंश के

कोठारी गोत्रीय सेठ मूलचन्द जी के घर हुआ। आपकी माता छोगा जी धर्मनिष्ठ महिला थीं। आपकी जन्म कुण्डली देखकर आपके योगीराज होने की भविष्य वाणियाँ हुई। आपका जन्म नाम शोभाचन्द था परन्तु काला भैरू का ईष्ट होने एवं आपका वर्ण श्याम होने से आपका नाम कालू प्रचलित हो गया। मात्र ३ माह की आयु में आपके पिता का देहान्त हो गया। छोगा जी अपने पीहर डूंगरगढ़ रहने लगी। माँ की प्रगाढ़ ममता के कारण आप कभी स्कूल नहीं गये।

सं० १९४१ में छोगा जी में वैराग्य भाव उदय हुआ। ग्यारह वर्ष की अवस्था में अपनी माता जी के साथ आप आचार्य मघवागणि से दीक्षित हुए। संस्कृत एवं आगमों का अध्ययन किया। मगनमुनि आपके अभिन्न सखा थे। माणकगणि के देहावसान पर नये आचार्य के चयन के समय भी डालगणि के विकल्प स्वरूप कालूजी का ही नाम उभरा था। डालगणि के देहावसान पर वि० सं० १९६६ में वे आचार्य पद पर आसीन हुए।

उनके शासन काल में तेरापंथ की अभूतपूर्व प्रगति हुई। साधना, शिक्षा, साहित्य आदि क्षेत्रों में संघ ने कीर्तिमान स्थापित किये। आपके शासन में ३२५ से अधिक दीक्षाएँ हुई। संस्कृत व्याकरण के समुचित अध्ययन में पं० रघुनन्दन शर्मा का सहयोग बड़ा लाभकारी सिद्ध हुआ। अनेक मौलिक संस्कृत ग्रन्थों की रचना हुई। 'भिक्षु शव्दानुशासन' एवं 'कालू-कौमुदी' सरीखे व्याकरण ग्रन्थों का सृजन हुआ। वि० सं० १९७९ में आपने बीकानेर चतुर्मास किया। वहाँ तीव्रतम विरोध का सामना करना करना पड़ा। मगन मुनि की पीठ पर विद्वेषियों ने कोड़ा मारा। वातावरण विषाक्त हो गया। युवराज शार्दूलसिंह जी के प्रयत्न के वावजूद पारस्परिक वैमनस्य न मिटा। जब महाराज गंगासिंह विलायत से आये तो उन्होंने आज्ञा जारी कर समग्र विरोधी सामग्री जब्त कर ली। कतिपय व्यक्तियों को बीकानेर से निष्कासित भी किया। तब कहीं जाकर विरोध की आँच मन्द पड़ी।

इसी तरह संवत् १९९२ की मालवा यात्रा में विरोध का सामना करना पड़ा। भ्रान्तियों का स्पष्ट निराकरण कर आपने विरोध शान्त किया। भिवाणी चतुर्मास के समय दीक्षा-विरोध हुआ, परन्तु वे भी निर्विघ्न सम्पन्न हुई। इस तरह जोधपुर में सं० १९९१ में जब २२ दीक्षाएँ एक साथ हुई, तब भी जबरदस्त विरोध हुआ। अनेक प्रान्तों में नाबालिग-दीक्षा विरोधी कानून बने। परन्तु संघ की परम्परा अक्षुण्ण रही।

सं० १९७३ में विदेश यात्रा को लेकर समाज में 'श्री संघ' विलायती विवाद उठा। समाज दो धड़ों में बँट गया। आपस में खान पान, शादी-विवाह बन्द हो गया। गाली गलौज होने लगा। परन्तु आपने किसी का पक्ष न लेकर धर्म संघ की एकरूपता बनाये रखी। सं० १९८४ में स्थानकवासी आचार्य जवाहरलाल जी [illegible] स्थान पर शास्त्रार्थ हुए एवं उनके तर्कों का निरसन किया।

आपके शासन में सिलाई, रंगाई व रजोहरण की कला का बहुत विकास हुआ। खानदेश, वरार, बम्बई, हैदराबाद आदि सुदूर प्रदेशों में साधुओं को भेज कर तेरापंथ का क्षेत्र व्यापक वनाने का श्रेय आपको ही है। आपके शासन काल में ही कलकत्ता की तेरापंथी महासभा की स्थापना हुई।

सं० १९९३ में आप अस्वस्थ हो गये। चतुर्मास गंगापुर हुआ। परन्तु डाक्टरी उपचार के बावजूद रोग उपशान्त नहीं हुआ। मगन मुनि की भावी आचार्य सम्बन्धी जिज्ञासा शांत करते हुए आपने संघ के इतिहास में प्रथम बार खुले रूप में अपने उत्तराधिकारी की घोषणा की एवं संत तुलसीराम जी को युवाचार्य मनोनीत किया। उन्हें सजगता का मूल मन्त्र दिया। गंगापुर में ही आपका देहावसान हुआ। आपके शासन काल में कुल ४१० दीक्षाएँ हुई। कुल ६३ संत-सती गण बाहर हुए। आपके शासन काल में अनेक विशिष्ट तत्वज्ञ, तपस्वी, सेवा परायण एवं प्रभावक साधु-सती एवं श्रावक श्राविका हुए, जिनसे संघ की श्रीवृद्धि हुई। वि० सं० १९७० में डा० हरमन जैकोबी जैसे प्राच्य विद्या विशेषज्ञ की प्रशस्ति अर्जित कर आपने तेरापंथ धर्म संघ का मान बढ़ाया! इटालियन विद्वान डा० एल० पी० टेसीटोरो, प्रो० गेल्सी आदि विद्वानों ने आपके दर्शन कर आध्यात्मिक आह्लाद प्राप्त किया।

आचार्य तुलसी (वि० सं० १९९३)

तेरापंथ के नवम (वर्तमान) आचार्य तुलसीगणि ने अणुव्रत आन्दोलन का सूत्रपात कर भारत व्यापी ख्याति अर्जित की है। आपका जन्म वि० सं० १९७१ में लाडनूं के ओसवाल वंश के खटेड़ गोत्रीय सेठ श्री झूमरमल जी के घर में हुआ। पिता का साया अल्प वय में ही उठ गया। आपकी माता वदना जी वड़ी धर्म परायण थीं। वि० सं० १९८२ में आप भगिनी लाडां जी के साथ आचार्य कालूगणि के पास दीक्षित हुए। इनके ज्येष्ठ भ्राता चम्पालाल जी पहले ही दीक्षित हो चुके थे। माता वदनाजी वाद में दीक्षित हुई। कालूगणि के निजी संरक्षण में शिक्षा प्रारम्भ हुई। ग्यारहें वर्ष में आपने वीस हजार पद्य प्रमाण श्लोक कंठस्थ कर अपनी मेधा से सबको चमत्कृत कर दिया। शुरू से ही कालूगणि ने संघ का दायित्व संभालने के लिए उन्हें तैयार करना प्रारम्भ कर दिया था।

तुलसी गणि ने २२ वर्ष की आयु में (वि० सं० १९९३) आचार्य पदारूढ़ हो तेरापंथ धर्म संघ का शासन भार संभाला। साध्वियों की शिक्षा का नया कीर्तिमान आपके शासन काल की उपलब्धि है। इस दौरान पं० रघुनन्दन जी की उल्लेखनीय सेवाएँ संघ को उपलब्ध रहीं। आचार्य श्री कवि, साहित्यकार एवं चतुर शासन-संचालक हैं। आपने स्वयं न्याय एवं योग विषयक मौलिक रचनाएँ की हैं तथा आपके नेतृत्व में श्रमण संघ ने विपुल साहित्य सृजन किया है। आपके सान्निध्य में महाप्रज्ञ मुनि नथमल जी ने आगम ग्रन्थों का सम्पादन कर जैन धर्म की महती सेवा की है।

वि० सं० २००५ में आपने अणुव्रत अभियान प्रारम्भ किया, जिसकी भारत के राजनेताओं ने भूरि-भूरि प्रशंसा की। आपके शासन में श्रमण संघ का बिहार क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया। आप श्रमण-श्रमणियों की अब तक ७७६ दीक्षाएँ सम्पन्न कर चुके हैं। किसी भी जैनाचार्य ने सम्भवतः इतनी दीक्षाएँ नहीं दी। यह एक कीर्तिमान है।

आचार्य तुलसी ने भारतव्यापी पद-यात्रा की। सूदुर दक्षिण के कर्नाटक, तामिलनाडू, केरल प्रदेशों में आचार्य के पाद विहार एवं एक लाख किलोमीटर की यात्रा का संघ में प्रथम अवसर था। साधु साध्वियों के असम, सिक्किम, गोवा, कश्मीर, पांडीचरी एवं विदेशों—नेपाल भूटान विचरण का भी यह प्रथम अवसर था। सं० २०१७ में 'नई मोड़' का आह्वान कर सामाजिक प्ररिप्रेक्ष्य में पर्दा प्रथा, मृत्यु भोज, रूढ़िरूप में मृतक के पीछे रोना, विधवाओं का काले वस्त्र पहनना आदि कुरीतियों के उन्मूलन में आप प्रेरणा स्रोत बने। सं० २०२८ में बीदासर में आपको संघ द्वारा 'युग प्रधान' आचार्य के रूप में सम्मानित किया गया। सं० २०३५ में आपने मुनि नथमल जी को युवाचार्य घोषित किया एवं 'महाप्रज्ञ' की पदवी से अलंकृत किया। लाडनुं में जैन विश्व भारती एवं तुलसी आध्यात्म नीड़म् की स्थापना समाज को युगों तक अध्यात्म पोषण देती रहेगी। प्रेक्षा ध्यान की अभिनव शुरूआत से साधना क्षेत्र में अभूपूर्व क्रान्ति हुई है। लाडनूं में सं० २०३७ में 'समणी दीक्षा' के क्रान्तिकारी कदम से धर्म के विकास को नई दिशा और विदेशों में धर्म प्रचार के नये आयाम मिले हैं। आपके शासन के ५० वर्ष पूरे होने पर लाडनूं में अमृत महोत्सव का अपूर्व कार्यक्रम हुआ।

आपके शासन काल में तपस्या के भी अनेक कीर्तिमान स्थापित हुए। साध्वी राजकुमारी जी (नोहर) ने १४ वर्षों का मौन व्रत, मुनि वृद्धिचन्द जी ने गुणरत्न संवत्सर, मुनि सुखलाल जी ने भद्रोतर तप, एवं साध्वी भूरा जो ने महा भद्रोतर तप किये। मुनि सुखलाल जी ने ६ महीने का रोमांचकारी जल परिहार तप किया। श्राविका कला देवी ने १२१ दिन की तपस्या की एवं मनोहरी देवी आंचलिया ने ३० बार महीने महीने की तपस्या की। संतों में चित्रकला, शिल्पकला, रंग-रोगन, सिलाई आदि का विकास हुआ। सूक्ष्म लिपि लेखन के कीर्तिमान स्थापित हुए। साहित्य सुरक्षा हेतु पेटियां एवं चश्मे, लेंस, जलघड़ी आदि आवश्यक वस्तुओं का निर्माण हुआ। आपके संरक्षण में साधु साध्वी शतावधानी एवं सहस्रावधानी हुए। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, पंजाबी, तमिल, कन्नड़, बंगला आदि भाषाओं के प्रवक्ता, अध्येता एवं कवि हुए। आगमों का सम्पादन एवं समीक्षाएँ हुई। आचार्य भिक्षु एवं जयाचार्य के विशाल साहित्य का सम्पादन-प्रकाशन हुआ। मुमुक्षु बहनों के स्वाध्यायार्थ सं० २००५ में पारमार्थिक शिक्षण संस्था की स्थापना हुई। संवत् २०४२ के लेखानुसार आपके अनुशासन में १३१ संत एवं ४६६ सती साधनारत है।

आपके शासन काल में अंत रंग एवं वाह्य विरोध भी कम नहीं हुए। सं० २०१२ में मुनि रंग लाल जी प्रभृति १५ संत, २०३०-३२ में मुनि नगराज जी, मुनि महेन्द्र कुमार जी प्रभृति संत, सं० २०३८ में मुनि धर्मराज जी, मुनि चन्दनमल जी, मुनि रूपचन्द जी प्रभूति संत संघ से अलग हुए। सं० २००६ में जयपुर में बाल दीक्षा विरोध २०१६ में कलकत्ता में मलमूत्र प्रकरण एवं सं० २०२७ में रायपुर एवं सं० २०२९ में चुरू में अग्नि परीक्षा को लेकर विरोध हुआ।

इनके वावजूद आपका शासन काल सफलताओं की एक लम्बी सूचि संजोए है। धर्म संघ ने आपको युग प्रधान पद से विभूषित तो किया ही, राजस्थान विद्यापीठ उदय पुर ने आपको 'भारत ज्योति' अलंकरण से सम्मानित किया। भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् ने अपने प्रख्यात ग्रन्थ 'लिविंग विद परपज' में विश्व की १४ महान विभूतियों में आपको ही एक मात्र विद्यमान विभूति माना है।

दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रभावी संत :

भगवान पार्श्वनाथ की श्रमण परम्परा श्वेताम्बर होते हुए भी भगवान महावीर के श्रमण संघ में अचेल (निर्वस्त्र) एवं सचेल—दोनों साधना पद्धतियाँ विद्यमान थी। महावीर के निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् उत्तर भारत में भयंकर बारह वर्षीय दुर्भिक्ष की आशंका से भगवान के १३वें पट्टधर आचार्य भद्रबाहु ने जब दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान किया, तब जिन-संघ छिन्न-भिन्न हो गया। दुर्भिक्षोपरांत धीरे-धीरे श्रमण संघ फिर एकत्रित हुआ। तब तक दिगम्बर-श्रमण परम्परा का उत्तर भारत से सर्वथा लोप हो चुका था। श्वेताम्बर परम्परा ने सचेल साधना पद्धति को ही मान्यता दी।

उत्तर भारत के उपलब्ध अभिलेखों में दिगम्बर संघ या परम्परा का विक्रम की ११वीं शताब्दी से पूर्व कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस परम्परा के मूल संघ, द्राविड़ संघ, माथुर संघ आदि की स्थापना दक्षिण भारत में ही हुई। वहीं से यह परम्परा ११वीं शताब्दी के आस पास उत्तर भारत में आई।

क्षत्रियों से उत्पन्न अन्य जातियों में माहेश्वरी, अग्रवाल, खंडेलवाल, (सरावगी) बघेरवाल आदि प्रमुख हैं। विक्रम की १२वीं से १७वीं शताब्दी के बीच अनेक व्यवसायिक जातियों ने जैन धर्म अंगीकार किया। जहाँ ओसवाल जाति एवं सम्बन्धी गोत्रों ने श्वेताम्बर मान्यता स्वीकार की, वहाँ अग्रवाल, सरावगी आदि जातियाँ दिगम्बर मतानुयायी हो गयीं। फिर भी यदा-कदा अनेक श्रीमाल ओसवाल गोत्रों एवं परिवारों ने दिगम्बर धर्म एवं साधना पद्धति अंगीकार की। दिगम्बर परम्परा में प्रभावी श्रीमाल ओसवाल संत हुए हैं। ऐसे ही एक क्रांति द्रष्टा संत थे श्री कानजी स्वामी।

श्री कानजी स्वामी

आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का जन्म सौराष्ट्र के उमराला ग्राम में संवत् १९४७ को ओसवाल जातीय श्रीमाल (दसा) गोत्रीय श्री मोतीचन्द भाई के घर हुआ। उनका परिवार श्वेताम्बर जैन स्थानकवासी सम्प्रदाय का अनुयायी था। कानजी को १२ वर्ष की अल्प वय में मातुश्री का वियोग हुआ एवं १६ वर्ष की वय में पिताश्री चल बसे। तब से वे पैतृक दुकान संभालने लगे। उन्हें नाटक देखने का बहुत शौक था। आध्यात्मिक नाटकों के वैराग्यपरक दृश्यों की गहरी छाप इस महान् आत्मा के वैराग्य का निमित्त बनी। उनका उदासीन जीवन एवं सरल अन्तःकरण देखकर सगे-सम्बन्धी उन्हें 'भगत' कहते थे।

संवत् १९७० में श्री हीराचन्दजी महाराज से कानजी स्वामी ने उमराला में दीक्षा ग्रहण की। चन्द वर्षों में ही अगम आगम अभ्यास कर डाला एवं स्थानकवासी सम्प्रदाय में सर्वत्र उनकी चारित्रिक सुवास फैल गयी। वे साधु रूप में 'काठियावाड़ के कोहनूर' कहलाने लगे। संवत् १९७८ में श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत 'समयसार' के दोहन से कानजी स्वामी के अन्तर्जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। वे वस्तु स्वभाव एवं निर्ग्रन्थ मार्ग के हामी हो गये, क्रिया कांड एवं बाह्य व्रत नियम उनके लिए साधना की अपरिपक्वता के द्योतक बन गये। वेश एवं आचरण की इस विषम स्थिति से पार पाने हेतु उन्होंने संवत् १९९२ में सोनगढ़ में स्थानकवासी सम्प्रदाय का त्याग कर दिया। फलतः निन्दा की झड़ी लग गयी। स्थानकवासी समाज में खलबली मच गयी। किन्तु वे काठियावाड़ी जैन समाज के हृदय में बसे हुए थे। साम्प्रदायिक व्यामोह एवं लौकिक भय छोड़कर सत्संगार्थी जनों का प्रवाह सोनगढ़ की ओर बढ़ता गया।

कहते हैं संवत् १९९४ में साधिका चम्पा बेन को जातिस्मरण ज्ञान हुआ। संवत् १९९५ में गुरुदेव के प्रवचन एवं निवास हेतु भक्तों ने सोनगढ़ में एक नवीन 'श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर' का निर्माण करवाया एवं गुरुदेव ने 'समयसार' परमागम की मंगल प्रतिष्ठा करवायी। संवत् १९९५ में २०० मुमुक्षुओं के संघ सहित गुरुदेव ने सिद्ध क्षेत्र शत्रुञ्जय तीर्थ की पावन यात्रा की। राजकोट चतुर्मास के पश्चात् गिरिराज गिरनार तीर्थ की यात्रा सम्पन्न कर गुरुदेव संवत् १९९७ में सोनगढ़ लौटे। आपकी ही प्रेरणा से वहाँ सीमंधर भगवान के मन्दिर एवं समवशरण मन्दिर की स्थापना हुई। प्रतिष्ठा महोत्सव संवत् १९९९ में सम्पन्न हुआ। सौराष्ट्र में दिगम्बर धर्म का नवसर्जन उन्हीं ने किया। इसी बीच विद्यार्थियों एवं गृहस्थों के लिए शिक्षण शिविर आयोजित हुए। संवत् २००० से 'आत्मधर्म' नामक गुजराती मासिक पत्र का प्रकाशन शुरू हुआ। सोनगढ़ आध्यात्म तीर्थ-धाम बन गया। संवत् २००२ में इन्दौर के सर सेठ हुकम चन्द आपकी आध्यात्मिक ख्याति सुन कर गुरुदेव के दर्शन हेतु सोनगढ़ आये एवं यहाँ

आध्यात्म रसयुक्त वातावरण देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। संवत् २००३ में भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वद् परिषद का वार्षिक अधिवेशन सोनगढ़ में हुआ।

गुरुदेव ने विशाल मुमुक्षु संघ सहित सं० २०१३ से सं० २०२० के बीच पूर्व, उत्तर एवं दक्षिण भारत के सकल जैन तीर्थों की यात्रा की। अनेक स्थानों पर मुमुक्षु मण्डलों की स्थापना हुई। 'नैरोबी' में गुरुदेव के प्रयास से सनातन सत्य जैनधर्म का प्रचार हुआ। आत्म-साक्षात्कार की झलक सम्प्रेषित करते हुए कानजी स्वामी ने उद्घोषणा की—'बिना स्वानुभूति के सम्यग्दर्शन का प्रारम्भ ही नहीं होता'। रूढ़िग्रस्त सम्प्रदायवाद स्वामीजी की इस चुनौती का उत्तर न दे सका। अन्तिम क्षणों तक स्वानुभव-समृद्ध-ज्ञान पीयूष जन जन में वितरित करते हुए सं० २०३७ (सन् १९८०) में इस क्रांति द्रष्टा संत ने महा प्रयाण किया। ●



ओसिया तीर्थ में शिलालेख जड़ित महावीर का रंग मंडप



प्राचीन तीर्थ एवं ओसवाल | १०

तीर्थों एवं मन्दिरों का निर्माण

पार्श्वनाथ सन्तानीय आचार्य रत्न प्रभ सूरि द्वारा वि० सं० से ४०० वर्ष पूर्व क्षत्रियों को प्रतिबोध देकर जैन धर्म अंगीकार करवाना एक अभूतपूर्व सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात था। अपने परम्परागत क्षत्रिय कर्म को खेती एवं व्यवसाय कर्म से जोड़ कर यह 'महाजन' समुदाय राजनैतिक प्रभुत्व एवं आर्थिक सम्पन्नता में सदैव अग्रणी रहा। जैन धर्म की प्रभावना के लिए ओसवाल श्रेष्ठि सदैव तत्पर रहे। तीर्थों एवं मन्दिरों के निर्माण में उनका अभूतपूर्व योगदान रहा। ओसवाल जाति के इस ऐतिहासिक अवदान को रेखांकित किये विना ओसवाल जनों की मनोभूमिका को नहीं जाना जा सकता। ओसिया तीर्थ के शिलालेख जड़ित महावीर मन्दिर की विशद चर्चा अध्याय दो (पृ० ७३–८३) में हो चुकी है।

तक्षशिला तीर्थ :

सिंधु नदी एवं काबुल के बीच का भू-भाग किसी समय गांधार देश के नाम से प्रख्यात था। महाभारत, बौद्ध तथा जैन शास्त्रों में इस प्रदेश का विशेष उल्लेख मिलता है। कनिष्क का साम्राज्य गांधार देश तक विस्तृत था। प्राचीन समय में प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र बाहुबलि का राज्य इसी जनपद में था। तक्षशिला उसकी राजधानी थी। भगवान ऋषभदेव ने कई बार इस प्रदेश में विहार किया। बाहुबलि ने उस उद्यान में, जहाँ भगवान ऋषभ कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानारूढ़ रहे, प्रभु के चरणबिम्ब प्रतिष्ठित करवाये। आचार्य हेमचन्द्र कृत 'त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र' एवं आचार्य जिन प्रभ सूरि कृत 'विविध तीर्थ कल्प' से इसकी पुष्टि होती है। तक्षशिला के राज्य के लिए भरत और बाहुबलि में घनघोर युद्ध हुआ था। अन्ततः बाहुबलि विजयी हुए। किन्तु उन्होंने परिग्रह त्याग कर राज्य भरत को सौंप दिया एवं स्वयं प्रव्रज्या ले ली।

जैन धर्म प्रभावक सम्राट् सम्प्रति ने अपने अन्ध पिता कुणाल (सम्राट् अशोक के पुत्र) के लिए तक्षशिला में महल एवं धर्मोपासना के लिए एक जैन स्तूप का निर्माण करवाया।

'मानदेव सूरि प्रबन्ध' के अनुसार कभी इस क्षेत्र में ५०० जैन मन्दिर थे। वि० सं० २८० में वहाँ एक महामारी फैली, तब वीरदत्त श्रावक जैन संघ की प्रार्थना पर आचार्य मान देव सूरि के पास नाडलाई गया। और संघ पर आयी विपत्ति दूर करने की प्रार्थना की। आचार्यजी ने तब 'लघु शांति स्तोत्र' बनाया। उनके बनाये लघु शान्ति स्तोत्र के जाप से महामारी का उपद्रव शान्त हुआ। कुछ समय पश्चात् ही तुरुष्कों ने इस नगर का विध्वंस कर दिया।

श्री धनेश्वर सूरि कृत 'शत्रुञ्जय महात्म्य' के अनुसार तक्षशिला के महाजन श्रेष्ठि भावड़ शाह के पुत्र जावड़ शाह ने वि० सं० १८७ में शत्रुञ्जय तीर्थ का उद्धार किया एवं तक्षशिला से भगवान ऋषभ की मूर्ति ले जाकर वहाँ प्रस्थापित की।

वर्तमान में पाकिस्तान की राजधानी इस्लामाबाद (रावलपिंडी के निकट) से उत्तर दिशा में २० मील दूर तक्षशिला नगर के ध्वंसावशेष विद्यमान हैं। विक्रम संवत् १९८० में इस स्थान के उत्खनन से पूर्व इस क्षेत्र की जनता इसे 'शाह की ढ़ेरी' नाम से पहचानती थी। 'शाह' प्राचीन काल से ओसवालों की परम्परागत पदवी रही है एवं गुजरात के ओसवालों में 'शाह' नाम का गोत्र भी है।

शत्रुञ्जय तीर्थ :

गुजरात (सौराष्ट्र) स्थित पालीताना (पादलिप्तपुर) क्षेत्र का शत्रुञ्जय तीर्थ जैनों के प्राचीनतम तीर्थों में से एक है। सुप्रसिद्ध जैन गुरु पादलिप्त सूरि की पुण्य स्मृति

में उनके शिष्य नागार्जुन ने अनुमानतः द्वितीय या तृतीय सदी में इस नगर की स्थापना की। अनेक जैनाचार्यों, कवियों एवं इतिहासकारों ने इसके वैभव एवं महात्म्य से प्रेरित होकर रास एवं काव्य रचे। ओसवाल जाति के उद्भव काल से ही यह तीर्थ धर्मानुरागी ओसवाल श्रेष्ठियों को आकर्षित करता रहा। शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए संघ समायोजन धर्म प्रेम के साथ ही प्रतिष्ठा का भी सूचक था। ओसवालों के अनेक गोत्रों में संघ समायोजक श्रेष्ठि हुए, जिन्हें समाज ने संघवी की उपाधि से विभूषित किया। वाद में उन्हीं के वंशजों का उपगोत्र 'संघवी' हो गया।

सर्व प्रथम संवत् ४७७ (चार सत्योतरे) आचार्य धनेश्वर सूरि ने महाराजा शिलादित्य के समय 'शत्रुञ्जय महात्म्य' का बखान किया। जैनों के २३ तीर्थंकरों (सिवाय नेमिनाथ) ने इस तीर्थ पर 'समवशरण' (धर्मोपदेश स्थल) कर इसे वैशिष्ठ्य प्रदान किया। पुंडरीक, सिद्ध क्षेत्र, तीर्थराज, मुक्ति निलय, सुरगिरि आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध इस तीर्थ का विस्तार ८० योजन एवं मूल पर्वत की ऊँचाई २६ योजन वताई जाती है। सं० १६८२ में समय सुन्दर उपाध्याय रचित 'शत्रुञ्जय रास' के अनुसार इस अवसर्पिणी के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने यहाँ प्रथम समवशरण किया। चक्रवर्ती सम्राट् भरत ने संघ समायोजन किया। वे प्रथम संघपति कहलाये। उन्होंने भगवान का देहरा निर्मित करवाया, उस पर स्वर्ण कलश चढ़ाया एवं रत्न जड़ित प्रतिमा स्थापित की। तीर्थ पर ब्राह्मी एवं सुन्दरी प्रसाद निर्मित करवाये। यह तीर्थ का प्रथम उद्धार था। भरत के ज्येष्ठ पुत्र पुंडरीक इस क्षेत्र में प्रथम सिद्ध हुए।

चक्रवर्ती सम्राट् भरत के आठवें पट्टधर दंडवीर्य ने तीर्थ का दूसरा उद्धार किया। संघ समायोजन कर वे संघवी पद से विभूषित हुए। उन्होंने स्वर्ण बिम्ब प्रतिष्ठित किया। सौ सागरोपम कालान्तर से राजा ईशानेन्द्र ने शत्रुञ्जय का तीसरा उद्धार किया। देवोपम माहेन्द्र नायक इसके चौथे और ब्रह्मेन्द्र पाँचवें उद्धार कर्त्ता थे। तीर्थ का छठा उद्धार भवन पति इन्द्र, सातवां उद्धार चक्रवर्ती सागर, आठवां उद्धार व्यन्तरेन्द्र और नौवां उद्धार मल्हार राजा चन्द्रशेखर ने किया, जो चन्दप्रभ स्वामी के पौत्र थे। भगवान शान्तिनाथ की प्रेरणा से चक्रधर राव ने शत्रुञ्जय का दसवां उद्धार किया। रास के अनुसार दशरथ नन्दन श्रीराम ने मुनि सुव्रत जी की प्रेरणा से तीर्थ का ग्यारहवाँ उद्धार किया। पाँचों पांडवों ने संघ समायोजना कर शत्रुञ्जय का वारहवाँ उद्धार किया।

उपाध्याय समय सुन्दर ने तीर्थ का तेरहवां उद्धारकर्त्ता पोरवाल श्रेष्ठि जावड़ शाह को माना है। उनके अनुसार—'आठोत्तर सो (सं० १०८) वरसां गया विक्रम नृप थो जी वरोजो पोरवाड़ जावड़ करावियो ए तेरमो उद्धारो जो।' प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ श्री भँवर लालजी नाहटा के अनुसार जावड़ का उद्धार सं० १०८ में वज्रस्वामी के उपदेश से हुआ और वह मधुमती (महुआ) निवासी था। अन्य इतिहासकारों के

अनुसार तक्षशिला के महाजन श्रेष्ठि भावड़ शाह के पुत्र जावड़ शाह ने विक्रम सं० १८७ में शत्रुञ्जय तीर्थ का उद्धार किया एवं तक्षशिला से भगवान ऋषभ की मूर्ति ले जाकर वहाँ प्रस्थापित की।

कालान्तर में मुस्लिम आक्रान्ताओं ने तीर्थ को बहुत क्षति पहुँचायी। आचार्य जिनप्रभ सूरि द्वारा वि० सं० १३६४ से १३८९ के बीच रचित 'विविध तीर्थ कल्प' के अनुसार वि० सं० १२२० में चालुक्य राज कुमारपाल के दंडनायक/मंत्रीश्वर वाग्भट्ट ने ३ करोड ३ लाख स्वर्ण मुद्राएँ व्यय कर शत्रुञ्जय तीर्थ के आदीश्वर प्रसाद का चौदहवाँ उद्धार किया। वाग्भट्ट, श्रीमाल श्रेष्ठि उदयन का पुत्र था। उपाध्याय समय सुन्दर रचित 'शत्रुञ्जय रास' के अनुसार तीर्थ का १४वाँ उद्धार वि० सं० १२७३ (वार तेहोत्तरे) में श्रीमाल श्रेष्ठि बाहड़दे मुंहते (मूथा) ने किया, जो सम्राट् कुमारपाल के मन्त्री श्रेष्ठि उदयन का पुत्र था। वि० सं० १३६९ में मुस्लिम सुलतान अलाउद्दीन खिलजी ने तीर्थ को तहस नहस कर दिया। उस समय पाटण में ओसवाल वेद मुहता गोत्रीय श्रेष्ठि देशल शाह विद्यमान थे। उन्होंने अपने पुत्र दानवीर समरा शाह से तीर्थ का पुनरुद्धार करने की प्रतिज्ञा करवायी। गुजरात के तत्कालीन शासक अलपखान श्रेष्ठि समरा शाह का बहुत सम्मान करते थे। सं० १३७१ में शाही फरमान प्राप्त कर समराशाह ने लाखों रुपये खर्च कर असराण की खान से संगमर्मर पत्थर मँगवाकर बिम्ब निर्मित करवाये। एक रथ के आकार का भव्य मन्दिर बनवा कर बिम्ब प्रतिष्ठा करवायी। इस अवसर पर हुए महोत्सव में समस्त श्री संघ निमन्त्रित था। यह तीर्थ का १५वाँ उद्धार था।

तीर्थ का सोलहवाँ उद्धार 'रास' के अनुसार सं० १५८७ में करमाशाह दोशी ने किया। कर्मा शाह चित्तौड़ के सुप्रसिद्ध 'डोसी' गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि थे। शत्रुञ्जय तीर्थ के मुख्य मन्दिर के द्वार पर उत्कीर्णित शिलालेख के अनुसार ग्वालियर के 'आम' राजा ने आचार्य बप्पभट्ट सूरि से जैन धर्म अंगीकार किया। उनकी एक रानी वणिक पुत्री थी, जिसके पुत्रों को ओसवाल कुल में शामिल कर आचार्य ने उनका राजकोष्ठागार गोत्र निर्धारित किया। कालान्तर में इस कुल में सारण देव हुए, जिनकी ९वीं पीढ़ी में श्रेष्ठि तोला शाह हुए। उनके पुत्र कर्मा शाह का सुल्तान बहादुर शाह के दरबार में बहुत सम्मान था। उससे फरमान प्राप्त कर कर्मा शाह ने तीर्थ का पुनरुद्धार किया।

संवत् १६४९ में खम्भात के ओसवाल श्रेष्ठि शाह तेजपाल सोनी ने तीर्थ का जीर्णोद्धार करवाया। श्रेष्ठि आभू की छठी पीढ़ी में तेजपाल हुए। आचार्य हीर विजय जी की प्रेरणा से उन्होंने सं० १६४६ में सुपार्श्वनाथ चैत्य का निर्माण करवाया। इन्होंने अतुल धन राशि खर्च कर शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए संघ समायोजन किया। वहाँ एक भव्य नन्दिवर्धन मन्दिर का निर्माण करवा कर आचार्य हीर विजयजी के कर

कमलों से बिम्ब-प्रतिष्ठा करवायी। इस आशय का एक शिलालेख मन्दिर के रंग मंडप में लगा हुआ है। प्रतिष्ठा समारोह में सुदूर प्रदेशों के ७२ संघ शामिल हुए।

पाश्चात्य इतिहासकार जेम्म बरजेस ('दी टेम्पल्स ऑफ शत्रुञ्जय'—प्रकाशन सन् १८६९) के अनुसार आचार्य हीर विजयजी ने सं० १६३९ में फतहपुर सीकरी पधार कर मुगल बादशाह अकबर को प्रतिबोध दिया था। शत्रुञ्जय तीर्थ पर उत्कीर्णित एक शिलालेख में बादशाह अकबर पर हीर विजयजी के प्रभाव एवं शत्रुञ्जय पहाड़ आचार्य हीर विजयजी को दिये जाने का उल्लेख है। बादशाह शाहजहाँ के काल में गुजरात के गवर्नर मुरादबख्श द्वारा शत्रुञ्जय की पहाड़ी अहमदाबाद के प्रसिद्ध ओसवाल श्रेष्ठि शान्तिदास जौहरी को दे दी गयी।

संवत् १६७५ में जाम नगर के लालन गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि मन्त्रीश्वर वर्धमान शाह और पद्मसिंह शाह ने लाखों रुपए खर्च कर शत्रुञ्जय तीर्थ पर एक भव्य मन्दिर का निर्माण कराया एवं तीर्थंकरों की २०४ प्रतिमाएँ स्थापित करवायी। विमल वसहि क्षेत्र में एक लेख उत्कीर्णित है, जिसके अनुसार संवत् १६७५ का संघ समायोजन पद्मसिंह शाह के तीन पुत्रों ने किया था। सं० १६७६ में अंचल गच्छीय आचार्य कल्याण सागर जी के नायकत्व में पद्मसिंह शाह ने एक और संघ शत्रुञ्जय के लिए निकाला तथा अनेक बिम्ब प्रतिष्ठाएँ करवायी।

संवत् १६८२ में जैसलमेर के भंसाली गोत्रीय सुप्रसिद्ध ओसवाल श्रेष्ठि थाहरू शाह ने शत्रुञ्जय तीर्थ पर तीर्थंकरों एवं गणधरों के १४५२ चरण युगल आचार्य जिन राज सूरि के कर कमलों से स्थापित करवाये। इस आशय का एक लेख खरतरवसहि टोंक पर स्थित मन्दिर में उत्कीर्णित है।

ऐसे ही अनेक शिलालेख शत्रुञ्जय तीर्थ के भिन्न-भिन्न स्थानों पर उत्कीर्णित हैं, जिनसे ओसवाल श्रेष्ठियों द्वारा समय-समय पर की गयी बिम्ब प्रतिष्ठा एवं धर्म प्रभावना में उनका अनुदान परिलक्षित है। मुनि जिन विजय जी ने अपने 'जैन लेख संग्रह' में ऐसे अनेक लेख उद्धरित किये हैं। इनमें मुख्य है संवत् १७१० का आगरा निवासी कुहाड़ गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि शाह मानसिंह आदि का लेख, संवत् १७९१ का भण्डारी रत्नसिंह का लेख, संवत् १७९४ का भण्डारी हरकचन्द का लेख, सं० १८८५ का बालूचर निवासी दूगड़ गोत्रीय शाह किशनचन्द का लेख, संवत् १८८६ का राजनगर के सेठ नगीनदास की पत्नी का लेख, संवत् १८८७ का अजमेर के साह गजमल लूणिया का लेख एवं संवत् १९०५ का नागड़ा गोत्रीय सेठ हिरजी का लेख। ये लेख शत्रुञ्जय तीर्थ की महिमा का बखान तो करते ही हैं, ओसवाल श्रेष्ठियों के धर्मानुराग के भी सूचक हैं।

संवत् १८०७ में पालीताना के आंचलिक ठाकुर ने तीर्थ यात्रा पर आने वाले धर्मानुरागी भक्तों पर कर लगा दिया। संवत् १८४५ में इस कर की राशि और बढ़ा

दी गयी । संवत् १८६३ में यह क्षेत्र ब्रिटिश सरकार के शासन में शामिल कर लिया गया । ओसवाल श्रेष्ठि मोतीचन्द नाहटा एवं जौहरी शान्तिदास के वंशज हेमा भाई ने संवत् १८७७ में सरकार से यात्री कर हटा देने की अपील की । तदनुसार संवत् १८७८ में ब्रिटिश सरकार ने शत्रुञ्जय पहाड़ी एवं उस क्षेत्र की व्यवस्था का भार श्री आनन्दजी कल्याणजी की पेढ़ी को सौंप दिया ।

खम्भात के मन्दिर :

खम्भात गुजरात में जलमार्ग के सिंहद्वार के रूप में जाना जाता है । खम्भात (स्तम्भन पुर) के पार्श्वनाथ मंदिर की चमत्कारी पार्श्वनाथ प्रतिमा की महिमा एवं इस प्राचीन तीर्थ का महात्म्य आचार्य जिनप्रभ सूरि ने 'विविध तीर्थ कल्प' में आलोकित किया है । यह वही प्रतिमा है जिसने रघुपुंगव श्री रामचन्द्र द्वारा पूजित होकर द्वारिका दाह के समय जल समाधि ले ली । तक्षक नागेन्द्र द्वारा हजारों वर्ष समुद्र में पूजी जाकर धनेश्वर सार्थवाह द्वारा पुनर्स्थापित हुई एवं योगीन्द्र नागार्जुन द्वारा लायी जाकर यहाँ स्तम्भित हो गयी । इस पावन प्रतिमा के प्रताप से ही संवत् ११११ में महा व्याधि से अशक्त नवांगी टीकाकार श्री अभयदेव सूरि पूर्ण स्वस्थता को प्राप्त हुए ।

राजा कुमारपाल के समय श्रीमाल श्रेष्ठि मंत्री उदयन ने यहाँ 'उदयनवसहि' नामक मन्दिर का निर्माण कराया था । ओसवाल श्रेष्ठि तेजपाल सोनी, संघवी उदय करण एवं कुँवरजी गांधी द्वारा मन्दिर बनवाने के उल्लेख भी हैं । संवत् १२७७ में दण्ड नायक वस्तुपाल ने यहाँ अनेक ताड़पत्रीय ग्रंथ लिखवाये । जगत् गुरु हीरविजय जी सोम सुन्दर सूरि एवं विजय सेन सूरि ने यहाँ अनेक मंदिरों की प्रतिष्ठा करवायी तथा महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की ।

पार्श्वनाथ भगवान के इस प्राचीन मंदिर में संवत् १३६६ का एक शिलालेख है, जिसके अनुसार उकेश वंशीय शाह जैसल नामक सुश्रावक ने अजीतनाथ भगवान के एक भव्य मन्दिर एवं पौषध शाला का निर्माण कराया । शाह जैसल ने शत्रुञ्जय एवं गिरनार तीर्थों के लिए संघ निकाले । उसने पाटण में शान्तिनाथ भगवान का विधि चैत्य एवं पौषधशाला बनवायी ।

यहाँ अन्य अनेक जैन मन्दिर हैं ।

प्रभाव पाटण :

सौराष्ट्र में समुद्र के किनारे जग प्रसिद्ध सोमनाथ मंदिर से मात्र ४०० मीटर की दूरी पर प्रभाप पाटण ग्राम के मध्य चन्द्रप्रभ भगवान का एक अति प्राचीन जिन मन्दिर है । इस तीर्थ की स्थापना भरत चक्रवर्ती द्वारा सिद्धाचल की यात्रा के समय सरस्वती नदी के कूल पर तपस्या रत मुनियों के मुख से भावी ८वें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ स्वामी के सम्भावित समवसरण की उद्घोषणा सुनकर की गयी थी । वि० सं० ३७० में धनेश्वर सूरि रचित 'शत्रुञ्जय महात्म्य' में इस तीर्थ की महिमा वर्णित है ।

कालांतर में गुर्जर नरेश सिद्धराज जयसिंह, मन्त्रीश्वर वस्तुपाल तेजपाल, ओसवाल श्रेष्ठि पेथड़ शाह, समरा शाह, राजसी संघवी आदि ने इस तीर्थ के लिए संघ समायोजन कर पुण्य कमाया। आचार्य हेमचन्द्र की प्रेरणा से जैन सम्राट् कुमारपाल ने यहाँ मन्दिर निर्मित करवाये। संवत् १२६४ में श्री देवेन्द्र सूरि ने यहाँ ५३२५ श्लोकों में 'चन्द्रप्रभ चरित्र' की रचना की।

मुहम्मद गजनी एवं अन्य मुसलमान आक्रांताओं से तीर्थ को भारी क्षति पहुँची थी। परन्तु जगद्गुरु हीरविजय सूरि के शिष्य विजयसेन सूरि जी की निश्रा में संवत् १६६६ में तीर्थ का पुनरुद्धार हुआ। आपने यहाँ पाँच बार अंजनशलाका प्रतिष्ठाएँ करवायीं। सं० १८७६ में विजय जिनेन्द्र सूरि की प्रेरणा से तीर्थ का जीर्णोद्धार हुआ।

भद्रेश्वर :

कच्छ में समुद्र के किनारे बसे भद्रेश्वर ग्राम के बाहर एक अति प्राचीन पार्श्वनाथ भगवान का मन्दिर है। महाभारत में क्षेत्र का 'भद्रावती' नाम से उल्लेख है। भूगर्भ से प्राप्त ताम्रपत्र के उल्लेखानुसार वीराब्द २३ में श्रावक देवचन्द्र ने तीर्थ का शीलारोपण किया एवं परमपूज्य कपिल केवली मुनि के हाथों वीराब्द ४५ में पार्श्वनाथ की मनोहारी प्रतिमा प्रतिष्ठित करवायी। इस अवसर पर भद्रावती निवासी ब्रह्मचारी श्रावक विजय सेठ एवं विजया सेठाणी ने भगवती दीक्षा ग्रहण की।

संवत् ११३४ में श्रीमाल श्रेष्ठियों द्वारा तीर्थ का पुनरुद्धार हुआ। संव० १३१४ में जगत-प्रसिद्ध दानवीर जगडू शाह ने तीर्थ का जीर्णोद्धार करवाया। इन्होंने संवत् १३१५ के भीषण दुष्काल में जगह-जगह दानशालाएँ खुलवाकर खूब ख्याति पायी। संवत् १६८२ में उपकेश वंशीय लालन गोत्रीय सेठ वर्धमान शाह ने तीर्थ का उद्धार करवा कर यहाँ महावीर स्वामी की प्रतिमा प्रतिष्ठित करवायी। संवत् १९३९ में मांडवी के सेठ मोणसी तेजसी की धर्मपत्नी मीठाबाई ने तीर्थ का जीर्णोद्धार करवाया।

लगभग ढ़ाई लाख वर्ग फुट चौरस विशाल मैदान में सुशोभित यह मन्दिर अति आकर्षक है।

अणहिल पाटण :

गुजरात के मेहसाणा क्षेत्र में स्थित 'पाटण' नगर अपने स्थापना काल से जैनों का प्रमुख तीर्थ रहा है। चावड़ा वंश के पराक्रमी राजा वनराज ने विक्रम संवत् ८०२ में यह नगर बसा कर इसे अपनी राजधानी बनाया। राजा के आमन्त्रण पर भिन्नमाल से अनेक श्रीमाल एवं उपकेश जाति के लोग यहाँ आकर बस गये। भिन्नमाल वासी जैन श्रेष्ठि नानाशाह श्रीमाल के वंशजों को राजा ने अपना मंत्री एवं दंड नायक नियुक्त किया। तब से यहाँ अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ। पंचासरा से लाकर पार्श्वनाथ भगवान की अलौकिक प्रतिमा यहाँ प्रतिष्ठित की गयी। आचार्य सोमप्रभ सूरि रचित

'कुमारपाल प्रतिबोध' के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र के पाटण प्रवेश के समय यहाँ १८०० करोड़पति जैन श्रावक निवास करते थे। श्री देवसूरि जी को 'वादी' की पदवी से यहीं विभूषित किया गया था।

संवत् १३५३ से १३५६ के बीच बादशाह अलाउद्दीन खिलजी की सेना ने इस नगर एवं मन्दिरों को नष्ट कर दिया। संवत् १३७१ में शत्रुञ्जय तीर्थ के उद्धारक ओसवाल श्रेष्ठि समरा शाह ने यहाँ के मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया। पन्द्रहवीं शताब्दी में यहाँ अनेक मन्दिरों की प्रतिष्ठा के उल्लेख मिलते हैं। चैत्य परिपाटी के मन्दिरों की संख्या सतरहवीं शताब्दी में १०१ हो गई थी। अब भी यहाँ ८४ विशाल मंदिर एवं १३४ देरासर विद्यमान हैं।

सुथरी :

विक्रम की १५वीं सदी में कच्छ प्रदेश के सुथरी ग्राम में दसा ओसवालों की सामान्य बस्ती थी। लोग खेती बाड़ी में संलग्न थे। गाँव की पोशाला में अजितनाथ भगवान की प्रतिमा की पूजा होती थी। सेठ मेघजी को एक रात स्वप्न में पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा लाने का आदेश हुआ। उसकी पत्थरों की खान थी। उसने प्रतिमा बनवा कर घर में ही स्थापित की। बड़े आनन्द से बिरादरी को न्योता दिया। क्षमता न होते हुए भी प्रभु की कृपा से सारे गाँव को आदर सहित भोजन कराया। तब से प्रभु 'घृत कल्लोल पार्श्वनाथ' नाम से प्रसिद्ध हुए। यह घटना संवत् १६७५ की है। चमत्कारी प्रतिमा के दर्शन करने दूर दूर में धर्मानुरागी लोग आने लगे। संवत् १७२१ में श्री ज्ञान सागर जी महाराज की प्रेरणा से मेघजी सेठ ने प्रतिमा श्री संघ को सौंप दी। संवत् १८८३ में श्री संघ ने भव्य जिनालय का निर्माण करवाया एवं संवत् १८९६ में प्रतिमा की यथा विधि प्रतिष्ठापना हुई। महोत्सव हुआ। तब से सुथरी जैनियों के एक तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध हो गया। इसी मन्दिर में गौतम स्वामी एवं पद्मावती देवी की प्राचीन व निराले ढंग की प्रतिमाएँ दर्शनीय हैं।

आबू तीर्थ

आबू के गिरि शृंगों में स्थित जैनों का यह प्राचीन तीर्थ है। चक्रवर्ती भरत ने यहाँ आदिनाथ भगवान का मन्दिर बनवाया था। भद्र बाहु स्वामी रचित 'वृहद् कल्प सूत्र' में इस तीर्थ का उल्लेख है। विक्रम संवत् से ५३२ वर्ष पूर्व पार्श्व प्रभु संतानीय आचार्य स्वयंप्रभ सूरि यहाँ पधारे थे। किन्तु उस समय के मन्दिरों का पता नहीं लग रहा है।

आचार्य जिनप्रभ सूरि रचित 'विविध तीर्थ कल्प' के अनुसार यह पर्वत शृंग 'नन्दिवर्धनगिरि' कहलाता था। कालान्तर में 'अर्वुद' कहा जाने लगा और अब लोक भाषा में आबू नाम से प्रसिद्ध है। आबू के देलवाड़ा ग्राम में स्थित जैन मन्दिर स्थापत्य

की दृष्टि से ताजमहल से भी अधिक आकर्षक है। पाश्चात्य इतिहासकार कर्नल जेम्स टॉड एवं प्रस्तर शिल्प विशेषज्ञ फर्ग्युसन साहब के अनुसार इन मन्दिरों में संगमर्मर में बारीक कोरनी से उत्कीर्णित मनोहारी आकृतियों की विश्व भर में कोई सानी नहीं।

देलवाड़ा का आदिनाथ मन्दिर

'विविध तीर्थ कल्प' के अनुसार इसे परमार नरेश के दण्डनायक विमल शाह ने विक्रम संवत् १०८८ में बनवाया। अन्य इतिहासकारों के अनुसार पाटण के सोलंकी क्षत्रिय चौलुक्यराज भीम देव के मंत्रीश्वर पोरवाड़ श्रेष्ठि 'वीर' के पुत्र विमल कुमार ने चन्द्रावती के परमार वंशीय राजा धन्धुक को हराकर अपनी सत्ता मनवायी थी। कालांतर में राजा भीम ने विमलकुमार को भी अपना मंत्री नियुक्त किया। इन्हीं विमल कुमार ने आचार्य वर्धमान सूरि के उपदेश से देलवाड़ा में संगमर्मर का 'विमलवसहि' प्रसाद बनवाया। मन्दिर के निर्माण में १८ करोड़ ५३ लाख रुपये खर्च हुए। आचार्य वर्धमान सूरि के कर कमलों से आदि जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवायी गयी।

विविध तीर्थ कल्प के अनुसार कालांतर में मुसलमानों द्वारा मन्दिर नष्ट भ्रष्ट कर दिया गया, तब संवत् १३७८ में श्रेष्ठि महण सिंह के पुत्र लल्ल ने मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया। संवत् १३५० से मंडलेश्वर बीसलदेव ने महाजन श्रेष्ठियों की प्रार्थना पर मन्दिर व्यवस्था के लिए लाग लगा दी। शिल्प की दृष्टि से यह मन्दिर अद्वितीय जाता है। मन्दिर के सम्मुख हस्तिशाला बनी हुई है, जिसके द्वार पर अश्वारूढ़ विमलशाह की मूर्ति स्थापित है। मन्दिर में प्रस्थापित तोरण, स्तम्भ, गुम्बज, छत, द्वार आदि सभी प्रस्तर शिल्प के अनुपम उदाहरण हैं।

लुणावसहि नेमिनाथ मन्दिर

विमलवसहि के समीप ही एक और विश्व विख्यात मन्दिर है, जो स्थापत्य एवं शिल्प की दृष्टि से बेजोड़ है। विविध तीर्थ कल्प के अनुसार इस मन्दिर का निर्माण अणहिलपट्टण के पोरवाड़ श्रेष्ठि महामात्य वस्तुपाल तेजपाल ने विक्रम संवत् १२८८ में करवाया। ये चौलुक्य राज जयसिंह के मन्त्री सोम के पौत्र थे। कालान्तर में श्रेष्ठि तेजपाल गुजरात के धोलका प्रदेश के सोलंकी (बघेल) राणा वीर धवल द्वारा मन्त्री नियुक्त हुए। इन दोनों भाईयों ने करोड़ों की सम्पत्ति अर्जित की। आचार्य नयचन्द्र सूरि के उपदेश से प्रभावित हो सिद्धाचल तीर्थ की १२ यात्राएँ की। जिनहर्ष कृत 'वस्तुपाल चरित्र' के अनुसार सिद्धाचल के संघ समायोजन में कुल सात लाख आदमी शामिल हुए।

तेजपाल के पुत्र लूणासिंह एवं पत्नी अनुपमा देवी के कल्याणार्थ निर्मित इस लूणावसहि प्रासाद में अनेक जिनालय हैं एवं मुख्य मन्दिर में मूल नायक भगवान नेमिनाथ की भव्य प्रतिमा प्रतिष्ठित है। मन्दिर की दीवारों, छज्जों, तोरणों पर जैनधर्म

की कथाएँ, जीवन के दृश्य, युद्ध चित्र, नौका, शास्त्रीय फलक सजीव हो उठे हैं। मंदिर की हस्तिशाला में संगमरमर की दस हथिनियाँ स्थापित हैं, जिनपर वस्तुपाल तेजपाल एवं उनके पूर्वजों की मूर्तियाँ हैं। इनके पीछे दस ताक बने हैं, जिनमें इन्हीं दस पुरुषों की सपत्नीक संगमर्मरी मूर्तियाँ हैं। कुटुम्ब का ऐसा स्मारक चिह्न अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आया। इस मन्दिर में शिल्पकार शोभनदेव का नाम भी उत्कीर्णित है। 'विविध तीर्थ कल्प' के अनुसार कालान्तर में मुस्लिम आक्रांताओं ने मन्दिर नष्ट-भ्रष्ट कर डाला तब संवत् १३७८ में श्रेष्ठि चन्द्रसिंह के पुत्र पीथड़ ने मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया।

लूणावसहि से थोड़ी दूर भीमा शाह (भैंसा शाह) का बनवाया हुआ मन्दिर है, जिसमें १०८ मन की धातु को आदिनाथ भगवान की मूर्ति है, जिस पर संवत् १५२५ का श्रीमाल गोत्रीय मन्त्री मण्डन के पुत्र मन्त्री सुन्दर का प्रतिष्ठा लेख है।

अचलगढ़ के मन्दिर

देलवाड़ा से ४ की० मी० दूर अचलगढ़ में आदिनाथ, शांतिनाथ एवं कुंथुनाथ भगवान के तीन प्राचीन मन्दिर बहुत प्रसिद्ध हैं। यहाँ धातु की कुल १८ प्रतिमाएँ हैं जिनका कुल वजन १४४४ मन कहा जाता है। ऐसी विशालकाय धातु-प्रतिमाएँ अन्यत्र नहीं हैं। इनकी चमक से लगता है इनमें स्वर्ण-अंश की अधिकता है। शान्तिनाथ भगवान का मन्दिर सम्राट् कुमार पाल द्वारा निर्मित होने का उल्लेख 'विविध तीर्थ कल्प' में आता है। आदिनाथ भगवान का मन्दिर प्राग्वाट वंशीय रणकपुर तीर्थ के निर्माता धरणा शाह के वंशज सहसा शाह द्वारा संवत् १५६६ में बनवाया गया था। अन्य प्रतिमाओं पर ओसवाल श्रेष्ठि साल्हा शाह द्वारा प्रतिष्ठा कराये जाने का उल्लेख है। यहाँ एक सर्व धातु की अति प्राचीन चौमुखी प्रतिमा है, जिसके २१०० वर्ष पूर्व की होने का अनुमान है। इस अलौकिक मुद्रा वाली भव्य प्रतिमा का सौन्दर्य वर्णनातीत है।

रणकपुर :

राजस्थान के जैन तीर्थों में रणकपुर अद्वितीय माना जाता है। यह पाली जिले के सादड़ी कसवे से १२ किलो मीटर पर अरावली श्रृंगमाला की गोद में स्थित है। उदयपुर से यह पावन तीर्थ १५० किलो मीटर लम्बी पक्की सड़क से जुड़ा है।

इस मंदिर का निर्माण विक्रम संवत् १४३३ में घाणेराव के पोरवाल श्रेष्ठि धन्ना शाह ने १८ सहस्र स्वर्ण सिक्कों (सोनईयों) की लागत से करवाया। इस परिवार का पूर्व निवास सिरोही था। उस वक्त यह प्रदेश मेवाड़ राज्य के अन्तर्गत था। महाराणा कुम्भा ने मंदिर के निर्माण में गहरी रुचि ली। इसे सम्पूर्ण होने में ६३ वर्ष लगे। धन्ना शाह के छोटे भ्राता रतनशाह ने इसे पूर्ण करवाया। धन्ना शाह के वंशज अभी भी घाणेराव में निवास करते हैं। एक अन्य उल्लेख के अनुसार आचार्य सोमसुन्दर की प्रेरणा से प्राग्वाट वंशी नान्दिया निवासी सेठ धरणा शाह ने संवत् १४४६ में मन्दिर का

निर्माण प्रारम्भ कराया एवं संवत् १४९६ में बिम्ब प्रतिष्ठा हुई। इसके निर्माण में कुल ९९ लाख रुपये लगे थे।

यह मंदिर तत्कालीन श्रेष्ठ कलात्मक अभिरुचि का कीर्ति स्तम्भ है। स्फटिक सी धवल एवं दुग्ध-फेन सी उभरी कोरनी से उत्कीर्णित मूर्तियाँ, फूल-बेल एवं ऐतिहासिक गाथाएँ सजीव हो उठी हैं। सेवाड़ी प्रस्तर से निर्मित यह मन्दिर अरावली पर्वतमाला की हरियाली उपत्यकाओं के बीच घटाटोप वृक्षावली से घिरा निरभ्र आकाश के तले अनूठे नगीने सा लगता है। ४८ हजार वर्ग फीट में फैले आदिनाथ भगवान के इस अपूर्व मन्दिर में २४ रंग मंडप, १८४ गर्भगृह, ८५ शिखर एवं १४४४ खम्भ हैं। मन्दिर में धर्म प्रेमी धन्ना शाह की मूर्ति एवं शिलालेख भी मौजूद है। प्रसिद्ध इतिहासकार फर्गुसन के कथनानुसार समस्त पश्चिमी भारत में यह मन्दिर बेजोड़ है।

गिरनार :

सौराष्ट्र प्रदेश का गिरनार तीर्थ प्राचीनतम, सुरम्य एवं पावन जैन तीर्थों में से एक है। यह पर्वत श्रृंग शास्त्रों में रैवतगिरि एवं उज्जयंत नाम से भी चर्चित है। इसकी तलहटी में जूनागढ़ नगर बसा है। प्रागैतिहासिक काल से यहाँ जैन धर्म का व्यापक प्रचार रहा है। बाईसवें जैन तीर्थंकर नेमिनाथ के दीक्षा, कैवल्य एवं निर्वाण—ये तीन कल्याणक यहीं हुए। भगवान के निर्वाणोपरान्त श्रीकृष्ण ने यहाँ तीन स्वर्णरत्नमय प्रतिमा वाले चैत्यों का निर्माण कराया। सती राजुलमती तपस्या कर यहीं मोक्ष सिधारी थीं। आचार्य जिनप्रभ सूरि ने विविध तीर्थ कल्प में इस तीर्थ की महिमा का बखान करते हुए यहाँ की भूमि को स्वर्ण मंडिनी बताया है। आपने यहाँ विद्यमान चमत्कारी द्रव्यों का विवरण भी दिया है, जिनके स्पर्श मात्र से ताँबा सहसा चाँदी बन जाता है एवं लोहा स्वर्ण में रूपान्तरित हो जाता है।

प्रभासपाटण में प्राप्त एक ताम्रपत्र के अनुसार रेवत नगर के राजा नेबुसदनेज़र ने विक्रम पूर्व ६ठी सदी में यहाँ नेमिनाथ भगवान के मन्दिर का निर्माण कराया था। कहते हैं कश्मीर के अजित और रत्न नामक शाह वंशी श्रावकों द्वारा पंचामृत से बिम्ब पूजा के समय श्रीकृष्ण द्वारा संस्थापित लेप्यमान बिम्ब गल गये, अतः उन्होंने संवत् ६०९ में इस स्थान पर पाषाण प्रतिमाएँ स्थापित करवायीं।

चौलुक्यराज जयसिंह के दण्डनायक सज्जन श्रेष्ठि ने संवत् ११८५ में यहाँ एक अभिनव जिनालय बनवाया। संवत् १२८८ में गुर्जरपति वीर धवल के मंत्री पोरवाड़ वंशीय श्रेष्ठि वस्तुपाल तेजपाल ने लाखों रुपये खर्च कर यहाँ संघ समायोजन किया। वस्तुपाल ने तीन कल्याणक मन्दिर बनवाये। शत्रुञ्जयावतार मन्दिर, अष्टापद शिखर मण्डप एवं मरु देवी प्रसाद उन्हीं के निर्माण कराये हुए हैं। श्रेष्ठि तेजपाल ने गिरनार की तलहटी में तेजलपुर बसाया। वहाँ गढ़ मन्दिर एवं बाग बनवाये, 'आसराज बिहार'

नामक पार्श्वनाथ जिनालय बनवाया एवं माता कुमार देवी की स्मृति में 'कुमार सरोवर' का निर्माण कराया।

कालांतर में अनेक ओसवाल श्रेष्ठियों ने तीर्थ में स्वर्ण कलश चढ़ाये एवं बिम्बों की प्रतिष्ठा करवायी। चौदहवीं सदी में ओसवाल श्रेष्ठि समरसिंह सोनी ने, सत्रहवीं सदी में ओसवाल श्रेष्ठि वर्धमान शाह ने तथा बीसवीं सदी में ओसवाल श्रेष्ठि नरसी केशवजी ने तीर्थ का जीर्णोद्धार करवाया।

जीरावली तीर्थ :

राजस्थान की सुरम्य अरावली पर्वतमाला में जीरापल्ली पहाड़ी की गोद में बसा हुआ जयराजपल्ली ग्राम है। वह भीनमाल के संवत् १३३३ के लेखानुसार कभी स्वयं भगवान महावीर की विहार भूमि रहा है। सुविज्ञ पुरातत्त्वज्ञ श्री गौरीशंकर ओझा ने सम्राट् सम्प्रति से पूर्व इस भूमि को जैन धर्म के प्रचार से पावन हुआ बताया है। सिरोही से ३५ मील पश्चिम में स्थित श्रृंग माला से घिरे इस स्थान पर विक्रम संवत् ३२६ में कोड़ीनगर के महाजन श्रेष्ठि अमरासा ने पार्श्व प्रभु के भव्य मन्दिर का निर्माण कराया। एक किवदन्ती के अनुसार सेठ जी को स्वप्न में इस चमत्कारी प्रतिमा के दर्शन हुए। जमीन खोद कर प्रतिमा निकली गयी। संवत् ३३१ में आचार्य देवगुप्त सूरि ने प्रतिमा की स्थापना की। शीघ्र ही यह क्षेत्र तीर्थ राज बन गया। आचार्य हरिभद्र सूरि द्वारा पुनः बिम्ब प्रतिष्ठा के उल्लेख भी मिलते हैं। संवत् ६६३ में महाजन श्रेष्ठि जेता साह और खेमा साह ने तीर्थ का पहला जीर्णोद्धार करवाया।

तदुपरान्त हूण एवं मुस्लिम आक्रान्ताओं के भय से श्री संघ ने इस चमत्कारी प्रतिमा को छिपा दिया। मन्दिर खंडहर में परिणत हो गया। संवत् ११०९ में धांधल श्रेष्ठि हुए। एक किवदन्ती के अनुसार सेठ जी ने एक गाय को एक गुफा-मुख पर दूध प्रवाहित करते देखा। उन्होंने इसे चमत्कार समझकर प्रतिमा खोज निकाली। श्री संघ ने एक चैत्य का निर्माण कराया एवं संवत् ११९१ में आचार्य अजित देव सूरि ने इस चमत्कारी मूर्ति की पुन प्रतिष्ठा की।

चौहदवीं सदी में सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के अत्याचारों से धर्म पर संकट के बादल मण्डराये। सम्भवतया तभी इस चमत्कारी प्रतिमा को स्थानान्तरित कर दिया गया।

मन्दिर पर संवत् १८५१ के एक शिलालेख के अनुसार भगवान नेमिनाथ मूल नायक के रूप में प्रतिष्ठापित किये गये। किन्तु क्षेत्र अब भी जीरावला पार्श्वनाथ के नाम से ही जाता है। मन्दिर की बायीं ओर की कोठड़ी में पार्श्व प्रभु की दो मूर्तियाँ विद्यमान हैं। सम्भव है उनमें से एक वही चमत्कारी बिम्ब हो।

कुँभारिया तीर्थ :

आबू पर्वत के निकट ही एक छोटा सा गाँव अपने मन्दिरों के कारण जैन तीर्थ स्थान बन गया है। अरासान पत्थर की खानों के कारण इसे 'आरासन तीर्थ' भी कहते हैं। दानवीर समराशाह ने शत्रुञ्जय तीर्थ का पुनरुद्धार करते समय इन्हीं खदानों का मूल्यवान पत्थर मँगवा कर बिम्ब निर्मित करवाये थे। यहाँ पाँच जैन मन्दिर हैं, जिनमें नेमिनाथ मन्दिर बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक जन श्रुति के अनुसार ये मन्दिर मन्त्रीश्वर विमल शाह ने सं० १०८८ में बनवाये थे। परिकरों एवं देरियों पर सं० ११९८ से ११३८ तक के अनेक लेख उत्कीर्ण हैं। उपदेश सप्तती में दी कथा के अनुसार आरासाण निवासी मन्त्री गोगा के पुत्र पासिल ने ये मन्दिर बनवा कर सं० ११७४ में आचार्य वादिदेव सूरि से बिम्ब प्रतिष्ठा करवायी। नेमिनाथ स्वामी की मुख्य प्रतिमा के नीचे खुदे लेख के अनुसार ओसवंशीय बोहरा गोत्रीय श्रेष्ठि राजपाल ने सं० १६७५ में बिब प्रतिष्ठा करवायी। मन्दिर के रंग मंडप की दूसरी बाजू पर दरवाजे में एवं खम्भों के बीच की कमानों पर मकराकृति के मुखों से निसृत सुन्दर तोरण कोरा गया है, जो विमलवसहि के तोरणों सा भव्य है।

उक्त देवालय के पूर्व की ओर एक और मन्दिर है, जिसमें भगवान महावीर की भव्य मूर्ति है। मूर्ति पर खुदे लेख के अनुसार संवत् १६७५ में उपकेश वंशीय सा० नानिया नामक श्रावक ने श्री विजयदेव सूरि के हाथों इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवायी। प्रतिमा के नीचे की बैठक और भी पुरानी है। उस पर संवत् १११८ का लेख उत्कीर्णित है।

अन्य मन्दिरों की बनावट भी उक्त मन्दिरों के सदृश है, किन्तु उन पर खुदे हुए लेख संवत् ११३८ एवं ११४६ के हैं।

प्रसिद्ध इतिहासविद् श्री भँवरलाल जी नाहटा द्वारा सम्पादित 'विविध तीर्थ कल्प' के परिशिष्ट में दिये विवरण के अनुसार गोगा मन्त्री के चतुर और श्रद्धालु पुत्र पासिल ने आरासन स्थित नेमिनाथ भगवान के उत्तुङ्ग जिनालय का निर्माण कराया, जिसमें बिम्ब प्रतिष्ठा आचार्य मुनि चन्द्र सूरि के शिष्य वादीन्द्र श्री देव सूरि ने सम्पन्न की।

केशरियाजी :

उदयपुर से ४० मील दूर धुलैवा ग्राम जैनों का प्रमुख तीर्थ स्थल बन गया है। यहाँ भगवान ऋषभदेव का एक विशाल मन्दिर है। इसमें ऋषभदेव की बड़ी भव्य प्राचीन प्रतिमा प्रतिष्ठित है। कहते हैं किसी समय यह प्रतिमा बड़ोदा स्थित जैन मन्दिर में प्रस्थापित थी। इसके विशाल परिकर पर इन्द्रादि देवताओं की मूर्तियां बनी हैं एवं दोनों बाजुओं पर दो नग्न कायोत्सर्ग मुद्राएं। मूर्ति के चरणों में नवग्रहों की मूर्तियाँ हैं।

मन्दिर में अन्य ७६ मूर्तियाँ हैं, जिनमें से अनेक पर लेख खुदे हुए हैं। मन्दिर में प्राचीनतम शिलालेख संवत् १४३१ का है।

यहाँ आने वाले दर्शनार्थी केशर की मान्यता करते हैं एवं मूर्ति पर केशर चढ़ाते हैं। इसी से तीर्थ का नाम केसरियानाथ हो गया। जैनों के अलावा इस इलाके के आदिवासी भील भी इन्हें अपना इष्टदेव समझते हैं एवं मूर्ति कर केसर चढ़ाते हैं। मूर्ति का रंग काला होने से भील इन्हें कालाजी भी कहते हैं।

संवत् १८६३ में प्रसिद्ध ओसवाल श्रेष्ठि विजयचन्द्र गांधी ने मन्दिर का परकोटा बनवा दिया है। संवत् १८८९ में ओसवाल श्रेष्ठि बहादुरमल जी जोरावरमल जी बापना ने मन्दिर के द्वार पर नक्कारखाना बनवा कर ध्वजा दंड चढ़ाया।

इस मन्दिर की महिमा विचित्र है। हिन्दू धर्मानुयायी भी यहाँ हवन-पूजा करते हैं। यह तीर्थ इतना प्रभावोत्पादक माना जाता है कि लोग मूर्ति पर लाखों की लागत से निर्मित सोने चाँदी एवं जवाहरात की अंगी चढ़ाते हैं। उदयपुर के महाराणा ने ढाई लाख की कीमती अंगी चढ़ाई थी। मन्दिर में पूजा श्वेताम्बर विधि से ही होती है।

चित्रकूट (चित्तौड़) :

'गढ़ तो चित्तौड़गढ़ और सब गढ़ैया'—उक्ति का परिचायक सूरमाओं का यह किला जैनों का प्रसिद्ध तीर्थ स्थल भी है। मौर्य वंशी राजा चित्रांगद ने इसका निर्माण करवाया था, इसी से इसे 'चित्र कूट' कहते हैं। विक्रम की प्रथम सदी में आचार्य सिद्ध सेन दिवाकर यहाँ रहे थे। उनका यह जन्म स्थान है। तब यह मध्यमिका नगरी के नाम से प्रसिद्ध था। विक्रम की ८वीं सदी में मेवाड़ के गुहिलवंशीय राजा बापा रावल ने इस पर अधिकार कर लिया। बारहवीं सदी में पाटण के सिद्धराज, जयसिंह एवं कुमारपाल के अधीन रहा। संवत् १२३१ में यह फिर गुहिल वंशी राजा के कब्जे में आ गया।

यहाँ संवत् ११६७ में महावीर मन्दिर के निर्मित होने का उल्लेख है। दादा गुरु आचार्य जिनदत्त सूरि का संवत् ११६९ में यहाँ पाट महोत्सव सम्पन्न हुआ। संवत् १३२२ में महाराणा तेजसिंह की पटरानी जयतल्ल देवी ने यहाँ पार्श्वनाथ भगवान का मन्दिर बनवाया। संवत् १३३५ में युवराज अमरसिंह के सान्निध्य में यहाँ के आदिनाथ मन्दिर पर ध्वजारोहण होने का उल्लेख है। संवत् १३५३ में महाराणा समरसिंह के काल में ११ जिन मन्दिरों में जिन प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की गयी थीं। महाराणा कुम्भा के खजांची शाह वेला ने संवत् १५०५ में एक पुराने जीर्ण मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया, जो शृंगारचौरी के नाम से प्रसिद्ध है। राणा लाखा से सम्मानित श्रेष्ठि बीसल ने किले में भगवान श्रेयांसनाथ का मन्दिर बनवाया। श्रेष्ठि

गुणराज के पुत्र बाल ने कीर्ति स्तम्भ के पास एक विशाल जिन मन्दिर का निर्माण कराया। महाराणा मीकल के समय मन्त्री शाह सरणपाल ने यहाँ अनेक जिन मन्दिर बनवाये। मांडवगढ़ के मन्त्रीश्वर पेथड़ शाह ने भी यहाँ मन्दिर बनवाया था। संवत् १५७३ में रचित 'तीर्थमाला' में भिन्न-भिन्न गच्छों के यहाँ ३२ जिन मन्दिर होने का उल्लेख मिलता है। अब केवल ६ मन्दिर हैं। शेष मन्दिरों के अवशेष जगह-जगह दिखाई देते हैं।

अवन्ती :

उज्जैन शहर में क्षिप्रा नदी के कूल पर पार्श्वनाथ भगवान का एक प्राचीन मन्दिर है। इस नगरी का प्राचीन नाम अवन्तिका है। शास्त्रों में नगर की भद्रा सेठाणी के सुपुत्र अवन्ती सुकुमाल का वर्णन है, जो आर्य सुहस्ति से दीक्षा लेकर मुक्ति पद पाया। उनके पुत्र ने यहाँ वीराब्द २५० में एक भव्य मन्दिर का निर्माण कराया। कहते हैं भगवान महावीर के समय यहाँ के राजा चन्द्र प्रद्योत ने भगवान की एक चंदन प्रतिमा बनवायी थी। बाद में यह प्रतिमा राजा सम्प्रति के पास रही। आर्य सुहस्ति ने इसी प्रतिमा के दर्शनार्थ बार-बार यहाँ विहार किया।

कालान्तर में इस तीर्थ पर शैव मत के शासकों का अधिकार हुआ, तब राजा विक्रमादित्य की सभा के विद्वान रत्न आचार्य सिद्ध सेन दिवाकर ने कल्याण मन्दिर स्तोत्र की रचना की, जिसके प्रभाव से मन्दिर में प्रस्थापित ज्योतिर्मय शिवलिंग में से पार्श्व प्रभु की मनोहारी प्रतिमा प्रकट हुई। इससे राज्य में जैन धर्म की पुनः प्रतिष्ठा हुई। विक्रम की सातवीं सदी में आचार्य मानतुङ्ग सूरि ने यहीं राजा भोज को भक्तामर स्तोत्र की रचना द्वारा चमत्कार दिखाकर प्रभावित किया था। ग्यारहवीं सदी में श्री शान्ति सूरिजी यहीं विद्याप्रेमी परमार राजा भोज की सभा में ८४ वादियों को जीतकर राजा द्वारा सम्मानित हुए थे। इस तरह धर्म प्रचार की अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ इस तीर्थ से जुड़ी हैं।

बावन गजा जी :

मध्यप्रदेश के सतपुड़ा पर्वत माला के उच्चतम शृंग चूलगिरि पर स्थित आदिनाथ भगवान की ८४ फुट (२५.६ मीटर) उत्तुंग खड्गासन मुद्रा की पाषाण प्रतिमा विश्व का प्राचीनतम कला-शिल्प है। लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व इस प्रतिमा का निर्माण हुआ होगा, ऐसी मान्यता है। श्रवणवेलगोला स्थित बाहुबलि स्वामी की ५७ फुट ऊँची प्रतिमा भी इसके समक्ष छोटी है। एक ही पाषाण में उत्कीर्ण इस प्रतिमा का शिल्प विधान अनूठा है। भगवान के मुख पर जो शान्ति और वीतरागता के भाव अंकित हैं, उन्हें देखकर दर्शक अभिभूत हो जाता है। इस प्रतिमा पर कोई लेख नहीं है, यह भी शिल्पकार एवं प्रतिष्ठापक आचार्य की उदारता की पराकाष्ठा है। शास्त्रों के अनुसार लंकापति रावण के अनुज कुम्भकर्ण एवं पुत्र इन्द्रजीत यहीं स्वर्ग सिधारे थे।

इस पहाड़ पर दस और प्राचीन मन्दिर हैं, जिनमें प्रतिमाओं पर लेख उत्कीर्ण हैं। इनमें एक शान्तिनाथ भगवान की १३ फुट उत्तुंग खड्गासन मुद्रा की प्रतिमा अति प्राचीन है। पहाड़ की तलहटी में बड़वानी ग्राम में २१ मन्दिर हैं। मूल आदिनाथ भगवान की प्रतिमा कच्चे ५२ गज की होने से यह तीर्थ 'बावनगजाजी' नाम से प्रसिद्ध हो गया। बारह वर्षों में एक बार प्रतिमा का महामस्तकाभिषेक होता है।

जैसलमेर एवं लोद्रवा :

भारत की पश्चिमी सीमा पर स्थित मरु प्रदेश जैन आचार्यों एवं श्रमणों के पाद विहार का प्राचीन क्षेत्र रहा है। इस क्षेत्र में विद्यमान जैन मन्दिर एवं मूर्तियाँ स्थापत्य एवं शिल्पकला की दृष्टि से बेजोड़ हैं।

वर्तमान जैसलमेर नगर से १० मील दूर स्थित ऐतिहासिक स्थान लोद्रवा में किसी समय लोढ़ जाति के राजपूतों का राज्य था। संवत् ९०० के लगभग (कहीं-कहीं संवत् १०८२ का उल्लेख मिलता है) भाटी राजपूत रावल देवराज ने इस क्षेत्र पर अधिकार कर लिया एवं लोद्रवा को इस प्रदेश की राजधानी बनाया। संवत् १२०० के करीब रावल भोजदेव का राज्य रहा। उनके चाचा रावल जेसल ने महमूद गजनवी की सहायता से लोद्रवा को तहस-नहस कर डाला। भोजदेव मारा गया। रावल जेसल ने संवत् १२१२ में कुछ दूर जैसलमेर दुर्ग का निर्माण कराया, जो इस प्रदेश की राजधानी बना।

लोद्रवा नरेश सगर के दो पुत्रों—श्रीधर तथा राजधर को आचार्य जिनेश्वर सूरि ने प्रतिबोध देकर जैनधर्म अंगीकार करवाया। उनके वंशजों का 'भणशाली गोत्र' निर्धारित किया। प्राचीनतम पार्श्वनाथ मंदिर उस समय विद्यमान था। विक्रम की सोलहवीं सदी में मुस्लिम आक्रांता मुहम्मद गोरी ने मन्दिर को नष्ट कर दिया। नगर लूटा। विक्रम संवत् १६७५ में सगर के वंशज भणशाली गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि थाहरू शाह ने मन्दिर का पुनरुद्धार करवाया। मूल मन्दिर के चार कोनों पर थाहरू शाह ने संवत् १६९७ में चार नये मन्दिर बनवाये। आचार्य जिनराज सूरि से बिम्ब प्रतिष्ठा करवायी। ये मन्दिर शिल्पकला के उत्कृष्ट नमूने हैं। यहीं सहज कीर्ति गणि रचित शतदल पद्मयन्त्र पर उत्कीर्णित प्रशस्ति शिलालेख है। प्रसिद्ध पुरातत्त्व वेत्ता श्री पूरणचन्द जी नाहर ने अलंकार शास्त्रीय छटा से पूरित यह सम्पूर्ण आलेख अपने ग्रंथ 'जैन लेख संग्रह' (जैसलमेर खंड) में प्रकाशित किया है। इस लेख में भगवान महावीर से लेकर देवर्धिगणि क्षमा श्रमण तक ९८० वर्षों की अवधि में हुए आचार्यों की पट्टावलि अंकित है। थाहरू शाह ने एक काष्ठ रथ का निर्माण करवाया था। वह रथ अब भी मन्दिर के अहाते में विद्यमान है। कहते हैं थाहरू शाह ने इसी रथ के साथ शत्रुञ्जय तीर्थ की संघ यात्रा की थी। एक अन्य किंवदंती के अनुसार पाटण के दो शिल्पी भगवान की

प्रतिमा इस रथ पर रख कर मुलतान जा रहे थे। थाहरू शाह ने प्रतिमाओं के वजन के बराबर स्वर्ण देकर वह प्रतिमा एवं रथ शिल्पियों से ले लिया।

पार्श्वनाथ मन्दिर

जब लोद्रवा का विध्वंस हुआ तो वहाँ ओसवालों की बहुत बड़ी बस्ती थी। जैसलमेर नगर की संस्थापना पर अनेक ओसवाल श्रेष्ठि संवत् १२६३ में जैसलमेर आकर बस गये। एक किंवदन्ती के अनुसार वे अपने साथ भगवान पार्श्वनाथ की प्राचीन प्रतिमा लाये। संवत् १४५९ में यहाँ मन्दिर निर्माण का कार्य प्रारम्भ हुआ। उकेश वंशीय रांका गोत्रीय श्रेष्ठि जैसिंह (चोले शाह) एवं नरसिंह (भोजे शाह) ने विपुल धन खर्च कर संवत् १४७३ में उस निर्माण कार्य को पूर्ण कराया एवं आचार्य जिनचन्द्र सूरि के हाथों बिम्ब प्रतिष्ठा करवायी। 'जैसलमेर दिग्दर्शन' के लेखक श्री दीनदयाल ओझा के अनुसार मूल मन्दिर पहले 'लक्ष्मण विहार' के नाम से जाना जाता था। इस मन्दिर में कुल १२५२ मूर्तियाँ हैं। इसमें ५२ जिनालयों वाला भव्य सभा मंडप है, जिसमें ९ तोरण द्वार हैं। पुरुषार्थ की चार मुख्य प्रवृत्तियों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को पूर्णता देनेवाली पाषाण आकृतियाँ इतनी सजीव हैं कि दर्शक देखते ही रह जाता है। इनमें नग्न एवं मैथुन-रत मूर्तियाँ भी हैं, जिनका कला सौष्ठव उच्चतम है। मन्दिर में उत्कीर्णित प्रशस्ति लेख में रांका गोत्रीय श्रेष्ठियों की वंशावली के अतिरिक्त खरतर गच्छीय आचार्यों की पट्टावली भी दी गयी है।

संभवनाथ जी का मन्दिर

यह भव्य मन्दिर ओसवाल श्रेष्ठि चोपड़ा गोत्रीय शाह शिवराज, महाजन लोला और लाखण आदि ने संवत् १४९४ में बनवाना शुरू किया एवं आचार्य जिनभद्र सूरि जी के हाथों संवत् १४९७ में मूल नायक की बिम्ब प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई। श्री सुखसम्पत राय जी भंडारी ने 'ओसवाल जाति का इतिहास' में मन्दिर के निर्माण कर्त्ता श्रेष्ठि का नाम शाह हेमराज लिखा है। उनके अनुसार मन्दिर में ३०० मूर्तियों की प्रतिष्ठा आचार्य जिनभद्र सूरि के हाथों हुई। कुल मूर्तियों की संख्या ५६३ है। इस मन्दिर में उत्कीर्णित एक शिलालेख में यदुवंशी राजाओं की वंशावली तथा प्रशस्ति है। पीले पाषाण में खुदे एक अन्य वृहद् शिलालेख में २४ तीर्थंकरों के च्यवन, जन्म, दीक्षा, ज्ञान आदि चार कल्याणकों की तिथियाँ दी गयी हैं।

चन्द्रप्रभ स्वामी का मन्दिर

यह मन्दिर भणसाली गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि सा० वीदा द्वारा निर्मित है। मन्दिर की मूल प्रतिमा पर संवत् १५०९ का बिम्ब प्रतिष्ठा का आलेख खुदा है। संवत् १५७३ में सांडा शा ने मन्दिर का रुका हुआ निर्माण पूर्ण करवाया। मन्दिर के निर्माण विषयक चमत्कारों की अनेक दंतकथाएँ प्रचलित हैं। कहते हैं निर्माण के लिए धन

जुटाने के लिए सांडा शा को मुलतान जाना पड़ा। वहाँ के श्री संघ से सहायता की प्रार्थना की, पर काम नहीं बना। रात को शासन देवी ने स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि अमुक स्थान पर स्वर्ण-मुहरें दबी हैं। सांडा शा ने उन्हीं मुहरों से मन्दिर का निर्माण पूर्ण करवाया। इस मन्दिर में कुल ८०९ भव्य मूर्तियाँ हैं। मन्दिर के गुप्त तहखानों से धातु की अन्य अलभ्य मूर्तिया प्राप्त हुई हैं।

शान्तिनाथ व कुंथुनाथ जी के मन्दिर

स्थापत्य एवं शिल्प सौन्दर्य की दृष्टि से ये मन्दिर अद्वितीय हैं। संखलेचा गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि शाह खेता एवं चोपडा गोत्रीय शाह पाँचा ने विक्रम की सोलहवीं सदी में एक भव्य अष्टापद मन्दिर बनवा कर उसमें भगवान कुंथुनाथ का बिम्ब प्रतिष्ठित करवाया। शाह पांचा विपुल सम्पदा के स्वामी थे। उन्होंने शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए १३ बार संघ समायोजन किये। उनकी अनुपस्थिति में घर एवं मन्दिर का कार्य भार उनकी शील-गुण सम्पन्ना धर्मानुरागी सुपुत्री ने संभाला। तीर्थ यात्रा से लौट कर पांचा सेठ ने अपनी पुत्री की प्रार्थना पर एक और मन्दिर का निर्माण करवाया, जिसमें अपनी पुत्री के आभूषणों से निर्मित भगवान शान्तिनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित की। इस आशय का संवत् १५३६ का आलेख मूर्ति पर उत्कीर्णित है। यह मन्दिर शिल्प कला का अनुपम खजाना है। इसमें कुल ८२५ मूर्तियाँ हैं, जिनमें नाट्य शास्त्रीय मुद्राओं का अभिनव दिग्दर्शन है। काम-कला के उत्कृष्ट नमूने यहाँ भी उत्कीर्णित हैं, जिनमें चुम्बन की विशिष्ट मुद्राएँ हैं। रमणी के अंग प्रत्यंगों एवं भाव-भंगिमाओं का सौष्ठव प्रस्तर-शिल्प में सजीव हो उठा है।

शाह खेता एवं शाह पांचा के कुटुम्ब में वैवाहिक सम्बन्ध था। खेता ने भी शत्रुञ्जय, गिरनार, आबू आदि तीर्थों के लिए संघ निकाले। संवत् १५८१ में शाह खेता के पुत्र बीदा ने मन्दिर में इस आशय की एक प्रशस्ति खुदवायी एवं मन्दिर के बाहर पाषाण के दो सुन्दर हाथी स्थापित किये, जिन पर अपने माता पिता की प्रस्तर प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करवायीं।

ऋषभदेव का मन्दिर

यह भव्य मन्दिर गणधर चोपड़ा गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि सा० सुच्चा के पुत्र शाह धन्ना ने संवत् १५३६ में बनवाया। इस आशय का एक लेख मूर्ति पर उत्कीर्णित है। मन्दिर में स्थापित मूर्तियों की कुल संख्या 'जैसलमेर दिग्दर्शन के अनुसार ६३१ (भंडारी जी के अनुसार ६०७) है।

महावीर मन्दिर :

इस देव स्थान का निर्माण संवत् १४७३ (भंडारी जी के अनुसार १४५३) में ओस वंशीय बरड़िया गोत्रीय सा० दीपा ने कराया। इसमें कुल २३२ मूर्तियाँ स्थापित हैं।

शीतलनाथ जी का मन्दिर

इस मन्दिर का निर्माण संवत् १४७९ में ओस वंशीय डागा गोत्रीय सेठ लूणा सा एवं गणा सा ने करवाया। इस आशय का प्रतिष्ठा लेख मन्दिर में विद्यमान है। मन्दिर में कुल ३१४ मूर्तियाँ स्थापित हैं।

उक्त सभी मन्दिर जैसलमेर के किले में स्थित हैं। शहर में तपागच्छीय श्रावकों द्वारा संवत् १८६९ में बनवाया हुआ सुपार्श्वनाथ भगवान का मन्दिर उल्लेखनीय है। तपागच्छीय श्रावकों द्वारा मिर्मित विमलनाथ भगवान का एक और मन्दिर दर्शनीय है, जिस पर संवत् १६६६ का प्रतिष्ठा लेख खुदा है। मन्दिरों के सिवाय अनेक श्रेष्ठियों ने अपनी हवेलियों के पास देरासर निर्मित करवाये, जिनमें थाहरू शाह निर्मित देरासर बहुत प्रसिद्ध है।

अमर सागर

जैसलमेर से ५ मील दूर स्थित मरुभूमि का यह सुरम्य उद्यान ओसवंशीय बापना गोत्रीय श्रेष्ठियों ने बनवाया। इसमें एक छोटा मन्दिर सेठ सवाईराम जी बापना ने संवत् १८९७ में बनवाया। समीप ही एक भव्य मन्दिर सेठ हिम्मत राम जी बापना ने संवत् १९२८ में बनवाया। इन मन्दिरों में अनेक कलात्मक मूर्तियाँ, सूक्ष्म जाली उत्कीर्णित गवाक्ष, छज्जे और तोरण प्रस्थापित हैं।

जैसलमेर से ८ मील दूर स्थित ब्रह्मसर में ओसवंशीय बागरेचा गोत्रीय सेठ अमोलखचन्द के सुपुत्र माणक लाल द्वारा संवत् १९४४ में निर्मित भगवान पार्श्वनाथ का मन्दिर दर्शनीय है। उक्त मन्दिरों के शिल्प सौन्दर्य की सभी शिल्पकला विशारदों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

ग्रंथ भण्डार

जैसलमेर तीर्थ का विशेष आकर्षण यहाँ स्थित ग्रंथ भंडार हैं, जिन्होंने प्राच्य-विद्या मर्मज्ञों का ध्यान केन्द्रित किया है। ओसवाल श्रेष्ठियों ने मन्दिर तो निर्मित कराये ही, साथ ही अलभ्य ताड़पत्रीय प्राचीनतम ग्रंथों का संग्रह करने में भी अतुल धन खर्च किया। मन्दिरों के तहखानों में ग्रंथागार बनवाकर उन्हें सुरक्षित रखा। ऐतिहासिक दृष्टि से ये संग्रह अमूल्य हैं। सुविख्यात पाश्चात्य पुरातत्त्वविद् डाक्टर बुल्हर और डाक्टर हरमन जैकोबी ने सर्व प्रथमः इस ओर भारतीय विद्वानों का ध्यान आकर्षित कर शोध कार्य के लिए प्रेरित किया। प्रोफेसर एस० आर० भण्डारकर ने सं० १९०९ में इन ग्रंथागारों का अवलोकन कर एक विस्तृत रिपोर्ट प्रकाशित की। श्री चिमनलाल डायाभाई दलाल व श्री पूरणचन्द जी नाहर ने ग्रंथागारों/शिलालेखों पर विवेचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित किये। इन ग्रन्थागारों में विशिष्ट 'जिनभद्र सूरि ज्ञान भण्डार' संवत् १५०० में स्थापित किया गया था। इस ग्रंथागार में ४२६ अलभ्य ताड़पत्रीय ग्रन्थ

हैं, जिनमें प्राचीनतम ग्रन्थ द्रोणाचार्य विरचित 'ओघ नियुक्ति वृत्ति' है, जो संवत् ११९७ की है। कागज के २२५७ हस्तलिखित ग्रंथों में प्राचीनतम संवत् १२७९ में रचित वाचस्पति मिश्र की 'न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका' की प्रति है। भण्डार में प्राकृत, मागधी, संस्कृत, अपभ्रंश, व्रज आदि भाषाओं के ग्रंथ हैं। शोधार्थियों के लिए ये ग्रन्थ भंडार हमेशा ही आकर्षण केन्द्र बने रहेंगे।

मेड़ता :

मारवाड़ का मेड़ता नगर कभी जैन धर्मावलम्बी लक्षाधिपतियों का गढ़ था। यहाँ तपागच्छ एवं खरतर गच्छ के श्रावकों का बाहुल्य था। बादशाह अकबर को प्रतिबोध देने वाले सुप्रसिद्ध तपागच्छीय आचार्य हीर विजयजी तथा तथा खरतर गच्छीय आचार्य जिनभद्र सूरि ने यहाँ कई चतुर्मास विताये। यहाँ कुल १२ जैन मन्दिर एवं उपासरे हैं। इनमें स्थापित अनेक मूर्तियों पर प्रतिष्ठा लेख खुदे हैं। इन लेखों में तत्कालीन, राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक स्थितियों के विवरण भी हैं।

नगर में स्थित 'चोपड़ों का मन्दिर' एक भव्य देवस्थान है। संवत् १६७७ में ओसवाल श्रेष्ठि गणधर चोपड़ा गोत्रीय संघवी आस करणजी ने अपने संगमरमर पत्थर के सुन्दर बिहार में भगवान शान्तिनाथ की मूर्ति स्थापित की। इस आशय का लेख प्रतिमा पर खुदा है। इस लेख में संघवी आसकरण के पूर्वजों एवं कुटुम्बियों का वंश वृक्ष भी दिया है। संघवी आसकरण ने आबू एवं शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए संघ निकाले, जिससे श्री संघ ने उन्हें संघपति की पदवी से विभूषित किया। इन्होंने संवत् १६७४ में जिनसिंह सूरि के आचार्य पदोपलक्ष में नन्दी महोत्सव का आयोजन किया था। उक्त प्रतिमा लेख में हिन्दुस्तान के तत्कालीन मुगल बादशाह जहाँगीर एवं शाहजादा शाहजहाँ का भी उल्लेख है। प्रतिष्ठापक आचार्य जिनराज सूरि की पट्टावली भी लेख में उत्कीर्णित है।

नगर का दूसरा मुख्य जैन मन्दिर ओसवंशीय लोढा गोत्रीय श्रेष्ठियों द्वारा निर्मित है। इस भव्य मन्दिर में चितामणि पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रस्थापित है। प्रतिमा पर संवत् १६६९ का एक लेख खुदा है, जिसके अनुसार शाह रायमल लोढा के सुपुत्र लखा ने इस प्रतिमा का निर्माण कराया एवं जिनचन्द्र सूरि के कर कमलों से प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई।

नगर के नये मन्दिरों की प्रतिमाओं और वेदियों पर भी कतिपय लेख उत्कीर्णित हैं। संवत् १५१९ के एक लेखानुसार खम्भात के ओसवाल श्रेष्ठि शाह जी रागजी भगवान सुमतिनाथ की वह प्रतिमा अपने साथ लाये थे। इसकी प्रतिष्ठा तपागच्छीय श्री हेम विमल सूरि ने सम्पन्न की। एक अन्य प्रतिमा लेख के अनुसार ओसवाल जाति के बोहरा गोत्रीय श्रेष्ठि ने अपने पिता के कल्याणार्थ शान्तिनाथ प्रभु की प्रतिमा बनवायी और विम्ब प्रतिष्ठा जिन सागर सूरि के हाथों करवायी।

कापरड़ा :

जोधपुर राज्य के कापरड़ा ग्राम में पार्श्वनाथ भगवान का एक भव्य मन्दिर है। इसे संवत् १६७८ में जेतारण के ओसवाल श्रेष्ठि भंडारी अमराजी के पुत्र भाना जी ने वनवाया। जैनाचार्य जिनचन्द्र सूरि के कर कमलों से बिम्ब प्रतिष्ठा करवायी। इस आशय एक लेख मन्दिर में खुदा हुआ है।

कहते हैं स्वयंभू पार्श्वनाथ की यह प्रतिमा भूगर्भ से प्राप्त हुई थी। बड़ी चमत्कारिक है। भानाजी उस समय जैतारण के हाकिम थे। जोधपुर नरेश गजसिंहजी किसी कारण वश उनसे रुष्ट हो गये। भाना जी मार्ग में कापरड़ा इस प्रतिमा का दर्शन कर दरबार में हाजिर हुए। तब तक इस पुण्य के प्रताप से राजा का क्रोध शान्त हो गया। भाना जो को निर्दोष मान कर राजा ने ५०० मुद्राएँ उपहार स्वरूप दी। भाना जी ने उन्हीं मुद्राओं से कापरड़ा में मन्दिर का निर्माण शुरू करवा दिया। निर्माण करीब-करीब सम्पन्न होने तक थैली खाली नहीं हुई। मन्दिर का उत्तुंग शिखर ९५ फुट ऊँचा है। ५ मील की दूरी से दिखाई देता है। वर्तमान में इस मन्दिर की व्यवस्था आनन्दजी कल्याणजी की पेढ़ी के अधीन है।

नाकोड़ा :

बालोतरा से १० कि० मी० दूर जंगल में पर्वतों के बीच नाकोड़ा का प्राचीन तीर्थ स्थित है। यह वीरमपुर या नाकोर नगर के नाम से भी जाना जाता था। आर्य स्थूलिभद्र तथा आर्य सुहस्ती की प्रेरणा से सम्राट् सम्प्रति द्वारा यहाँ मन्दिर वनवाये जाने का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है। विक्रमादित्य की सभा के रत्न आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, भक्तामर स्तोत्र के रचयिता आचार्य मानतुंग सूरि आदि विद्वानों ने इस तीर्थ की यात्राएँ कीं। उनकी प्रेरणा से यहाँ मन्दिरों का निर्माण एवं जीर्णोद्धार हुआ। विक्रम संवत् १२८० में आलमशाह ने इस नगर को बर्बाद कर दिया।

पन्द्रहवीं सदी के आरम्भ में मन्दिर का नवनिर्माण प्रारम्भ हुआ। संवत् १४२९ में पार्श्वनाथ भगवान की चमत्कारी प्रतिमा यहाँ पुनः प्रतिष्ठित की गयी। संवत् १५६४ में ओसवाल जातीय छाजेड़ गोत्रीय सेठ जुठिल के प्रपौत्र सेठ सदारंग ने मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया। लगभग १७वीं शताब्दी तक यहाँ ओसवाल श्रेष्ठियों का वहुत दवदवा था। उसके वाद सेठ मालाशाह संकलेचा के भ्राता नानक जी के साथ हुए राज्य के दुर्व्यवहार के कारण समस्त जैन परिवार तीर्थ यात्रा के वहाने नगर छोड़कर चले गये। आज यहाँ जैनियों का एक भी घर नहीं है। श्री संघ द्वारा तीर्थ की व्यवस्था होती है। प्रभु के जन्म कल्याणक दिवस (पौष कृष्णा १०) पर प्रतिवर्ष यहाँ विराट् मेला लगता है। वांछित मनोकामनाएँ पूर्ण होने की भावना रखने वाले यात्रियों का निरन्तर आवागमन होता रहता है।

नाडलाई तीर्थ :

गोडवाड़ (मारवाड़) प्रांत के देसूरी जिले में स्थित नाडलाई तीर्थ ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्व का है। यहाँ ११ जैन मन्दिर हैं। आदिनाथ भगवान के एक प्राचीन मन्दिर पर संवत् ११८६ का शिलालेख खुदा है, जिसमें समस्त ग्रामीणों के सरपंच ओसवाल श्रेष्ठि की भंडारी नागसी सी लक्ष्मण सी का सम्मान पूर्वक उल्लेख है। इसी मंदिर में विद्यमान एक अन्य शिलालेख में उकेश वंश (ओसवाल) के भंडारी गोत्रीय सायर सेठ के वंशज शंकर आदि श्रावकों द्वारा आदिनाथ भगवान की बिम्ब प्रतिष्ठा का उल्लेख है। संवत् १२०० के अन्य लेख में महाराजाधिराज रायपाल के दीवान ठाकुर राजदेव के समक्ष नाडलाई के महाजनों द्वारा मिलकर मन्दिर के लिए घी, तेल आदि सामग्री भेंट करने के निश्चय का उल्लेख है। यहाँ मात्र ओसवालों के लिए ही व्यवहृत 'महाजन' शब्द ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

भिन्नमाल (श्रीमाल नगर)

पौराणिक कथाओं में राजस्थान के जालोर प्रान्त में 'भिन्नमाल' नगर का महात्म्य वर्णित है। सतयुग में यह नगर 'श्रीमाल', द्वापर में 'पुष्पमाल', त्रेता में 'रत्नमाल' तथा कलियुग में 'भिन्नमाल' नाम से जाना जाता रहा है। इस नगर ने अनेक उत्थान पतन देखे हैं। एक जैन मन्दिर के खंडहर में संवत् १३३३ का एक शिलालेख मिला है, जिसमें भगवान महावीर के यहाँ विचरने का उल्लेख है।

विक्रम संवत् से ५०० वर्ष पूर्व पार्श्व प्रभु संतानीय आचार्य स्वयं प्रभ सूरि ने यहाँ के क्षत्रियों को जैन धर्म अंगीकार करवाया। वे श्रीमाल कहलाये—ऐसा उल्लेख पट्टावलियों में है। यहाँ के राजकुमार उपलदेव ने नया नगर ओसिया बसाया। वीराब्द ७० वर्ष में पार्श्व संतानीय आचार्य रत्न प्रभ सूरि से उनके जैन धर्म अंगीकार कर लेने से ओसवाल जाति की स्थापना हुई।

किसी जमाने में यह नगर बहुत समृद्ध था। जिनदास गणि द्वारा संवत् ७३३ में रचित निशीथ चूर्णि में इस नगर की अपार समृद्धि का वर्णन है। संवत् ८०२ में चावड़ा वंश के राजा वनराज ने जब अणहिल पाटण नगर बसाया तो भिन्नमाल के अनेक श्रीमाल श्रेष्ठि राजा के आमंत्रण पर पाटण जाकर बसे। उनमें मंत्रीश्वर विमलशाह के पूर्वज श्रेष्ठि नानग भी थे।

'शिशुपालवधम्' नामक प्रसिद्ध संस्कृत महाकाव्य के रचयिता महाकवि माघ यहीं के थे। नवीन शोध के आधार पर वे श्रीमाल श्रेष्ठि पुत्र थे। आचार्य सिद्धर्षि ने 'उपमिति-भव प्रपंच कथा' नामक महान उपाख्यान की रचना भिन्नमाल में ही सम्पन्न की।

सारा नगर और आसपास का क्षेत्र प्राचीन मन्दिरों के अवशेषों से भरा है। यहाँ वर्तमान में स्थित ११ मन्दिरों में पार्श्वनाथ मन्दिर प्राचीनतम है। इसकी एक प्रतिमा पर संवत् १०११ का लेख उत्कीर्ण हैं।

जालोर (जाबालिपुर) :

राजस्थान के जालोर नगर एवं निकट के स्वर्णगिरि पर्वत पर स्थित दुर्ग में अनेक प्राचीन जैन मन्दिर हैं। विक्रम की दूसरी सदी से यहाँ राजाओं, मंत्रियों तथा श्रेष्ठियों द्वारा जैन धर्म की प्रभावना निरंतर होती रही है। वि० संवत् १२६ से १३५ के बीच राजा विक्रमादित्य के वंशज नाहड़ राजा द्वारा यक्षवसति व अष्टापद जिन मन्दिरों का निर्माण हुआ—ऐसे उल्लेख हैं। अनेक ग्रन्थों में इस गिरि श्रृंग का 'कनकाचल' नाम से भी उल्लेख है। संवत् १२२१ में राजा कुमारपाल ने यक्षवसति मन्दिर का उद्धार करवाया। उन्होंने यहाँ 'कुमार विहार' नाम से पार्श्वनाथ मन्दिर का निर्माण कराया, जिसमें वादी देवसूरि जी ने बिम्ब प्रतिष्ठा की। संवत् १२४२ के एक लेख में ओसवाल श्रेष्ठि भंडारी पांसू के पुत्र यशोवीर द्वारा 'कुँवर बिहार' के जीर्णोद्धार का उल्लेख है।

विक्रम संवत् ८३५ में यहाँ स्थित आदि नाथ भगवान के मन्दिर में आचार्य उद्योतन सूरि ने 'कुवलयमाला' ग्रन्थ की रचना सम्पन्न की। संवत् १२९३ के एक लेखानुसार राजा उदय सिंह के मंत्री यशोवीर ने आदिनाथ भगवान के मन्दिर में अद्भुत कलायुक्त मडंप का निर्माण करवाया। खरतर गच्छ गुर्वावली के अनुसार संवत् १३१० में महामंत्री जयसिंह ने भगवान महावीर के मन्दिर में २४ जिन बिम्बों की प्रतिष्ठा उल्लास पूर्वक करवायी।

कालांतार में अलाउद्दीन खिलजी द्वारा जालोर के मन्दिर को भारी क्षति पहुँची। अनेक मन्दिर मस्जिदों में परिवर्तित कर दिये गये, जिनके चिन्ह अब भी देखे जा सकते हैं। संवत् १६८१ में राजा गजसिंह के मंत्री मुणोत जयमल जी द्वारा एक भव्य जिन मन्दिर का निर्माण एवं अन्य मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराये जाने का उल्लेख है। जयमल जी की पत्नी सरूप दे व सोहाग दे द्वारा भी अनेक प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करवायी गयीं। संवत् १७४१ में जयमल जी के पुत्र मुणोत नैणसी जोधपुर राज्य के दीवान थे। उन्होंने 'नेणसी री ख्यात' नामक प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ की रचना की।

सांचोर (सत्यपुर) :

राजस्थान के जालोर प्रांत में स्थित सांचोर ग्राम एक ऐतिहासिक स्थल है। इसका प्राचीन नाम सत्यपुर था। भगवान महावीर के प्रथम गणधर गौतम स्वामी द्वारा रचित 'जग चिंतामणि स्तोत्र' में इस तीर्थ का वर्णन है। राजा विक्रमादित्य के वंशज नाहड़ राजा ने संवत् १३० के लगभग एक विशाल गगन चुम्बी मन्दिर का निर्माण करवाकर आचार्य जज्जिग सूरि के हाथों महावीर प्रभु की स्वर्ण प्रतिमा प्रतिष्ठित करवायी थी, ऐसा उल्लेख 'विविध तीर्थ कल्प' में मिलता है।

यहाँ के प्राचीन मन्दिरों को बादशाह अलाउद्दीन खिल्जी ने भारी क्षति पहुंचायी। उसने अनेक मन्दिर मस्जिदों में परिवर्तित कर दिये। ऐसी एक मस्जिद में संवत् १३२२

का एक शिलालेख लगा है, जिसके अनुसार ओसवाल श्रेष्ठि छाड़ा भंडारी ने भगवान महावीर के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था। संवत् १६८१ में मुणोत नैणसी के पिता जयमल जी ने यहाँ एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया था।

कविवर उपाध्याय समय सुन्दर की यह जन्म भूमि है।

पाली :

राजस्थान का पाली नगर जैनों का एक प्राचीन तीर्थ है। इसका प्राचीन नाम पल्ली था। सांडेराव तीर्थ के इतिहास से ज्ञात होता है कि संवत् ९६९ में यशोभद्र सूरि ने सांडेराव के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया तो यहाँ से विपुल मात्रा में घी मँगवाया गया था। घी के मूल्य की राशि नव लाख मुद्राओं से श्री संघ ने यहाँ नवलखा मन्दिर का निर्माण कराया। संवत् ११४४ में इस मन्दिर का जीर्णोद्धार होने का उल्लेख है। मन्दिर में कई प्रतिमाओं पर सवत् ११७८ व १२०१ के लेखों में मन्दिर के मूल नायक भगवान महावीर रहने का उल्लेख है। संवत् १६८६ में ओसवाल जाति के श्रीमाल-चंडालिया गोत्रीय श्रेष्ठि डुंगर और भाखर नामक दो भाईयों ने मंदिर का जीर्णोद्धार करवा कर मूल नायक के रूप में यहाँ पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा प्रतिष्ठित करवायी। इस आशय का लेख नवलखा मन्दिर में विद्यमान है।

नगर के बाहर पुना गिरि टेकरी पर पार्श्वनाथ भगवान का एक और मन्दिर है। तेरहवीं सदी में निर्मित इस मन्दिर में प्रतिष्ठापित भव्य बिम्ब का निर्माण मेड़ता निवासी ओसवाल जाति के कुहाड़ गोत्रीय श्रेष्ठि हरखा और उनकी भार्या जयवन्त दे ने करवाया। नगर के मध्य 'लोढ़ां रो-वास' मुहल्ले में स्थित शांतिनाथ भगवान के मन्दिर की मूल प्रतिमा की प्रतिष्ठापना भी उक्त ओसवाल श्रेष्ठि के डूँगर और भाखर नामक भाईयों ने करवायी थी, इस आशय का लेख मूर्ति पर उत्कीर्णित है।

पल्लीवाल गच्छ का उत्पत्ति स्थान यही नगर है। इसी के नाम पर ओसवालों का पल्लीवाल गोत्र बना।

नाडोल :

राजस्थान के पाली जिलान्तर्गत गोडवाड़ प्रदेश में नाडोल ग्राम के मध्य पद्मप्रभ भगवान का एक प्राचीन मन्दिर है। शास्त्रों में इसका नन्दपुर नाम से भी उल्लेख है। यह तीर्थ राजा सम्प्रति के भी पूर्व का माना जाता है। एक और अति प्राचीन मन्दिर भगवान नेमिनाथ का है। इस मन्दिर में एक भोयरा है। विक्रम संवत् ३०० के पूर्व श्री देवसूरि जी के शिष्य आचार्य मानदेव सूरि ने यहाँ चतुर्मास किया। उस समय तक्षशिला में महामारी का प्रकोप हुआ। वहाँ के श्री संघ की प्रार्थना पर आचार्य मानदेव सूरि ने इसी भोंयरे में साधना रत रह कर 'लघु शांति स्तोत्र' की रचना की। कहते हैं इस स्तोत्र के जाप से उक्त महामारी प्रकोप शांत हुआ। उक्त भोंयरे के प्रवेश द्वार पर आचार्य श्री की एक मूर्ति विराजित है। लगभग १७६० वर्षों से वहाँ अखण्ड ज्योति प्रज्वलित है।

संवत् १२२८ के भेंट पत्र से प्रतीत होता है कि चौहान वंशीय राजा आलनदेव ने यहाँ महावीर भगवान का एक मन्दिर बनवाया। संवत् ११८१ में शालिभद्र सूरि, संवत् १२१५ में पद्मचन्द्र गणि, संवत् १२३७ में सुमति सूरि, १६८६ में विजयदेव सूरि द्वारा मन्दिरों की प्रतिष्ठापना का उल्लेख यहाँ उत्कीर्णित शिलालेखों में पाया जाता है। ओसवालों के भंडारी तथा कोठारी गोत्रों का उत्पत्ति स्थान नाडोल माना जाता हैं। गाँव के आस पास अनेक प्राचीन अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं।

बीकानेर :

बीकानेर शहर एवं राज्य की स्थापना के समय से ही ओसवाल श्रेष्ठि राज्य के प्रमुख ओहदों पर थे। मन्त्रीश्वर बच्छराज जी बोहित्थरा राव बीकाजी के घनिष्ठ सहयोगी थे। बीकानेर शहर में प्रथम मन्दिर भगवान ऋषभनाथ का है, जो सं० १५६१ में बनकर तैयार हुआ। यहाँ भगवान की चतुर्विशति प्रतिमा, जो मण्डोवर में सं० १३८० में नवलखा गोत्रीय साह नेमीचन्द ने बनवायी थी, लाकर प्रतिष्ठित की गयी। इस मंदिर के भूमिगृह में सं० १६३९ में मन्त्रीश्वर कर्मचन्द द्वारा फतहपुर सीकरी से लायी गयी १०५० धातु प्रतिमाएँ रखी हैं। कहा जाता है कि मुगल सरदार तुरसमखान सिरोही लूट में ये प्रतिमाएँ गलाकर स्वर्ण अंश निकालने के इरादे से सीकरी ले आया, परन्तु सम्राट् अकबर की निषेधाज्ञा के कारण उन्हें भंडारस्थ करना पड़ा। मन्त्रीश्वर कर्मचन्द बच्छावत उन्हें सम्राट् से प्राप्त कर बीकानेर ले आये।

अन्य मन्दिरों में बैदों के चौक का श्री महावीर मन्दिर प्रमुख है। उसमें एक धातु प्रतिमा सं० १५५५ में श्री देवगुप्त सूरि द्वारा प्रतिष्ठित विद्यमान है। भांडासर जी का मन्दिर सं० १५७१ में श्रेष्ठि भांडाशाह ने बनवाया। लक्ष्मीनारायण पार्क में अवस्थित श्री नेमिनाथ मन्दिर सं १५७० में कर्मसिंह बच्छावत ने बनवाया। यहाँ भोमियाजी का चमत्कारी मन्दिर भी अवस्थित है। इनके अलावा नाहटों की गुवाट, डागों की पोल, कोचरों की गुवाड़, रांगड़ी चौक, बेंगाणियों की पोल, गोगा दरवाजा, गंगाशहर रोड आदि स्थानों पर अनेक भव्य जैन मन्दिर ओसवाल श्रेष्ठियों के बनवाये हुए हैं। बीकानेर राज्य के अन्य अनेक शहरों—नापासर, राजलदेसर, सुजानगढ़, चूरू, राजगढ़, रिणी, सरदारशहर, हनुमानगढ़, नोहर, भादरा, उदरामसर, में ओसवाल श्रेष्ठियों द्वारा निर्मित जैन मन्दिर अवस्थित हैं।

बीकानेर के श्रेष्ठियों द्वारा अन्यान्य तीर्थों पर भी अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण एवं पुनरुद्धार हुआ है। मन्त्रीश्वर कर्मचन्द बच्छावत ने शत्रुञ्जय एवं गिरनार तीर्थों पर मन्दिरों का निर्माण करवाया। शत्रुञ्जय तीर्थ के विमलवसही मण्डप में वैद मुंथा गोत्रीय श्रेष्ठियों द्वारा संवत १६५४ में निर्मित छतरियाँ अवस्थित हैं।

हस्तिनापुर :

दिल्ली से ६० कि० मी० दूर उत्तर प्रदेश के हस्तिनापुर ग्राम स्थित यह प्राचीनतम तीर्थ है। भगवान ऋषभदेव ने अपने पुत्र बाहुबलि को इस प्रदेश का स्वामी बनाया था। अपने पौत्र श्रेयांसकुमार से भगवान ने यहीं इक्षु रस से पारणा किया था। तीर्थंकर शांतिनाथ, कुंथुनाथ एवं अरहनाथ के च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान कल्याणकों से यह भूमि पावन हुई। अनेक स्तूपों व मन्दिरों के निर्माण का उल्लेख शास्त्रों में है, पर आज उनका कहीं पता नहीं। जगह जगह उत्खनन में प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए हैं। राजा सम्प्रति ने यहाँ अनेक मन्दिर बनवाये थे।

उपकेश गच्छीय आचार्यों ने संघ सहित इस तीर्थ की यात्राएँ कीं। विक्रम सं० से ३८६ वर्ष पूर्व आचार्य यक्षदेव सूरि ने इस तीर्थ की महिमा उजागर की। विक्रम से २४७ वर्ष पूर्व आचार्य सिद्धसूरि, १९९ वर्ष पूर्व आचार्य रत्नप्रभ सूरि (चतुर्थ) एवं २३५ वर्ष पूर्व आचार्य कक्क सूरि (चतुर्थ) के यहाँ पधारने का उल्लेख 'उपकेश गच्छ पट्टावली' में मिलता है।

'विविध तीर्थ कल्प' के रचयिता आचार्य जिनप्रभ सूरि संवत् १३३५ में दिल्ली से एक विशाल संघ लेकर यहाँ पधारे थे। उन्होंने उक्त तीन तीर्थंकरों के मन्दिरों के साथ भगवान मल्लिनाथ का भी भव्य मन्दिर होने का उल्लेख किया है।

श्रावस्ती :

उत्तर प्रदेश के श्रावस्ती ग्राम के निकट जैनों का एक प्राचीन तीर्थ है जिसे आजकल 'सहेत महेत' के नाम से जाना जाता है। 'वृहत्कल्प' एवं 'विविध तीर्थ कल्प' में इस तीर्थ की महिमा वर्णित है। यह भगवान सम्भवनाथ के च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान—इन चार कल्याणकों से पावन हुई भूमि है। यहाँ के राजा प्रसेनजित भगवान महावीर के परम भक्त थे। पार्श्वनाथ सन्तानीय केशी मुनि और महावीर के गणधर गौतम का सर्व प्रथम मिलन यहीं हुआ। जामाली (भाणजा) ने भगवान से दीक्षा लेकर उन्हीं के विपरीत प्रचार यहीं शुरू किया था। गोशालक ने यहीं भगवान पर तेजो लेश्या से प्रहार किया था। इस ऐतिहासिक नगरी ने अनेक उत्थान-पतन देखे हैं।

विक्रम की दसवीं शताब्दी में यहाँ राजा मयूरध्वज का शासन था। उनके वंशज अनेक पीढ़ियों तक वहाँ राज्य करते रहे। विंसेट स्मिथ ने उन्हें जैन वंशज माना है। उस समय तक यहाँ अनेक भव्य जैन मन्दिर रहे होंगे। बादशाह अलाउद्दीन खिलजी ने यहाँ के मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। परन्तु मीलों के विस्तार में अब भी प्राचीन खण्डहर देखे जा सकते हैं। इस क्षेत्र के उत्खनन में अनेक प्राचीन प्रतिमाएँ, शिलालेख आदि प्राप्त हुए हैं।

अयोध्या :

यह अति प्राचीन नगरी है। आचार्य जिनप्रभ सूरि ने 'विविध तीर्थ कल्प' में इसकी महिमा का बखान किया है। यह भगवान ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, अनन्तनाथ जैसे जिनेश्वरों की जन्मभूमि है। भगवान अनन्तनाथ के च्यवन, जन्म, दीक्षा कैवल्य—चारों कल्याणक इसी नगरी में हुए। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार उक्त अन्य तीर्थंकरों के च्यवन, दीक्षा एवं केवल ज्ञान कल्याणक भी यहीं हुए। यह रघु-कुल तिलक मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम की लीला भूमि है। 'विमलवाहन आदि सात कुलकर' यहीं उत्पन्न हुए थे। यहीं महासती सीता ने आत्मशुद्धिका परिचय देने के लिए शील बल से अग्नि कुण्ड को जल कुण्ड में परिवर्तित कर लिया था।

इस नगरी के 'अजितनाथजी के मन्दिर' की पाषाण मूर्तियों पर कई लेख खुदे हुए हैं। पंचतीर्थों पर एक लेख संवत् १४९५ का है, जिसके अनुसार ओसवाल जाति के सुचिंती गोत्रीय साहा भीकू के पुत्र साहा नान्हा ने अपने माता पिता के कल्याणार्थे यहाँ श्री शांतिनाथ भगवान का बिम्ब स्थापित किया, जिसकी प्रतिष्ठा उपकेश गच्छीय आचार्य कक्क सूरि ने की।

रत्नपुरी :

'विविध तीर्थ कल्प' के अनुसार फैजाबाद से १० मील दूर स्थित 'रत्नपुरी' (रोताही ग्राम) एक प्राचीन तीर्थ है। पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ स्वामी के च्यवन, जन्म, दीक्षा, कैवल्य—ये चार कल्याणक यहीं हुए।

यहाँ स्थित जैन मन्दिर में कई लेख उत्कीर्णित हैं। संवत् १५६७ के एक लेख में ओसवाल श्रेष्ठि हासा द्वारा पार्श्वनाथ भगवान के बिम्ब की प्रतिष्ठा करवाये जाने का उल्लेख है। संवत् १६१७ के एक अन्य प्रतिमा लेख में ओसवाल श्रेष्ठि सा० अमरसी के पौत्र कहाना द्वारा पद्मप्रभु के बिम्ब की स्थापना कराने का उल्लेख है।

पावापुरी :

बिहार प्रांत में स्थित भगवान महावीर की निर्वाण भूमि पावापुरी जैनों का तीर्थ स्थल है। भगवान के परमभक्त मगध नरेश श्रेणिक के पुत्र अजातशत्रु के शासन काल में भगवान चम्पापुरी से पधार कर राजा हस्तिपाल की रज्जुशाला में ठहरे। अंतिम देशना देकर भगवान यहीं निर्वाण को प्राप्त हुए। भगवान के ज्येष्ठ भ्राता नन्दि वर्धन ने संस्कार स्थल पर चरण स्थापित किये। तब से अनेक वार इस तीर्थ का पुनरुद्धार हुआ।

एक हजार वर्ष पूर्व से तीर्थ की व्यवस्था श्वेताम्बर ओसवालों के हाथों में है। गाँव के प्राचीन मन्दिर में ओसवाल श्रेष्ठि निर्मलकुमार सिंह नौलखा ने जीर्ण शीर्ण सभा मण्डप की जगह विशाल सभा मण्डप बनवा दिया है। जल मन्दिर में भगवान महावीर

की एक धातु प्रतिमा है, जिस पर सं० १२६० का आचार्य अभयदेव सूरि का प्रतिष्ठा लेख है।

गाँव से कुछ दूर एक आम्र उद्यान है। ऐसा अनुमान है कि भगवान महावीर का प्रथम समवशरण यहीं हुआ था। श्री संघ की ओर से यहाँ एक मन्दिर बनवाया गया है। उसके पास ही अजीमगंज की श्रीमती महताब कुँअर का संवत् १९३२ में बनवाया हुआ महावीर मन्दिर है। पावापुरी में जितने मन्दिर एवं धर्मशालाएँ हैं, प्रायः सब में बिम्ब प्रतिष्ठा एवं जीर्णोद्धार ओसवाल श्रेष्ठियों ने ही करवाया है। उनमें अजीमगंज के नोलखा परिवार एवं बिहार के सुचंती परिवार प्रमुख हैं। प्रसिद्ध पुरातत्त्व वेत्ता श्री पूरणचन्दजी नाहर की माता श्रीमती गुलाब कुमारी की स्मृति में बनी दुमंजिली धर्मशाला तथा धर्मपत्नी श्रीमती कुन्दन कुमारी की स्मृति में बनी दीनशाला तीर्थ यात्रियों के लिए बड़ी लाभकारी सिद्ध हुई हैं। यात्रियों के सुखवास हेतु राय बहादुर बुधसिंह जी ने भी यहाँ एक धर्मशाला बनवायी है।

चम्पापुरी :

अंग देश की प्राचीन नगरी चम्पापुरी जैनों का मुख्य तीर्थ माना जाता है। आचार्य जिन प्रभ सूरि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विविध तीर्थ कल्प' में इसकी महिमा का बखान किया और इसे 'उत्तमोत्तम नर-नारी रूपी मुक्तामणि' प्रदान करने वाली बताया है। बारहवें तीर्थंकर श्री वासुपूज्य का च्यवन, जन्म, प्रवज्या, केवलज्ञान, निर्वाण—पांचों कल्याणक यहीं हुए। सुभद्रा महासती के शील महात्म्य की कथा इसी नगरी से सम्बद्ध है। दधिवाहन राजा की पुत्री महासती चन्दनबाला का जन्म इसी नगरी में हुआ। भगवान महावीर ने यहाँ तीन वर्षाकाल बिताये। राजगृह के सुप्रसिद्ध राजा श्रेणिक के पुत्र कूणिक (अजातशत्रु) ने इसे अपनी राजधानी बनाया। पाण्डु वंशी महादानी राजा कर्ण किसी समय इसके अधिपति रहे। सम्यग्दृष्टि सेठ सुदर्शन को रानी अभया के उपसर्ग इसी नगरी में सहन करने पड़े थे। यहीं चौदह पूर्वधर शय्यंभव सूरि ने अपने प्रिय पुत्र मनक को अल्पायु जान उसके बोधार्थ दशवैकालिक सूत्र की रचना की। भगवान महावीर के प्रमुख श्रावक कामदेव चम्पा के ही रहने वाले थे। यहीं कुमार नन्दी स्वर्णकार ने 'जीवित स्वामी' की अलंकार विभूषित प्रतिमा सर्व प्रथम निर्मित की।

इस पवित्र तीर्थ में समय-समय पर ओसवाल श्रेष्ठियों ने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया तथा बिम्ब स्थापित किये। संवत् १६६८ के एक शिलालेख के अनुसार मुर्शिदाबाद के प्रसिद्ध जगत सेठ खानदान के पूर्वज गेहलड़ा गोत्रीय शाह हीरानन्द ने एक भव्य मन्दिर बनवाया। उसमें पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ स्वामी का बिम्ब प्रस्थापित किया। संवत् १८५६ में बीकानेर ओसवाल श्रेष्ठि कोठारी जेठमल ने चन्द्रप्रभु स्वामी के जिन-बिम्ब की प्रतिष्ठा जिनचन्द्र सूरि के हाथों सम्पन्न करवायी। इसी समय गोलछा गोत्रीय

ओसवाल श्रेष्ठि ने वासुपूज्य स्वामी की विम्ब-प्रतिष्ठा करवायी। ऐसे अन्य प्रतिष्ठा लेखों में दूगड खानदान के ओसवाल श्रेष्ठियों एवं महिलाओं के अनेक नाम उत्कीर्णित हैं। धातु प्रतिमाओं के निर्माता एवं प्रतिष्ठापक ओसवाल श्रेष्ठियों के नाम अनेक प्रतिमा-लेखों में दृष्टव्य हैं। संवत् १५०९ के एक लेखानुसार साहस नामक ओसवाल श्रावक ने नेमिनाथ भगवान की प्रतिमा स्थापित करवायी। संवत् १५५१ में ओसवाल जाति सिघाड़िया गोत्रीय शाह चम्पा आदि ने आदिनाथ भगवान की मूर्ति की प्रतिष्ठा करवायी।

राजगृह :

आधुनिक बिहार प्रान्त ऐतिहासिक दृष्टि से प्रभावी जैन क्षेत्र रहा है। इस प्रान्त के विभिन्न नगरों तथा ग्रामांचलों में अनेक प्राचीन जैन मन्दिर हैं। राजगृह बीसवें जैन तीर्थंकर मुनि सुव्रतजी का जन्म स्थान था। यहीं वे दीक्षित हुए। कायोत्सर्ग कर केवल ज्ञान प्राप्त किया। यहीं वे निर्वाण को प्राप्त हुए। भगवान महावीर ने यहाँ चौदह चतुर्मास किये। जम्बू स्वामी, धन्ना सेठ, शालिभद्र जैसे इतिहास पुरुष राजगृह निवासी थे। राजा श्रेणिक भगवान महावीर के प्रमुख श्रोता थे। उनके पुत्र अजातशत्रु भी भगवान के अनुयायी थे। संवत् १३६४ में रचित 'विविध तीर्थ कल्प' में आचार्य जिन प्रभ सूरि ने राजगृह तीर्थ की महिमा का वर्णन किया है।

राजगृह के पाँच प्रमुख गिरि शृंगों–विपुलाचल, रत्न गिरि, उदय गिरि, स्वर्ण गिरि एवं वैभार गिरि—पर दिगम्बर और श्वेताम्बर—दोनों ही सम्प्रदायों के अनेक मन्दिर हैं, जिनके निर्माण-कर्ता तथा बिम्ब प्रतिष्ठापक ओसवाल श्रेष्ठि रहे हैं। सं० १४१२ के एक शिलालेख में विपुलगिरि पर्वत पर श्री मण्डन के पुत्र देवराज व वच्छराज द्वारा श्री पार्श्वनाथ भगवान का मन्दिर बनवाये जाने का उल्लेख है। सं० १५२४ के एक लेखानुसार श्रीमालवंशीय श्रावक जीतमल ने वैभार गिरि पर धन्ना सेठ व शालिभद्र की प्रतिमाएँ एवं ग्यारह गणधरों के चरण प्रतिष्ठित कराये, जिनके वैभार गिरि पर ही मोक्ष सिधारने का उल्लेख शास्त्रों में हैं।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के उपाध्याय श्री अमर मुनि की प्रेरणा से वैभार गिरि की तलहटी में 'वीरायतन' की संस्थापना जन-जीवन के स्वस्थ एवं रचनात्मक विकास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। साध्वी श्री चन्दना जी इस योजना की मुख्य कार्य-वाहिका हैं।

पाटलिपुत्र :

बिहार प्रान्त का पाटलिपुत्र (पटना) नगर प्राचीन काल में पुष्पपुर नाम से जाना जाता था। इसे राजा श्रेणिक के पौत्र उदई (उदयन) राजा ने विक्रम संवत् से ४४४ वर्ष पूर्व बसाया। उदई राजा जैन धर्म का अनुयायी था। उसके पश्चात्

राज्य सत्ता नन्द वंशीय राजाओं के हाथ आयी। महापद्म नन्द के मन्त्री शकडाल के पुत्र स्थूलिभद्र बहुत तीक्ष्ण बुद्धि थे। उन्होंने जैनाचार्य संभूति विजय से दीक्षा ग्रहण की। उनके चारित्र्य बल की अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। राजनर्तकी कोशा (वेश्या ?) की चित्रशाला में चतुर्मास कर मुनि स्थूलिभद्र ने अपने आत्मबल का परिचय दिया था। इसी नगर में भद्रबाहु स्वामी से दस पूर्व ज्ञान का अभ्यास कर आर्य स्थूलिभद्र ने १२ वर्षीय भीषण दुष्काल के पश्चात् आगम वाचना की और ग्यारह अंग सुव्यवस्थित किये। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने इसे अपनी राजधानी बनाया। वे भद्रबाहु स्वामी से जैनधर्म अंगीकार कर, दीक्षित हो, उनके साथ ही दक्षिण-भारत प्रस्थान कर गये, ऐसा उल्लेख शास्त्रों में हैं। चाणक्य, महागिरि, वज्र स्वामी, उमास्वाति, पादलिप्त सूरि सरीखे महान पुरुषों ने इस नगर की शोभा बढ़ाई। आचार्य उमास्वाति ने यहाँ 'तत्त्वार्थ सूत्र' की रचना सम्पन्न की। पाटलिपुत्र स्थित प्राचीन जैन मन्दिर ओसवाल श्रेष्ठियों का ही बनवाया हुआ है। मन्दिर में प्रतिष्ठित धातु मूर्तियों पर उत्कीर्णित सं० १४८६ के लेख में दूगड़ गोत्रीय शाह उदयसिंह का उल्लेख है। सं० १४९२ के अन्य लेख में ओसवाल जाति के काकेरिया गोत्रीय शाह सोहड़ एवं उनकी भार्या हीरा देवी द्वारा आदिनाथ भगवान की बिम्ब प्रतिष्ठा का उल्लेख है। सं० १५०८ के एक लेख में ओसवंशीय शाह खेता डूङ्गरसिंह द्वारा धर्मनाथ भगवान की बिम्ब प्रतिष्ठा का उल्लेख है। एक अन्य लेख ओसवंशीय जगतसेठ महताबचन्द (गेहलड़ा गोत्रीय) का भी है। विक्रम की सतरहवीं सदी में आगरा के प्रसिद्ध ओसवाल श्रेष्ठि कुँवरपाल सोनपाल लोढ़ा यहाँ संघ लेकर आये। अठारहवीं शताब्दी में बादशाह जहाँगीर के खास जौहरी श्रेष्ठि हीराचन्द यहीं रहते थे। उन्होंने यहाँ एक मन्दिर और दादाबाड़ी का निर्माण कराया।

क्षत्रिय कुँड :

बिहार प्रान्त के अन्तर्गत लछवाड़ ग्राम से १ कोस दक्षिण में भगवान महावीर का जन्म स्थान क्षत्रिय कुण्ड है। वि० सं० से ५४३ वर्ष पूर्व इस स्थान से २ कोस पर स्थित पहाड़ी पर ब्राह्मण कुण्ड में ऋषभदत्त ब्राह्मण निवास करता था। भगवान का जीव च्यव कर उसकी भार्या देवानन्दा के गर्भ में आया। तत्पश्चात् क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला की कोख में स्थानान्तरण हुआ। श्वेताम्बर सम्प्रदाय भगवान का च्यवन, जन्म तथा दीक्षा—ये तीन कल्याणक इसी स्थान पर मानते हैं। यहाँ के लोग इसे जन्म स्थान कह कर ही पुकारते हैं। कल्प सूत्र एवं संवत् १३५२ में रचित प्रवानाचार्य गुर्वावली में इस तीर्थ का महात्म्य वर्णित है।

पहाड़ की की तलहटी दो छोटे मन्दिर हैं। उनमें वीर प्रभु की श्यामवर्ण की प्रतिमाएँ स्थित हैं। पहाड़ पर के मन्दिर में भी श्याम वर्ण की ही मूर्ति है। इसकी पंचतीर्थी

पर सं० १५५३ का एक लेख खुदा है, जिसमें ओसवाल वंशीय वारलेचा गोत्रीय श्रेष्ठि द्वारा कुंथुनाथ भगवान के बिम्ब की प्रतिष्ठा किये जाने का उल्लेख है।

मधुवन तीर्थ :

बिहार प्रान्त में स्थित 'मधुवन' के जैन मन्दिर चर्चित रहे हैं। इन मन्दिरों में कई प्राचीन लेख खुदे हैं। सं० १४९६ के एक लेख में श्रीमाल श्रेष्ठि करमसी और उनकी भार्या मटकू के पुत्र द्वारा कुल के श्रेयार्थ कुंथुनाथ भगवान की बिम्ब प्रतिष्ठा कराये जाने का उल्लेख है। सं० १५५३ के एक अन्य लेख में ओसवंशीय साह पनवरद एवं उनकी भार्या मानू के पुत्र साह वदा के पुत्र कुंवरपाल सोनपाल द्वारा वासु पूज्य स्वामी के बिम्ब की प्रतिष्ठा कराये जाने का उल्लेख है। सं० १५७० के एक लेख के अनुसार ओसवाल जाति के सुराणा गोत्रीय सा० केशव के पौत्र पृथ्वीमल ने श्री अजितनाथ भगवान के बिंब की प्रतिष्ठा करायी।

सम्मेद शिखर तीर्थ :

बिहार प्रांत के मधुबन क्षेत्र में स्थित 'सम्मेद शिखर' अत्यन्त प्राचीन तीर्थ है। जैनों के चौबीस तीर्थंकरों में से ऋषभ, वासु पूज्य, नेमिमाथ एवं महावीर को छोड़कर अन्य बीस तीर्थंकरों का निर्वाण (शरीरांत) यहीं हुआ। यह क्षेत्र वर्तमान में 'पार्श्वनाथ हिल्स' के नाम से विख्यात है, जो पार्श्व प्रभु के इस क्षेत्र में तत्कालीन प्रभाव का सूचक है। यहाँ से ४ कोस पर ऋजुबालुका नदी है, जहाँ भगवान महावीर को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। यहाँ मूल प्रतिमाएँ सौधर्मेन्द्र द्वारा स्थापित मानी जाती हैं। विक्रम की दूसरी सदी में पादलिप्त सूरी आकाश गामिनी विद्या से यहाँ आते थे—ऐसे उल्लेख शास्त्रों में हैं। आचार्य बप्प भट्ट सूरि के बारे में भी ऐसी दन्तकथाएँ प्रसिद्ध हैं। नौवीं सदी में आचार्य प्रद्युम्न सूरि ने सात बार यहाँ आकर तीर्थ का जीर्णोद्धार कराया। तेरहवीं सदी के आचार्य देवेन्द्र सूरि रचित 'बन्दास वृत्ति' में यहाँ के जिनालयों के उल्लेख हैं।

तीर्थ की टोंक पर ओसवाल श्रेष्ठियों द्वारा तीर्थ के पुनरुद्धार एवं बिम्ब प्रतिष्ठा के बीसों लेख उत्कीर्णित हैं। संवत् १६७० में आगरा के ओसवाल श्रेष्ठि कुंवरपाल सोनपाल ने तीर्थ के लिए वृहद् संघ समायोजन किया। इन्होंने तीर्थ का जीर्णोद्वार कराया। लाखों रुपये व्यय किये। श्री जय कीर्ति रचित 'रास' में इस समायोजन का सांगोपांग वर्णन है। संवत् १६४९ में बादशाह अकबर के एक फरमान में आचार्य हीर विजय जी को यह क्षेत्र भेंट करने का उल्लेख है। संवत् १८०५ (या १८०९) में दिल्ली के बादशाह अहमदशाह ने समूचा पारसनाथ पहाड़ ओसवाल श्रेष्ठि जगतसेठ महताबराय को उपहार में दे दिया। जगत सेठ ने इस क्षेत्र का जीर्णोद्धार करवाने एवं तीर्थ यात्रियों के लिए समुचित व्यवस्था करने का संकल्प लिया। इसी बीच महताबराय का देहांत

हो गया। उनके पुत्र खुशालचन्द को बादशाह शाहआलम ने संवत् १८२२ में जगतसेठ की पदवी दी। जगतसेठ खुशालचन्द ने पद्मावती देवी की उपासना की। दैवी प्रत्यक्ष्य से २० तीर्थंकरों के २० निर्वाण स्थल निश्चित कर वहाँ स्तूप बनवाये। यह इस तीर्थ का २१वाँ जीर्णोद्धार माना जाता है।

संवत् १८२५ में सेठ खुशालचन्द ने यहाँ भोमियाँजी का मन्दिर बनवाया। तीर्थ का तत्कालीन प्रबन्ध जैन श्वेताम्बर संघ के हाथ में था। संवत् १९२५ से १९३३ के बीच अनेक मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया गया। जब जगतसेठ खानदान का सितारा डूबने लगा तो पहाड़ की मिल्कियत पालगंज के राजा को दे दी गयी। संवत् १९६२ में राजा ने पार्श्वनाथ हिल्स का क्षेत्र बिक्री कर देने की ठानी। संवत् १९७५ में आनन्दजी कल्याणजी की पेढ़ी ने दो लाख बयालीस हजार रुपये में यह पावन क्षेत्र खरीद लिया तब से वह जैन श्वेताम्बर संघ के अधीन हुआ। संवत् २०१२ से २०१७ के मध्य संघ ने तीर्थ का तेईसवाँ जीर्णोद्धार करवाया। वर्तमान में पहाड़ की ३१ देहरियों एवं मंदिर की देखरेख अजीमगंज निवासी ओसवाल श्रेष्ठि श्री बहादुरसिंह जी दूगड़ के सुपुत्रों द्वारा की जाती है

श्रवण बेलगोला :

कर्नाटक प्रांत के हासन जिले में चन्द्र गिरि पर्वत पर भगवान बाहुबली की ५७ फुट उत्तुंग कायोत्सर्ग मुद्रा में विश्व विख्यात पाषाण प्रतिमा प्रतिष्ठित है। यह क्षेत्र श्रवण बेलगोला के नाम से जाना जाता है। भगवान महावीर की श्रमण परम्परा में अंतिम श्रुत केवली भद्रबाहु स्वामी (विक्रम संवत् के २६० वर्ष पूर्व से २४० वर्ष पूर्व तक) ने उत्तर भारत में १२ वर्षीय भीषण दुष्काल की आशंका से चतुर्विध संघ के साथ दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान किया। श्रवण बेलगोला स्थित शिलालेखों के के अनुसार आचार्य भद्रबाहु चन्द्र गिरि पर्वत के क्षेत्र में आवासित रहे। यहीं समाधि मरण को प्राप्त हुए। शिलालेखों एवं इतिहासकारों के उल्लेखानुसार मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त भी आचार्य भद्रबाहु के हाथों दीक्षित हो उनके साथ आये एवं चन्द्रगिरि पर्वत पर ही स्वर्गस्थ हुए। तभी से यह क्षेत्र दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र बना। 'श्रमणों का जलाशय सा' दिखने से ही क्षेत्र का नाम श्रवण बेलगोला हुआ।

गंग नरेश राजमल्ल के महा सामन्त चामुण्डराय की माता की प्रेरणा से विक्रम संवत् ९९० में चामुण्डराय ने बाहुबलि स्वामी की उक्त भीमकाय मूर्ति का निर्माण करवाकर उसे चन्द्रगिरि पर्वत पर प्रतिस्थापित किया। यहाँ सं० ७१५ का एक लेख उत्कीर्ण है, जिससे उक्त तथ्यों की पुष्टि होती है। पहाड़ की तलहटी में पार्श्वनाथ वस्ती में इसी आशय का एक संवत् ६५७ का शिलालेख भी विद्यमान हैं। बाहुबलि स्वामी की उक्त प्राचीन प्रतिमा का महामस्तकाभिषेक बारह वर्षों में एक बार होता है। वर्तमान

में यहाँ एक जैन मठ भी है। इन पर्वत श्रृंगों पर अन्य अनेक जिन मन्दिर हैं, जिनमें एक आदीश्वर भगवान का मन्दिर है।

बंग प्रदेश के तीर्थ :

प्रसिद्ध इतिहासकार श्री प्रबोधचंद्र सेन ने अपने ग्रंथ 'बंगाल का आदि धर्म' में जैन धर्म को ही इस प्रदेश का आदि धर्म माना है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भगवान महावीर ने बंगाल और विहार में विचरण किया था। उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की पाद रज से भी यह भूमि पवित्र हुई थी। सम्मेद शिखर २४ में से बीस तीर्थंकरों का समाधि स्थल रहा है। प्राचीन जैन संस्कृति को अक्षुण्ण रखने वाली निरामिष भोजी 'सराक' जाति बंगाल, बिहार, उड़ीसा के ग्रामांचलों में अब भी विद्यमान है। इतिहासकार 'सराक' शब्द को 'श्रावक' शब्द का ही अपभ्रंश मानते हैं। श्रावक शब्द जैन शास्त्रों में जैनधर्मानुयायी सद्गृहस्थ के लिए व्यवहृत होता है। ले० क० डाल्टन (जरनल, एशियाटिक सोसाइटी आफ बेंगाल vol. ३५ (१)—१८६६) की विशेष खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मानभूम जिले में सर्वप्रथम बसने वाले यही प्रथम सभ्य आर्य जाति थी। एक समय सराक बहुत समृद्ध थे। इन्होंने अनेक मन्दिर बनवाये। सम्मेद शिखर के इर्द-गिर्द इनकी बस्तियाँ थीं। ऐसी ही बस्तियाँ सिंहभूम जिले में भी बसीं। वहाँ मन्दिर भी बने, जिसके कारण आज भी कोसी और दामोदर नदियों के किनारे पलमा और पाक बीरा (पुरुलिया) चूड़ा और डालमा (मानभूम) पावनपुर (वीरभूम) आदि अंचलों में कायोत्सर्ग मुद्रा की मूर्तियों व देवालयों के अवशेष देखे जा सकते हैं। स्थानीय लोग मूर्तियों की 'वीरम्' कह कर पूजा करते हैं, जो शायद वीर प्रभु का ही अपभ्रंश है।

सुप्रसिद्ध नगर बर्दवान को तीर्थंकर महावीर (वर्धमान) से सम्बन्धित माना जाता है। जैनागमों में वर्णित उग्र वंश के लोग अब भी वहाँ निवास करते हैं। उजानी और आउडपल से प्राप्त भगवान शान्तिनाथ की पाषाण प्रतिमाएँ १०वीं सदी की मानी जाती हैं। वे कलकत्ता बंगीय साहित्य परिषद के एक कक्ष में सुरक्षित हैं। इसी तरह वीरभूम जिला भी भगवान महावीर के लिए प्रयुक्त वीर प्रभु शब्द से सम्बन्धित माना जाता है। यहाँ के ग्रामांचलों में 'सराक' जाति के अनेक परिवार निवास करते हैं।

वर्तमान काल में बंग प्रदेश में ओसवालों का आवागमन सोलहवीं सदी से प्रारम्भ हुआ। वे सर्वप्रथम मुर्शिदाबाद जिले में बसे। सतरहवीं सदी में रेल सेवा प्रारम्भ होने से इस आवागमन में त्वरा आयी। जल्दी ही उन्होंने पाट, कपड़ा आदि का व्यवसाय स्थापित कर लिया। इस प्रदेश में अनेक भव्य जिन मन्दिरों का निर्माण उनके द्वारा कराया गया। जियागंज व अजीमगंज के जिन-मन्दिरों की प्रतिमाएँ दर्शनीय

हैं। कठगोला में बाबू लक्ष्मीपत सिंह दूगड़ निर्मित विशाल उद्यान और मन्दिर कला सौन्दर्य तथा आध्यात्मिकता का संगम है। महिमापुर में जगतसेठ महताब राय ने सं० १८०५ गंगा के किनारे अमूल्य कसौटी पत्थर से एक भव्य जिन मन्दिर का निर्माण कराया था, जिसे नदी में बाढ़ आ जाने के कारण संवत् १९७५ में अन्यत्र स्थानान्तरित किया गया।

कलकत्ता

संवत् १७५५ में बादशाह आलमगीर के पौत्र बंगाल के तत्कालीन नवाब अजीमुशान ने कुल सोलह हजार रुपए लेकर अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कम्पनी को सुतानदी, कलिकत्ता और गोविन्दपुर के ग्राम बेच दिये। तभी से कलकत्ता व्यापार का केन्द्र बनने लगा। ओसवाल वंशीय जगतसेठ मानिकचन्द गेहलड़ा ने उसी दरम्यान यहाँ अपनी कोठी कायम की। जगतसेठ के अंग्रेजों से अच्छे सम्बन्ध थे। कुछ अर्से बाद नवाब मुर्शीदकुलीखाँ ने जगतसेठ की सलाह पर मुर्शिदाबाद शहर बसाया और जगतसेठ भी वहीं जाकर बस गये।

शान्तिनाथ भगवान का मन्दिर

कलकत्ता का प्राचीनतम मन्दिर नं० १३९ काटन स्ट्रीट स्थित पंचायती मन्दिर है। यह मन्दिर श्री जैन श्वेताम्बर संघ द्वारा संस्थापित संचालित है। यहीं से कार्तिक महोत्सव की सवारी निकलती है। संवत् १८८३ से सवारी का हर वर्ष आयोजन संघ की एक महती उपलब्धि है।

सर्व प्रथम कलकत्ता आकर बसने वाले ओसवालों में जौहरी खानदान के लोग प्रमुख थे। उक्त स्थान पर पूर्व में श्री धीरजसिंह जी जौहरी का निवास गृह था। उन्होंने घर में श्री आदिनाथ भगवान का देहरासर बनाया। आदिनाथ भगवान की इस प्रतिमा पर सं० १८५६ का अभिलेख उत्कीर्णित है। श्री जिनचन्द्र सूरि के हाथों बिम्ब प्रतिष्ठा का उल्लेख भी इसमें है। मूल में यह प्रतिमा भागलपुर के मन्दिर में प्रतिष्ठित थी। सम्भवतः वहाँ से इसे अजीमगंज ले जाया गया। फिर सं० १८६७ के आस पास कलकत्ता लाकर प्रतिष्ठित किया गया। मन्दिर निर्माण के बाद श्री जौहरी ने इसे श्री जैन संघ को समर्पित कर दिया। संवत् १८७१ में आचार्य जिनहर्ष सूरि के हाथों शांतिनाथ भगवान की प्रतिमा मन्दिर के मूल नायक रूप में प्रतिष्ठित हुई। कालांतर में अनेक वेदियें, बिम्बों, यन्त्रों की स्थापना समय-समय पर ओसवाल श्रेष्ठियों ने श्रद्धापूर्वक करवायी। धातु प्रतिमाओं में प्राचीनतम प्रतिमा भगवान ऋषभदेव की है, जिस पर सं० १०८३ का अभिलेख है। संवत् १९८० तक जौहरी खानदान के लोग ही मन्दिर के व्यवस्थापक थे। सं० १९९३ में व्यवस्था एक ट्रस्ट के अधीन कर दी गयी। मन्दिर में जवाहरात, सोना, चाँदी का अखूट भंडार सुरक्षित है। इसमें उपाश्रय और सभा

मंडप भी बने हुए हैं। सं० २०१० से मन्दिर की व्यवस्था में सहयोग देने के लिए समाज के प्रबुद्ध लोगों की सलाहकार समिति का चयन होता है।

दादावाडी

श्री जैन श्वेताम्बर संघ ने मानिकतल्ला के निकट एक विशाल भूखण्ड खरीदकर एक सुरम्य उद्यान का निर्माण कराया। संवत् १८६७ में चारों दादा आचार्यों की चरण पादुकाएँ उद्यान में प्रतिष्ठित करवायी। संवत् १८६८ में श्री स्थूलिभद्र स्वामी के चरण श्री संघ ने स्थापित करवाये। इसी उद्यान में एक मनोहारी सरोवर, कोठी आदि का निर्माण समय-समय पर हुआ। कलकत्ता के जौहरी बाजार के धर्मकाँटे की आमदनी की एक पांती दादावाड़ी को जाती है, जिससे प्रतिवर्ष हजारों रुपयों की आय है। कातिक महोत्सव में भगवान की सवारी काटन स्ट्रीट स्थित पंचायती मन्दिर से निकलकर दादावाड़ी आती है। सं० १८८३ से इस सम्बन्धी विवरण बहियों में दर्ज हैं। कलकत्ता श्री संघ के सभी जीमनवार दादावाड़ी में ही होते हैं। पर्यटकों के लिए उद्यान एवं आसपास के मन्दिर विशेष आकर्षण के केन्द्र हैं।

श्री शांतिनाथ जिनालय

दादावाड़ी क्षेत्र में जैन मन्दिर राय बहादुर बद्रीदास जी मुकीम ने बनवाया। एक बार उन्होंने दादावाड़ी के सामने वाला प्लाट निजी उद्यान बनाने के लिए खरीद लिया। माँ के कहने से उस जगह प्रचुर धन खर्च कर जिनालय का निर्माण कराया। आगरा से भगवान शीतलनाथ जी की प्रतिमा लाकर आचार्य जिन कल्याण सूरि जी के हाथों प्रतिष्ठा करवायी। यह मन्दिर संवत् १९२६ में निर्मित हुआ। इसे पद पद पर मूल्यवान पत्थर, मीनाकारी, कांच एवं चित्रकारी से सजाया गया है। स्थापत्य एवं शिल्प की दृष्टि से मन्दिर दर्शनीय है। हर वर्ष लाखों भ्रमणार्थी एवं दर्शनार्थी आते ही रहते हैं। मन्दिर से संलग्न म्युजियम में तामिल-तेलगू भाषाओं के अलभ्य ताड़पत्रीय प्राचीन ग्रंथों का संग्रह है।

महावीर मन्दिर

दादाबाड़ी से संलग्न महावीर स्वामी का भव्य जिनालय संवत् १९३६ में जोहरी सुखलाल जी टांक ने बनवाया। मन्दिर में मूल बिम्ब प्रतिष्ठा आचार्य शान्ति सागर सूरि जी के कर-कमलों से सम्पन्न हुई। मन्दिर में अन्य प्रतिमाएँ भी हैं, जिन पर संवत् १८८८ के प्रतिष्ठा लेख हैं। सम्भवतया वे इनके पूर्वजों द्वारा प्रतिष्ठापित रही हैं।

चन्द्रप्रभु जिनालय

दादावाड़ी के पास ही दाहिनी ओर चन्द्र प्रभु का शिखरी जिनालय है। इसका निर्माण जौहरी गणेशीलाल जी खरड़ के सुपुत्र कपूरचन्द्र जी ने करवाया। बिम्ब प्रतिष्ठा

सं० २००९ में आचार्य जिनरत्न सूरि के हाथों सम्पन्न हुई। इस प्रतिमा पर आगरा के सुप्रसिद्ध ओसवाल श्रेष्ठि कुँवरपाल सोनपाल लोढ़ा के परिवार का निर्मित-लेख है। मन्दिर की व्यवस्था निजी न्यास के अधीन है। मन्दिर से संलग्न स्थान में जीमनवार होता है।

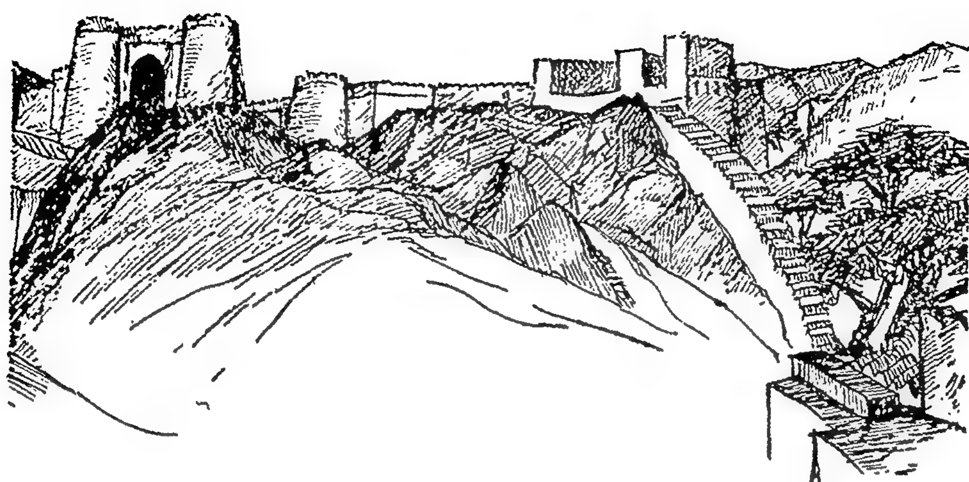
पार्श्वनाथ उपवन

बेलगछिया का पार्श्वनाथ मन्दिर एवं उपवन कलकत्ता के श्री छन्नूलाल जौहरी ने खरीद कर समाज के नाम कर दिया। श्री दयालचन्द जी सरावगी ने काफी धन खर्च कर वर्तमान मन्दिर का निर्माण कराया। विदेशी पर्यटकों के लिए यह सदा आकर्षण केन्द्र रहा है।

जैन तीर्थों का योगदान :

भारत में पूरब से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण की यात्रा करने वाले जानते हैं कि जैन तीर्थों के निर्माण, पुनरुद्धार और विस्तार में ओसवाल श्रेष्ठियों द्वारा समायोजित विपुल ऐतिहासिक सामग्री है। पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक जीवन के उत्तार-चढ़ाव का अध्ययन करने में उससे मदद तो मिलती ही है, यह भी पता चलता है कि हिंसा से अहिंसा की ओर अग्रसर होने एवं सत्, चिद्, आनन्द को आकार देने में उसका विशेष योगदान है। इसीलिए तीर्थाटन प्रेमी श्री शरद कुमार साधक ने बहुत सही लिखा है :

चरण चिन्ह अंकित कर हमने महाकाल के वक्षस्थल पर,
सुना सदा जिन प्रतिमाओं से सत्यं शिवं सुन्दरं का स्वर।
शिलालेख गढ़ मन्दिर देखे देखी अनगढ़ सिंह गुफाएँ
जैन तीर्थं इतिहास आप है शुद्ध-बुद्ध जीवन की राहें॥



ओसवाल इतिहास-पुरुष एवं महिलाएँ | ११

ओसवाल जाति के इतिहास पुरुष

महावीर प्रभु के निर्वाण के ७० वर्ष बाद जैन धर्म की प्रभावना के उद्देश्य से संस्थापित ओसवाल समाज में अनेक श्रेष्ठि, शूरमा एवं धर्माचार्य हुए हैं। इतिहास लिखने की परम्परा न रहने से उनके वृत्तान्त काल के गर्भ में छिपे रह गये। धर्म ग्रंथों के लेखन की शुरुआत भी वीर निर्वाण के ९८० वर्ष बाद हुई। फिर भी पीढ़ी, दर पीढ़ी श्रुत ज्ञान की निर्बाध धारा प्रवाहित रहने से विक्रम की ग्यारहवीं सदी और उसके बाद रचित ग्रन्थों में उन इतिहास पुरुषों के अनेक विवरण सुरक्षित हैं, जिन्हें शोध श्रम से सहेज कर प्रस्तुत करने के प्रयास बीसवीं सदी के शुरू से प्रारम्भ हुए।

सेवग मंछाराम की सूची :

डा० टेसीटेरी ने राजपूताना के प्राचीन इतिहास को उजागर करने के लिए अनेक दुर्लभ ग्रंथों एवं गुटकों का अमूल्य संग्रह किया, जो एशियाटिक सोसाइटी (तत्कालीन एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल), कलकत्ता के भंडार में अब भी सुरक्षित हैं। उन्होंने अनेक खोजपूर्ण प्रबंध एवं रिपोर्ट लिखीं, जो 'बिब्लियोथिका इंडिका' की राजस्थान सीरिज में प्रकाशित हुईं। इसी संग्रह का डिंगल भाषा में लिखित गुटका नं० २७ ओसवालों की गुण-कीर्ति से सम्बन्धित है। 'सेवग मंछाराम का कह्या ओसवालां

में दातार हुआ तिणां रा नाम' नामक प्रलेख में ७७ ओसवाल श्रेष्ठियों की सूची है, जिनमें से अनेक नाम और उनसे सम्बन्धित विवरण पूर्णतः अज्ञात हैं। यह सूची ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है एवं इस सन्दर्भ में श्रम साध्य शोध अपेक्षित है। मैं इस सम्पूर्ण सूची को यथावत् दे रहा हूँ :

१. जगडू सोलावत खांप रांका
२. सारंग वास सोरठ
३. करमचन्द मुहतो बछावत सांगेरो
४. भामो कावडियो वास चित्तौड़
५. सूरो गुलहंडियो सम्भवतः वास अकोलै
६. जगडू ललवाणी, जोधपुर
७. हीरेजी संघवालेचो, जोधपुर
८. लोढ़ा भेरूदास
९. नेरांभों, अलवलगढ़ (मेवाड़)
१०. श्रीमाल हीरानन्द
११. लोढ़ा कवरो ने सुनपाल तेजसी बरहडियो अकबर पातशाह मानियो
१२. मुहतो रायमल बैद सोजन
१३. जालौर लोढ़ो हमीर
१४. भीनमाल लोलो
१५. श्रीमाली पदराज नगरथटे
१६. बीजो पारख, बाहडमेर
१७. जेठू दीप नगर
१८. हरचन्द नाहटो, नागौर
१९. नरहर सिंघवी, नागौर
२०. डूंगरसी, मांडव नगर खांप फोफलिया
२१. डोसी सूजो पोरवाल जायलवास
२२. कोठारी रणधीर, मेड़ते
२३. राजसी लोढ़ो, मेडते
२४. ब्रह्मेचो हरखो, मेडते
२५. तेजपाल वस्तुपाल पोरवाल
२६. विमलशाह आबू पर कमठाणां कराया
२७. गाधइयो भैर खरे थारो वास पाटण
२८. ब्रधमान वास नये नगर
२९. लालण, अमरावत
३०. श्रीमाल आशकरण नाथावत
३१. बांठियो तेजपाल, भुजनगर
३२. श्रीमाल दिल्ली में
३३. सिरदारमल पैमो ने रत्नो
३४. भारमल बास बैराट देश
३५. साखीदास रेवंत जीरौ-वास तिजारै
३६. अखो चोपडो संत्रावे
३७. आसकरण मेडते
३८. होला धनावत खांप बागरेचा
३९. साहँ मोवास चौकड़ी खांप पोकरणो
४०. आसकरण, नवेनगर
४१. नालसा, मेवाड़
४२. करमो डोसी (७२० में शत्रुञ्जय पर ध्वज चढ़ायो)
४३. पासवीर नाहटो
४४. लोढो गोसल (दुष्काल में अन्न दियो)
४५. डागो रतनसी (८२ में प्रजा थामी)
४६. मांडूगढ सांड कोडियो (मोहर वँटाया)
४७. सोनी भीमवास पाटण
४८. सोनपुर भूमो साह पोलपखार मोहर दिनी
४९. पाल्हो, कुम्भलमेर
५०. मेडते मेघराज
५१. हेमराज नागौर
५२. वलराज छाजू, अजमेर

५३. गोपचन्द दिल्ली जजियो छुड़ायो
५४. साह तालो पीपाड़
५५. हेमौता व्होरो, पीपाड़
५६. सिरदारमल सुराणो, जेतारण
५७. केसराज (७४ अन्न दे प्रजा थामी)
५८. बहत्तर पाल (मेवात में अन्न दीयो)
५९. ठाकुरसी
६०. भँवरमल बैराट
६१. केसव धांधियो
६२. बसंतपाल, दादरी
६३. गंजबगस गेलड़ो आगरा
६४. राममल हरखारो (अकबर)
६५. श्रीमाल अचलदास, अमरसा
६६. बोहरो बखतो, देवारो
६७. घेबरो सीहपाल, चाटसू
६८. हीरानन्द साह (पातशाह जहाँगीर घर आयो)
६९. आगरे दुर्जण चंद नेमिदास बाणजी
७०. राजसी अमी-शत्रुञ्जय संघ
७१. आसकरण अमीपाल चोपड़ा
७२. खेतसी भोजावत खांप श्रीमाल
७३. साह हरखो नाण जीरो
७४. नाणजी (हाथी दान दियो)
७५. पोरवाल चापंसीदास, पट्टण
७६. श्रीमाल तोतराज
७७. श्रीमाल जसराज, वास खंभायच

उपरोक्त सूची के अवलोकन से यह जाहिर है कि वह २०वीं सदी के प्रारम्भ में बनायी गयी थी। उसमें ११वीं सदी से १९वीं सदी के बीच हुए प्रमुख ओसवाल श्रेष्ठियों के नाम संकलित हैं। श्रीमाल एवं पोरवाल श्रेष्ठियों के नाम भी तालिका में हैं। सम्भवतः उन्हें समग्र ओसवाल समाज का ही अंग माना जाता रहा है।

एशियाटिक सोसाइटी के हस्तलिखित ग्रंथ भण्डार में उपलब्ध एक अन्य गुटके (पी० १) में 'सेवग मंछाराम रा कह्या, ओसवालां में दातार हुयां तिणारा नाम' के अतिरिक्त अनेक अन्य ओसवाल श्रेष्ठियों के विविध प्रशस्ति गीत संग्रहित हैं। इतिहास शोधार्थियों के लिए वे बड़े महत्वपूर्ण हैं। उनमें से अनेक श्रेष्ठियों की जीवनगाथाएँ और उपलब्ध विवरण ग्रंथ में दिये जा रहे हैं।

जग्गा शाह :

विक्रम संवत् २२२ के लगभग हुए आभानगरी के ओसवाल श्रेष्ठि देसर पुत्र जग्गा शाह का नाम भाट/भोजकों के कवित्तों में बड़ी शान से लिया जाता है। उसने शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए संघ समायोजन किया, जिसमें अनेक राजाओं ने अपने सुरक्षा सैनिक साथ भेजे। अनेक धनपति, यति, साधु-साध्वियाँ, भाट-चारण आदि संघ में शामिल थे। जग्गा शाह ने इस अवसर पर लाखों रुपये मूल्य की गायें, अश्व, सोना-चाँदी, वस्तुएँ आदि दान में दी। एक कविता निम्नतः है :

आभा नगरी थी आव्यो, जग्गो जग में आण।
साचल परचो जब दियो, तब सीस चढ़ाई आण ॥

जुग जीमाड्यो जुगत सु, दीनो दान प्रमाण।
देसल सुत जग दीवतो, ज्यारी दुनिया माने आण ॥
चुप धरी चित भूप, सेना ले आगल चाले।
अडबपति अपार खड़बपति मिल्या माले ॥
देशासर बहु साथ, खरच मामो कुण भाले।
घन गरजे बरसे नहीं जग्गो जुग बरसे अकाले ॥
यति सती साथे घणा, राजा रजवड़ भूप।
बोले भाट विरुदावली, चारण कविता चूप ॥
जग जस लीनो दान दे यो जग्गो संघपति भूप।
मिलिया सेवग साँवठा पूरे सवख अनूप ॥
दान दियो लख गाय, लाखवली तुरंग तबेला।
सोनो सो मण, सात सहस मोतियन की माला ॥
रूपा नो नहीं पार, सहस करहा कर माला।
बीये बाईसे भल जागीयो यो ओसवाल भूपाला ॥

उपरोक्त कवित्त या उसमें वर्णित तथ्य अन्य प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलते। परन्तु अनेकानेक श्रेष्ठियों की समृद्धि की जो कथाएँ अन्य ग्रंथों में हैं, उन्हें देखते-देखते उक्त विवरण अतिशयोक्तिपूर्ण भी नहीं लगते।

भैंसा शाह (प्रथम)

विक्रम की छठी शताब्दी के प्रारम्भ में उपकेश कुल के आदित्यनाग गोत्र में भैंसा शाह नामक विख्यात महाजन हुए। इनके नाम का विक्रम संवत् ५०८ का एक शिलालेख कोटा राज के अटारू ग्राम में एक जैन मन्दिर के खण्डहरों में मिला है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ मुन्शी देवी प्रसाद जी (जोधपुर) ने 'राजपूताना की शोध-खोज' नामक ग्रंथ में इन भैंसा शाह का परिचय देते हुए लिखा है कि रोडा विणजारा के साथ भैंसा शाह के व्यापार सम्बन्ध चिरकालीन प्रेम में परिवर्तित हो गये—जिसकी यादगार में दोनों के नाम पर 'भैंसा-रोड़ा ग्राम' बसा, जो आज भी विद्यमान है।

महाजन श्रेष्ठि जेन्तक :

उदयपुर से डूङ्गरपुर के मार्ग पर स्थित जावर प्रदेश प्राचीन काल से जस्ते की खानों के लिए प्रसिद्ध रहा है। यहाँ चाँदी भी बड़ी मात्रा में निकलती थी। इसकी पुष्टि कर्नल जेम्स टॉड ने 'राजपूताने का इतिहास' में की है। पहाड़ पर खान उत्खनन से यह समूचा प्रदेश कूपों की शक्ल में परिवर्तित हो गया, अतः कूपगिरि कहलाता है। पुरातत्वज्ञों ने इनकी आयु २००० वर्ष मानी है।

इन खानों का स्वामी महाजन जेन्तक था। प्राचीन काल में 'महाजन' शब्द उपकेश वंशीय श्रेष्ठियों के लिए व्यवहृत होता रहा है। यति रामलाल जी ने 'महाजन वंश मुक्तावली' में इस तथ्य की पुष्टि की है। मूलतः जेन्तक वट नगर का निवासी था। डा० गौरीशंकर ओझा के अनुसार सिरोही प्रदेश का बसन्तगढ़ ही प्राचीन वट नगर था। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्री बलवन्तसिंह मेहता ने महाजन जेन्तक का ओसवंशीय होना अधिक सम्भावित माना है।

श्रेष्ठि जेन्तक का समय विक्रम की सातवीं शताब्दी माना जाता है। उस समय उस प्रदेश पर गुहिल वंशीय राजा शिलादित्य का शासन था। कर्नल टॉड ने भी शिलादित्य के समय जावर की खानों का चालू होना सही माना है। शिलादित्य की राजधानी नागदा थी। जावर नागदा के समीपस्थ प्रसिद्ध उद्योग नगर था, जहाँ खान विशेषज्ञ वेतालियों की बस्ती थी। जेन्तक ने वहाँ महाजन संघ की अनुमति से अरण्यवासिनी देवी का मन्दिर बनवाया। वह सिद्धासनस्थ हो उसी प्रदेश में मृत्यु को प्राप्त हुआ।

उक्त तथ्यों की पुष्टि विक्रम संवत् ७०३ के सामोली शिलालेख से होती है। डॉ० ओझा ने यह शिलालेख अजमेर के संग्रहालय को भेंट कर दिया, जहाँ वह आज भी सुरक्षित है। बारह पंक्तियों के इस प्रस्तर लेख की भाषा संस्कृत और लिपि कुटिल है, कहीं-कहीं प्राकृत के लौकिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। लेख की प्रथम पंक्तियों में महिसासुर मर्दिनी देवी चण्डिका की अभ्यर्थना है, फिर राजा शिलादित्य की प्रशस्ति और तत्पश्चात् आरण्यक प्रदेश में आजीविका उत्पन्न करने वाले श्रेष्ठि जेन्तक की जय जयकार। उपकारों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन हेतु जनता द्वारा स्थापित यह प्राचीन तम शिलालेख है। इसमें 'महाजन' शब्द का प्रयोग तीन बार हुआ है, अतः यह व्यवसाय सूचक न होकर वंश का द्योतक है। प्रो० आदित्यनाथ ने इसमें वर्णित अरण्यवासिनी देवी को जैन कुल देवी स्वीकार किया है। ओस वंश के आदि पुरुष उत्पलराज की कुल देवी महिषासुर मर्दिनी चामुण्डा प्रसिद्ध है। श्री मेहता ने अपने अन्वेषण से उक्त शिलालेख के मूल पाठ का शुद्धरूप एवं उसके विशिष्ट अर्थ प्रकाशित कर इतिहास के इस बहुमूल्य पक्ष को उजागर किया है।

महाकवि माघ :

संस्कृत के महान महाकाव्य 'शिशुपाल वधम्' के रचयिता महाकवि माघ भारतीय वाङ्मय के दैदिप्यमान नक्षत्र हैं। विद्वानों के लोक में बड़े गौरव से यह कथन दोहराया जाता है—'मेघे माघे गतं वयः' यानि 'कालिदास के मेघदूत और माघ के शिशुपाल वधम् के अध्ययन में ही मैंने अपनी पूरी आयु समाप्त कर दी।' संस्कृत की एक काव्योक्ति में महाकवि माघ के काव्य की श्रेष्ठता व्यक्त करते हुए कहा गया है :

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम् ।
नेषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ।।

भारत के मध्य काल के सांस्कृतिक इतिहास के वाहक ये ही चार महान ग्रंथ हैं : कालिदास त्रयी—'रघुवंश, कुमार सम्भव एवं मेघदूत'; भारवि का 'किरातर्जुनीय'; हर्ष का 'नैषधीय चरित्र' और महाकवि माघ का 'शिशुपाल वधम्'—जिनका अध्ययन अध्यापन संस्कृति का अंग था। महाकवि माघ ओसवाल कुल के दीपक थे।

माघ के पिता का नाम दंत या दत्त था। ये श्रीमालपुर के श्रीमाल गोत्रीय महाजन श्रेष्ठि थे। दन्त जैनाचार्य सिद्धर्षि के पिता शुभंकर के अग्रज थे। इन्हीं श्रीमाल गोत्रीय श्रेष्ठि पुत्र माघ ने 'शिशुपाल वधम्' की रचना की थी। प्रसिद्ध टीकाकार पं० हर-गोविन्द शास्त्री ने 'शिशुपाल वधम्' की टीका में माघ के पिता का नाम 'दत्तक' दिया है। वे सर्वाश्रय नाम से भी प्रसिद्ध थे। माघ के पितामह सुप्रभदेव भिन्नमाल के राजा श्री वर्मल के धर्म सचिव थे।

माघ श्रीमाल (ओसवाल) थे। संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान प्रभाचन्द्र विरचित 'प्रभावक चरित्र' (रचनाकाल वि० सं० १३३४) में उनके जीवन प्रसंग दिये हैं। माघ को श्रीमाल गोत्रीय आचार्य सिद्धर्षि का भाई बताया है।

स्वयं महाकवि माघ ने 'शिशुपाल वधम्' के हर अध्याय के अन्त में अपना संक्षिप्त परिचय दिया है, जिसमें अपने को श्रीमाल नगर (जो कालान्तर में भिन्नमाल कहलाने लगा) के राजा श्री वर्मल के सचिव श्रेष्ठि सुप्रभदेव का पौत्र कहा है। 'शिशुपाल वधम्' की कई हस्तलिखित प्रतियों के अन्त में यह वाक्य मिलता है :

इति श्री भिन्नमालववास्तव्य दत्तक सूनोर्महा-
वैयाकरणस्य माघस्य कृतौ शिशुपाल वधे महाकाव्ये ।।

इस उद्धरण से इस बात की पुष्टि होती है कि माघ भिन्नमाल के रहनेवाले थे। उनके पिता का नाम दत्त या दत्तक था। कहते हैं, दत्त बहुत धनाढ्य था। उसकी गिनती श्रीमाल नगर के कोट्याधीशों में थी। महाकवि के पिता महा सुप्रभदेव श्रीमाल नगर नरेश श्री वर्मल के मन्त्री थे। उनकी प्रशस्ति में प्रभावक चरित्र का यह श्लोक दृष्टव्य है :

सुप्रभः पूर्वजो यस्य सुप्रभः प्रतिभावताम् ।
वन्धुर्बन्धुरभाग्य श्री र्यस्य माघः कवीश्वरः ।।

ग्रंथ में इन्हीं सुप्रभदेव को 'सर्व व्यापार मुद्राभृन्मुद्रा कृतार्जनाननं' बताया गया है। यह उनके वणिक् श्रेष्ठि होने का सूचक है। एक अन्य श्लोक में माघ के पिता, दत्त के 'वित्ती नुजीवीभ्यो' शब्दों द्वारा वणिक श्रेष्ठि होने की पुष्टि होती है। एक और संस्कृत

के प्रसिद्ध ग्रंथ 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में माघ का चरित्र वर्णित है। आचार्य सिद्धर्षि से उनका भ्रातृ सम्बन्ध एवं उन्हें श्रीमाल जातीय बताते हुए ग्रन्थकार ने कहा है :

श्रीमालपुरे दत्त-शुभकरौ भ्रातरौ महर्द्धिकौ श्रीमाल ज्ञातीयौ।
दत्तश्च शुभंकर सुतः सीधाकः। दत्तष्य सूनूर्माघः॥

पं० हीरालाल हंसराज ने अपने प्रसिद्ध गुजराती इतिहास ग्रन्थ 'जैन धर्म नो प्राचीन इतिहास' (खण्ड–१ प्रकाशित १९०१) में लिखा है : 'राजा श्री वर्मलाम के सुप्रभदेव नामक मन्त्री था। जिसके दो पुत्र थे—दत्त और शुभंकर। दत्त के माघ नामक महाविद्वान पुत्र हुआ, जिसकी अवंतीराज भोज से घनिष्ठ मित्रता थी एवं जिसने शिशु-पाल वध नामक अद्भुत काव्य रचा।'

हिन्दी विश्वकोष में महाकवि माघ को 'जैनाचार्य सिद्धर्षि का भाई एवं श्रीमाल गोत्रीय श्रेष्ठि का पुत्र लिखा है।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डा० रघुवीर सिंह उन्हें ओसवाल वंशीय मानते हैं।

भारतीय दर्शन के मूर्धन्य मनीषी पं० दलसुख भाई मालवणिया के अनुसार 'श्रीमाल नगर से गुजरात आये कई जाति के लोग श्रीमाली कहे जाते हैं—उनमें वनिया भी हैं और ब्राह्मण भी'। मालवणिया जी को भी महाकवि का श्रीमाल गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि होना ही युक्ति संगत लगता है।

जोधपुर विश्वविद्यालय के कला शिक्षा संकाय के अधिष्ठाता एवं जैन दर्शन के उद्भट विद्वान डा० दयानन्द भार्गव के अनुसार 'महाकवि माघ के श्रीमाली ब्राह्मण होने की भ्रांत धारणा उनके 'शिशुपाल वधम्' में जैनों की आलोचना को लेकर ही बनी होगी। परन्तु उनके श्रीमाली ब्राह्मण होने का उल्लेख किसी ग्रंथ में नहीं मिलता। अपितु भिन्नमाल (श्रीमाल नगर) में हर साल जैन-वणिक समाज द्वारा महाकवि माघ का जयन्ती उत्सव मनाया जाना एवं भिन्नमाल नगर के त्रिकोणात्मक बगीचे में स्तूप पर संस्थापित महाकवि की मूर्ति में उन्हें धोती पहने हुए एवं सर पर पगड़ी बांधे दिखाया जाना—इस बात का द्योतक है कि वे जैन वैश्य परिवार में ही जन्मे थे। यह तर्क कि 'संस्कृत का महापण्डित होना वैश्य संस्कृति से मेल नहीं खाता—' खोखला है, क्योंकि मध्यकालीन जैनाचार्यों ने संस्कृत में विपुल साहित्य सृजन किया है।

उक्त साक्ष्यों के आधार पर महाकवि माघ श्रीमाल गोत्रीय ओसवाल ही थे, इसमें कोई संदेह नहीं।

माघ का समय छठी शताब्दी है

महाकवि का समय अधिकांश इतिहासकार विक्रम की दसवीं शताब्दी मानते हैं, जो सही नहीं लगता। जैन आचार्य सिद्धर्षि ने अपने अनमोल रूपक ग्रन्थ 'उपमिति भव प्रपंच कथा' की रचना भिन्नमाल नगर में संवत् ९६२ में सम्पन्न की—ऐसी

मान्यता है। इसे अगर वीर सं० मानें तो सिद्धर्षि का समय वि० सं० ४९२ ठहरता है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान प्रो० पीटरसन ने भी इसे वीर सं० ही माना है। तदनुसार माघ का समय उनसे २५ वर्ष पूर्व तक माना जा सकता है। इस तरह माघ का समय पांचवीं/छठीं सदी ठहरता है। आचार्य सिद्धर्षि एवं महाकवि माघ दोनों के समय को लेकर मत वैभिन्य अवश्य है। परन्तु इसकी जनक 'उपमिति भव प्रपंच कथा' की सं० ९६२ वाली उक्ति ही रही होगी, जिसे कुछ इतिहासकार कोई विशेषण न होने से वि० सं० मान बैठे हैं।

आनन्दवर्द्धनाचार्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'धन्यालोक' में शिशुपाल वधम् के श्लोकों को उद्धरण रूप में प्रस्तुत किया है। आनन्दवर्द्धनाचार्य का समय विक्रम की ९वीं सदी माना जाता है। अतः महाकवि माघ का समय निःसन्देह उनके पूर्व ठहरता है।

डा० हरमन जेकोबी माघ का समय सप्तम शताब्दी से पूर्व मानते हैं।

सिरोही जिले के बसन्तगढ़ ग्राम में खीमेल माता के मन्दिर के पास राजा श्रीवर्मल का एक शिलालेख वि० सं० ६८२ का मिला है। सातवीं शताब्दी में भारत आये प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेन सांग ने भी भिन्नमाल के शासक राजा वर्मलात का उल्लेख किया है। इस आधार पर राजा के धर्म-सचिव सर्वाश्रय सुप्रभदेव के पौत्र माघ का समय, दो पीढ़ियों में ५० वर्षों तक का व्यवधान मानकर, वि० सं० ७३२ के आसपास ठहरता है।

पं० हीरालाल हंसराज ने अपने इतिहास ग्रंथ में वि० सं० ५९२ में सिद्धसूरि दिवंगत हुए, लिखा है। अतः उनके अग्रण माघ का समय ६ठी शताब्दी माना जा सकता है।

महाकवि के जीवन प्रसंग

महाकवि के जीवन प्रसंगों के बारे में बहुत कम ज्ञात है। वल्लाल पंडित द्वारा रचित 'भोज प्रबंध' में माघ कवि एवं उनकी धर्मपत्नी की दानशीलता का वर्णन है। अवन्तीराज भोज के साथ उनकी मित्रता सर्व प्रसिद्ध है। जैनाचार्य मेरुतुङ्ग ने वि० सं० १४६१ में रचित अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में उनका चरित्र वर्णन करते हुए उन्हें 'पुरुषरत्न' कहा है। श्री प्रभाचन्द्र ने अपने प्रसिद्ध संस्कृत 'प्रबन्ध प्रभावक चरित' में महाकवि के बारे में कहा है :

तस्य श्री भोज भूपाल बालमित्रं कृतीश्वरः,
श्री माघो नन्दनो ब्राह्मी स्यन्दनः शीलचन्दनः।
एदं युगीन लोकस्य सार सारस्वतायितम्,
शिशुपाल वधम् काव्यं प्रशस्तिर्यस्य शाश्वती ॥

माघ सरस्वती के पुजारी थे। किसी समय उन पर लक्ष्मी की भी असीम कृपा थी। वे दान शीलता के लिए प्रसिद्ध थे। एक बार राजा भोज माघ की कीर्ति सुनकर उनका वैभव देखने श्रीमाल नगर आया। तभी से माघ उसके अनन्य मित्र बन गये। एक समय ऐसा आया, जब दान देते देते माघ दरिद्र हो गया। वह भोज की धारा नगरी में जा बसा। इसी निर्धनता की अवस्था में उसने अपनी पत्नी माल्हणा देवी को 'शिशुपाल वधम्' की प्रति देकर राजा भोज के पास भेजा। भोज ने महाकाव्य खोल कर जो पहला ही श्लोक पढ़ा तो मुग्ध हो गया। 'सारी पृथ्वी उस एक श्लोक पर न्यौछावर की जा सकती है'—ऐसा उसका काव्य-सौन्दर्य था। भोज ने माल्हणा देवी को एक लाख मुद्राएँ भेंट कर विदा किया। जनश्रुति है कि माल्हणा देवी को राह में याचक मिल गये। उसने सारा धन उनको बाँट दिया। घर पहुँचने पर महाकवि को बताया तो कहने लगे—'तुम मेरी मूर्तिमती कीर्ति हो।' ऐसे परम दानी थे पति पत्नी।

ऐसी दरिद्रावस्था में ही महाकवि का प्राणांत हुआ।

भैंसा शाह (द्वितीय)

विक्रम की दसवीं शताब्दी में हुए चन्देरी राठौड़ राजा खरहत्थ सिंह के चार पुत्र थे : अम्बदेव, निम्बदेव, भैंसाशाह, और आसपाल। एक यवन फौज का सामना करते हुए चारों पुत्र घायल हो गये। राजा ने अनेक वैद्य-हकीम बुलवाये, पर दशा बिगड़ती ही चली गयी। उस समय आचार्य जनदत्त सूरि वहाँ पधारे। उन्होंने अपने मन्त्रबल से राजकुमारों को स्वस्थ कर दिया। तब से इस परिवार न जैन धर्म अंगीकार किया। राजा के प्रथम पुत्र अम्बदेव से चोरड़िया गोत्र की उत्पत्ति हुई, जिससे आगे चलकर 'रामपुरिया' शाखा का जन्म हुआ। द्वितीय पुत्र निम्बदेव से भटनेरा चौधरी गोत्र बने। चौथे पुत्र आसपालजी से सासाणी/ओसतवाल गोत्र बने।

तीसरे पुत्र भैंसा बड़े प्रतापी थे। उनके पाँच पुत्र थे : बड़े पुत्र कुँवरजी से सावण सुखा गोत्र बना—जिसकी आगे चलकर गुगलिया-गुलगुलिया शाखाएँ हुई। द्वितीय पुत्र गेलोजी से गोलछा गोत्र बना। तीसरे पुत्र बुच्चा शाह से बुच्चा गोत्र बना। चौथे पुत्र पाशुजी से पारख गोत्र की उत्पत्ति हुई। पाँचवे पुत्र गद्दाशाह से गधैया गोत्र बना।

इन भैंसाशाह का निवास स्थान डीडवाणा था। इन्होंने कई जैन मन्दिर एवं कुएँ बनवाये। नागौर का बड़ा जैन मन्दिर इन्हीं भैंसाशाह का बनाया हुआ माना जाता है। इस मन्दिर में एक प्राचीन सर्वधातुमय विशाल प्रतिमा है।

भैंसा शाह की प्रशस्ति में कवि हल्ल का एक प्राचीन कवित्त इस प्रकार है—

छपन कोटि गुजरात वात जग सयल प्रसिद्धि।
सचायिका प्रसिद्ध (प्रसन्न) रहे सिर पै सिधि रिधि ॥

नौ खण्ड हुवाज नांव, राव राणा सहु जाणे ।
ग्यारा सै ने आठ (११०८) हल्ल कवि किर्त्ति बखाणै ॥
अइच्च (आदित्य गोत्र) गोत मंडण मुगर सुधन सुखेति वाइया ।
भैंसेज सेठ खरहथ तणे, अवनी बोल निबाहिया ॥

हल्ल कवि के अनुसार भैंसाशाह आदित्य गोत्र के थे। एक अन्य कवि ने उनका गोत्र नाहटा बताया है। उनका निवासस्थान भी भिन्न-भिन्न नगर हैं। हो सकता है कि एक ही नाम के दो अलग-अलग व्यक्ति रहे हों, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे ओसवाल श्रेष्ठि थे। 'भीनमाल दर्शन' (लेखक-भँवरलाल सेठिया) में दिये गये वर्णन के अनुसार सुप्रसिद्ध सेठ भैंसाशाह भीनमाल का रहने वाला था। सेठ की पत्नी का नाम सुगनीबाई था। इनके ७ पुत्र तथा ५ पुत्रियां थीं। बड़ा पुत्र धवल गुणी और होनहार था। इन पर लक्ष्मी की कृपा थी। उपकेश गच्छ के ४८वें पट्टधर कक्कसूरि के आचार्य पद महोत्सव पर भैंसाशाह ने ७ लाख रुपया खर्च किया था। एक कवि ने उस समय का वर्णन इस पद में किया है :

बप्प नाग नाहटा जाति,
जिनके वीर शिरोमणि थे,
आठ चालीसवें पट्ट विराजे,
कक्कसूरिश सुरमणि थे।
भैंसाशाह का कष्ट मिटाया,
कंडा स्वर्ण बनाया था,
सिक्का चलाया वीर भैंसा ने,
जिसमें गरिया पद पाया था ॥

इनकी माता ने शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए संघ निकाला। मार्ग में पाटण नगर में सारा धन खर्च हो जाने से माता ने अपने पुत्र भैंसाशाह द्वारा दी गयी एक डिबिया गिरवी रखकर उधार धन लेना चाहा; किन्तु पाटण के सेठ ईश्वरदास ने धन देने से इन्कार कर दिया और व्यंग्य में कहा कि 'भैंसा तो मेरे यहाँ पानी भरता है।' माता को बड़ा क्रोध आया। भैंसाशाह को खबर भिजवायी गयी। उसने पाटण के बाजार का समस्त उपलब्ध घी-तेल खरीद लेने का आदेश दिया। मुनीम ने ऐसा ही किया। ऊँचे दामों में माल बेच तो दिया पर सारा माल हाजिर न कर पाये। कोई चारा न देखकर भैंसाशाह के पास गये। उसने माँ से माफी मंगवायी एवं पाटण के गुजराती व्यापारियों से धोती की एक लांग खुली रखने का वचन लिया। उक्त घटना का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। यतियों की मनगढ़न्त परिहासोक्ति भी हो सकती है। निःसन्देह भैंसाशाह अतुल वैभव के स्वामी रहे होंगे।

इन भैंसाशाह का समय विक्रम संवत् ११०८ माना जाता है।

श्रीमाल श्रेष्ठि उदयन :

चालुक्य राज जयसिंह सिद्धराज के शासन काल में उदयन नामक वणिक श्रेष्ठि ने खूब यश अर्जित किया। आचार्य मेरुतुंग की प्रसिद्ध कृति 'प्रबंध चिंतामणि' के अनुसार वे श्रीमाल जाति के प्रसिद्ध उद्योगपति थे। मुनि जिन विजयजी द्वारा सम्पादित प्राचीन संस्कृत प्रबन्ध 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में मंत्री उदयन विषयक निम्न उल्लेख दृष्टव्य है : 'मरुस्थल्यां जावालिपुर समीपे बाघराग्रामे श्रीमालजातीय उदयनो वणिकः।' प्रबन्ध के अनुसार वे श्रेष्ठि बोहित्थ के वंशज थे। इनके पिता का नाम वीर देव था। इसकी पुष्टि पंडित हीरालाल हंसराज ने अपने ग्रंथ 'जैन धर्म नो प्राचीन इतिहास' (१९०२) में की है। उनके अनुसार श्रेष्ठि उदयन मूलतः मारवाड के थे। वे कर्णावटी (अहमदाबाद) जाकर बस गये। वहाँ उन्होंने एक भव्य जैन मन्दिर का निर्माण कराया। उदयन के चार पुत्र थे : वाघभट्ट, चाहड, अम्बड और सोला। पुरातन प्रबन्ध संग्रह में श्रेष्ठि उदयन के पुत्रों—बाहड़ और चाहड़ का उल्लेख है—'स ततः श्रुत्वा पश्चादव्याकृत्य महिलामुत्थाप्य सुत बाहड़—चाहड़ान्वितः आशापल्लीं गतः।' एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार उनका मूलनिवास जालौर था—वही पुरातन प्रबंध संग्रह का जाबालिपुर है।

उदयन कर्णावटी आकर एक चित्रकार के घर ठहरे। धीरे-धीरे उनकी ख्याति चारों तरफ फैलने लगी। उन्होंने बहुत सम्पत्ति अर्जित की। चालुक्यराज सिद्धराज ने उन्हें खम्भात का शासक नियुक्त किया। प्रबन्ध चिंतामणि के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र की ८ वर्ष की वय में दीक्षा का श्रेय भी श्रेष्ठि उदयन को ही है। उन्होंने हेमचन्द्र के चाचा-चाची को मना कर दीक्षा सम्पन्न करवायी।

सिद्धराज जयसिंह के कोई पुत्र न था। चाचा त्रिभुवनपाल और उनके पुत्र कुमारपाल से, वे एक रखैल की संतानें होने के कारण, घृणा करते थे। 'कुमारपाल प्रबंध' के अनुसार सिद्धराज ने उदयन के पुत्र चाहड को गोद लिया एवं उसे अपना उत्तराधिकारी बनाया। आचार्य मेरुतुंग सूरि ने भी 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में श्रेष्ठि उदयन के 'चाहड़ नामा कुमारः श्री सिद्ध राज प्रतिपन्नपुत्रः' माना है। परन्तु होनी को यह मंजूर नहीं था। कुमारपाल जब देश से बहिष्कृत इधर-उधर भटक रहा था, तब श्रेष्ठि उदयन ने उसे भी शरण दी। बाद में सिद्धराज की मृत्यु होते ही अपने बहनोई कन्हड़देव, जो जयसिंह सिद्धराज के मुख्य सेनापति थे, की सहायता से कुमारपाल ने राज्य पर अधिकार कर लिया। सिंहासनारूढ़ होते ही उसने उदयन के ज्येष्ठ पुत्र वाघभट्ट को अपना मन्त्री नियुक्त किया। उदयन के तृतीय पुत्र अम्बड को सेनापति बनाया। चाहड़, बन्हिलवाड़ा छोड़कर सपादलक्ष के राजा अर्णोराज से सहायता लेने गया।

अर्णोराज ने कुमारपाल का बहनोई होते हुए भी चाहड़ को आश्रय दिया एवं गुजरात पर आक्रमण कर दिया। लेकिन पराजित हुआ। चालुक्यराज कुमारपाल ने अर्णोराज एवं चाहड़ दोनों को माफ कर दिया। अर्णोराज सपादलक्ष लौट गया। चाहड़ को कुमारपाल ने अपना राज्याधिकारी नियुक्त कर दिया। अर्णोराज खिसियाया हुआ तो था ही, उसने कुछ समय बाद (सं० ११५०) रानी देवलदेवी, जो कुमारपाल की बहन थी, को अपमानित करके महल से निकाल दिया। कुमारपाल को जब यह खबर हुई तो तुरन्त उसने चाहड़ के नेतृत्व में एक बड़ी सेना सहित सपादलक्ष पर आक्रमण कर दिया। अर्णोराज फिर पराजित हुआ। तब सपादलक्ष चालुक्य साम्राज्य का अंग बना लिया गया। इस युद्ध में कुमारपाल को अपार धन हाथ लगा—७ करोड़ स्वर्ण मोहरें एवं ७०० अरबी घोड़े उसके अधिकार में आये। आचार्य मेरुतुङ्ग सूरि ने इस युद्ध के संदर्भ में एक प्रसंग का वर्णन किया है। युद्ध में हुए व्यय के आंकड़े सुनकर सेनापति चाहड़ को गरीब प्रजा में एक लाख रुपये दान स्वरूप वितरित करने पर बुरा भला कहते हुए कुमारपाल ने व्यंग्य किया—'इतना धन तो मैं भी दान देने की हिमाकत न करता।' चाहड ने प्रत्युत्तर दिया—'क्योंकि सम्राट् राजपुत्र नहीं है, जबकि मैं राजपुत्र हूँ।' उत्तर सुनकर सम्राट् कुमारपाल चुप हो गये।

एक बार कुमारपाल की आज्ञा से उदयन को सोरथ राज से युद्ध करने जाना पड़ा। वर्धमानपुरा में सेना का पड़ाव था। उदयन विमलाचल की प्रदक्षिणा करने गया। वहाँ काष्ठ मन्दिर में उसने एक चूहे को पूजा सामग्री अपवित्र करते देखा। तभी उसने प्रतिज्ञा की कि वह एक सुदृढ़ पाषाण मन्दिर बनवाएगा। मन्दिर बनने तक उसने दिन में एक वक्त के सिवाय भोजन का परित्याग कर दिया। तत्पश्चात् युद्ध में संलग्न हो गया। दुर्भाग्य से युद्ध में उसकी पराजय हुई और वह गंभीर रूप से घायल हो गया। उसके पुत्र वाग्भट्ट एवं अम्बड के आश्वासन देने पर कि वे अवश्य उसकी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे—उदयन ने शांतिपूर्वक सांस छोड़ी। कुमारपाल को जब उसकी मृत्यु का समाचार मिला तो वह बहुत दुःखित हुआ। आचार्य मेरुतुङ्ग के अनुसार वि० सं० ११५० में श्रेष्ठि उदयन का निधन हुआ।

उदयन के तृतीय पुत्र अम्बड को भी सम्राट् ने अपनी सेवा में सेनापति नियुक्त कर रखा था। सन् ११५६ में दक्षिण के प्रदेशों को जीतने के लिए सम्राट् ने अम्बड के नायकत्व में सेना भेजी। युद्ध में कोंकणराज मल्लिकार्जुन पराजित हुआ। उसका सिर काटकर सम्राट् की सेवा में अन्हिलवाडा लाया गया। सम्राट् इससे बहुत खुश हुए। उन्होंने सेनापति अम्बड़ को 'राज पितामह' घोषित किया।

वि० सं० १२३० में कुमारपाल का देहान्त हुआ। उनके पश्चात् उनका भतीजा अजयपाल गद्दी पर बैठा।

दानवीर जगडू शाह :

गुजरात के श्रीमाल वंशीय धनकुबेर जगडू शाह ने विक्रम संवत् १३११ से १३२३ के बीच पड़े महादुष्काल के समय लाखों मन अनाज जन साधारण में वितरित कर लाखों लोगों को काल के कराल मुख से बचाया एवं 'जग नो जीवाडणहार' विरुद पाया। भाटों ने इस दानवीर की प्रशस्ति में अनेक पदों एवं ख्यातों की रचना की।

जगडू सूरत का रहने वाला था। उनके पिता का नाम सोलाहा था। शहर में नागपुरी तपागच्छ के आचार्य सर्व देव सूरि विराज रहे थे। जगडू गुरु की सेवा किया करता था। आर्थिक दृष्टि से कमजोर था। पेट न भरता था। एक दिन जगडू पौषध कर रहा था। गुरु ने उसके ललाट की रेखाएँ देख ज्योतिष से उसके उज्ज्वल भविष्य का अनुमान कर लिया। कहते हैं उसे धर्म-प्रभावक जान गुरु ने 'तेजमतुरी सिद्ध-रसायन-विद्या' सिखायी, जिसके फलस्वरूप वह जल्दी ही मालामाल हो गया। 'तेजमतुरी' स्वर्ण बनाने की यौगिक क्रिया है।

गुजराज में उस समय गुर्जर राजा विशाल देव (वि० सं० १२९८–१३१८) का राज्य था। मंत्रीश्वर तेजपाल वस्तुपाल की सहायता से जगडूशाह ने कच्छ में भद्रेश्वर के विशाल प्रकोट का निर्माण करवाया। 'जगडू शाह की ख्यात' के अनुसार उसने विभिन्न नगरों में कुल ७० भव्य मन्दिरों का निर्माण एवं ९०० प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करवायी। उसने शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए चतुर्विध संघ निकाला।

संवत् १३११ में बारह बरस का भयंकर अकाल पड़ा। अन्न सुवर्ण से महँगा हो गया। जगडू शाह ने अपना अर्थ तथा अन्न भंडार जन कल्याण के लिए समर्पित कर दिया। कहते हैं आसपास के अन्य प्रदेशों के शासकों की प्रार्थना पर लाखों मन धान अन्य प्रदेशों को भिजवाया।

कुवेर के समान दानवीर इस श्रीमाल श्रेष्ठि का ७२ वर्ष की आयु में देहान्त हुआ। ख्यात के रचनाकार ने इसे इस प्रकार प्रकट किया है :

बरस बहत्तर आव मास षट दाहाड़ों ऊपर।
जगडू कीधो काल धरा सब धूजी थरहर॥

समर सिंह :

विक्रम की १४ सदी में अणहिलपुर पट्टण में वेद मुहता गोत्रीय ओसवाल श्रेष्ठि समर सिंह का उदय हुआ। उन्होंने अनेक जैन तीर्थों का जीर्णोद्धार करवाया।

संवत् १३६९ में सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने अनेक जैन तीर्थों को तहस-नहस कर दिया। उसकी धर्मांधता का शिकार प्राचीनतम जैन तीर्थ शत्रुञ्जय भी हुआ। खिलजी ने जैन तीर्थ नष्ट कर मंदिर की जगह मस्जिदें खड़ी कर दी थी। शत्रुञ्जय में मूल नायक आदीश्वर भगवान की मूर्ति भी उसने खंडित कर दी। जब समरसिंह के पिता

देशल शाह को इसका पता चला तो उन्होंने अपने प्रतिभाशाली एवं धर्मानुरागी पुत्र समरसिंह से तीर्थ के जीर्णोद्धार कराने को प्रतिज्ञा ले ली। उपकेशगच्छीय जैनाचार्य सिंह सूरि की प्रेरणा से वह तत्काल इस भीष्म प्रतिज्ञा को पूरा करने में जुट गया।

तत्कालीन दिल्ली सल्तनत पर तुगलक खानदान ने कब्जा कर लिया था। कुतुबुद्दीन तुगलक के दरबार में समराशाह का बहुत सम्मान था। मुहम्मद शाह तुगलक (संवत् १३८२-१४०८) ने तो उन्हें तेलगांना का शासक नियुक्त कर दिया था। समरा शाह ने गुजरात के तत्कालीन मुख्य अधिकारी अलपखान से शाही फरमान प्राप्त कर शत्रुञ्जय तीर्थ का जीर्णोद्धार ही नहीं करवाया, अतुल धन खर्च कर वहाँ रथ के आकार के भव्य मन्दिर का भी निर्माण कराया। अरासण खान से बहुमूल्य संगमर्मर मंगवा कर बिम्ब निर्मित करवाये और समस्त श्री संघ को निमंत्रित कर प्रतिष्ठा महोत्सव मनाया।

विक्रम संवत् १३९३ में समरा शाह स्वर्गस्थ हुए। आचार्य सिद्ध सूरि के पट्टधर आचार्य कक्क सूरि ने श्रावक शिरोमणि समरा शाह की प्रशस्ति में 'नाभिनन्दन जिनोद्धार' नामक ऐतिहासिक प्रबन्ध की रचना की, जो जैन वाङ्मय का प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

पेथड़कुमार (पेथड़ शाह) :

विक्रम संवत् १३२० में इतिहास प्रसिद्ध दुर्ग मांडवगढ़ के उकेश वंशीय श्रेष्ठि पेथड़कुमार हुए। उन्होंने चौरासी विभिन्न स्थानों में जिन-मन्दिर निर्मित करवाये। वे तपागच्छ के आचार्य धर्मघोष सूरि के भक्त थे। मांडवगढ़ दुर्ग में १८ लाख रुपये खर्च कर ७२ जिनालयों वाला आदि तीर्थंकर का प्रसिद्ध सुवर्ण-दण्ड कलश वाला मन्दिर बनवाया। गिरनार, शत्रुञ्जय एवं अन्य तीर्थों पर संघ ले गये। सात विभिन्न जगहों पर ग्रंथ भण्डारों की स्थापना की। आगम-लेखन हेतु भारी दक्षिणा दी। कहते हैं भगवती सूत्र में जहाँ-जहाँ गौतम शब्द आया, एक-एक स्वर्ण मुहर दान में दी। इस तरह ३६००० स्वर्ण मुद्राओं से आगम पूजा सम्पन्न की। इनके पुत्र झांझन का विवाह दिल्ली के श्रेष्ठि भीम की पुत्री सौभाग्य देवी से हुआ। उसने भी जैन धर्म की प्रभावना की।

शाह ठक्कर फेरू :

विक्रम की १३वीं–१४वीं सदी के बहुश्रुत विद्वानों में कन्नाणा (हरियाणा) के श्रीमाल वंशीय धांधिया (धंध) गोत्रीय शाह ठक्कर फेरू का नाम बड़े सम्मान से लिया जाता है। उस समय दिल्ली के बैंकिंग व्यवसाय में श्रीमाल श्रेष्ठियों का बोलबाला था। शाह ठक्कर फेरू का जन्म अनुमानतः विक्रम संवत् १३२७ के आस पास हुआ। इनके पिताजी का नाम 'चन्द' था। राज दरबार से इनके वंशजों को 'ठक्कर' उपाधि मिली हुई थी। बादशाह अलाउद्दीन खिलजी ने उन्हें अपना भंडारी नियुक्त किया। वे राज्य के जवाहरातों के खजाने के मुख्य अधिकारी थे। वि० सं० १३७३ में कुतुबु-

द्दीन मुबारक शाह दिल्ली के तख्त पर बैठा। उसने भी शाह ठक्कर फेरू को राज्य की टकशाल का मुख्याधिकारी नियुक्त किया। वि० सं० १३७७ से १३८२ के बीच बादशाह गयासुद्दीन तुगलक के शासनकाल में भी वे इस पद पर बहाल रहे।

उनका रत्न एवं मुद्रा विषयक ज्ञान अनुपम था। लगता है कि उन्होंने वृद्ध भट्ट, आगत्स्य, वृहस्पति आदि संस्कृत विद्वानों के ग्रंथों का गहन अध्ययन किया था। भारत की तत्कालीन मुद्राओं के सम्बन्ध में संवत् १३४७ में उन्होंने 'द्रव्य परीक्षा' नामक ग्रंथ लिखा, जो अपने में बेजोड़ है। इस ग्रन्थ में 'प्राचीन काल में व्यवहृत स्वर्ण, रौप्य तथा अन्य धातु की अनेक मुद्राओं का वर्णन हैं—यहाँ तक कि उनके सही तोल, माप एवं मोल तक ग्रंथकार ने दिये हैं। कुल मिलाकर २६० प्रकार के सिक्कों का मुद्रा कोष है यह। बादशाह अलाउद्दीन के समय में प्रचलित १२ एवं बादशाह कुतुबुद्दीन के ६३ प्रकार के विभिन्न सिक्कों के डिजाईन तैयार करने का श्रेय भी शाह फेरू को ही है। अनेक अन्य प्रदेशों—यथा—मुलतान, खुरासान, मालवा, चन्देल आदि के शासक भी उनसे मुद्रा विषयक सलाह लिया करते थे।

शाह फेरू की दूसरी बेमिसाल कृति है 'रत्न परीक्षा'। जिसे उन्होंने संवत् १३७२ में लिखा। उक्त दोनों 'ग्रन्थों' के अलावा ज्योतिषसार, गणितसार, वास्तुसार, भूगर्भशास्त्र एवं धातुत्पत्ति विषयक विशिष्ट ग्रन्थों की रचना फेरू की ही देन है। 'रत्न परीक्षा' ग्रंथ उन्होंने अपने पुत्र हेमपाल के लिए लिखा। उक्त रचनाएँ प्राकृत भाषा में लिखी गई हैं। इनके ग्रंथों में इतने पारिभाषिक शब्द हैं, जो कि किसी 'कोश' में भी उपलब्ध नहीं हैं।

शाह फेरू जैन धर्म के अनन्य सेवक थे। इनकी प्रथम कृति एक आध्यात्मिक रचना 'युग प्रधान चतुष्पादिका' है, जिसे मात्र २१ वर्ष की आयु में संवत् १३४८ में उन्होंने वाचनाचार्य राजशेखर के सान्निध्य में कन्नाणा में लिखा। यह रचना अपभ्रंश भाषा में है। दिल्ली से श्रीमाल श्रेष्ठि रथपति ने दादा गुरु खरतराचार्य श्री जिनकुशल सूरि के नेतृत्व में संवत् १३८० में शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए संघ निकाला था। इस संघ में ठक्कर फेरू भी शामिल थे।

नरोजी भंडारी :

ई० १५वीं शताब्दी में राव जोधाजी का उदय हुआ। भंडारी गोत्र के श्रेष्ठि समरोजी ने जोधपुर राज्य की स्थापना में उन्हें बहुत सहयोग दिया। वे मूलतः चौहान-वंश के थे। जैनाचार्य से प्रबोधित होकर भंडारी बने। राव रिणमल के मारे जाने के बाद राव जोधाजी ७०० सिपाहियों को लेकर उदयपुर से भाग निकले। मेवाड़ की सेना ने भी पीछा किया। मारवाड़ पहुँचते-पहुँचते कुल ७ सिपाही रह गये। जब जीलवाड़ा पहुँचे तो समरोजी से भेंट हुई। समरोजी को जोधाजी का पक्ष न्याययुक्त

लगा। अपने पुत्र नरोजी को जोधाजी के साथ मारवाड़ भेज कर खुद राणाजी की फौज को रोक रखने में वीरगति को प्राप्त हुए। राणाजी की सेना जोधाजी का पीछा करते हुए भंडोर पहुँची। वहाँ कब्जा कर लिया। जोधाजी ने थली के किसी गाँव में शरण ली। वहाँ नरोजी की सहायता से सेना इकट्ठी कर फिर से मंडोर पर आक्रमण कर दिया। जोधाजी ने विजय प्राप्त की और सं० १४९३ में जोधपुर राज्य की नींव डाली। जोधाजी ने नरोजी को दीवानगी एवं प्रधानगी बख्शी। संवत् (१५१५-१५३१) एवं ६०.०००/- की जागीर प्रदान की। उनके बाद नरोजी की अनेक पुश्तों तक जोधपुर राज्य की प्रधानगी एवं दीवानगी उनके वंशजों के पास रही। भंडारी नरोजी तक इनका परिवार जैनी चौहान राजपूत कहलाता था। सं० १५१२ में नरोजी का दूसरा विवाह मुहणोतों की कन्या से हुआ। तब से वे जैन ओसवाल कहलाने लगे।

नरोजी की मुहणोत पत्नी से तीन पुत्र हुए : तोलोजो, नीबोजी और नाथोजी। नाथोजी के पुत्र भण्डारी उदोजी वि० सं० १५४८ में जोधपुर राज्य के प्रधान बने। आपके पौत्र गोरो जी भी राज्य के प्रधान रहे। उनके पुत्र लूणोजी बहुत पराक्रमी थे। उन्हें जोधपुर के तीन महाराजाओं ने सं० १६५१ से १६८१ के बीच प्रधानगी का सम्मान दिया। इन्हीं लूणोजी की संताने लूणावत भंडारी कहलायीं। इनके पुत्र रायमलजी को सं० १६९४ में दीवानगी बख्शी गयी। इनके पौत्र भण्डारी विठलदास जी को सं० १७६३ में दीवान बनाया गया। इसी परिवार के भण्डारी माईदास सं० १७६९ में दीवान रहे।

श्रेष्ठि जावड़ शाह :

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में माण्डु (माण्डवगढ़) में श्रीमाल वंशीय बहकट गोत्रीय धनाढ्य श्रेष्ठि जावड़ शाह का आविर्भाव हुआ। उनके पूर्वज दिल्ली के प्रतिष्ठित व्यापारी थे, जो चौदहवीं शताब्दी में मांडू आकर बस गये। इस खानदान में संघ पतियों की एक अपूर्व शृंखला थी। जावड़ के पिता राजमल्ल मालव-पति सुल्तान महिमुद की सभा के भूषण थे। तपागच्छीय गुरु लक्ष्मी सागर सूरि के माण्डू पधारने पर उनके स्वागत समारोह में उन्होंने साठ हजार टके व्यय किये। लक्ष्मी सागर सूरि ने विक्रम संवत् १५१७–२४ के मध्य मांडू में अनेक जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करवायी।

मांडू सुल्तान गयासुद्दीन के समय श्रेष्ठि जावड़ राज्य के कोषाध्यक्ष नियुक्त हो राजदरबार में सम्मानित हुए। उन्हें सुल्तान का मंत्री कहा गया है। कहीं-कहीं 'जावड़ेन्द्र' नाम से भी उनका उल्लेख हुआ है। समाज ने जावड़ को 'श्रीमाल-भूपाल' के विरुद से अभिषिक्त किया। जावड़ ने आबू एवं जीरापल्ली तीर्थों के संघ निकाले। श्री संघ ने उन्हें संघपति की उपाधि दी। प्रसिद्ध जैन कवि सर्व विजय गणि ने अपने संस्कृत काव्यों—'आनन्द सुन्दर' और 'सुमति सम्भव' के प्रशस्ति लेखों में जावड़ शाह की इन तीर्थ यात्राओं का सविस्तार वर्णन किया है एवं इतिहास प्रसिद्ध जैन श्रावकों-श्रेणिक, सम्प्रति, कुमारपाल और शालिभद्र की श्रेणी में आसीन किया है।

जावड़ ने श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये थे। प्रसिद्ध चरित्र लेखक डॉ० सी० क्राउझे के अनुसार ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करते समय जावड़ ने बत्तीस स्त्रियों का आगार सुरक्षित रखा था। शायद यह जैन साहित्य के कथा नायक सेठ शालिभद्र के उदाहरण का अनुकरण था, जिसकी बत्तीस पत्नियाँ बताई जाती हैं। शालिभद्र ने सबको त्यागकर प्रवज्या ग्रहण की थी। अन्य स्रोतों में जावड़ की चार पत्नियों का उल्लेख है। राजपूती परम्परा के अनुसार बाकी रखैले या उप पत्नियाँ रही हों—यह सम्भव है। अपरिग्रह के पाँचवे व्रत के आगार से उसकी निजी सम्पत्ति एवं समृद्धि का अनुमान सहज ही हो जाता है। यथा—एक लाख मन अनाज, एक लाख मन घी-तेल, २००० बैल, १० भवन, ४ मन चाँदी, १ मन सोना, ३०० मन हीरे (सम्भवतः वह हीरों का व्यापारी था) २०० मन अफीम, १५०० घोड़े, ५० हाथी एवं २ करोड़ टंक (स्वर्ण मुद्राएँ)। माण्डू के श्रेष्ठि वर्ग ने उसे 'व्यवहारि शिरोरत्न' की उपाधि से विभूषित किया था।

संवत् १५४७ में जावड़ शाह ने माण्डू के भव्य मन्दिरों में १०४ जिन प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित कीं। इनमें हीरे जवाहरातों से मंडित सोने, चाँदी की अनेक बहुमूल्य प्रतिमाएँ थीं। संवत् १५५५ में श्रेष्ठि जावड़ के आश्रय में स्वर्णाक्षरों में उत्कीर्णित कल्पसूत्र की प्रशस्ति में इन प्रसंगों का विशद विवरण दिया गया है। अनेक प्रतिमाओं की पीठिका पर भी प्रशस्तियाँ उत्कीर्णित है।

कर्माशाह :

विक्रम की ९वीं शताब्दी में आचार्य बप्पभट्ट सूरि ने ग्वालियर के राजा नाग भट्ट प्रतिहार को, जो आम राजा के नाम से विख्यात था, प्रतिबोध दे जैन बनाया। आमराजा की एक रानी व्यवहारिया वणिक पुत्री थी। उनकी सन्तानों का गोत्र राजकोष्ठागार निर्धारित हुआ। ओसवाल कुल के राजकोठारी गोत्र के लोग अपने को आम राजा की सन्तान बताते हैं। इसी गोत्र में १६वीं सदी में कर्माशाह नामक ओसवाल श्रेष्ठि हुए, जिन्होंने शत्रुञ्जय तीर्थ का जीर्णोद्धार कराया। कुछ लेखक कर्माशाह को डोसी गोत्रीय श्रेष्ठि बताते हैं। कुछ इतिहासकारों के अनुसार राणा रतनसिंह द्वितीय के समय संवत् १५८४ से १५८८ तक कर्माशाह राज्य के मंत्री रहे।

उनकी प्रशस्ति में शत्रुञ्जय तीर्थ के विमलवासी आदीश्वर मन्दिर पर उत्कीर्णित विक्रम संवत् १५८७ के एक शिलालेख से तत्कालीन ओसवंश की विशालता एवं कर्माशाह की समृद्धि का पता चलता है। मुनि जिन विजयजी ने अपने ग्रंथ 'जैन लेख संग्रह' में यह लेख आद्योपान्त प्रकाशित किया है। इसके अनुसार इनके पूर्वज सारणदेव बड़े प्रसिद्ध पुरुष हुए। उनकी ८वीं पीढ़ी में तोला शाह हुए, जिनकी धर्मपत्नी लीलू की कुक्षि से कर्मा शाह का जन्म हुआ। इनकी दो पत्नियाँ थीं : कापूरदे और कामल दे। राज दरबार में

कर्मा शाह का बड़ा सम्मान था। गुजरात के तत्कालीन शासक सुल्तान बहादुर शाह से फरमान प्राप्त कर आपने शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए संघ समायोजन किया। लाखों रुपये खर्च कर तीर्थ का पुनरुद्धार भी कराया।

मंत्रीश्वर करमचन्द बच्छावत :

ओसवाल जाति के बच्छावत गोत्र के श्रेष्ठियों ने बीकानेर राज्य की बहुत सेवा की। जोधपुर महाराज राव जोधाजी ने अपने पुत्र बीकाजी को नवीन राज्य की स्थापना हेतु जांगल प्रदेश भेजा। उनके साथ बोहत्थरा वत्सराजजी भी थे। राव बीकाजी ने सन् १४८८ में बीकानेर राज्य की नींव डाली तथा बोहत्थरा वत्सराजजी को अपना प्रधान मंत्री बनाया। इन्हीं वत्सराज जी का गोत्र कालांतर में बच्छावत नाम से प्रसिद्ध हुआ। ओसवाल जाति के बच्छावत गोत्र की पांचवी पीढ़ी में जन्मे श्री करमचन्द जी बडे दूरदर्शी थे। आपके वंश की पांच पीढ़ियों ने राज्य के प्रधानमंत्री पद पर रहते हुए राज्य की सेवा की थी।

बीकानेर के राव राजा रायसिंह जी ने सन् १५७३ में आपको अपना प्रधान दीवान नियुक्त किया। ये महान राजनीतिज्ञ, संधि विग्राहक, कार्यकुशल व वीर थे। राजा रायसिंह के पिता राव कल्याणमल का दुसाध्य मनोरथ 'जोधपुर के राजगवाक्ष में बैठकर पूर्वजों का तर्पण करने' को सम्राट् अकबर से कुछ समय के लिए 'जोधपुर राज्य मांग कर आप ही ने पूर्ण कराया। इनके प्रयत्न से सम्राट् अकबर ने रायसिंह जी को 'राजा' का खिताब दिया। जब नागपुर के मिर्जा इब्राहीम ने आक्रमण किया तो करमचन्द जी की फौज ने उनका मुकाबला किया व उसे परास्त किया। सम्राट् अकबर की ओर से भी आप अनेक युद्धों में गये। गुजरात पर चढाई की। कुछ समय तक सोजत व जालौर पर भी अधिकार कर लिया। सिंध देश के कुछ हिस्से बीकानेर राज्य में मिलवाये। बीकानेर शहर को सुव्यवस्थित कर हर गोत्र को अलग-अलग मुहल्लों में बसाने का श्रेय आप को है। मुगल सेना द्वारा लूटे गये जिन मन्दिरों की १०५० भव्य प्रतिमाओं को सम्राट् अकवर से दरख्वास्त कर बीकानेर के चिन्तामणि मन्दिर के तहखाने में संग्रहित करने का श्रेय भी आप ही को है।

सम्राट् अकवर पर इनका खूब प्रभाव था। आप ही ने जनाचार्य जिनचन्द्रसूरि की अकवर से मुलाकात करवायी। तब से सम्राट् ने जैन पर्वों पर हिंसा बन्द रखने के फरमान निकाले। आपकी प्रेरणा से अकवर ने एक जैन मन्दिर के स्थान पर बनी मस्जिद को तुड़वा कर फिर से जैन मन्दिर बनवाने की आज्ञा दी।

विन्सेंट स्मिथ प्रभृति इतिहासकारों के अनुसार अकबर ने अपने जीवन के उत्तरार्ध (सन् १५८०-८१) में जैन धर्म अंगीकार कर लिया था—गो मांस छूता नहीं था। पुर्तगाली पादरी पिन्हेरो ने अपने सम्राट् को लिखे पत्र (सन् १५९५) में लिखा

था कि मुगल सम्राट् जैन विधि से आत्म-चिंतन करते हैं तथा जैनी हो गये हैं। इन्हीं कारणों से असन्तुष्ट मुगल सरदारों के उकसाने पर जहांगीर ने विद्रोह किया था। अबुलफजल द्वारा लिखित 'आइने अकबरी' में भी ओसवाल श्रेष्ठियों एवं एवं जैन धर्म का वर्णन है।

सन् १५७८ में जब भयंकर अकाल पड़ा ता कर्मचन्द ने हजारों कुटुम्बों को कई साल तक अन्न प्रदान किया।

महाराज रायसिंह शक्की एवं कान के कच्चे थे, साथ ही अदूरदर्शी। भाट-चारणों की प्रशस्तियाँ सुन-सुन कर दौलत लुटाना उनका शौक था। एक बार शंकर नामक एक चारण को एक करोड़ रुपया इनाम में देने की घोषणा कर दी। दीवान करमचन्द के समझाने का उल्टा असर हुआ और इनाम की रकम सवा करोड़ रुपये देने का हुक्म कर दिया। इसे चुकाने में राज्य की रेवेन्यू रेहन करनी पड़ी। इस तरह खजाना खाली होता गया। सन् १५९५ में एक और घटना हुई, जिसने करमचन्द जी को बीकानेर छोड़ने पर विवश कर दिया। राजपूत सामंतों ने यह इल्जाम लगाया कि महाराज रायसिंह की जगह उनके भाई दलपतसिंह या रामसिंह को सिंहासनारूढ़ करने के षड्यंत्र में करमचन्द का हाथ है, हालांकि इस इल्जाम का कोई आधार नहीं था। दीवान करमचन्द बीकानेर छोड़ अन्यत्र चले गये। अन्तिम समय में महाराजा रायसिंह जी से अनबन एवं सम्राट् अकबर से अच्छे सम्बन्ध के कारण वे दिल्ली ही रहने लगे थे। सन् १६०५ में सम्राट् अकबर की मृत्यु के बाद करमचन्द भी अधिक नहीं जिये। रायसिंहजी जब दिल्ली आयें तो करमचन्द जी को हवेली पर आकर आंखों में आँसू भर कर सांत्वना देने लगे। उनके चले जाने पर करमचन्द जी ने अपने पुत्रों को सावधान रहने की ताकीद की और कहा—'कभी बीकानेर मत जाना।'

महाराजा रायसिंहजी ने मरते वक्त (सन् १६११) में अपने पुत्र सूरसिंहजी से कहा था कि 'मुझे मारने के षड्यन्त्र में करमचन्द शामिल था अतः उससे बदला लेना।' महाराजा सूरसिंहजी शासन सँभालने पर करमचन्दजी के पुत्रों को फुसलाकर बीकानेर ले गये। पहले तो उन्हें मन्त्रीपद सौंपा। कृपा दिखायी। कुछ समय बाद सन् १६२२ में हजारों सैनिकों को उनकी हवेली पर हमला करने के लिए भेज दिया। करमचन्दजी के दोनों बेटे बहादुरी से लड़े। अपनी माता, स्त्रियों एवं बच्चों को जौहर में जलाकर खुद लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। इस तरह करमचन्दजी की भविष्य-वाणी सिद्ध हुई।

कर्मचन्द जी कुटुम्ब की एकमात्र गर्भवती स्त्री सेवक की सहायता से मन्दिर में छिपकर भाग निकली। कहते हैं कि उसी से आगे चलकर बच्छावत वंश बढ़ा, जो बाद में उदयपुर राजघराने से सम्बन्धित रहा।

कावड़िया भामाशाह (वि० सं० १६०४–१६५७)

राजपूत राज्यों के इतिहास में 'प्रधान' का पद सदैव राजपूतेतर अधिनायकों के पास रहा। वे एक साथ योद्धा, प्रशासक और कूटनीतिज्ञ का कार्य अंजाम दे सकते थे। ऐसे मेवाड़ उद्धारक उदयपुर के ओसवाल-कावड़िया गोत्र के सूर्य भामाशाह को कौन नहीं जानता? देशी राज्यों के इतिहास में वे अमर हैं। वे स्वामी भक्त एवं देश-भक्ति के आदर्श थे। सेवग जेठमल के 'वीर शासन' प्रबन्ध के अनुसार भामाशाह के पडदादा चांडा (चांदा) भी राय कोठारी गोत्र के ओसवाल थे। वे दिल्ली रहते थे। बाप-दादा लड़ाइयों में मारे गये, उस वक्त चांडा बालक थे। उन्हें कावड़ी में डालकर बादशाह के कोप से बचाने के लिए अलवर लाया गया। इसलिए कालान्तर में इनकी सन्तानें कावड़िया कहलायीं। वे धनाढ्य होने से शाह कहलाते थे। ये श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक श्रावक थे।

चांदा का बेटा तीड़ा और तीड़ा के भारमल हुए, जिन्हें महाराणा सांगा सं० १५८० में अलवर से साथ लाये। वे रणथम्भौर के किलेदार नियुक्त हुए। रावराजा श्यामलदास लिखित 'वीर विनोद' के अनुसार राणा सांगा का हाड़ी रानी कर्मवती से विशेष स्नेह था। उसके दो पुत्र विक्रमादित्य और उदयसिंह छोटे थे। ज्येष्ठ पुत्र रत्न-सिंह से रानी को भय था। उसने राणा से रणथम्भौर की ६० लाख रुपया सालाना की जागीर प्राप्त कर ली और वहीं रहने लगी। राणा सांगा के देहान्त के बाद सं० १५८५ में रत्नसिंह राणा बना। उसने रानी कर्मवती को उदयपुर बुला भेजा। इसी समय रानी ने दिल्ली के बादशाह हुमायूं को इतिहास प्रसिद्ध राखी भेजी थी। सं० १५८८ के युद्ध में रत्न सिंह की मृत्यु हो गयी। भारमलजी इस दरमियान रणथम्भौर के किलेदार बने रहे। सं० १५९९ में जब शेरशाह सूरि ने किले पर आक्रमण किया, तो भारमल जी ने बड़ी चतुराई से नजराना देकर वह संकट टाला।

राणा उदयसिंह जी के शासनकाल में वे राज्य के प्रधान बने। वे बड़े बुद्धिमान और राजनीतिकुशल थे। वि० सं० १६२४ में मुगल सम्राट् अकबर द्वारा चित्तौड़ के किले पर कब्जा कर लिये जाने के बावजूद भारमल ने उदयपुर को राजधानी बनाने एवं राज्य की सुरक्षा में महत्वपूर्ण योगदान दिया। सं० १६२४ के युद्ध में भारमलजी काम आये।

भामाशाह का जन्म वि० सं० १६०४ में हुआ। उनका परिवार उस समय पाडनपोल स्थित हस्तिशाला में निवास करता था। राणा उदयसिंह का ज्येष्ठ पुत्र प्रताप भी दुर्ग की तलहटी में रहता था। राणा ने भटियानी रानी से प्रेम होने के कारण उसके पुत्र जगमल को युवराज बनाया था। इसी काल में भामाशाह और प्रताप में दोस्ती हुई। अपने पिता की मृत्यु के बाद भामाशाह राणा उदयसिंह द्वारा राज्य के

प्रधान नियुक्त हुए। राजनैतिक उथल-पुथल के बावजूद आपका शासन प्रबन्ध बहुत अच्छा था। सं० १६२९ में राणा की मृत्यु पर प्रताप को सिंहासनारूढ़ करने में भामाशाह का हाथ था। प्रताप ने भामाशाह को अपना प्रधान चुना। भामाशाह का विवाह भोमा नाहटा की पुत्री से हुआ।

सं० १६३३ में हल्दी घाटी का युद्ध हुआ। इस युद्ध में भामाशाह और उनके भाई ताराचन्द मेवाड़ी सेना के हरावल (अग्रभाग) के दाहिने हिस्से में थे। 'मुन्तखाब उत तवारीख' के लेखक मौलवी अल बदायूनी के अनुसार मेवाड़ी सेना के हरावल के जबरदस्त आक्रमण ने मुगल सेना को ६ कोस तक खदेड़ दिया। जब राणा प्रताप युद्ध में लहु लुहान हो रहे थे तो प्रसिद्ध इतिहासकार यदुनाथ सरकार के अनुसार इन्हीं भाईयों ने प्रताप के घोड़े को युद्ध भूमि से खींच कर सुरक्षा स्थल तक पहुँचाया था। इसी शौर्य प्रदर्शन के बाद प्रताप ने भामाशाह को राज्य का प्रधान एवं ताराचन्द को गोडवाड प्रान्त का शासक नियुक्त किया। इसके बाद ही प्रताप का दस सालाना छापामार युद्ध प्रारम्भ हुआ।

राणा प्रताप स्वाधीनता के लिए जूझते हुए भटक रहे थे एवं बिलाव के रोटी ले जाने से द्रवित होकर मेवाड़ छोड़ सिन्ध चले जाने को तैयार कर जब अरावली पर्वत के पार मरु प्रदेश में पहुँच गये, उस समय राज्य के दीवान भामाशाह ने जीवन भर का संचित द्रव्य उनके चरणों में रख दिया। कर्नल टॉड के अनुसार यह धन २५ हजार सैनिकों के १२ वर्ष निर्वाह के लिए पर्याप्त था। राणा प्रताप ने बिखरी शक्ति बटोरकर सं० १६४३ तक खोये हुये समस्त राज्य पर पुनः अधिकार कर लिया, सिवाय चित्तौड़ के। भामाशाह खुद भी राणा के साथ लड़े। उन्होंने युद्धों के लिए प्रचुर धन और साधन जुटाये। वीर विनोद के लेखक कवि राजा श्यामलदास के अनुसार मालवा पर आकस्मिक धावा कर भामाशाह ने प्रचुर धन हस्तगत किया। फिर चूलिया में राणा को २५ लाख रुपये और २० हजार अशर्फी भेंट की। जैन कवि दौलत विजय रचित 'खुमाण रासो' के अनुसार भामाशाह ने अहमदाबाद पर जबरदस्त धावा मार कर २ करोड़ का धन हस्तगत किया। कविवर श्यामलदास के उल्लेखानुसार बादशाह अकबर ने अपने सेनापति अब्दुल रहीम खानखाना की मार्फत प्रलोभन देकर भामाशाह को फोड़ने की कोशिश की, पर नाकाम रहा।

ये राणा प्रताप के गद्दीनसीन होने से लेकर राणा अमर सिंह के शासन के तीन वर्ष तक राज्य के प्रधान रहे। सं० १६५६ में इनका स्वर्गवास हुआ। मरने के एक दिन पूर्व अपनी स्त्री को राज्य के खजाने की चाबी दे गये, जिससे राणा अमर सिंह ने कई वर्षों तक खर्च चलाया। मरणोपरान्त उनके लड़के जीवाशाह राज्य के प्रधान बन गये। भामाशाह के भाई ताराचन्द भी राज्य की ओर से लड़ते हुए शहीद हुए। आज भी इनके वंशजों को पंच पंचायतों में सर्वप्रथम गौरव दिया जाता है। भामाशाह

के पौत्र अक्षयराज महाराणा करणसिंह एवं उनके बाद महाराणा जगत सिंह द्वारा राज्य के प्रधान बनाये गये। सं० १९१२ में महाराणा स्वरूपसिंह के समय जब जातिगत विवाद उठा एवं कुछ लोगों ने ईर्ष्यावश कावड़िया वंश की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचाना चाहा तो महाराणा ने एक हुक्मनामा जारी कर तुरन्त आदेश दिया कि भामाशाह के वंशजों को किसी भी जाति भोज या सिंह पूजा के अवसर पर सर्व प्रथम तिलक किया जाये।

राजा भारमल राक्यान :

श्रीमाल जाति के नर पुंगव राजा भारमल राक्यान विक्रम की १७वीं शताब्दी के भारत के अद्वितीय ऐश्वर्य शाली व्यापारी थे। वे सम्राट् अकबर के दरबार के राज्य मान्य अधिकारी थे। इनका गोत्र राक्याणि था। इस गोत्र की उत्पत्ति श्रीमाल नगर के राजपूत जाति के रंका-राउ से मानी जाती है। वे बड़े धर्मप्रेमी थे। ओछू में जैन धर्म स्वीकार किया। इन्हीं की वंश परम्परा में संघपति नाल्हा हुए। उनकी ४थी पीढ़ी में संघपति देवदत्त हुए, जिनकी संतान राजा भारमल थे।

राजा भारमल नागौर के निवासी थे। नागपुरीय तपागच्छ की स्थापना इसी शहर में हुई थी। वि० सं० १६३५ के आस-पास राजा भारमल व्यापारिक सुविधा की दृष्टि से विराट (वैराट) नगर जा बसे। जयपुर से ४० मील दूर स्थित इस नगर में कभी पांडवों ने गुप्त वास किया था। राजा भारमल धनकुबेर थे। वे साँभर, वैराट, डीडवाना, मुक्तसर आदि भू पर्वतों की खानों के स्वामी थे। विराट के नजदीक ताँबे की खानों पर आपका एकाधिकार था। आपके हाथों में टकसालों का स्वामित्व भी था। आपके कोष में पचास करोड़ अकबरशाही सोने की मुहरें हर समय मौजूद रहती थी। आपकी प्रतिदिन की आमदनी सवा लाख मुद्रा थी, जिसमें से पचास हजार आप प्रतिदिन सम्राट् अकबर को बतौर खान-टेक्स देते थे। भारमल के अतुल ऐश्वर्य एवं प्रभाव से प्रभावित होकर ही सम्राट् अकबर ने उन्हें 'राजा' की पदवी दी। आपको सुरक्षा के लिए चतुरंग सेना रखने का अधिकार प्राप्त था। कहते हैं शाहजादा सलीम (जहाँगीर) आपके यहाँ मिलने आता था।

आप तपागच्छीय नागौरी आम्नाय के थे। आप हर्षकीर्त्ति के शिष्य थे। वि० सं० १६४४ के कुछ पूर्व आपका स्वर्गवास हुआ।

इन्हीं के समकालीन कवि राजमल ने 'छंदो विद्या' ग्रंथ में राजा भारमल के जीवन-वृतान्त को उदाहरण रूप में रखा है। उससे राजा भारमल के अद्भुत व्यक्तित्व का परिचय मिलता है।

वैराट के स्वामी राजा भारमल के पुत्र इन्द्रजीत भी बड़े प्रतापी एवं वैभवशाली थे। वैराट के शिलालेख के अनुसार राजा के आमन्त्रण पर जैनाचार्य हीर विजय सूरि

ने अपने शिष्य उपाध्याय कल्याण विजय जी को मन्दिर का प्रतिष्ठा-महोत्सव सम्पन्न कराने के लिए वैराट भेजा था। राजा भारमल के वंशज अब भी दिल्ली में निवास करते हैं।

शाह तेजपाल सोनी :

खम्भात में ओसवंश के सुप्रसिद्ध आभू श्रेष्ठि के कुल में शिवराज सोनी बड़े पुण्यशाली हुए। उनकी पाँचवीं पीढ़ी में बच्छिया जी हुए, जिनकी धर्मपत्नी सुहासिनी दे की कुक्षि से तेजपाल ने जन्म लिया। ये अपने समय के महाप्रतापशाली धर्म-पुरुष थे। इनके गुरु तपागच्छीय आचार्य हीर विजयजी थे। उनकी प्रेरणा से आपने विपुल धन राशि खर्च कर संवत् १६४६ में खम्भात में सुपार्श्वनाथ चैत्य का निर्माण कराया। संवत् १६४९ में आपने शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए संघ समायोजन किया। इस संघ में गुजरात, मेवाड़, मारवाड़, मालवा एवं दक्षिणी प्रदेशों के हजारों यात्री शामिल थे। आचार्य हीर विजयजी के नायकत्व में एक हजार श्रमण संघ के साथ थे। शाह तेजपाल ने लाखों रुपए खर्च कर शत्रुञ्जय तीर्थ का जीर्णोद्धार कराया तथा आचार्य हीर विजयजी के हाथों अनेक बिम्ब प्रतिष्ठित कराये। इस आशय का एक शिलालेख मुख्य मन्दिर के पूर्व द्वार के रंग मण्डप में उत्कीर्णित है। मुनि जिन विजयजी ने अपने ग्रन्थ 'जैन लेख संग्रह' में इसे आद्योपान्त प्रकाशित किया है।

थाहरू शाह :

विक्रम को १७वीं शताब्दी में जैसलमेर के प्रसिद्ध भणशाली गोत्र में भाटी राजा सागर की १९वीं पीढ़ी में महा प्रतापी थाहरूशाह नामक ओसवाल श्रेष्ठि हुए। उन्होंने विक्रम संवत् १६५५ में लोद्रपुर में प्रसिद्ध पार्श्वनाथ मन्दिर बनवाया। उन्होंने संघ के साथ शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा की। वहाँ २४ तीर्थंकरों एवं १४५२ गणधरों की पादुकाओं की प्रतिष्ठा करवायी। श्री समयसुन्दर उपाध्याय ने अपने सर्वप्रसिद्ध 'शत्रुञ्जय रास' की रचना इसी संघ समायोजन में की थी। थाहरू शाह को इस विराट समायोजन के उपलक्ष्य में जैसलमेर दरबार ने 'कच्छवाहा' पदवी से विभूषित किया। आगरा का एक जैन मन्दिर भी थाहरू शाह का बनवाया हुआ है। तीर्थयात्रा में निकाले गये संघ के भव्य एवं विशाल काष्ठ रथ का दर्शन आज भी लौद्रपुर के प्राचीन मन्दिर में किया जा सकता है। थाहरू शाह ने जैसलमेर में एक देहरासर एवं विशाल हवेली का भी निर्माण करवाया।

लौद्रवा के जैन मन्दिर में उत्कीर्णित शतदल पद्मयंत्र के विक्रम संवत् १६७५ के प्राचीन शिलालेख के अनुसार पार्श्वनाथ का मूल मन्दिर थाहरू शाह के पूर्वज राजा सगर के पुत्र श्रीधर का बनवाया हुआ था, जिसे मुहम्मद खिलजी ने नष्ट कर दिया था। थाहरू शाह ने उस प्राचीन मन्दिर का जीर्णोद्धार तो कराया ही, पांच नये भव्य

मन्दिरों का निर्माण भी कराया। लेख के अनुसार उनके पिता का नाम श्रीमल्ल था। माता को नाम चापल दे। उनकी पत्नी कनका दे थी। उनके पुत्र हरराज और मेघराज का भी नामोल्लेख हैं। इन मन्दिरों में बिम्ब प्रतिष्ठा आचार्य जिनराजसूरि ने की। ये मन्दिर स्थापत्य कला के बेजोड़ नमूने हैं। बारीक कोरनी से पाषाण सजीव व मुखर हो गये हैं। छत, स्तम्भ एवं शिखरों की कलात्मक खुदाई का सौन्दर्य देखते ही बनता है। एक किंवदन्ती के अनुसार मंदिरों में स्थापित मूर्तियाँ पाटण के सिद्धहस्त शिल्पकारों द्वारा निर्मित हैं। थाहरू शाह ने उन शिल्पकारों को मूर्तियों के भार के बराबर सोना अर्पित किया था। वे पाटण से जिस भव्य काष्ठरथ में लायी गयी थीं, वह काष्ठ रथ भी मन्दिर में सुरक्षित है। मूल प्रतिमा पर विक्रम संवत् १६२२ का लेख उत्कीर्णित हैं।

इन्हीं थाहरू शाह की धनोपार्जन सम्बन्धी एक किंवदन्ती प्रचलित है। वे लोद्रवा में घी का व्यापार करते थे। एक दिन रूपसिया ग्राम की एक स्त्री चित्रावेल की एंडुरणी पर रखकर घी का मटका बेचने के लिए आयी। थाहरू शाह ने घी खरीदा और तोलने के लिए घी निकालना शुरू किया—पर मटका खाली हुआ ही नहीं। इसे उन्होंने एंडुरणी का कमाल समझा। उन्होंने महिला को समझा-बुझा कर एंडुरणी भी रख ली। तब से उनके पास असंख्य द्रव्य हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि थाहरू शाह सुविज्ञ जैन श्रावक थे। वे विद्वान भी थे। विक्रम संवत् १६५९ से १६८४ के बीच उन्होंने अनेक ग्रंथ लिपिबद्ध कराये। अनेक मूल्यवान ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों के अंत में 'थाहरू साहेब संशोधितम्' उल्लेख मिलता है।

इन्हीं थाहरू शाह को बादशाह अकबर ने दिल्ली बुलाकर सम्मानित किया था। थाहरू शाह ने बादशाह को 'हाथी और ५०० घोड़े' नजर किये। बादशाह ने उन्हें 'रायजादा' का खिताब दिया। तब से इनके वंशज भंसाली कहलाने लगे।

वर्धमान शाह पद्मसिंह शाह :

इसी समय के आसपास विक्रम की १७ शताब्दी में कच्छ में ओसवाल कुल के लालन गोत्रीय श्रेष्ठि अमर सिंह के दो पुत्र वर्धमान शाह और पद्मसिंहशाह बहुत प्रसिद्ध हुए।

लालन गोत्र की उत्पत्ति वि० सं० ७१३ में सोनगोरा सोढ़ा सोलंकी राजपूतों से मानी जाती है। इस वंश में वि० सं० १६३० में कच्छ के आरीखणा गाँव में सेठ अमरसिंह हुए। उनके पुत्र वर्धमान शाह और पद्मसिंह शाह को एक योगी ने सिद्ध-रस की तुंबड़ी दी। कहते हैं इसके प्रयोग से तांबा सोने में बदल जाता था। दोनों भाइयों ने खूब धन और यश कमाया। वे भद्रावती नगरी में बस गये। एक अन्य जनश्रुति के अनुसार वे कच्छ के अलसाणा गाँव के थे, जिन्हें अलसाणे के ठाकुर की कन्या के विवाह के समय जामनगर के जामसाहब ने मांग लिया और ले जाकर जामनगर में बसाया।

शाह बन्धु रेशम और इलायची का व्यवसाय करते थे। संवत् १६७५ में वर्धमान शाह जामनगर के मन्त्री नियुक्त हुए। इन भाइयों ने विदेशों में भी अपना व्यवसाय फैला कर खूब नाम कमाया। पद्मसिंह चीन के केंटान बन्दरगाह में अनेक दिन रहे। उनके साथ एक चीनी व्यापारी युलन चांग भारत आया।

इन भाइयों ने जैन धर्म की प्रभावना में सराहनीय योग दिया। अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया। इन्होंने लगभग २०४ प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करवायी। वि० सं० १६७६ में शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा में इनके साथ १५००० श्रावकों का संघ था, जिसमें ५०० रथ, ७०० गाड़ा, ९०० घोड़े, ९ हाथी, १५० तंबू, ५०० ऊँट, १००० खच्चर, २०० रसोइये, २०० साधु, ३०० साध्वियाँ, १०० चारण, २० बाजे वाले एवं ५० नाटकियाँ थीं। इन्हीं आंकड़ों से इन श्रेष्ठियों की समृद्धि का अन्दाजा लगाया जा सकता है। तीर्थ से लौटते हुए संघ जब नवानगर पहुँचा तो वहाँ के महाराजा जसवंतसिंह ने दोनों भाइयों का बहुत सत्कार किया। कुछ दिनों तक वहीं निवास किया। सं० १६६८ में वहाँ एक विशाल जैन मन्दिर बनवाया। उनमें रत्न एवं माणिक जड़ित जिन प्रतिमाओं की स्थापना की। कहते हैं इस ऐश्वर्य को देखकर राज्य का खजांची ईर्ष्या से तिलमिला उठा। उसके कहने पर महाराजा ने वर्धमान शाह से ९ हजार स्वर्ण मोहरें उधार मांगी। खजांची ने रूक्के पर दो बिन्दी और लगाकर ९ लाख स्वर्ण मोहर की माँग करवा दी। दोनों भाइयों की प्रतिष्ठा की घड़ी आ गयी। ऐसे समय फिर उस योगिराज ने एक जड़ी देकर सहायता की। नौ लाख मोहरें गाड़ियों में भर कर महाराजा को भेज दी गयी। तब से वे 'नवलखा' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस घटना के पश्चात् वे भद्रावती लौट आये।

अनेक वर्षों बाद भद्रावती नगरी में महामारी का कोप हुआ। नगरी उजड़ गई। वर्धमान शाह अपने परिवार सहित भुज जा बसे। पद्म सिंह शाह अपने परिवार सहित मांडवी जा बसे। वर्धमान शाह के पुत्र जगडू शाह हुए। उनको विनती पर वि० सं० १६९१ में श्री अमर सागर सूरि ने संस्कृत में 'श्री वर्धमान पद्मसिंह चरित्र' ग्रंथ की रचना की।

सेठ शान्तिदास जौहरी :

ओसवाल कुलभूषण एवं तीर्थ रक्षक सेठ शान्तिदास जौहरी के जीवन प्रसंग प्रेरणास्पद है। मुगल सम्राट् अकबर की पट्टमहिषी महाराणी जोधाबाई उनकी धर्म बहन थी। सम्राट् जहाँगीर उन्हें मामू कह कर पुकारते थे। जैन तीर्थों की रक्षा के लिए किये गये उनके प्रयत्नों के कारण समूचा जैन समाज उनका ऋणी है।

मेवाड़ के सिसोदिया ठाकुर पद्मसिंह ने लगभग वि० सं० १४७२ में एक जैन मुनि की प्रेरणा से जैन धर्म स्वीकार किया। उनकी छठी पीढ़ी में सहस्रकिरण हुए, जो

अहमदावाद आकर एक मारवाड़ी जौहरी की दुकान पर काम करने लगे। अपनी ईमानदारी से उन्होंने जौहरी का मन मोह लिया और घरजमाई वन गये। वि० सं० १६४६ में सेठ शान्तिदास का जन्म हुआ। उनके दूसरे पुत्र का नाम वर्द्धमान था। गुजराती फारसी में शिक्षा ग्रहण कर दोनों भाई व्यापार देखने लगे। शांतिदास देश-विदेश का काम देखते थे। वे कभी श्रीलंका में मोती खरीदने जाते, कभी वर्मा से माणिक लाते और कभी गोलकुण्डा से हीरे खरीदते। राजाओं, नवावों और वादशाह अकवर के दरवार में उनकी पहुँच थी। उनकी रत्न परीक्षा की काव्लयत से प्रसन्न होकर अकवर ने उनकी शाही जौहरी के रूप में नियुक्ति की। उन्हें रनिवास में जाकर वेगमों को जवाहरात दिखाने का भी परवाना प्राप्त था। उस समय उनकी उम्र मात्र २५ वर्ष थी।

एक समय वादशाह अकवर की पट्टमहिषी महारानी जोधावाई रूठ कर अहमदा-वाद चली आई। अहमदावाद का सूवेदार वादशाह के खौफ से उनका जाहिरा स्वागत भी नहीं करना चाहता था और महारानी का अनादर करने की हिम्मत भी न थी। वह सेठ शांतिदास के प्रभाव से वाकिफ था—अतः उनकी खातिरदारी का दायित्व सेठ शांतिदास को सौंप दिया। वादशाह सलामत की नाराजगी की परवाह न करते हुए सेठ शांतिदास ने अपना रहवास महारानी के लिए खाली कर दिया और खुद छोटी कोठी में चले गये। महारानी हिन्दू थी। वह आवभगत से प्रसन्न होकर उन्हें भाई कहने लगी। शाहजादा सलीम जव माँ से मिलने अहमदाबाद आये तो शांतिदास को जौहरी मामा कहना शुरू कर दिया। यही नहीं, महारानी ने राखी वाँध कर उन्हें अपना धर्म भाई वनाया। सेठ शांतिदास ने अनेक मूल्यवान रत्न महारानी को भेंट किये। तव तक अकवर का गुस्सा ठंडा हो गया। राजा मानसिंह (सलीम के मामा) के समझाने पर सलीम की उच्छृंखलता को वादशाह ने माफ कर दिया था। महारानी जव दिल्ली लौटी तो वादशाह सेठ शांतिदास की मेहमानगिरी की वात सुन कर वहुत खुश हुए। उन्हें प्रथम श्रेणी का अमीर घोषित किया और सिरोपाव वख्शा। अहमदा-वाद का नगर सेठ वनाया।

इस समय तक सेठ शांतिदास की समृद्धि और प्रतिष्ठा चर्चा का विषय वन गई थी। उन्होंने राजा-महाराजाओं को कर्ज देना शुरू कर दिया था। उनकी हुण्डी देश-विदेश में सिक्कों की तरह चलती थी। अहमदावाद, शत्रुञ्जय, केशरियाजी, संखेश्वर आदि प्रमुख जैन तीर्थों की सुव्यवस्था का श्रेय उन्हीं को है। उन्होंने अहमदावाद, राधनपुर, खम्भात और सूरत में उपासरों का निर्माण करवाया। वि० सं० १६६९ में शत्रुञ्जय के जीर्ण मन्दिरों का पुनरुद्धार करवाया। उन्होंने यात्रा संघ निकाला, जिसमें चारों तीर्थ के १५००० लोग थे। इस अवसर पर उन्होंने खुले हाथों दान-दक्षिणा दी।

तब तक शाहजादा सलीम शहंशाह जहांगीर के नाम से दिल्ली के तख्त पर सिंहासनारूढ़ हो गये थे। सेठ शांतिदास ने अहमदाबाद में शहंशाह की इजाजत लेकर नौ लाख रुपये खर्च कर ५२ भव्य जिनालयों का निर्माण करवाया, जिनमें मकराणा के संगमरमर एवं खम्भात के अकीक पत्थरों पर बेजोड़ खुदाई प्रेक्षणीय थी। वि० सं० १६८२ में 'मेरुतुंग जिनालय' में पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा प्रस्थापित की गयी। विदेशी शिल्प विशेषज्ञों ने इनकी रमणीयता एवं शिल्प विन्यास की खूब प्रशंसा की है।

जहाँगीर के बाद शाहजहाँ बादशाह बने। वह अकबर व जहाँगीर की तरह उदार न थे। उनके समय से धर्मान्ध मुस्लिम सूबेदारों ने हिन्दू मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट करना शुरू कर दिया था। शाहजादा औरंगजेब बड़ा प्रपंची एवं अन्य धर्मों के प्रति विद्वेष से भरा था। संवत् १७०२ में वह अहमदाबाद का सुबेदार नियुक्त हुआ। सभी मन्दिर ढहा कर मस्जिदों में तब्दील कर दिये। उसके हुक्म से जिनालयों पर सेना ने जबरदस्ती कब्जा कर लिया। सेठ शांतिदास के हृदय को बड़ी चोट लगी। वे दिल्ली जाकर बादशाह से मिले। बादशाह ने सेठ साहब की पुश्तैनी खिदमतगारी को मद्देनजर रखते हुए औरंगजेब का तबादला दक्षिण में कर दिया एवं वि० सं० १७०५ में शाही फरमान द्वारा मंदिर सेठ साहब को लौटा दिये। परन्तु रूढ़िवादी जैन समाज उन्हें पुनः मन्दिर के रूप में स्वीकार करने को राजी न हुआ। वे विशाल मन्दिर खण्डहर बन कर रह गये। इस तरह सेठ शांतिदास की विजय भी पराजय में बदल गयी।

शाहजहाँ ने छः करोड़ रुपये खर्च कर जो मयूरासन (सिंहासन) बनवाया था, उसमें जड़ित मूल्यवान रत्नों को उपलब्ध कराने में सेठ शांतिदास का मुख्य हाथ था। अनेक लड़ाइयों के निमित्त बादशाह को कर्ज देने वाले सेठ शान्तिदास ही थे। इसी प्रभाव से समय-समय पर तीर्थों की रक्षा के लिए शाही फरमान निकलवाने का श्रेय उन्हीं को है। वि० सं० १६८७ में निकाला ऐसा एक फरमान अब भी आनन्दजी-कल्याणजी की पेढ़ी में मौजूद है, जिसमें इन तीर्थों की व्यवस्था में सरकारी दखलंदाजी न हो—ऐसे आदेश हैं। वि० सं० १७१३-१४ के फरमान में पालीताना गाँव एवं शत्रुंजय परगना सेठ शांतिदास की कायमी वंश परम्परा में माना गया है।

संवत् १७१५ में शाहजहाँ की वृद्धावस्था के कारण उसके पुत्रों—दारा, मुराद और औरंगजेब में दिल्ली तख्त के लिए झगड़े शुरू हो गये। मुराद ने इस हेतु शांतिदास के पुत्र लक्ष्मीचन्द्र से साढ़े पाँच लाख रुपये कर्ज लिये किन्तु वह औरंगजेब के छलावे में आ गया। औरंगजेब ने दारा को परास्त कर अन्ततः शाहजहाँ एवं मुराद को भी कैद कर लिया। फिर स्वयं बादशाह बना। सेठ शांतिदास औरंगजेब की क्रूरता से परिचित थे

फिर भी वे पुत्र के अनुनय पर वृद्धावस्था में दिल्ली गये एवं बादशाह को नजराना पेश किया। उन्होंने अपनी चतुराई एवं दूरदर्शिता से न सिर्फ मुराद को दिये कर्ज की वसूली के फरमान प्राप्त किये बल्कि जैन तीर्थों की भी रक्षा के फरमान निकलवाये। औरंगजेब जैसे कट्टर मजहबी, धर्मांध, स्वार्थी एवं असहिष्णु बादशाह से पालीताणा, गिरनार, आबू तीर्थों के अधिकार प्राप्त कर लेना सेठ शान्तिदास की बहुत बड़ी उपलब्धि थी। सं० १७१६ में जैन तीर्थों का यह रक्षक एवं चार मुगल बादशाहों द्वारा सम्मानित तथा 'जौहरी मामा' नाम से सम्बोधित ओसवाल कुल का यह नक्षत्र अस्त हुआ।

अन्य वंशज

उनके पुत्र सेठ लक्ष्मीचन्द्र को बादशाह औरंगजेब ने अहमदाबाद का 'नगर सेठ' घोषित किया। संवत् १७६४ में औरंगजेब की मृत्यु पर बादशाह बहादुरशाह ने आपको प्रथम श्रेणी का अमीर घोषित किया एवं पालकी-छत्री का सम्मान बख्शा। उस काल में आपकी हवेली पर पाँच सौ अरब सैनिक तैनात रहते थे। बहादुरशाह के बाद जहाँगीर दाराशाह के समय (संवत् १७६९) भी सेठ लखमीचन्द्र का सम्मान उसी तरह कायम रहा। जब फर्रूखसियार ने विद्रोह किया तो सैयद बन्धुओं के कहने से सेठ लख्मीचन्द्र ने स्थिति पहचान उसकी आर्थिक मदद की। फर्रूखसियार ने भी दिल्ली का बादशाह बनने पर सेठ लक्ष्मीचन्द्र को खूब सम्मान दिया। सं० १७७५ में सेठ लक्ष्मी चन्द्र के पुत्र खुशालचन्द्र कारोबार सम्भालने लगे। उन्हें भी बादशाह ने 'नगरसेठ' का सम्मान दिया। इसी साल महावीर स्वामी के महोत्सव पर निकलने वाले जुलूस के प्रश्न पर अहमदाबाद के सूबेदार से ठन गयी। बात यहाँ तक बढ़ी कि सूबेदार की फौज और सेठ जी की हवेली के अरब पहरेदार आमने-सामने जम गये। तोपों में गोले भरे जाने लगे, तभी दिल्ली से परवाना पहुँचा। सूबेदार को दिल्ली बुला लिया गया और सेठ खुशालचन्द्र का सम्मान अक्षुण्ण रहा।

सं० १७७६ में सैयद बन्धुओं ने फर्रूखशियार की हत्या करवा दी। इधर मराठों की लूटपाट बढ़ रही थी। उन्होंने अहमदाबाद को घेर लिया। ऐसी विपत्ति की घड़ी में सेठ खुशालचन्द्र ने बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया। वे स्वयं मराठा छावनी में गये। काफी मात्रा में धन देकर घेरा उठवाया एवं शहर को विपत्ति से बचाया। इस उपकार के बदले शासन ने सेठजी को नगर की मालगुजारी का 'सैकड़ा चार आना' वंश परम्परागत देने का निर्णय किया। आगे चलकर यह रकम एकमुश्त तय कर दी गयी।

सेठ खुशालचन्द्र के बाद उनके पुत्र बखतशाह नगरसेठ बने। उन्होंने बड़ौदा में भी पेढ़ी स्थापित की। गायकवाड़ सरकार से उन्हें छत्र और पालकी सम्मान प्राप्त हुआ। आपने पालीताणा, गिरनार और आबू तीर्थों के संघ निकाले।

बखतशाह के बाद उनके पुत्र हेमा भाई नगरसेठ के पद से विभूषित हुए। इस समय तक नगर सेठ का परिवार विशाल हो गया था। कहते हैं भोजन की पंक्ति में परिवार के डेढ़ सौ सदस्य एक साथ बैठते थे। यह पारिवारिक एकता का आदर्श था। हेमा भाई के समय अंग्रेजों का शासन हो गया था। समस्त भारत में नगर सेठ की पेढ़ियाँ (शाखाएँ) थीं। इन्होंने तीर्थों के संघ निकाले। बम्बई के मोतीशाह नाहटा से इनकी गाढ़ी मित्रता थी।

बखतशाह की पाँचवीं पीढ़ी में लालभाई का जन्म हुआ। इन्होंने पैतृक जवाहरात के व्यवसाय के अलावा संवत् १९५३ में कपड़ा उद्योग की नींव डाली। इन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली। यह जैन समाज में एक क्रांतिकारी कदम था। जो धनिक समाज धर्मगुरुओं के प्रभाव में ऐसे स्वदेशी उद्योगों को महाआरम्भ (पाप) का काम समझ कर विलायती कपड़े को विदेशों से आयात कर विक्रय करने तक सीमित था, वहाँ स्वदेशी कपड़ा मिलें स्थापित कर लालभाई ने समाज को नई दिशा दी। इसी का परिणाम है कि गुजरात के ओसवाल उद्योगों के क्षेत्र में बहुत आगे है।

लालभाई आनन्दजी कल्याणजी पेढ़ी अध्यक्ष चुने गये। संवत् १९६५ में सम्मेद शिखर पर सरकार ने निजी बंगले बनवाने की इजाजत दे दी। उस समय लालभाई के नेतृत्व में ही समाज उसे रुकवाने में सफल हुआ। वे श्वेताम्बर जैन कान्फ्रेंस के अनेक वर्षों तक महामंत्री रहे। इनके पुत्र श्री कस्तूरभाई ने औद्योगिक क्षेत्र में खूब नाम कमाया। वे भारत की स्वतन्त्र सरकार द्वारा संवत् २०२६ में 'पद्म भूषण' की उपाधि से सम्मानित किये गये।

योगी सम्राट् आनन्दघन :

सत्रहवीं शताब्दी में एक ऐसी महान आत्मा का अवतरण हुआ, जिसे सब संप्रदाय और धर्म बड़ी श्रद्धा से स्मरण-नमन करते हैं। सम्प्रदायातीत आत्मानुभवी श्रीमद् आनन्दघन की भक्ति एवं आध्यात्म परक 'चौबीसी' बहुत लोक प्रिय हुई। उनके जीवन सम्बन्धी प्रामाणिक जानकारी बहुत कम उपलब्ध है। वे मेडता के श्वेताम्बर जैन परिवार में जन्मे ओसवाल जाति के एक धनाढ्य श्रेष्ठि के पुत्र थे। उनका जन्म वि० सं० १६६० के आस-पास हुआ। सन्त प्रवर सहजानन्दजी महाराज ने 'चौवीसी' का विवेचन करते हुए उनके जीवनप्रसंगों पर भी संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाला है। कहा जाता है कि इनका पूर्व नाम या दीक्षा नाम लाभानन्द था। उनके स्तवनों के सूक्ष्म परिदर्शन से वे मूर्तिपूजक खरतर सम्प्रदाय के निकट लगते हैं। मुनि बुद्धिसागरजी ने उन्हें 'खरतर गच्छ की परम्परा' का ही लिखा है परन्तु साधना-अपेक्षा से वे गच्छातीत थे—यह असंदिग्ध है। 'आनन्दघन-ग्रन्थावली' उनकी समस्त रचनाओं का संकलन है। आपकी 'चौवीसी' पर अनेक शोध प्रबन्ध लिखे गये हैं।

कहते हैं एक समय आनन्दघनजी, शत्रुञ्जय तीर्थ-दर्शन के लिये गये। वे प्रभु दर्शन कर स्तवन कर रहे थे कि वहाँ तपागच्छीय उपाध्याय यशोविजयजी पहुँच गये। जिन स्तवन में लीन आनन्दघनजी की पंक्तियाँ यशोविजयजी ने कण्ठस्थ कर लीं, जब आनन्दघनजी को मालूम हुआ तो उन्होंने २२वाँ पद गा कर बन्द कर दिया। इस तरह २ स्तवन सदा के लिए बाकी रह गये। योगिराज आनन्दघन के बाईस स्तवनों के अलावा सौ से अधिक पद एवं ५ सज्झाएँ भी उपलब्ध हैं। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने उन्हें रहस्यवादी माना है। मूलतः वे भक्तिमार्गी थे। प्रभु की शरणागति में चित्त-वृत्तियों को लीन कर देना उन्हें श्रेयस्कर लगा। जैन-परम्परा एवं साधना पद्धति के विपरीत भगवान की प्रीतम के रूप में उपासना उनकी उत्कट भक्ति का दर्शन है :

ऋषभ जिणेसर प्रीतम माहरो, और न चाहूं कन्त।
रीझ्यो साहब संग न परिहरे, भोगे सादि अनन्त॥

इनके चमत्कारों की अनेक जनश्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। एक बार जोधपुर की महारानी से राजा साहब नाखुश रहते थे। योगीराज ने रानी को कागज पर लिख कर एक मंत्र दिया। रानी ने उसे सोने के यन्त्र में रख कर पहना। संयोग से राजा प्रसन्न हो गये। तावीज खोलकर पढ़ा तो लिखा था—'राजा राणी दोउ मिले, उसमें आनन्दघन को क्या।' एक समय आबू के पहाड़ पर योगीजी साधना लीन थे। एक आदमी स्वर्णसिद्धि रसायन लेकर आया। उसने चमत्कार दिखाया। आनन्दघनजी ने उठ कर एक चट्टान पर लघुशंका की। वह चट्टान ही स्वर्ण की हो गई। इसी तरह मेड़ता में एक स्त्री को सती होने से उपदेश द्वारा बचाया। जोधपुर के एक गाँव में ज्वर ग्रस्त हो कर भी ज्वर को कपड़ों में छोड़कर आगन्तुक को देशना दी। बीकानेर में दिल्ली के शाहजादे का स्तम्भन कर उसे जैन साधुओं का मजाक उड़ाने से रोका। इस तरह की अनेक कथाएँ आनन्दघन जी से जुड़ी हैं। ये समाज की अतुल श्रद्धा की प्रतीक तो हैं ही।

आनन्दघन जी की कृतियों में धार्मिक क्रांति के स्पष्ट चिह्न परिलक्षित होते हैं, साथ ही वे अनुभव बल से पुष्ट हैं। तत्कालीन जैन सम्प्रदायों की अनुभव-शून्यता, कदाग्रह एवं गच्छ-भेद के प्रति उनके हृदय में अपार पीड़ा थी। गुजरात के एक चतुर्मास में, व्याख्यान में नगरसेठ के आने में विलम्ब होता देखकर आपने व्याख्यान प्रारम्भ कर दिया नगरसेठ ने इससे क्षुब्ध होकर उन्हें उपाश्रय से निकाल दिया। तभी से उन्होंने सम्प्रदाय की चहार-दीवारी तोड़ दी। वे साधना में लीन रहने लगे। एक दिन वस्त्र-पात्र आदि का भी परित्याग कर वे जंगल में चले गये। जनश्रुति है कि दिगम्बर दशा में जब वे खड्गासन में ध्यानास्थ थे तो किसी भक्त ने उन्हें एक कोपीन पहना दी। वे कभी वृक्ष के तले, कभी गुफा-कन्दरा में और कभी श्मशान में देखे जाते थे। उन्हें द्रव्य, काल, क्षेत्र का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। कालान्तर में वह कोपीन भी कहीं गिर गई। अन्ततः पूर्ण दिगम्बर दशा में वे समाविस्थ रहने लगे। इसी अवस्था में इस युग-पुरुष ने महाप्रयाण

किया। कतिपय जैन साधुओं की साक्षी के अनुसार महर्षि आनन्दघन अपने अन्तिम दिनों में मेडता के आस-पास विचरण करते रहे। प्राणनाथ सम्प्रदाय की कृति 'निजानन्द चरित्र' के अनुसार योगी सम्राट् आनन्दघन ने संवत् १७३१ में मेडता में देह-त्याग किया।

मुणोत नेणसी (वि० १६६७–१७२७)

राजस्थान के राजनैतिक इतिहास में नैणसी का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। आप कलम और तलवार दोनों के धनी थे। राजस्थान का ३०० वर्षों का इतिहास लिख कर भारत के साहित्य संसार में आपने अपार ख्याति अर्जित की।


मुणोत नैणसी

मुहणोत्र गोत्र की उत्पत्ति राठौड राजपूतों से मानी जाती है। राव सोहा जी की चौथी पीढ़ी में मोहनजी हुए। उनके वंशज मोहनिया राठौड कहलाते थे। मोहनजी ने वृद्धावस्था में जैन धर्म स्वीकार कर लिया। उनके वंशज जैन रहे एवं कालान्तर में ओसवाल कुल में शामिल होकर मुहणोत कहलाये। इनके २०वें वंशधर जयमल वि० सं० १६९६ में राजा गजसिंह के समय मारवाड राज्य के मन्त्री बने। इनके पाँच पुत्र थे। उनमें नैणसी सबसे बड़े थे।

नैणसी का जन्म वि० सं० १६६७ में हुआ। सं० १७१४ में जोधपुर के महाराजा जसवंत सिंह ने इन्हें अपना दीवान बनाया। उस समय भारत भर में औरंगजेब के अत्याचार से लोग पीड़ित थे। राजपूताना में भी षड़यन्त्रों के जाल बिछे थे। महाराणा को दिल्ली दरबार के हुक्म से बाहर ही युद्ध रत रहना पड़ता था। शासन की बागडोर नैणसी के हाथों में सौंपकर महाराजा आश्वस्त थे। एक पत्र में हिदायतें देते हुए महाराजा ने नैणसीजी को लिखा था कि वे लोक, व्यापारी और प्रजा को तसल्ली देते रहें। कोई किसी पर जोर जबर्दस्ती न करने पाये। सरहद का प्रबन्ध रखना। राजकुमार के खाने-पीने की ठीक व्यवस्था रखना। आदि। इस पत्र से मालूम होता है कि महाराजा नैणसी का कितना सम्मान व भरोसा करते थे।

नैणसी जी के शासन में मारवाड़ में अमन-चैन का राज्य रहा। लोग संतुष्ट थे। उन्होंने प्रजा पर लगी कई लागें माफ कर दी। आपने राज्य में सं० १७२० में जन-गणना करवायी, जिसमें छोटी-छोटी बातें रिकार्ड की गयी थीं। आपने राजपूताना का इतिहास लिखा, जिसमें राज्य के कुंओं, जमीन, जनसंख्या आदि का पूरा हाल अंकित है। मारवाड़ के गाँवों की एक पूरी रिपोर्ट तैयार की तो उसमें गाँवों की आमदनी, भूमि की किस्म, साखों का व्यौरा, कुंओं, तालाबों आदि का पूरी विवरण है।

आपने राज्य की ओर से अनेक लड़ाईयाँ लड़ीं। सं० १६८८–८९ में मगरे के मीणों ने राज्य में बड़ा उत्पात मचाया। आपने उनपर चढ़ाई कर उत्पात शमन किया। सं० १६९४ में वे फलौदी के हाकिम नियुक्त हुए, जहाँ उन्हें बिलोचियों से लड़ना पड़ा। इसी तरह सं० १७०० में राउधरे में महेचा महेशदास की बगावत का शमन किया। सं० १७०२ में रावत नारायण की सोजत में लूटमार खत्म की। सं० १७०५ में महा-राजा ने नैणसी जी को जैसलमेर पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। वहाँ के रावल आपके डर से जैसलमेर छोड़कर भाग गये। सं० १७०६ में पोकरण का परगना महाराजा को इनायत हुआ। वहाँ उस समय जैसलमेर के भाटियों का अधिकार था। नैणसी ने लड़ाई में भाटियों को हराकर पोकरण पर कब्जा कर लिया।

वि० सं० १७१४ से १७२३ तक वे राज्य के दीवान रहे। सं० १७२३ में महाराजा जसवंत सिंह इनसे नाराज हो गये। महाराजा ने नैणसी तथा इनके भाई सुन्दरसी को कैद कर लिया। कहते हैं—इन्होंने अपने नाते-रिश्तेदारों को बड़े पदों पर नियुक्त कर दिया था—इससे महाराज अप्रसन्न थे। सं० १७२५ में एक लाख रुपये दण्ड लगाकर इन्हें छोड़ दिया गया। दण्ड न देने पर सं० १७२६ में इन्हें फिर गिरफ्तार कर लिया गया। इन सब घटनाओं से दुखित होकर फुलमरी नामक स्थान पर दोनों भाइयों ने सं० १७२७ में अपने पेट में कटार मारकर शरीरांत कर लिया। इससे महाराजा की बहुत बदनामी हुई।

आप द्वारा विरचित 'मुहणोत नैणसी की ख्यात' एक प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ है। मुन्शी देवी प्रसाद उन्हें राजपूताने का अब्बुल फजल कहा करते थे। 'ख्यात' की भाषा ठेड मारवाड़ी है। शोध छात्रों के लिए यह ग्रन्थ अमूल्य है। इसमें वि० सं० ११०० से नैणसी जी के समय तक का राजपूताना, काठियावाड़, कच्छ, बुन्देलखण्ड और मध्य भारत के रजवाड़ों एवं ऐतिहासिक घटनाओं का विशद वर्णन है। उक्त महान ग्रन्थ का सर्व प्रथम हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन श्री रामनारायण दूगड़ ने किया, जो नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हुआ।

मुहणोत नैणसी कवि भी थे। कैद के समय रचित निम्न पद उनके दृढ़ चरित्र का गवाह है :

दहाड़ो जितरे देव, दहाड़े विन नहीं देव है।
सुर-नर करता सेव, नेड़ा न आवै नैणसी ॥

नैणसी ने जोधपुर में चाँदपोल दरवाजे के बाहर एक बाग बनवाया, जो अब भी 'नैणसी जी का बाग' नाम से प्रसिद्ध है। उनके बनवाये हुए मकानों, जो मुहनोतों की पोल, नाम से प्रसिद्ध हैं, में अब भी उनके वंशज निवास करते हैं। इनके वंशजों को 'ठाकुर' की पदवी राज्य से इनायत हुई हैं, जिसका प्रयोग अब भी वे अपने नाम के आगे करते हैं।

संघवी दयालदास :

मुगल साम्राज्य के अत्याचारों से जब भारत की जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी, तब ओस वंश के इस प्रतापी योद्धा ने मुगलों के दाँत खट्टे किये। मूलतः सिसोदिया राजपूतों के विक्रम की १३वीं शताब्दी में यति यशोभद्र सूरि से जैन धर्म अंगीकार कर ओसवाल बनने एवं संघ समायोजन से संघवी गोत्र उत्पन्न हुआ है। इस गोत्र में डूंगर सिंह हुए, जिन्हें राणा लाखा ने कोठार के काम पर नियुक्त किया। उनकी सेवा से प्रसन्न होकर सूरपुर गाँव जागीर में दिया, जिससे ये सरूपिया नाम से विख्यात हुए। कालांतर में इसी खानदान के संघवी राजाजी एवं उनकी भार्या रमण दे के सबसे छोटे पुत्र दयालदास हुए। अनेक वर्षों तक आप उदयपुर में एक ब्राह्मण पुरोहित के यहाँ नौकर थे। उदयपुर के तत्कालीन महाराणा राजसिंह के विरुद्ध लड़ते हुए एक षड्यन्त्र का भण्डाफोड़ करने से राणा ने उन्हें अपनी सेना में रख लिया। कालांतर में उन्नति कर आप राज्य के प्रधानमंत्री बने।

उस समय दिल्ली के तख्त पर बादशाह औरंगजेब थे। उन्होंने हिन्दुओं एवं जैनों के विरुद्ध जिहाद बोल रखा था। जजिया कर लगा दिया, मन्दिरों को तुड़वा कर मस्जिदें बनवा दीं, समस्त जनता त्रस्त थी। जोधपुर के महाराजा जसवन्त सिंह की विधवा एवं पुत्रों के साथ किये गये अन्यायपूर्ण व्यवहार से कुपित हो मेवाड़ के महाराणा राजसिंह ने औरंगजेब को एक कड़ा पत्र लिखा। जले-भुने औरंगजेब ने संवत् १७३६ में मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। राणा राजसिंह के नेतृत्व में अनेक रियासती राजाओं ने मुगल सेना का डटकर मुकाबला किया। यह राज्य के प्रधान मन्त्री संघवी दयालदास की सूझ-बूझ का ही नतीजा था कि बादशाह को मजबूर होकर संवत् १७३८ में राणा से सन्धि करनी पड़ी।

कर्नल जेम्स टॉड ने अपने 'राजपूताने के इतिहास' में आपके शौर्य की प्रशस्ति में लिखा है कि दयालदास के हृदय में मुगलों से अत्याचार का बदला लेने की आग हर समय सुलगती रहती थी। मालवा, देवास, माडूं, उज्जैन, चन्देरी, सारंगपुर, सिरोंज आदि के मुगल सूबेदारों को दयालदास ने बार-बार पराजित किया। मुल्ला, मौलवी,

काजी, मस्जिद, कुरान किसी को नहीं बख्शा। उनके आतंक से मुसलमानों में दहशत छा गयी थी। उन्होंने मुगलिया सल्तनत की जड़ें हिला दी। चित्तौड़ के निकट शाहजादा अलीम की फौज के साथ हुए घमासान युद्ध में दयालदास ने फिर एक बार मुगल सल्तनत को शिकस्त दी। शाहजादा प्राण बचा कर भागा।

दयालदास अपने धर्म की रक्षा के लिए जूझे, मरे। उनकी बहादुरी एवं राजनीति कुशलता से राणा राजसिंह बहुत प्रसन्न थे। दयालदास ने मुगल छावनियों से लूटे गये सोने से लदे २५ ऊँट महाराणा को भेंट किये। इसी धन से महाराणा ने राजसमंद की ऐतिहासिक झील का निर्माण कराया। जैन यतियों को राज्य की ओर से जमीन प्रदान की गयी। उनकी प्रेरणा से उदयपुर राज्य में एक अभूतपूर्व फरमान जारी हुआ—'जैन उपासरों में शरण लेने वाले अपराधियों को भी पकड़ा नहीं जा सकता।' राज्य धर्म और जाति की उन्नति के लिए इस ओसवाल वीर ने अपना जीवन होम दिया। आपने अनेक जिनालयों का निर्माण करवाया। राजसमन्द झील के पास की पहाड़ी पर संवत् १७३२ में दयालदास ने आदिनाथ भगवान का प्रसिद्ध जैन-मन्दिर बनवाया, जो 'दयालसाह का देवरा' नाम से विख्यात है। उन्हीं की प्रेरणा से संवत् १७४९ में महाराणा ने प्राचीन जैन क्षेत्रों की सीमा में जीव-वध निषेध कर दिया।

सती पाटण दे :

मंत्रीश्वर दयालदास की पत्नी का नाम पाटण दे था। इस वीर रमणी के वीरत्व एवं सतीत्व की अनेक कथाएँ चारण कवियों के मुख से सुनी जा सकती हैं। श्री जसवंत लाल मेहता ने अपने प्रबन्ध 'मेवाड़ के शासक एवं जैनधर्म' में एक बहुश्रुत जनश्रुति का जिक्र किया है। कहते हैं—जब राजसमन्द झील का निर्माण हो रहा था तो झील की पाल जैसे ही बनाई जाती, पानी आने पर बह जाती। किसी ज्योतिषी की राय से महाराणा राजसिंह एक सती से झील की नींव रखवाने पर आमादा हुए। भविष्य में चारित्रिक लांछन एवं जग हँसाई के डर से कोई रमणी नींव रखने को तैयार न थी। अन्ततः पाटण दे तक बात पहुँची। वे तुरन्त तैयार हो गयीं। इसी सती के हाथों झील की नींव रखवायी गयी—जो फिर कभी नहीं टूटी।

पाटण दे धर्मात्मा सती तो थी ही, वीरांगना भी थीं। युद्ध के समय रमणियों के जौहर की अनेक गाथाएँ प्रसिद्ध हैं। मन्त्रीश्वर कर्मचन्द बछावत के कुल की वीर रमणियों द्वारा बीकानेर में किया गया जौहर इसका ज्वलन्त साक्षी है, किन्तु युद्ध भूमि में पति के साथ-साथ लड़ने वाली रमणियाँ कम ही हुई हैं। कहते हैं बादशाह औरंगजेब की फौज ने चित्तौड़ पर हमला किया, तब मन्त्रीश्वर दयालदास की पत्नी पाटण दे स्वयं अपने पति के साथ युद्ध में लड़ी। एक समय जब शत्रु सेना ने उन्हें घेर लिया तो पाटण दे ने अपने पति से स्वयं तलवार चला कर मार डालने की प्रार्थना की, ताकि

शत्रु पकड़ कर उसकी देह को अपवित्र न कर सकें। एक चारण कवि ने पाटण दे की इस वीर गाथा को इस तरह छन्द बद्ध किया है :

काट काट काटहि कटक पाटी पाटण दे।
जैनधर्म की जोधड़ी दी नहि छुअन देह॥
मोटी मन की मरदड़ी कोमल कमलहि काय।
खग खटका रण खेतड़ा ढ़ब ढ़ब अरि न ठहाय॥
अन्त समय में वह अरे कहियो पति सो एह।
कर करपाण चलाय के दोय करो मन देह॥

(छन्द सौजन्य—श्री बलवन्त सिंह जी महता)

पाटण दे वीरांगना सती का नाम ओसवाल जाति के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

भण्डारी खींवसी :

भारतीय राजनीति को प्रभावित करने वाले ओसवाल मुत्सद्दियों में भंडारी खींवसी जी बड़े धुरन्धर हुए। महाराजा जसवंतसिंह के बाद जोधपुर की राजगद्दी पर महाराजा अजीतसिंह बैठे। आपने भण्डारी खींवसी को सं० १७६६ में दीवान एवं कुछ समय बाद १७७२ में अपना प्रधान नियुक्त किया।

मुगल साम्राज्य का सितारा उस समय डूब रहा था। तत्कालीन दिल्ली के मुगल बादशाह फर्रुखशियार खींवसी जी से बहुत प्रभावित थे। महाराजा अजीतसिंह ने इसका भरपूर लाभ उठाया। सं० १७७१ में गुजरात के सूबे का शासन भार खींवसी जी के प्रयत्नों से ही हस्तगत हुआ था। महाराजा को राजराजेश्वर की पदवी दिलाने का श्रेय भी खींवसी जी को था। जब भी कोई समस्या खड़ी होती, खींवसी जी दिल्ली जाकर राज्य के हक में फैसला करवाते। आप महीनों दिल्ली दरबार में रहते थे।

इसी समय महाराजा अजीतसिंह ने अपनी पुत्री का विवाह सम्राट् फर्रुखशियार से कर दिया। यह मुगल सम्राटों द्वारा हिन्दू राजकुमारी से अंतिम पाणिग्रहण था। कर्नल जेम्स टॉड ने इसी विवाह को अंग्रेजों के भारत भूमि पर पाँव टिकाने का कारण एवं अंग्रेजी शासन का आदिस्रोत माना है। हुआ यह कि विवाह के दरमियान बादशाह बीमार पड़ गया एवं हकीम वैद्य उसे स्वस्थ करने में असमर्थ रहे। उन्हीं दिनों सूरत से अंग्रेज व्यापारियों का एक मिशन दिल्ली आया हुआ था, उनमें डा० हेमिल्टन भी था। उसने बादशाह को अच्छा कर दिया। बादशाह ने खुश होकर उसे बंगाल के हुगली जिले में फैक्टरी लगाने के लिए जमीन का पट्टा लिख दिया। यहीं से भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव पड़ी।

सं० १७७६ में बादशाह फर्रुखशियार को सैयद बन्धुओं ने मरवा डाला। मुहम्मदशाह को दिल्ली का सिंहासन दिलाने में खींवसी जी का प्रधान हाथ था। बादशाह ने आपकी प्रार्थना पर हिन्दुओं पर लगाया गया जज़िया कर माफ कर दिया।

खींवसीजी ने मुणोत नैणसी के वंशज संग्रामसिंह को वापिस बुलाने के लिए महाराजा अजीतसिंह से आग्रह किया। महाराजा ने उन्हें वापिस जोधपुर बुलाकर सात परगनों का शासक बना दिया।

अंतिम समय में आपको भी प्रधानगी से इस्तीफा देना पड़ा। महाराजा अजीत सिंह की मृत्यु पर महाराजा अभयसिंह सं० १७८१ में जोधपुर की राजगद्दी पर बैठे। उन्होंने खींवसी जी को फिर प्रधान बनाया। सं० १७८२ में मेड़ता में खींवसी जी का देहान्त हो गया। उनके पुत्र अमरसिंह प्रधान नियुक्त हुए। उन्हें सिरोपाव, पालकी एवं हाथी पर सवारी बख्शी गयी।

भण्डारी खींवसी जी के समय भण्डारी रघुनाथसिंह का बड़ा सम्मान था। महाराज अजीतसिंह ने उनको गुजरात में दी गयी सेवाओं के एवज में 'राय' की उपाधि दी थी।

इन्हीं के परिवार के भण्डारी मनरूप जी (सं० १८०४) और उनके पुत्र सूरतरामजी सं० १८०६ में राज्य के दीवान बने। परन्तु सं० १८०७ में वे कैद में डाल दिये गये। सवा लाख का जुर्माना भरना पड़ा।

जगत सेठ माणकचंद :

विक्रम की १८वीं सदी में ओसवाल श्रेष्ठियों का एक घराना भारत के समूचे राजनैतिक, व्यापारिक एवं धार्मिक आकाश पर छा गया। भारत एवं विशेषतः बंगाल के इतिहास में जगतसेठ एवं उनके खानदान का बहुत प्रभाव रहा। यह खानदान नागौर का श्वेताम्बर जैन धर्मी गेलड़ा गोत्रीय ओसवालों का है।

सं० १५५२ में खींची गहलोत राजपूत गिरधरसिंहजी आचार्य जिनहंस सूरि के उपदेश से प्रतिबोध पाकर जैन हुए। उनके पुत्र गेलाजी की संतानों से गेलड़ा गोत्र की उत्पत्ति मानी जाती है। उनके वंशज शाह हीरानन्दजी नागोर के वाशिन्दे थे। वे बड़ी आर्थिक कठिनाई में थे। एक समय हीरानन्दजी व्यापार के लिए एक यति से मुहूर्त निकलवा कर पूर्व की ओर चले। रास्ते में काला नाग आया। वे अपशकुन समझकर लौट आये। यति ने कहा—'उस शकुन में चले जाते तो छत्रपति होते, अब भी चले जाओ। अरबपति जरूर होओगे।' यह सुनकर वे चल पड़े। कई मास चलकर संवत् १७०९ में पटना पहुँचे। पटना में साहूकारी का धन्धा शुरू किया। वहाँ से बंगाल आकर व्यापार किया। इनके सात पुत्र और एक कन्या हुई। सं० १७६८ में इनकी मृत्यु हुई। इनके पाँचवें पुत्र माणकचन्दजी बंगाल और देहली के राजतन्त्र में

नक्षत्र की तरह चमके। बड़े-बड़े सरदार, दीवान, अंग्रेज कम्पनी के अधिकारीगण इनकी कृपा के लिए लालायित रहते थे। ये २००० सैनिक हर समय अपनी रक्षा और सम्भाल के लिए साथ रखते थे। १८वीं सदी के बंगाल के इतिहास में इसकी कोई मिसाल नहीं।

उस समय बंगाल मुगलिया सल्तनत का ही अंग था। प्रदेश की राजधानी ढाका थी। अजीमुशान बंगाल का नाजिम था। उसने संवत् १७५५ में सोलह हजार रुपये लेकर अंग्रेजों को सुतानती, गोविन्दपुर और कलिकत्ता के जमींदारी के अधिकार दे दिये। बादशाह औरंगजेब ने खफा होकर अजीमुशान को पटना भेज दिया और फर्रुखशियार को बंगाल का निजाम बनाया। साथ ही नवाब मुर्शीदकुली खाँ को बंगाल का दीवान नियुक्त किया। मानिकचन्द्रजी संवत् १७६१ में ढाका आये। वे जल्द ही शहर के प्रसिद्ध श्रेष्ठियों में गिने जाने लगे। दीवान मुर्शीद कुली खाँ और माणकचन्द जी में भाइयों का सा प्रेम हो गया। माणकचंद जी की राय पर दीवान मुर्शीद कुली खाँ ने भागीरथी के किनारे मुर्शिदाबाद शहर बसाया। नवाब को राजकाज का ज्ञान न था। दिल्ली बादशाह के हुक्म से मुर्शीद कुली खाँ को संवत् १७६१ में बंगाल का दीवान बनाया गया था तब से राज का अधिकांश काम-काज सेठ माणकचंद जी की राय से चलने लगा। जब बंगाल की राजधानी मुर्शिदाबाद बन गयी, वहीं महिमापुर में सेठ माणिकचन्द ने अपनी शानदार कोठी बनवायी। मुर्शीद कुली खाँ से उन्होंने टकसाल बनाने की इजाजत ले ली। सेठ माणकचन्द जी की टकसाल में ढले सिक्के पूरे राज्य में चलने लगे। राजधानी होने से मुर्शिदाबाद का खूब विकास हुआ। राजस्व की उगाही भी सेठ माणकचन्द के हाथ में थी। दिल्ली को अधिक महसूल जाने लगा। बंगाल, विहार, उड़ीसा की प्रजा ने उन्हें सर्वोपरि माना। प्रजा पर अत्याचार कम हुए।

उधर अंग्रेज कर्नाटक, मद्रास, सूरत में अपने पाँव फैला रहे थे। पर बंगाल में अपने पाँव न रोप सके थे। संवत् १७६३ तक अंग्रेजों ने सेठ मानकचन्द से सम्बन्ध बैठाने शुरू कर दिये थे। अंग्रेज विदेश से चांदी ला कर भारत में बेचते थे। मद्रास में उनकी अपनी टकसाल चालू हो गयी थी। बंगाल में भी सेठ मानकचन्द जी की टकसाल में वे सिक्के ढालना चाहते थे, पर समझौता नहीं हो पा रहा था। बंगाल में विना शुल्क दिये व्यापार करने की सनद पाने के लिये उन्हें ५२,५०० रुपये देने पड़े थे।

दिल्ली का तख्त पलटा और फर्रुखशियार बादशाह बना। उसने माणकचन्द को नगरसेठ की पदवी और पाँव में सोना बख्शा। 'रियाज' के लेखक के अनुसार माणकचन्द को फर्रुखशियार ने संवत् १७७२ में जगस सेठ की उपाधि दी थी। अन्य अनेक इतिहासकार भी इस बात से सहमत हैं कि दिल्ली की मुगल सल्तनत की ओर से पहली बार यह उपाधि सेठ माणकचन्द को ही प्रदान की गयी। फर्रुखशियार की मृत्यु के बाद बादशाह मुहम्मद शाह ने भी उन्हें इस उपाधि से एक बार फिर सम्मानित किया।

बादशाह फर्रुखशियार की एक बीमारी ने इतिहास के रुख को किस तरह पलटा, इसकी भी दिलचस्प कहानी है। बादशाह एक राजपूत कन्या से विवाह करने के लिए लालायित था। वैद्य और हकीम बादशाह के रोग का निदान नहीं कर पा रहे थे। उन्हीं दिनों अंग्रेज व्यापारियों का एक दल दिल्ली आया था। उस दल में हेमिल्टन नामक डाक्टर भी थे। उन्होंने बादशाह को रोगमुक्त कर दिया। बादशाह ने मुँह माँगा इनाम देने का वचन दिया। हेमिल्टन ने एवज में बंगाल के कुछ परगने मांग लिये। वस्तुतः यहीं से भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव पड़ी। जब परगने अंग्रेजों के सुपुर्द कर देने का फरमान मुर्शिदाबाद पहुँचा तो नवाब ने उसे बिना तामील किये वापस कर दिया। सेठ माणकचन्द अंग्रेजों से खुली शत्रुता मोल नहीं लेना चाहते थे। वे अंग्रेज व्यापारियों को 'कोशिश करने का' आश्वासन देते रहे। बादशाह ने क्रोध में आकर मुर्शीदकुली खां को बरखास्त कर दिया और उसकी जगह सेठ माणकचंद को बंगाल का दीवान बनाया। सेठ माणकचंद स्वयं आश्चर्य चकित था और मुर्शीद कुली खां भी सकते में आ गया। सेठ माणकचन्द जब उनसे मिलने गया तो मुर्शीद कुली खाँ को ठंडा-मीठा करके समझा दिया। कहा—"मैं आजही दिल्ली लिख देता हूं कि मुझे मिली दीवानगी पुनः मुर्शीदकुली खाँ को दे दी जाय।" इस अपनापे से मुर्शीद कुली खाँ खुश हो गया। वह दीवान बना रहा। सेठ माणकचन्द ने अंग्रेजों के चढ़ते सितारों को देखते हुए उन्हें बिना टैक्स दिये व्यापार करने की इजाजत देने की सिफारिश दिल्ली दरबार से कर दी।

सेठ माणकचन्द ने भागीरथी नदी के तट पर एक भव्य मंदिर का निर्माण कराया। उसे तीर्थंकर पार्श्वनाथ को समर्पित किया। इस मन्दिर में मूल्यवान एवं दुष्प्राप्य कसौटी पत्थरों (जिन पर घिस कर सोना कसा जाता है।) का उपयोग हुआ है, जिसे तत्कालीन नवाब मुर्शीद कुली खाँ से खरीदा गया था। कहते हैं नवाब ने उन्हें मालदा से प्राचीन गौड़ हिन्दू राजाओं के महल एवं दरबारशाला से प्राप्त किया था। संवत् १९४८ में भागीरथी नदी के प्रलयंकारी प्रवाह से मन्दिर को बचाने के लिए तत्कालीन सेठ गुलाबचन्द ने कसौटी के ये पत्थर एवं इनसे बना भगवान का सिंहासन अन्यत्र स्थानान्तरित किया। संवत् १९५८ में लार्ड कर्जन जब जगत सेठ के महल एवं मंदिर के भग्नावशेष देखने मुर्शिदाबाद पधारे तो इन पत्थरों के सौन्दर्य से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने इन पत्थरों को कलकत्ता के विक्टोरिया मेमोरियल में महारानी की प्रस्तर-मूर्ति के आसनरूप में लगाने की इच्छा जाहिर की थी। परन्तु जगत सेठ खानदान ने इसे उचित नहीं समझा। संवत् १९७६ में पुनः नये जैन मन्दिर का निर्माण सेठ गुलाबचन्द के पुत्र सेठ फतहचन्द (द्वितीय) ने आरंभ किया, तब इन बहुमूल्य पत्थरों से मन्दिर को फिर अलंकृत किया गया।

जगत सेठ माणकचन्द ने अपार धन-संपत्ति अर्जित की। बंगाल, बिहार, उड़ीसा में उन्हीं की टकसाल के बने रुपये ही जनता के उपयोग में आते थे। कर्नल जेम्स टॉड

ने लिखा है कि जगत सेठ (माणकचन्द) के पास इतना सोना-चांदी था कि गंगा पर सोने की ईटों का पुल बनवाया जा सकता था। दिल्ली बादशाह की ओर से उन्हें कुण्डल, हाथी की सवारी और पालकी बख्शी गयी थी।

जगत सेठ माणिकचन्द की पत्नी मानिक दे ने धार्मिक जगत में बड़ी सुख्याति अर्जित की। उनकी प्रशस्ति में रचित 'मानिक दे रास' उनकी दान-पुण्यशीलता को उजागर करता है।

जगत सेठ फतहचन्द :

संवत् १७७१ में सेठ माणकचन्द की मृत्यु हो गयी। उनके दो पत्नियाँ थी, परन्तु पुत्र न था। उन्होंने अपने भानजे, आगरा के राय उदयचन्द गोखरू के पुत्र फतहचन्द को संवत् १७५७ में गोद ले लिया था। सेठ माणकचन्द को मृत्यु के बाद फतहचन्द उनके उत्तराधिकारी हुए, जिन्हें बादशाह फर्रुखशियार ने 'सेठ' की पदवी दी। सेठ फतहचन्द बड़े कुशल व्यापारी एवं चतुर राजनीतिज्ञ थे। थोड़े ही समय में पूरे देश में उन्होंने अपने फर्म की शाखाएँ स्थापित कीं। साहूकारी हुण्डियों के लेन-देन में उनकी फर्म सर्वोपरि थी। संवत् १७८० में दिल्ली में सैयद बन्धुओं ने राज्य क्रान्ति की। फर्रुखशियार मारा गया तथा मुहम्मदशाह दिल्ली का बादशाह बना। राजनैतिक अस्थिरता तथा मुद्रास्फीति से देश त्रस्त था। सेठ फतहचन्द के कहने पर बादशाह ने बाजार में मियादी हुण्डियों का क्रय-विक्रय एकदम रोक दिया, जिससे मुद्रास्फीति रुक गई। आम आदमी को राहत मिली। सेठ फतहचन्द ने अनाज के अभाव को दूर करने में भी सल्तनत की बहुत मदद की। इससे खुश होकर संवत् १७८१ में बादशाह मुहम्मदशाह ने उन्हें 'जगत सेठ' की पदवी से सम्मानित किया। उनके पुत्र आनन्दचन्द को 'सेठ' की पदवी दी।



जगत सेठ फतहचन्द

मुर्शिद कुली खाँ के पश्चात् बंगाल की नवाबी उसके जमाई शुजाउद्दीन और उसके पुत्र सरफरात खाँ के हाथ लगी। इधर दिल्ली की सल्तनत भी लड़खड़ा रही थी। इसी समय संवत् १७९६ में ईरान का बादशाह नादिरशाह अफगानों का पीछा करता भारत पर चढ़ आया। दिल्ली में नादिरशाह की लूटमार शुरू हुई। सरफरात खां असमर्थ था। बंगाल के छोटे-छोटे जमींदार शासक जगतसेठ की ओर आँखें लगाये थे। जगतसेठ की महिमागंज स्थित कोठी मंत्रणा गृह बन गयी। वर्धमान के महाराजा, ढाका के नवाब आदि सभी इस आतंक के समय जगतसेठ से मशविरा करने आते थे। जगतसेठ की सूझ-बूझ से उसकी टकसाल में ढले एक लाख सोने के सिक्के नादिरशाह को नजर किये गये। वह प्रसन्न हो गया और बंगाल उसके आतंक से बच गया।

नवाब सरफरात खाँ अत्यन्त विलासी था। भ्रष्ट सरफरात खां ने महिमापुर की एक अत्यन्त सुन्दर कन्या, जिससे जगतसेठ के पुत्र की शादी होने वाली थी, पर लोलुप दृष्टि डाली। जगतसेठ ने उसकी रक्षा के लिए सरफरात खां के खिलाफ प्रबल लोकमत निर्मित किया। दिल्ली दरबार तक बात पहुँची। सरफरात खाँ का पतन हुआ। उसकी जगह अलीवर्दी खाँ नवाब बना दिया गया। वह बड़ा शांतिप्रिय व धर्मनिष्ठ था। तभी मरहठों ने बंगाल पर हमला कर दिया। अलीवर्दी खां ने जगतसेठ को गोदावाड़ी मकान पर सुरक्षा के लिए भेज दिया। उसकी कोठी की सुरक्षा का भार अपने सेनाध्यक्ष मीर हबीब को दिया। पर मीरहबीब ने ईर्ष्यावश मरहठों को कोठी लूटने दी। इतिहासप्रसिद्ध लूट हुई। जगतसेठ की कोठी तहस-नहस हो गयी। दो करोड़ मूल्य की सम्पत्ति लूटी गई। एक वर्ष पश्चात् यानि संवत् १८०० में फिर मरहठों ने हमला किया। इस बार समझौते के बहाने अलीवर्दी खाँ ने तलवार से मरहठा सरदार भाष्कर पण्डित की गर्दन उतार ली। इस तरह जगतसेठ की कोठी की लूट का बदला लिया। कुछ समय बाद ही अलीवर्दी खाँ मर गये।

संवत् १७९७ तक जगतसेठ और अंग्रेजों के बीच आर्थिक सम्बन्ध कायम हो चुके थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जगतसेठ से लाखों रुपये १२ रुपये सैंकड़ा सालाना ब्याज पर कर्ज ले रखे थे, जिनका भुगतान चाँदी बेच कर करते थे। कम्पनी के लिखे हैंडनोट में अधिकांशतः 'जगतसेठ फतहचन्द आनन्दचन्द' नाम मिलता है। आनन्दचन्द जगतसेठ के बड़े पुत्र थे। संवत् १८०९ को जगतसेठ फतहचन्द का स्वर्गवास हुआ। आनन्दचन्द का पहले ही स्वर्गवास हो चुका था।

जगतसेठ महताबचन्द (महताबराय) :

सेठ फतहचन्द के बाद उनके पौत्र महताबचन्द गद्दी पर बैठे। इधर संवत् १८१३ में अलीवर्दी खाँ का दौहित्र सिराजुद्दौला बंगाल का नवाब बना। दिल्ली में तब अहमदशाह बादशाह बने। उन्होंने महताबचन्द को जगतसेठ की पदवी से एवं उनके

चचेरे भाई सरूपचन्द को महाराजा की पदवी से सम्मानित किया। जैन तीर्थ पारसनाथ की पहाड़ी का स्वामित्व भी इन भाइयों को दिया गया। कहा जाता है कि इस समय (संवत् १८१३) में जगतसेठ को मालगुजारी उगाहने के एवज में १० प्रतिशत कमीशन मिलता था। दोनों प्रान्तों—बंगाल और बिहार की मालगुजारी तब २ करोड़ सालाना होने का अनुमान है। इसके अलावा जगतसेठ ब्याज पर कम्पनी व अन्य को करोड़ों रुपयों का कर्ज देते थे, जिस पर एक रुपया सैकड़ा महीना का ब्याज लिया जाता था। हुँडावण, सिक्के ढालने की टकसाल आदि की आमदनी अलग थी। तात्पर्य यह कि उस समय जगतसेठ के वैभव की कोई सीमा नहीं थी।

सिराजुद्दौला स्वेच्छाचारी और अत्यन्त विलासी था। उसने कई खून करवाये। महिमापुर के ही सद्गृहस्थ मोहनलाल की बहन को, जो सारे बंगाल में सर्वाधिक सुन्दर मानी जाती थी, अपने अन्तःपुर में दाखिल कर लिया। रानी भवानी की विधवा पुत्री तारा को अंकशायिनी बनाने के लिए षड़यंत्र रचा तो वह अग्नि में जलकर भस्म हो गयी। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि सिराजुद्दौला ने जगत सेठ खानदान की अस्मत पर भी डाका डाला था। 'प्लासी युद्ध' नामक ग्रंथ में सिराज की इस बदचलनी को चित्रित किया गया है। प्रजा में असन्तोष बढ़ने लगा। इधर अंग्रेजों के साथ भी शत्रुता बढ़ने लगी। जगतसेठ अंग्रेजों से शत्रुता मोल न लेने के पक्ष में था। किन्तु सिराजुद्दौला ने एक न सुनी। अंग्रेज तब तक कलकत्ता में पाँव जमा चुके थे एवं फोर्ट विलियम में किलेबन्दी कर चुके थे।

बंगाल में उस समय पंजाब के एक व्यापारी सेठ अमीचन्द का अभ्युदय हुआ। उसने जगत सेठ को अंग्रेजों के पक्ष में करने की कोशिश की, जिसकी खबर लगते ही सिराजुद्दौला ने जगत सेठ को कैद कर लिया। नवाब के दीवान मीरजाफर ने उसे छुड़ाया। सिराजुद्दौला की फौज ने साहसपूर्वक फोर्ट विलियम का किला घेर लिया। अंग्रेज विवश होकर जलमार्ग से भागे। संवत् १८१४ में लार्ड क्लाईव के नेतृत्व में उन्होंने प्लासी के युद्ध में सिराजुद्दौला को पछाड़ा। वह हारा और मारा गया।

अंग्रेज मीरजाफर को नवाब बनाना चाहते थे। जगत सेठ इसके पक्ष में न थे, किन्तु उनके एहसान तले दबे थे एवं अंग्रेजों का विरोध भी नहीं करना चाहते थे। अतः नवाब के चुनाव के लिए जगत सेठ के घर पर ही मंत्रणा चली। तत्कालीन राजशाही की रानी भवानी ने उसी ऐतिहासिक मंत्रणा में ललकार कर कहा था: 'जो बंगाल का भाग्य विदेशी व्यापारियों के हाथ में देने की सलाह दे, उसे सिन्दूर की डिबिया और बंगड़ी मेरी तरफ से दे देना।' जगतसेठ चुप रहे। अन्ततः मीरजाफर बंगाल का नवाब बना। बंगाल या कहिये भारत के भाग्य में अंग्रेजों की गुलामी बदी थी। उस समय मीरजाफर नवाब न बनाया जाता तो शायद भारत का इतिहास ही

पलट जाता। परिस्थितियों ने जगत सेठ को इस कदर जकड़ा कि उन्हें मजबूरन चुप रहना पड़ा।

कुछ इतिहासकार जगतसेठ खानदान को भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के लिए जिम्मेवार मानते हैं एवं उन पर अंग्रेजों की सहायता करने का दोपारोपण करते हैं। उन दिनों मुगलिया सल्तनत अपनी अंतिम साँसें गिन रही थी—यह तो जगत सेठ का किया न था। इसे भाँपने की दूरदर्शिता दिखलाई जगत सेठ ने। वे इतिहास की करवट को उलट नहीं सकते थे। मुगल साम्राज्य का अधःपतन निश्चित था। उसी में निहित था—अंग्रेजों का अभ्युदय और राज्यारोहण। जगतसेठ ने अंग्रेजों की सहायता की, वह उनकी मजबूरी थी; क्योंकि मुँगलिया सल्तनत पर किसी को भरोसा तब रह न गया था। जगतसेठ का आत्मसम्मान भी सिराजुद्दौला की नवाबी में सुरक्षित न था। कुछ इतिहासकार सिराजुद्दौला की बदचलनी को ही जगतसेठ के मुगल सल्तनत के साथ असहयोग का कारण मानते हैं। प्लासी का युद्ध सिराजुद्दौला के इतना कमजोर न होते हुए भी उसे बरबाद कर देगा—यह कौन जानता था ?

मीरजाफर के नवाब बनते ही खजाना खाली होता गया। उसका अधिकांश भाग अंग्रेजों की जेब में चला गया। मीरजाफर ने अंग्रेजों को कलकत्ता में टकसाल खोलने की इजाजत दे दी। उसी दिन से जगतसेठ का वैभव सूर्य अस्ताचल की ओर खिसकने लगा और अंग्रेजों के पाँव मजबूत होने लगे। मीरजाफर अपनी बेवकूफियों से अयोग्यसिद्ध हुआ। शीघ्र ही उसके स्थान पर मीरकासिम को बंगाल का नवाब बनाया गया। वह बड़ा शंकालु था। उसने अंग्रेजों के विरुद्ध जंग छेड़ दिया। जगतसेठ के प्रभाव की दहशत और अंग्रेजों से उनके अच्छे सम्बन्व उसे खलते थे। उसने जगतसेठ को नजरबन्द कर दिया, साथ ही उनके भाई स्वरूपचन्द को भी। अंग्रेजों से युद्ध में हार जाने के बाद भागते हुए मीरकासिम ने जगतसेठ को गंगा में डुबो देने का आदेश दे दिया। इस तरह संवत् १८२० में जगतसेठ महताब राय एवं उनके भाई स्वरूपचन्द का दुखान्त हुआ। कहते हैं जगतसेठ की हत्या के समय उनके स्वामीभक्त नौकर चुन्नी ने, उन्हें बचाने की हरसम्भव कोशिश में नाकाम रहने के बाद, नदी में कूद कर आत्महत्या कर ली।

जगतसेठ खुशालचन्द :

सेठ महताबराय की मृत्यु के बाद उनके पुत्र खुशालचन्द गद्दी पर बैठे। संवत् १८२० में दिल्ली के बादशाह शाह आलम ने उन्हें 'जगतसेठ' की उपाधि से सम्मानित किया। सेठ खुशालचन्द बहुत शान्त और धार्मिक प्रकृति के थे। उन्होंने १०८ सरोवरों का निर्माण कराया। प्रसिद्ध तीर्थ सम्मेदशिखर पर सेठ खुशालचन्द ने अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया। उधर मीरकासिम के भाग जाने के बाद एक बार फिर संवत् १८२० में मीरजाफर बंगाल का नवाब बना। अंग्रेजों ने क्षतिपूर्ति के नाम पर लाखों रुपये उससे

बटोरे। संवत् १८२२ में उसकी मृत्यु हो गई। उसका पुत्र नज्मुद्दौला उत्तराधिकारी बना। कंपनी ने सुरक्षा के नाम पर उससे भी लाखों रुपये हथियाये। संवत् १८२२ में क्लाईव और नवाब के बीच हुए समझौते से अंग्रेजों को सेना रखने, माल उगाहने का अधिकार प्राप्त हो गया। राज-काज देखने के लिये ३ आदमियों की एक प्रबन्धकारिणी बना दी गयी—जगतसेठ उनमें से एक थे। खजांची का काम जगतसेठ के ही सुपुर्द रहा।

संवत् १८२२ के फरमान द्वारा शाह आलम ने ३६ लाख रुपया सालाना दिल्ली भेज देने के एवज में राज्य की दीवानी का स्वत्व अंग्रेजों को सौंप दिया। संवत् १८२३ में नज्मुद्दौला की मृत्यु हो गई। जगतसेठ का लाखों रुपया कम्पनी से पावना था, परन्तु उसने अंगूठा दिखा दिया। व्यापारिक क्षेत्र में भी नमक, सुपारी, तम्बाकू, रूई और रेशम व्यवसाय के एकाधिकार कंपनी ने हासिल कर लिये। इस तरह बंगाल के समस्त व्यापारी उनके मातहत हो गये। बाजार भाव आसमान छूने लगे। सारा मुनाफा इगलैण्ड जाने लगा। संवत् १८२७ में खजाना कलकत्ता चला गया। संवत् १८२४ से इगलैण्ड की सरकार भी इस लूट में शामिल हो गयी थी। कम्पनी से ४ लाख पौंड सालाना उन्हें मिलने लगा था। लार्ड क्लाइव ने जगतसेठ को ईस्ट इंडिया कम्पनी का भी खजांची नियुक्त किया। परन्तु जल्द ही अंग्रेजों को बिना ब्याज धन उधार देने के मसले पर मत-भेद हो गया। संवत् १८२७ में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। महामारी ने स्थिति और भी चिंता-जनक बना दी। संवत् १८३४ में मुर्शिदाबाद की पुरानी टकसाल बंद कर दी गयी। इस तरह मुद्रा प्रसार पर भी अंग्रेजों का एकाधिपत्य हो गया।

ऐसी विषम परिस्थितियों के बावजूद जगतसेठ खुशालचन्द मुक्तहस्त बने रहे। संवत् १८३७ तक जगत सेठ के परिवार का मासिक खर्च एक लाख रुपये था। कहते हैं उस समय जगत सेठ की आय पर आधारित सेठ परिवार के प्रायः ४००० व्यक्ति थे, जिनमें १२०० स्त्रियाँ थीं। संवत् १८३९ में सहसा सेठ खुशालचन्द ४० वर्ष की अल्प आयु में काल कवलित हुए। इसके बाद जगतसेठ परिवार की स्थिति बिगड़ती ही गयी। ईस्ट इंडिया कम्पनी में पावना था, उसके मिलने की कोई सूरत न थी। जहाँ-तहाँ पावना था, वह भी डूब गया। जे० एच० लिटिल (हाउस आफ जगतसेठ—१९६७) के उल्लेखानुसार जगतसेठ के परिवार में यह किंवदन्ती चली आई है कि जो निधि जमींदोज थी, सेठ खुशालचन्द की सहसा मृत्यु हो जाने से, उस बारे में वे किसी को बता नहीं सके और वह अपार सम्पत्ति रत्नगर्भा वसुन्धरा में ही समा गयी।

परवर्ती जगत सेठ खानदान

सेठ खुशालचन्द के एकमात्र पुत्र गोकुलचन्द का पिता की मृत्यु से चार वर्ष पूर्व ही देहान्त हो चुका था। अतः जगतसेठ ने अपने भतीजे हरखचन्द को गोद ले लिया। वे ही उनके उत्तराधिकारी हुए। वारेन हेस्टिंग्ज की अंग्रेज सरकार की सिफारिश पर

तत्कालीन नवाव मुवारक-उ-द्दौला ने संवत् १८३९ में सेठ हरखचन्द को 'जगतसेठ' की पदवी दी। वे पुत्र न होने से वड़े व्यग्र रहते थे। एक वैष्णव फकीर के प्रभाव में जगत सेठ ने वैष्णव धर्म अंगीकार कर लिया। उन्होंने अपने निवास के समीप श्री कृष्ण का एक वैष्णव मन्दिर बनवाया। यद्यपि जगतसेठ परिवार की महिलाएँ तव भी जैन धर्म के प्रति अस्थाशील वनी रहीं। कालान्तर में उनके दो पुत्र हुए।

संवत् १८७० में जगत सेठ हरखचंद का देहान्त हो गया और इनके पुत्र सेठ इन्दरचन्द को कम्पनी सरकार ने जगतसेठ के रूप में मान्यता दी। संवत् १८७९ में उनका देहान्त हो गया। उनके पुत्र गोविन्ददास गद्दी के उत्तराधिकारी बने। परन्तु कम्पनी सरकार ने उन्हें जगतसेठ के रूप में मान्य करने से इन्कार कर दिया। वे जेवर वेचकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगे। कुछ इतिहासकारों के अनुसार तत्कालीन वायसराय लार्ड ऑकलैंड ने उन्हें 'जगतसेठ' मान्य कर लिया था। संवत् १९०० में कम्पनी सरकार ने जगत सेठ खानदान को १२००/–मासिक वृत्ति देना स्वीकार किया। यह मासिक वृत्ति धीरे-धीरे घटाकर तीन सौ रुपये कर दी और अन्ततः संवत् १९४८ में बिलकुल वन्द कर दी। इस तरह जगतसेठ घराने का वैभव तिरोहित हो गया।

विदुषी रत्नकुँवर वीवी :

अठारहवीं सदी के अन्त में मुर्शिदावाद के जगतसेठ (गेहलड़ा) खानदान से सम्बन्वित एक असाधारण कवियित्री हुई–श्रीमती रत्नकुंवरी। श्री पारसनाथ सिंह के 'जगतसेठ' नामक ग्रंथ के परिशिष्ट में दी गयी वावू पूर्णचन्द जी नाहर द्वारा संयोजित जगतसेठ घराने की वंशावली के अनुसार गेहलड़ा गोत्रीय शाह हीरानन्द के सात पुत्र और एक कन्या थी। पुत्रों में ज्येष्ठ श्री मानिकचन्द हुए। पुत्री धनवाई आगरा के ओसवाल श्रेष्ठि गोखरू गोत्रीय राय उदयचन्द को व्याही थी। सेठ मानिकचन्द के कोई पुत्र न था। उन्होंने धनवाई के पुत्र भाणेज फतहचन्द को गोद लिया। इन्हीं फतहचन्द को मुगल सम्राट् ने 'जगतसेठ' की पदवी से विभूपित किया। धनबाई के वंशजों में तीसरी पीढ़ी में राजा डालचन्द हुए, जो वनारस रहते थे। इनके पुत्र उत्तमचन्द का विवाह लखनऊ के राजा वच्छराज की कन्या रत्नकुँवर वीवी से हुआ। परन्तु यह कथन राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द द्वारा 'भापा कल्पसूत्र' की प्रस्तावना में दिये गये 'कुछ वयान अपने खानदान का' से मेल नहीं खाता। उनके अनुसार बनारस के राजा डालचन्द के पुत्र उत्तमचन्द (शिवप्रसाद जी के पितामह) का विवाह राजा वच्छराज की कन्या से हुआ, परन्तु उनसे कोई पुत्र नहीं हुआ। अतः राजा उत्तमचन्द ने अपनी वहिन वीवी रत्नकुंवर के वेटे वावूचन्द (गोपीचंद) को गोद लिया, उन्हीं के पुत्र राजा शिवप्रसाद थे। कुछ भी हो, निःसन्देह रत्न कुँवर वीवी गोखरू एवं गेहलड़ा (जगतसेठ) दोनों खानदानों से सम्वन्वित थीं।

वे बड़ी विदुषी महिला थो। भारतोय भाषाविद् सर जी. ए. ग्रीयर्सन ने 'माडर्न वरनाकुलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान' में बड़े सम्मान से आपका उल्लेख किया है। 'दी हैरीटेज आफ इण्डिया' सीरीज में भी आपके भक्ति काव्य ग्रंथ 'प्रेम रत्न' का वर्णन है। आप गाने बजाने में अत्यन्त निपुण थी। आपको यूनानी और भारतीय चिकित्सा पद्धतियों का अगाध ज्ञान था। आप प्रतिदिन योगाभ्यास करती एवं यम नियम से रहती। आपकी वृत्ति ऋषियों की सी थी। भारत सरकार के विद्या विभाग के तत्कालीन निर्देशक राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द आपके पौत्र थे। आप संस्कृत की पंडिता थीं एवं छहों शास्त्रों की जानकारी रखती थी। आप फारसी जवान की भी ज्ञाता थीं। आपका 'प्रेम रत्न' नामक ग्रन्थ संवत् १८४४ में प्रकाशित हुआ। इसमें श्रीकृष्ण की लीला का अति रुचिर और रसमयी काव्यशैली में वर्णन है एवं भागवत भक्तों में बहुत प्रचार है। आप संवत् १८९९ में दिवंगत हुई। उस वक्त आपकी उम्र ६० और ७० वर्ष के बीच थी। मुन्शी देवीप्रसाद ने संवत् १८६२ में प्रकाशित 'महिला मृदु वाणी' में आपकी गणना महिला रत्नों में की है। ओसवाल समाज आपसे गौरवान्वित हुआ।

मेहता अगर चन्द

विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में मेवाड़ के इतिहास में एक चतुर राजनीतिज्ञ और शासनाधिकारी हुए। इस समय राजनैतिक उथल-पुथल से देशी रियासतें त्रस्त थीं। मेवाड़ में भय और लूटपाट का बोलबाला था। औरंगजेब की मृत्यु के वाद मुगलिया सल्तनत भी कमजोर हो गयी थी। मरहठा सरदारों ने लूट पाट से अनेक प्रदेशों को भयभीत कर रखा था। विक्रम संवत् १८१९ में उदयपुर की राजगद्दी पर महाराणा अरिसिंह पदासीन हुए। वे बड़े शक्की और अस्थिर दिमाग के थे। समस्त सरदार उनसे नाखुश थे। वे मरहठा सरदारों से मिलकर राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र करने में व्यस्त थे। मरहठों के बार-बार आक्रमण से महाराणा बुरी तरह परास्त हुए। उन्हें हर्जाने स्वरूप ३३ लाख रुपये और जावेद जिरम और नीमच के परगने सिंधिया सरकार को देने पड़े। मरहठों ने निम्बाड़ पर भी कब्जा कर लिया।

ऐसी विपत्ति के समय वि० सं० १८२२ में मेहता अगरचन्द को मेवाड़ राज्य का दीवान नियुक्त किया गया। मेहता ने अपने रण-कौशल एवं चातुर्य से सर्वप्रथम राज्य के बागी सरदारों को वश में किया। फिर मांडलगढ़ के किले पर अधिकार कर लिया। महाराणा ने खुश होकर उन्हें रुक्का बख्शा और मांडलगढ़ का किला उन्हीं को सौंप दिया। तब से किला उनकी निजी सम्पत्ति माना गया।

तभी सरदार रतनसिंह ने मराठों एवं कुछ बागी सरदारों की मदद से मेवाड़ की राजगद्दी के लिए दावा किया एवं युद्ध छेड़ दिया। महाराणा की फौजें एक बार फिर परास्त हुई। मेहता अगरचन्द बन्दी बना लिये गये। उन्हें छोड़ने की यह शर्त

रखी गई कि वे रतनसिंह को महाराणा के रूप में स्वीकार कर लें। स्वामीभक्त एवं महान योद्धा मेहता अगरचन्द ने इसे नामंजूर कर दिया और अपनी कुशलता से वे जेल की दीवारों से निकल भागे। रतनसिंह के मन्सूबों पर पानी फिर गया। मेहता ने मांडलगढ़ से सेना का नेतृत्व सम्भाला एवं मरहठों को खदेड़ दिया। महाराणा ने उनकी स्वामीभक्ति एवं वीरता से प्रसन्न होकर जो रुक्का उन्हें इनायत किया, वह इस प्रकार है :

'सिद्ध श्री भाई मेहता अगरा जोग अप्रंच मे तो थां-सा सपूत चाकर थी नचीता हां। राज थारा वापरौं छै। थाहरी सेवा वन्दगो म्हारा माथा पर छै। निपट तू म्हारो साव धर्मो छे। थारी चाकरी तो सपना में भी भूला नहीं। ई राज माँहें आधी रोटी होसी तो भी वटको पेली थाने देर खासां। थारा वंश का स्यूं उरीण हो पावां नहीं। सीसोदिया हौसी जो वो थारा वंश का ने आखां की पलकां पर राखसी। फरक पाडैगा तो जिणने श्री एकलिंग जी पुगसी। ई राज म्हें तो म्हारा वेटा वच भी थारा वेटा रो भरोसो वत्तो छै। कतराक समाचार धाभाई रूपा रा साह मोतीराम वोल्यारा कागद सूं जाणोगा। संवत् १८२३ वरणे वैशाख वदी १० गुरं।'

महाराणा अरिसिंह की मृत्यु के वाद मेवाड़ की गद्दी पर संवत् १८२९ में महाराणा हमीरसिंह वैठे। आपने मेहताजी का उसी तरह सम्मान रखा। महाराणा हमीर की अकस्मात् ४ वर्ष वाद हुई मृत्यु पर महाराणा भीमसिंह ने मेवाड़ का शासन भार सँभाला।

महाराणा भीमसिंह के समय भी मेहता अगरचन्द राज्य के दीवान रहे। इस तरह महाराणाओं की तीन पीढ़ियों तक इस ओसवाल नर-पुंगव ने मेवाड़ राज्य की सेवा की।

जब महाराणा भीमसिंह ने चूडावत सरदार को शरण दी तो सिंधिया सरकार ने एक वार फिर 'आखा और लाखा' के नेतृत्व में फौजें भेज कर मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। घमासान युद्ध हुआ। अन्ततः विजय श्री मेहता अगरचन्द के हाथ लगी। मरहठे खदेड़ दिये गये। शाहपुरा के नवाव ने भी जव जहाजपुर हड़पना चाहा तो मेहता अगरचन्द एक वार फिर राज्य की सुरक्षा के लिए आगे आये और नवाव को ठिकाने लगाया।

मेहता अगरचन्द सेनाध्यक्ष, वीर योद्धा एवं चतुर राजनीतिज्ञ ही नहीं थे, कुशल प्रशासक भी थे। मांडलगढ़ की प्रजा को सुख-शांति प्रदान की, तालाव खुदवाये और किले की मरम्मत करवा कर उसे अजेय वना दिया। प्रजा की भलाई के लिए वे सदैव तत्पर रहते थे। वे वड़े पंडित भी थे। अपने वंशजों को एक वसीयत के रूप में आपने उपदेशों का एक संग्रह लिख कर दिया था, जो अमूल्य है। संवत् १८५७ में आपका स्वर्गवास हुआ।

नाहटा मोतीचन्द शाह :

उन्नीसवीं सदी के बीसा ओसवाल वंश के इतिहास पुरुषों में नाहटा गोत्रीय मोती शाह का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। आपका जन्म सं० १८३८ में हुआ। आप बड़े दानवीर एवं धर्मवीर सेठ थे। आपके पूर्वज फलौदी (मारवाड़) के थे। वहाँ से गुजरात जाकर खंभात में बसे। आपके पिता शाह अमीचन्द साकरचंद संवत् १८१४ में खंभात से बम्बई आये। उस समय बम्बई इतनी विकसित न थी। सात वर्ष नौकरी करने के बाद जौहरी का धन्धा शुरू किया। आपके पुत्र थे—नेमचन्द, मोनीचन्द एवं देवचन्द। बड़े भाई की अल्प वय में मृत्यु से मोतीशाह के कन्धे पर परिवार का सारा भार आ पड़ा।



नाहटा मोतीशाह

थोड़े समय में ही अपने अध्यवसाय से मोतीशाह बम्बई के प्रमुख व्यापारी बन गये। आपका साहूकारों एवं यूरोपीय व्यापारियों में बड़ा सम्मान था। आपने जहाजों से दूर देशों में भारतीय माल भिजवाने का कारोबार शुरू किया। आपके सात बड़े जहाज ईरान, ईराक, मोजाम्बीक, मेडागास्कर एवं चीन की निरन्तर यात्राएँ करते

रहते थे। आश्चर्य की बात है कि उन्नीसवीं सदी के शुरू में जो जहाजरानी व्यवसाय सम्पूर्णतः भारतीयों के हाथ में था, वही कुछ समय बाद अधिकांश विदेशियों के हाथ में चला गया। बंबई की मोतीशाह की पेढ़ी उन दिनों मशहूर थी।

आपने लाखों रुपये दान दिये। शत्रुञ्जय तीर्थ पालीताना में सं० १८८६ में २०० फिट गहरी घाटी को पाट कर आपने एक विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया, जिस पर उस समय २४ लाख रुपये खर्च हुए। भायखला (बंबई) में आदिनाथ का विशाल जैन मन्दिर आपका ही (सं० १८८५ में) बनवाया हुआ है, जिसकी कीमत आज कई करोड़ रुपये हैं। आपने अनेक स्थानों पर जैन मन्दिरों एवं धर्मशालाओं का निर्माण करवाया। बम्बई की प्रसिद्ध पिंजरापोल के संस्थापक मोती शाह ही थे। आप सं० १८९२ में दिवंगत हुए।

मोतीशाह के पुत्र खीमचन्द शाह भोले और दिल के बड़े उदार थे। उन्होंने अपने पिता की अन्तिम इच्छा पूरी करने के लिए सं० १८९३ में संघ समायोजन किया, जिसमें लाखों लोग शामिल हुए। कहते हैं जैन तीर्थों के इतिहास में यह सबसे बड़ा संघ समायोजन था। इसके बाद की कहानी बड़ी दुःखद है। अकुशल व्यापारी खेमचन्द शाह सट्टे के चक्कर में पड़ गये। साथ ही स्वार्थी लोगों ने उनके भोलेपन का बेजा फायदा उठाना शुरू किया। व्यापार में भी धोखा खा गये। भारी नुकसान लगा। वि० सं० १९०८ में पेढ़ी (दुकान) भी बन्द कर दी गयी। खेमचन्द भाई ने ईमानदारी से सारी देनदारी चुकायी। कोर्ट में सच्चाई से दी गयी आभूषणों की तफसील सुन कर जज भी अवाक् रह गये। नसीब का पासा ऐसा पलटा कि खानदान ही तबाह हो गया। संवत् १९२५ में मरते वक्त खीमचन्द शाह की हालत फकीरों की सी थी।

सेठाणी हरकौर :

ओसवाल कुल के इतिहास का एक उज्ज्वल तथा उल्लेखनीय प्रसंग है—धर्मभावनामयी सच्चरित्रशाली अतिकुशल नेतृ तथा असाधारण नारी रत्न सेठाणी हर कौर (कुँवर)। अठारहवीं सदी की विदाई वेला में सेठ मोतीचन्द नाहटा बम्बई के व्यवसायियों के सिरमौर थे। उन्हीं दिनों अहमदाबाद के ओसवाल समाज में सेठ खुशालचन्द निहालचन्द के कुटुम्ब का मुख्य स्थान था। उनके पुत्र केसरी सिंह ने खूब ख्याति अर्जित की। वे रेशम तथा कीरमच के व्यापार में अग्रणी थे। संवत् १८६० में उनकी अल्प वय मृत्यु के समय उनके पुत्र हठीसिंह की आयु मात्र ८ वर्ष थी। सेठ हठीसिंह ने बड़े होकर व्यापार में बड़ी प्रसिद्धि पायी। एक बार सेठ हठीसिंह तीर्थ यात्रा पर थे। गोघा शहर की एक गुवाड़ में छाणा (गोबर के उपले) छापती एक बालिका पर उनकी नजर पड़ी। उसमें पद्मिनी के सर्व चिह्न विद्यमान थे। एक सामान्य ओसवाल परिवार

की यह बालिका उन्हें लुभा गयी। यही बालिका हर कुँवर उनकी तीसरी पत्नी बनी, जो सेठाणी हर कौर के नाम से विख्यात हुई।

उस वक्त बालिकाओं की शिक्षा के लिए न स्कूलें थी और न गुरुकुलों में स्थान। स्त्री शिक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में अनुचित भी मानी जाती थी। परन्तु हर कुँवर ने अपने माँ-बाप से बड़े अच्छे संस्कार पाये थे। बचपन में ही उसने पंच प्रतिक्रमण, जीवाजीव-विचार, नवतत्व आदि का अभ्यास किया था। सेठ हठीसिंह से विवाहोपरांत उसने अपनी गृहस्थी ही नहीं सम्भाली, व्यापार में भी सफल सहायिका का काम किया। सेठ हठीसिंह जिस सौदे में उससे पूर्व परामर्श ले लेते, उस में उन्हें बड़ा लाभ होता। धीरे-धीरे हर कौर उनके पूरे व्यापार-साम्राज्य पर छा गयी। देवी लक्ष्मी हठीभाई पर पूर्ण कृपालु रही। संवत १९०' में ४८ वर्ष की अल्प वय में हठीभाई का देहान्त हो गया। सेठाणी हरकौर ने करोड़ों का व्यापार स्वयं सम्भाल लिया। छोटी से छोटी बात भी उसकी नजर से चूक नहीं सकती थी। रेशम और कीरमच का व्यापार बहुत बढ़ गया। सारा चिट्ठा सेठानी की उंगलियों पर रहता था।

सेठाणी हरकौर ने अतुल सम्पत्ति अर्जित ही नहीं की, उसे धर्म की प्रभावना के लिए खर्च कर पुण्यलाभ भी कमाया। अहमदाबाद में दिल्ली दरवाजे पर बावन जिनालयों का विशाल जैन मन्दिर सेठाणी हरकौर का बनवाया हुआ है। शत्रुञ्जय तीर्थ की मिशाल पर बने हुए इस मन्दिर पर आठ लाख रुपये खर्च हुए थे। दूर देशों से कारीगर बुलवाकर संवत् १९०३ में सेठाणी ने मन्दिर का निर्माण पूरा करवा कर आचार्य शान्ति सागर सूरि के हाथों प्रतिमाएँ स्थापित करवायीं।

इस दर्शनीय मन्दिर को देख कर सेठानी के स्थापत्य एवं शिल्प ज्ञान की भूरि भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है। मूर्ति प्रतिष्ठा के समय सेठानी ने एक लाख जैन धर्म के नुमाइन्दों को परदेशों से आमन्त्रित किया, जिनकी आवभगत एवं मान-मनुहार के प्रबन्ध में सेठानी ने कोई कसर नहीं छोड़ी। इस महोत्सव पर पाँच लाख रुपये खर्च हुए। सभी दर्शनार्थी उनकी व्यवस्था-कुशलता देखकर मुग्ध हो गये। सेठानी ने सम्मेदशिखर एवं अन्य तीर्थों के लिए अनेक संघ निकाले। अनेक मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया। सरकार ने उन्हें 'नेक नामदार सखावत बहादुर' का खिताब बख्शा। उस युग में वे 'हरकौर सरकार' नाम से प्रसिद्ध हुई।

संवत् १९२० तक के सेठाणी हरकौर के नाम के शिलालेख/प्रशस्तियाँ आदि उपलब्ध हैं परन्तु बाद का इतिहास नहीं मिलता। इतने बड़े व्यापार की अनेक शाखाओं का कुशलतापूर्वक संचालन करने वाली एवं धार्मिक संघों का नेतृत्व करने वाली यह एक-मात्र नारी रत्न है, जिसमें स्त्री शक्ति के चमत्कारों के दर्शन हुए।

सिंघी इन्द्रराज जी :

जोधपुर राज्य के ओसवाल दीवानों में आप सर्वाधिक प्रभावशाली दीवान हुए। शुरू में इंद्रराज जी पचभदरा एवं फलौदी के हाकिम थे। सं० १८५९ में जोधपुर नरेश भीमसिंह जी ने उन्हें बागी सरदारों को दण्ड देने के लिए भेजा। सिंघीजी ने उनसे दण्ड-स्वरूप हजारों रुपये वसूल किये। सं० १८६० में महाराज का देहान्त हो गया। उस समय महाराजा मानसिंह को गद्दीनसीन करने में सिंघी इन्द्रराज जी का प्रमुख हाथ था। महाराजा ने प्रसन्न होकर उन्हें मुसाहिबी इनायत का रुक्का बख्शा।

जोधपुर के महाराजा मानसिंह के समय भारत में मुगल साम्राज्य अन्तिम सांसें गिन रहा था। ब्रिटिश सत्ता अपने पाँव फैला रही थी। तख्त के एक अन्य दावेदार धोकलसिंह ने मारवाड़ पर जयपुर महाराज की सहायता से हमला कर दिया था। सं० १८६३ तक सभी जिले एवं जोधपुर शहर भी उसके कब्जे में चला गया। महाराज का अधिकार सिर्फ किले पर रह गया। उस वक्त सिंघी इन्द्रराज जी महाराज से अनबन के कारण जेल में थे। ऐसा हुआ कि उदयपुर की राजकुमारी कृष्णा कुमारी की सगाई मानसिंह से तय हुई थी—पर राणा ने सगाई तोड़ कर जयपुर के महाराजा जगतसिंह से राजकुमारी की सगाई करनी चाही। इस पर मानसिंह ने जयपुर पर चढ़ाई कर दी। तब सिंघी इन्द्रराजजी के उद्योग से सुलह हुई। दोनों की बहनें एक-दूसरे को ब्याही जानी निश्चित हुईं। पर जोधपुर लौटकर महाराज ने दूसरों की सिखावट पर इन्द्रराजजी को कैद में डाल दिया। उधर जयपुर नरेश ने जोधपुर की गद्दी के एक दावेदार धोकल सिंह की सहायता से जोधपुर पर चढ़ाई कर दी। संवत् १८६३ में जोधपुर नगर भी हाथ से निकल गया। सिंघी इन्द्रराज ने कैद से प्रार्थना की कि अगर उन्हें बाहर निकाला जाय तो वे दुश्मन को हरा सकते हैं। उन्हें गुप्त मार्ग से बाहर निकाला गया। ये भंडारी गंगारामजी के साथ मेड़ता गये। वहाँ सेना संगठित की। पिण्डारी सरदार अमीर खाँ को एक लाख रुपया देकर उसे अपनी ओर मिलाया और जयपुर पर हमला बोल दिया। घमासान लड़ाई के बाद जयपुर की फौज परास्त हुई। जयपुर नरेश जोधपुर का घेरा छोड़कर जयपुर लौट गये। उस समय महाराजा मानसिंह ने सिंघी इन्द्रराज का खूब स्वागत कर रुक्का बख्शा-'आज स्वूं थारी दियेड़ो राज है, म्हारे राठोड़ां रो वंश रहसी, न आ राज करसी, उत्तरे थारां एहसान मंद रहसी' (सं० १८६४)। महाराजा ने इन्द्रराजजी को प्रधानगी एवं जागीर दी। सारा शासन उन्हें सौंप दिया।

सिंघी इद्रराजजी ने तत्कालीन बीकानेर राज्य पर भी चढ़ाई की थी। बीकानेर के महाराज सुन्दरसिंह को समझौता करना पड़ा और फौज खर्च के ४ लाख रुपये देने पड़े। इसी लड़ाई के समय पीछे से जोधपुर में अमीरखाँ ने महाराजा मानसिंह से अपनी सहायता के बदले राज्य के अनेक परगने अपने नाम लिखवा लिये। सं० १८७२ में अमीरखाँ अपने पठान सैनिकों के साथ जोधपुर आया। सिंघी इन्द्रराजजी ने राज्य की

भलाई के लिए एक चाल चली। उन्होंने अमीरखाँ से वह अधिकारपत्र देखने के लिए मांगा। ज्यों ही पत्र उनके हाथ में आया, इन्द्रराजजी उसे निगल गये। अमीरखाँ ने उन्हें कत्ल कर डाला। महाराजा मानसिंह ने पूर्ण सम्मान सहित राजपुरुषों की तरह उनके शव को दफनाया। उनकी सेवाओं के बदले उनके पुत्र फतहराजजी सिंघी को २५ हजार की जागीरें, दीवानगी एवं राजकुमार की बराबरी का सम्मान बख्शा। महाराजा ने इन्द्रराजजी की प्रसंसा में ये दोहे रचे :

गेह छुटो कर गोड़, सिंह जुटो फूटो समद।
अपनी भूप अरोड़, अड़िया तीनूँ इन्दड़ा ॥
गेह सांकल गजराज, घेरे रह्यो सदुलधीर।
प्रकटी बाजी बाज, अकल प्रमाणे इन्दड़ा ॥
पड़तो घेरो जोधपुर, अड़तां दला अथंभ।
आप डीगंता इन्दड़ा, थे दीयो भुज थंभ ॥
इन्दा बे असपारियां, उण चौहटे आम्बेर।
धिण मंत्री जोधाणरा, जैपुर कीनो जैर ॥

फतहराजजी सं० १८७२ से १८७५ के बीच सात बार राज्य के दीवान बने। राज्य में षड्यन्त्र चलते रहे। दो बार फतहराजजी कैद कर लिये गये एवं दस लाख रुपये जुर्माना हुआ। किन्तु जैसे ही षड़यन्त्रों की पोल खुली, महाराजा ने उन्हें फिर सादर दीवान का पद सौंपा। इन्द्रराजजी के छोटे पुत्र उम्मेदराजजी के पुत्र देवराजजी सं० १९११ से १९२८ तक राज्य के फौजबख्शी रहे।

दीवान अमरचन्द सुराणा :

राजस्थान के विभिन्न राज्यों में ओसवाल श्रेष्ठियों ने सेनानायक दीवान, प्रधान एवं मुत्सद्दियों के रूप में जो सेवाएँ दीं, वे स्वर्णाक्षरों में लिखी जाने योग्य हैं। अमरचन्दजी उनमें से एक थे। वे सेठ मलूकचन्द सुराणा के पौत्र और कस्तूचन्दजी के पुत्र थे। बाल वय से ही आपने तलवार चलाने का अभ्यास किया था। आपके तीन पुत्र हुए—माणकचन्द, लालचन्द एवं केसरीचन्द्र। अमरचन्द जी का सारा जीवन राज्य की सेवा में और युद्धस्थल में ही बीता। बीकानेर के महाराजा सूरतसिंह के समय वि० सं० १८६० में अमरचन्द सुराणा राज्य के सेनानायक थे।

चूरू के ठाकुर शिवसिंह ने जब महाराजा को आँखें दिखाई तो सेनानायक अमरचन्द सुराणा के नेतृत्व में फौज भेजी गयी। ठाकुर ने महाराजा की अधीनता मान ली और जुर्माने स्वरूप इक्कीस हजार रुपये दिये। वि० सं० १८६१ में भटनेर (हनुमान गढ़) के किलेदार जाब्तार खां भाटी ने सर उठाया। सेनानायक अमरचन्द के नेतृत्व में चार हजार सैनिक भेजे गये, जिन्होंने नगर पर घेरा डाल दिया। पाँच महीने घेरा रहा।

हार कर जाब्तार खाँ को भाग जाना पड़ा और किले पर अमरचन्द जी ने कब्जा कर लिया। मंगलवार को विजय होने से भटनेर के किले का नाम हनुमानगढ़ रखा गया। इस वीरतापूर्ण कार्य के लिए महाराजा ने उन्हें पालकी की इज्जत बख्शी एवं राज्य के दीवान पद पर नियुक्त किया।

वि० सं० १८६५ में जोधपुर नरेश मानसिंह ने बीकानेर पर चढ़ाई की। चतुर राजनीतिज्ञ अमरचन्द जी ने सेना लेकर अन्य रास्ते से जोधपुर पर आक्रमण कर दिया एवं खूब माल-असबाब लूटकर लाये। इधर जोधपुरी सेना दो महीने तक गजनेर के पास पड़ी रही। जोधपुर से उनकी मदद के लिए लोढ़ा कल्याणमल चार हजार सैनिक लेकर आये। अमरचन्दजी सेना लेकर गजनेर गये। यह जानकर लोढ़ाजी की हिम्मत पस्त हो गयी। वे जोधपुर लौटने लगे, किन्तु अमरचन्दजी ने उनका पीछा कर उन्हें युद्ध के लिए बाध्य किया एवं अन्ततः लोढ़ाजी को बन्दी बना लिया।

वि० सं० १८६९ में ठाकुरों के दमन के लिए अमरचन्द जी भेजे गये। उन्होंने ठाकुरों को कठोर दण्ड दिया। सांडवे के विद्रोही ठाकुर जैतसिंह से ८० हजार रुपये जुर्माने के वसूल किये। वि० सं० १८६९ में मीणासर के बीदावतों के विद्रोह का शमन किया। वहाँ के ठाकुर रतनसिंह को पकड़कर फाँसी दे दी। इसी तरह वि० सं० १८७० में सिंधमुख के विद्रोही ठाकुरों का दमन किया। वि० सं० १८७१ में चूरू का ठाकुर शिवसिंह एक बार फिर बागी हुआ तो अमरचन्दजी ने आक्रमण कर चूरू पर फतह पाई। ठाकुर शिवसिंह को आतमघात करना पड़ा। इन विजयों से प्रसन्न होकर महाराजा ने इन्हें राव का खिताब, खिलअत और हाथी की सवारी बख्शी।

इतनी सेवाओं के बावजूद अमरसिंह अन्ततः ठाकुरों द्वारा रचे गये षड्यंत्र के शिकार हो गये। वि० सं० १८७२ में उन पर पिंडारी सरदार अमीर खान से मिल जाने का अभियोग लगाया गया एवं महाराजा ने उनकी नृशंस हत्या करवा दी। बाद में जब वास्तविकता का पता चला तो महाराजा साहब को बहुत पश्चाताप हुआ। बीकानेर राज्य का इतिहास इस ओसवाल नर केसरी के खून से रंगा हुआ है।

महाराव हिन्दूमल वैद :

बीकानेर राज्य के इतिहास में ओसवाल श्रेष्ठियों का वर्चस्व सदैव रहा। आप अपने काल के सर्वोच्च ओसवाल मुत्सद्दी थे। आप सुदक्ष राजनीतिज्ञ एवं प्रतिभा सम्पन्न पुरुष थे। अंग्रेज शासकों में आपका बहुत सम्मान था। राज्य की प्रजा में भी आप लोकप्रिय थे।

आपके पिता का नाम मेहता मूलचन्द था। आपका जन्म सं० १८६२ में हुआ। आपके पूर्वज लाखनसिंह वैद राव बीका जी के साथ ही आये थे। बीकानेर को तत्कालीन-वार बसाने में उनका मुख्य हाथ था। उनकी ८वीं पीढ़ी में मूलचन्द जी हुए। वे भी

राज्य सेवा में थे। हिन्दूमल जी सर्वप्रथम सं० १८८४ में बीकानेर राज्य के वकील बन कर दिल्ली गये, जहाँ अपने बुद्धिकौशल से अनेक समय से चले आ रहे रियासत की ओर से अंग्रेज सरकार को २२००० रुपये फौजी खर्च के लिए प्रतिवर्ष देने के इकरार को रद्द करवाया। महाराज रत्नसिंह जी ने प्रसन्न होकर उन्हें दीवान नियुक्त किया। सिक्केदारी की मुहर प्रदान की एवं राज्य का सारा प्रबन्ध उनके सुपुर्द कर दिया। सं० १८८७ में आपने देशनोक से ठाकुर बेरीसाल को खदेड़ा। आप ने ही अमरावती के झाला ठाकुर एवं जैसलमेर के रावल के उत्पातों से राज्य को मुक्त किया। बीकानेर दरबार ने उन्हें अनेक रुक्के इनायत किये।



राव हिन्दूमल वैद

सं० १८८८ में भारत सरकार से बीकानेर नरेश के लिए 'नरेन्द्र शिरोमणि' का खिताब लाने की एवज में महाराज रत्नसिंह ने हिन्दूमल जी को 'महाराव' की उपाधि से सम्मानित किया, उनके घर पधार कर एक मोतियों का हार इनायत किया।

राज्य की ओर से अंग्रेज सरकार की सेवा में जब भी जरूरत पड़ी, हिन्दूमलजी ही भेजे गये। सं० १८८६ में जार्ज क्लार्क को शेखावाटी में एवं १८९१ में गवर्नर जनरल के एजेण्ट कर्नल एल्विस को सीमा विवाद निपटाने में सहायता देने वाले हिन्दूमल जी थे। उनकी बुद्धिमत्ता से चमत्कृत होकर उदयपुर के महाराणा सरदारसिंह जी ने हिन्दूमल जी की सेवाएँ कुछ समय तक मांगी, जिसे महाराजा रत्नसिंह ने सहर्ष स्वीकार किया। वि० सं० १९०२ में महाराजा साहब ने आपको नेटराणा गांव की जागीर बख्शी। वि० सं० १९०४ में महाराव की कीर्ति से असन्तुष्ट कुछ व्यक्तियों ने अखबारों में उन पर लुटेरों को सहायता देने का झूठा दोषारोपण किया। आप तुरन्त

भारत के गवर्नर जनरल से मिले। तत्कालीन वायसराय हार्डिंज ने आपकी सच्चरित्रता पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए आपको खिल्हत बख्शी। सं० १९०४ में ही ४२ वर्ष की अल्प वय में आप स्वर्ग सिधारे। सं० १९०५ में महाराजा गंगासिंह ने आपकी सेवाओं के उपलक्ष्य में सीमावर्ती गाँव का नाम हिन्दूमल कोट रखकर आपको सम्मानित किया।

सेठ जोरावरमल बापना :

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ का भारत राजनैतिक दृष्टि से बड़ी डांवाडोल स्थिति में था। एक तरफ मुगलिया सल्तनत दम तोड़ रही थी एवं मरहठों के उत्पात बढ़ रहे थे तो दूसरी तरफ अंग्रेज शनैः शनैः भारत की धरती पर अपने पाँव फैलाते जा रहे थे। उस परिस्थिति में इन्दौर के बापना गोत्र के ओसवाल श्रेष्ठि श्री जोरावरमल जी ने राज्य-शासन में खूब नाम कमाया। इनके पिता का नाम गुमानमल एवं पितामह का नाम देवराज था। ये मूलतः जैसलमेर के पटवा खानदान के थे। जिस वक्त अंग्रेज राजपूताना के देशी रजवाड़ों से मैत्री करने में लगे थे, उस वक्त सेठ जोरावरमल जी का बीकानेर, जोधपुर, जैसलमेर, इन्दौर आदि रियासतों पर अच्छा प्रभाव था। इन्होंने रजवाड़ों से मेल कराने में अंग्रेज हुकूमत की बहुत सहायता की। संवत् १८७६ में कर्नल जेम्स टॉड राजपूताने के पॉलिटिकल एजेण्ट बन कर उदयपुर आये तो उन्होंने महाराणा भीमसिंह को सलाह दी कि 'इन्दौर की हालत सुधारने में जोरावरमल जी का ही हाथ था, उन्हें उदयपुर बुलायें।' राणा के आमंत्रण पर जोरावरमल जी उदयपुर आये। यहाँ उन्होंने नये गाँव बसाये, किसानों को सहायता दी एवं चोरों-लुटेरों को पकड़वा कर दण्ड दिलवाया। महाराणा ने इन बहुमूल्य सेवाओं के एवज में उन्हें संवत् १८८४ में छड़ी और पालकी बख्शी एवं 'सेठ' की पदवी दी। अंग्रेजी राज्य के खजाने का प्रबंध भी आपके सुपुर्द किया गया।

महाराणा भीमसिंह की मृत्यु के बाद उनके पुत्र जवानसिंह गद्दी पर बैठे। जवानसिंह के समय भी जोरावरमल जी राज्य के प्रथम श्रेणी के उमरावों में गिने जाते थे। सं० १८९५ में महाराणा की अचानक मृत्यु से उत्तराधिकार के लिए राज्य में विवाद उठ खड़ा हुआ। उस समय जोरावरमल जी ने ब्रिटिश सरकार पर अपने प्रभाव से महाराणा सरदार सिंह जी को दत्तक लिया जाना मंजूर करवाया। सं० १८९९ में उनकी भी मृत्यु हो गयी। उनके पश्चात् महाराणा स्वरूप सिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठे।

संवत् १९०३ में उदयपुर राज्य पर उनका बीस लाख रुपया कर्ज हो गया था। महाराणा ने सेठजी का सारा कर्ज निपटाना चाहा एवं इस हेतु सेठजी की हवेली पर पधारे। महाराणा ने जैसा चाहा, आपने स्वीकार कर लिया। कहते हैं संवत् १८७५ में मेवाड़ की वार्षिक आय ४० हजार रुपये रह गई थी, जो आपके प्रयत्नों से बढ़कर

दस लाख रुपये हो गयी। इन्हीं सेवाओं से प्रसन्न होकर महाराणा ने जोरावरमल जी को पालकी एवं पौत्र को सिरोपाव बख्शा।

अपने अध्यवसाय से आपने देश के ३५० विभिन्न नगरों में ही नहीं, वरन् चीन और रंगून में भी अपनी पेढ़ियाँ (दुकानें) स्थापित कर ली थी। प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहासकार लेफ्टि० ए० एल० बोर्डले ने उन्हें मारवाड़ का 'राथ्सचाईल्ड' कहा है। आपकी विभिन्न स्थानों पर बनाई कोठियों की लागत एक करोड़ रुपये से ऊपर थी। जैसलमेर में आपकी बनवायी हुई पटवों की इतिहास प्रसिद्ध हवेली आपका कीर्ति स्तम्भ है।

सेठ जोरावरमल ने मेवाड़ ही नहीं, अन्य रियासतों के आपसी झगड़े निपटाने एवं ब्रिटिश सरकार से समझौते कराने में अपनी सेवाएँ अर्पित की। जोधपुर नरेश के वार्षिक कर न चुकाने पर अंग्रेजों ने सन् १८३९ में किले पर कब्जा कर लिया। सेठ जोरावरमल ने ही अन्ततः समझौता करवाया। इस कारण जोधपुर नरेश मानसिंह ने जोधपुर की पोद्दारी सेठजी के हवाले कर दी। इस तरह बीकानेर व अन्य देशी रियासतों की राजनीतिक गुत्थियाँ सुलझाने में भी सेठ जी ने प्रमुख योगदान दिया।

आप व्यापारिक जगत में भी अग्रगण्य थे। आप धार्मिक विचारों एवं दानवीरता के लिए प्रसिद्ध थे। आपने जैन तीर्थों के लिए एक संघ निकाला, जिस पर १३ लाख रुपये खर्च हुए। संघ में हजारों व्यक्तियों के अतिरिक्त २२०० साधु-साध्वियाँ और ४०० सेवक थे। शत्रुञ्जय में समापन समारोह में ढाई लाख लोगों ने भाग लिया, मेवाड़ के महाराणा ने चार तोपें, चार हजार सिपाही और डेढ़ सौ घुड़सवार सुरक्षा के लिए साथ भेजे। इसी तरह जोधपुर, कोटा, जैसलमेर व अंग्रेज सरकार ने सुरक्षार्थ अनेक प्रबन्ध किये। जब संघ जैसलमेर लौटा तो जैसलमेर के महाराव व अन्य नरेश उनकी हवेली पर सम्मानार्थ पधारे। सं० १९०८ में इन्दौर में आपका स्वर्गवास हुआ। रायबहादुर सिरेमलजी बापना आपके ही पौत्र थे। आपकी सम्पत्ति का अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि सं० १८८१ में आपके पुत्र चन्दनमलजी के विवाह में दस लाख रुपये खर्च हुए थे।

राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द : (सं० १८८०–१९५२)

आप प्रसिद्ध गोखरू गोत्रीय ओसवाल कुल के राजा डालचन्द एवं उनकी विदुषी भार्या रत्नकुंवर बीबी के पौत्र एवं राजा उत्तमचन्द के सुपुत्र थे। श्री पारसनाथ सिंह के जगतसेठ ग्रंथ के परिशिष्ट में दी हुई वंशावली के अनुसार गेहलड़ा गोत्रीय शाह हीरानन्द के सात पुत्र और एक कन्या–धनबाई पैदा हुई। पुत्रों में ज्येष्ठ श्री माणिकचन्द के कोई सन्तान न थी। उन्होंने धनबाई के पुत्र फतहचन्द को गोद लिया। जिन्हें मुगल

सम्राट् ने जगतसेठ की पदवी दी। धनवाई आगरा के ओसवाल श्रेष्ठि गोखरू गोत्रीय राय उदयचन्द को व्याही थी। इनके वंश में तीसरी पीढ़ी में राजा डालचन्द हुए, जो बनारस में रहते थे।

उनके पुत्र राजा उत्तमचन्द का विवाह लखनऊ के राजा वच्छराज की विदुषी कन्या रत्नकुंवर बीबी से हुआ। इन्हीं के पौत्र राजा शिवप्रसाद सितारे 'हिन्द' थे।



राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द

'हिन्दी के निर्माता'—ग्रंथ के रचयिता वावू श्यामसुन्दर दास के अनुसार राजा डालचन्द नवाव कासिम अली के अत्याचारों से तंग आकर मुर्शिदावाद से आकर काशी बस गये। उनके पुत्र गोपीचन्द थे, जिनके यहाँ सं० १८८० में राजा शिवप्रसाद का जन्म हुआ। आप वहुत ही स्वाध्यायप्रिय, चिंतनशील, मेधावी एवं वहु-भाषा-विज्ञ थे। काशी नरेश तथा अवध के नवाव वाजिदअली शाह आपका वहुत सम्मान करते थे। आप वायसराय द्वारा लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य नियुक्त किये गये। संवत् १९३१ में आप अंग्रेज सरकार द्वारा सी० आई० ई० (सितारेहिन्द) की पदवी से विभूषित किये गये। वर्तमान उत्तरप्रदेश के आप पहले विद्यालय निरीक्षक थे। कर्नल कनिंगम जैसे पुरातत्व सर्वेक्षक आपको अपना मेहरवान दोस्त मानते थे।

आपने हिन्दी साहित्य को अनेक रचनाएँ दीं। आप ही प्रथम भारतीय इतिहासकार माने जाते हैं। आपके वृहद् इतिहास ग्रंथ 'इतिहास तिमिर नाशक' में सिकन्दर, नौशेरवाँ, गजनवी, चंगेज खाँ आदि आक्रमणकारियों से लेकर मुगल सम्राट् शाहआलम (सं० १८६०) तक हुई राजनीतिक चहल-पहल की कथा-व्यथा हिन्दी में संजोयी हुई है। यह ग्रंथ संवत् १९२४ में लेफ्टिनेंट गवर्नर वहादुर की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ।

सं० १९०२ में आपके सहयोग से 'वनारस अखबार' का जन्म हुआ। आपकी विद्वत्ता का द्योतक दूसरा ग्रंथ-'भूगोल हस्तामलक' (तीन भागों में) सं० १९१६ में

प्रकाशित हुआ। आपने अन्य अनेक ग्रंथों की रचना की एवं कई मौलिक ग्रंथों का सम्पादन किया। 'भाषा कल्प सूत्र' की प्रस्तावना में आपने जगतसेठ एवं अपने खानदान का पूरा परिचय दिया है। 'राजा भोज का सपना', 'कर-पल्लवी', 'विद्यांकुर' आदि ग्रंथों की रचना आपने ही की।

राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' उर्दू मिश्रित आम बोलचाल की भाषा के प्रचारक थे। फिर भी आपके प्रयत्नों से अदालतों में हिन्दी का प्रवेश हुआ। उससे पूर्व उर्दू या अंग्रेजी ही मान्य भाषाएँ थीं। आपने शिक्षण कार्य भी रुचि के साथ किया, यही कारण है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द जैसे विख्यात मनीषी भी आपको गुरु मानते थे। संवत् १८४८ में भारत सरकार ने आपको 'राजा' की उपाधि से सम्मानित किया। ओसवाल श्रेष्ठियों में आपही का एक खानदान है, जिसे वंशानुगत 'राजा' की उपाधि प्राप्त है। संवत् १९५२ में आपका देहान्त हुआ।

अमर शहीद असरचन्द बांठिया :

सन् १८५७ (वि० सं १९१४) के स्वतन्त्रता संग्राम का एक ओसवाल सेनानी अब तक इतिहास के पृष्ठों में छिपा सा रहा है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री सुरेन्द्रनाथ सेन ने अपने अंग्रेजी ग्रंथ 'अट्ठारह सौ सत्तावन' में अमरचन्द बांठिया का पावन स्मरण अवश्य किया है, परन्तु उनकी शहादत का उचित मूल्यांकन नहीं हुआ। स्वतन्त्रता संग्राम के प्रमुख सेनानी तांत्या टोपे और झांसी की रानी लक्ष्मीबाई को तो हमने उचित सम्मान दिया, पर जिसने ग्वालियर राज्य का असीम खजाना उन पर न्यौछावर कर दिया, उन अमरचन्द बांठिया का इतिहास में नाम तक नहीं आया!

परमार क्षत्रिय श्री जगदेव ९वीं-१०वीं सदी में जैनाचार्य भावदेव सूरि से प्रबोध ले कर श्वेताम्बर जैन धर्म अंगीकार कर ओसवाल जाति में शामिल हुए थे। इनके पौत्र माधवदास/माधवदेव द्वारा मुक्त हस्त दान देने से उनका बांठिया गोत्र हुआ। कुछ ग्रंथों के अनुसार माधवदेव ने आचार्य भावदेव सूरि से जैन धर्म अंगीकार किया और ओसवाल बने। अन्य इतिहासकार विक्रम की १२वीं सदी में रणथम्भौर के राजा लालसिंह पवांर के पुत्रों द्वारा जैनाचार्य जिनवल्लभ सूरि से प्रतिबोध पाकर जैन धर्म अंगीकार कर लेने एवं ज्येष्ठ पुत्र बंठ से बांठिया गोत्र की उत्पत्ति मानते हैं। कुछ भी हो, 'बांठिया' नामकरण उनकी दानवीरता के कारण हुआ हो—यह सम्भव है। इन्हीं के वंशज वि० सं० १८९२ में फलौदी से ग्वालियर आकर बसे। अमरचन्द जी के दादा खुशालचन्द एवं पिता अबीर चन्द थे। ये सात भाइयों में सबसे छोटे थे। तत्कालीन देशी राज्यों में अनेक ओसवाल परिवार खजांची या कोषाध्यक्ष पद पर नियुक्त थे। यह बांठिया परिवार भी ग्वालियर राज्य के सिंधिया राजघराने में बैंकर था। ग्वालियर नरेश जियाजी राव सिंधिया ने गंगाजली (राज्य-कोष) का भार राज्य के पोद्दार श्रीवृद्धिचन्दजी संचेती के

परामर्श से अमरचन्द जी बांठिया को सौंपा। उस समय सिंधिया नरेश अनाप-शनाप सम्पत्ति के मालिक थे एवं मोती वाले राजा के नाम से जाने जाते थे। अमरचन्दजी ने योग्यतापूर्वक यह भारवहन किया एवं राजकोप में अकूत धन वृद्धि हुई।

झाँसी के राजा गंगाधर राव की मृत्यु पर १३ जून १८५४ (वि० सं० १९११) को अंग्रेजों ने झांसी को कम्पनी सरकार में मिलाने की घोषणा की। ४ जून १८५७ (वि० सं० १९१४) को झांसी में विप्लव की चिनगारी फूटी और रानी झांसी की हुकूमत स्थापित हुई। ग्वालियर की सेना ने भी क्रान्ति का झण्डा लहराया। अंग्रेजों के बंगले जला दिये गये। कुछ अंग्रेज सिंधिया नरेश की शरण में आये। उस समय सिंधिया ने क्रान्तिकारियों का साथ दिया होता तो इतिहास ही कुछ और होता। अगस्त १८५७ में तांत्या टोपे की सेना बिठूर में हार गयी। तांत्या टोपे और नाना साहब सेना लेकर ग्वालियर आये। झांसी की रानी ने भी साथ दिया। जून १८५८ (वि० सं० १९१५) को युद्ध में पराजित होकर सिंधिया जियाजीराव भाग कर आगरा चले गये। रानी की जीत से देशभक्त अमरचन्द्र बांठिया इतने प्रसन्न थे कि उन्होंने एक भव्य स्वागत समारोह का आयोजन किया और शानदार भोज दिया।

स्वतन्त्रता संग्राम छिड़ने के कुछ ही दिन बाद से सेना का अस्थाई कण्ट्रोल एवं प्रबन्ध राव साहब व तांत्या टोपे के हाथ में था। उन्होंने विद्रोह को सबल बनाने की दृष्टि से करीब २०.५० लाख रुपये खर्च कर डाले, जिसका आज ७ करोड़ मूल्य बैठता है। रानी झाँसी एवं राव साहब के अनुरोध पर देशहित सर्वोपरि मानकर अमरचन्द बांठिया ने यह धनराशि खुशी-खुशी उन्हें दी—यह जानते हुए भी कि अंग्रेज इस देशभक्ति की सजा फांसी पर लटका कर ही देंगे। एक बारगी इस विशाल धनराशि की बदौलत विद्रोही सेना में जान आ गयी। फिर जब जब जरूरत हुई, अमरचन्द ने गंगाजली देशभक्त सेना पर न्यौछावर कर दी।

अपूर्व रण कौशल एवं अद्भुत साहस का परिचय देती हुई रानी लक्ष्मीबाई लश्कर के कम्पू मैदान में १८ जून १८५८ (वि० सं० १९१५) को अंग्रेज सेना से जबरदस्त टक्कर लेती हुई वीरगति को प्राप्त हुई। विजयी अंग्रेजी सरकार ने जियाजी-राव सिंधिया को २० जून १८५८ (वि० सं० १९१५) को गद्दीनसीन किया एवं क्रान्तिकारियों की मदद करने वालों का एक-एक कर सफाया किया। ब्रिगेडियर नैपियर ने कम्पनी सरकार के हुक्म से २२ जून १८५८ (वि० सं० १९१५) को अमरचन्द बांठिया को विद्रोहियों पर राजकोप न्यौछावर करने के जुर्म में फांसी पर लटका दिया। उनका पार्थिव शरीर जनता को चेतावनी स्वरूप ३ दिन तक फांसी पर लटकाये रखा गया। लश्कर के सराफा बाजार में खड़ा सदियों पुराना नीम का वृक्ष, जिस पर उन्हें फांसी पर लटकाया गया था, आज भी उस जवां मर्द ओसवाल कुल नक्षत्र की उत्सर्ग

गाथा कह रहा है। भारत के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के अमर शहीद की पावन स्मृति चिरस्थायी बनाने के लिए कानपुर के प्रमुख समाजसेवी श्री हजारीमल जी बांठिया प्रयत्नशील हैं।

श्रीमद् रायचन्द :

ओसवाल (श्रीमाली) जाति के अनमोल हीरों में एक श्रीमद् रायचन्द थे। उनके सत्संग में बैठने वालों एवं प्रशंसकों का कहना है कि वे पच्चीसवें तीर्थंकर समान थे। उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया। उनका पूरा नाम श्रीमद् रायचन्द रवजी भाई मेहता था। श्रीमद् का जन्म काठियावाड़ के बवाणिया गाँव में संवत् १९२४ की कार्तिक पूर्णिमा को हुआ। आपके पिता रवजी भाई एवं दादा पंचाण भाई मूलतः माणकवाड़ा (मोरवी) से सं० १८९२ में बवाणिया आकर बसे थे। जब आप सात वर्ष के थे, तभी किसी परिचित गृहस्थ की साँप के डसने से अकाल मृत्यु हो गयी। उसे देखकर आपके मानस में उथल-पुथल मच गयी। मृत्यु सम्बन्धी तीव्र जिज्ञासा ने मन के आवरण हटा दिये। कहते हैं उसी समय आपको पूर्व जन्म का आभास [जाति स्मरण ज्ञान] हुआ एवं आपके अन्तःकरण में वैराग्य के अंकुर फूटे। प्रारम्भ में आप दादा की तरह कृष्ण-भक्त थे। एक साधु रामदास से कंठी भी बँधवाई थी। परन्तु आपका वैराग्य एवं त्यागप्रधान चित्त धीरे-धीरे जैन धर्म की ओर झुकता गया। तेरह वर्ष की आयु में पूर्णतः जैन रंग में रंग गये। आप असाधारण स्मरण शक्ति के धारक थे। एक बार पढ़ लेने मात्र से कालान्तर में उसे ज्यों का त्यों दोहरा देना आपके लिए सहज था। १४-१५ वर्ष की उम्र में ही आप अवधान करने लगे थे। १९ वर्ष की वय में बम्बई में डॉ० पिटर्सन की अध्यक्षता में एक सार्वजनिक सभा में शतावधान कर आपने अद्भुत धारणा शक्ति का परिचय दिया। तत्कालीन भारत में वे ही एकमात्र शतावधानी थे। संवत् १९४३ में श्रीमद् रायचन्द के शतावधान-प्रयोगों से सारे भारत में तहलका मच गया था। हाई-कोर्ट के जजों, विद्वानों एवं महात्माओं ने उनकी स्मरण शक्ति के चमत्कार की प्रशंसा की थी। वे रातों-रात प्रसिद्धि के लिए शिखर पर पहुँचे, पर श्रीमद् ने इसे कभी महत्त्व नहीं दिया। वे अवधान के साथ ही अलौकिक स्पर्शेन्द्रिय के स्वामी भी थे। एक बार देखकर फिर आँखें बन्द करके मात्र स्पर्श से विभिन्न पुस्तकों के नाम बता सकते थे। रसोई को देखकर चखे बिना और स्पर्श किये बिना कौन-सी बानगी में नमक कम या अधिक है—कह देना उनकी इन्द्रिय शक्तियों के चरमोत्कर्ष का साक्षी है। उनके जीवन-प्रसंग सम्बन्धी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। इस प्रकार श्रीमद् में अलौकिक विभूतियों का का साक्षात्कार देखकर आत्मा की अनन्त शक्तियों की प्रतीति होती है।

वि० सं० १९४४ में उनका विवाह गांधीजी के परम मित्र डा० प्राण जीवन मेहता के बड़े भाई पोपटलाल की पुत्री झंवकबाई से हुआ। विवाहोपरांत वे जवाहरात के व्यापार में लगे। ग्यारह वर्ष तक वे गृहस्थाश्रम एवं व्यापार में संलग्न रहे। इनके दो पुत्र और

दो पुत्रियाँ हुईं। संवत् १९४६ में श्रीयुत् रेवाशंकर जगजीवन के साझे में बम्बई में जवाहरात का काम शुरू किया। व्यापार में कुशल होते हुए भी इसे संसार माया और प्रपंच मान कर तटस्थ बने रहते थे। किसी को ठगने के लिए कुछ नहीं करते थे। ग्राहक या विक्रयकर्ता की चालाकी वे शीघ्र समझ जाते थे। उन्हें वह असह्य होती थी। हीरे-मोती की परीक्षा अत्यन्त सूक्ष्मता से करते। उनका अनुमान प्रायः सत्य सिद्ध होता। लाखों रुपये के सौदे की बात करके तत्क्षण आत्मज्ञान की गूढ़ बातें पढ़ने या लिखने बैठ जाते—ऐसा व्यापारी नहीं, ज्ञानी ही कर सकता है। उनका कहना था कि धार्मिक मनुष्य का धर्म उसके प्रत्येक कार्य में दिखायी देना चाहिए। धर्मकुशल मनुष्य, व्यवहार कुशल नहीं होता—इस वहम को रायचन्द भाई ने असत्य सिद्ध कर दिया।

कई बार एकान्त साधना के लिए वे चरोत्तर एवं इडर के जंगलों में चले जाते थे। इस तरह पाँच वर्ष तक कठोर तपश्चर्या की। एक गृहस्थ बंधु के अनुरोध पर 'आत्म-सिद्धि' नामक ग्रंथ की रचना की, जो गुजराती में जैन धर्म का सर्वोत्तम ग्रंथ माना जाता हैं। श्रीमद् ने इसमें १४२ दोहों के माध्यम से जैन दर्शन का सार प्रस्तुत कर दिया है। स्त्री·नीति-बोध, काव्यमाला, वचन सप्तसती, पुष्पमाला आदि उनकी १६ वर्ष वय-पूर्व की रचनाएँ हैं।

उनके जीवन के हर क्षण में निर्ग्रन्थ की सी अनासक्ति झलकती थी। स्त्री को वे सत्संगी समझते थे। कभी किसी ने उन्हें किसी वैभव के प्रति मोह करते नहीं देखा। धोती कुरता, अंगरखा और पगड़ी—यही उनकी वेश-भूषा भी। उनके हर कार्य में वीतराग की विभूति के दर्शन होते थे। उनकी दैनन्दिनी में लिखे विचारों में कही कृत्रिमता नहीं है।

वे ज्ञानी और कवि तो थे, पर मुख्यतः आत्मार्थी थे। वे कहते थे : "काव्य, साहित्य एवं संगीत आदि कलाएँ आत्मार्थ हों, तभी श्लाघ्य हैं, अन्यथा निरर्थक। वास्तविक ज्ञान शास्त्र, काव्य-चातुरी या भाषा-सौष्ठव से परे आत्मा से सम्बन्धित है।" महात्मा गांधी उनसे बहुत प्रभावित थे। सेवा-परायणता के ईसाई दर्शन से गांधीजी को (दक्षिण अफ्रीका प्रवास सन् १८९३ के दौरान) अध्यात्म की ओर मोड़ने का श्रेय श्रीमद् रायचन्द भाई को ही हैं।

शतावधान और ज्योतिष उनके ज्ञान का अंग अवश्य थे, पर स्मरण शक्ति का प्रयोग करना, पूर्व जन्म की बातें कहना उन्होंने छोड़ दिया था। वे सदा आत्म-साधना में लीन रहे। इस सम्बन्ध में उनकी दैनन्दिनी का एक उल्लेख उनके सम्पूर्ण जीवन-दर्शन को उद्घाटित करता है—"हम अपने किसी भी प्रकार के अपने आत्मिक बन्धन के कारण संसार में नहीं रह रहे हैं। स्त्री से पूर्व में बांधा हुआ कर्म निवृत्त करना है, कुटुम्ब का पूर्व में लिया हुआ कर्ज वापिस देकर निवृत्त होने के लिए उसमें निवास

करते हैं। उन जीवों की इच्छाओं को भी दुखित करने की इच्छा नहीं होती। उसे भी अनुकम्पा से सहन करते हैं—परन्तु इसमें किसी प्रकार की हमारी इच्छा नहीं है।"

ज्यों-ज्यों संस्कार क्षय हुए, वे आत्म-समाधि में लीन रहने लगे। संवत् १९४७ में एक पत्र में लिखे श्रीमद् के उद्‌गार आत्म-साधकों के मार्ग-दर्शन में सहायक हो सकते हैं :

"परिपूर्ण स्वरूप ज्ञान उत्पन्न होने के बाद इस समाधि से निकलकर
लोकालोक के दर्शन को जाना कैसे बनेगा ?
अब हमें मुक्ति न चाहिए,
न जैनों का केवल ज्ञान। अब हम अपनी दशा किसी
प्रकार नहीं कह सकेंगे,
निरुपायता है।"

संवत् १९५७ में ३३ वर्ष की अल्पायु में राजकोट में श्रीमद् रायचन्द ने शरीर त्याग कर महाप्रयाण किया। उनकी स्मृति में रत्नकूट, हम्पी (मैसूर) में बनाया गया, 'श्रीमद् रायचन्द्र आश्रम' जैन जगत् एवं समस्त आध्यात्म प्रेमियों के लिए उपयुक्त साधना-स्थली है।

श्रीपूर्णचन्द नाहर :

अंग्रेजी शासन के दौरान ओसवाल जाति के एक और नक्षत्र—चमके श्री पूर्णचन्द नाहर, जिनके सद्‌प्रयत्नों से जाति के सांस्कृतिक व सामाजिक अभ्युदय का नया अध्याय शुरू हुआ।

आपका जन्म १५ मई १८७५ (वि० सं० १९३२) को अजीमगंज के प्रख्यात नाहर परिवार में हुआ। पिता रायबहादुर सिताबचन्द बड़े जमींदार थे। पूर्णचन्द जी ने सन् १८९५ में बी० ए० पास किया। वे बंगाल में ओसवाल समाज के प्रथम ग्रेज्युएट हुए। पश्चात् अदालत में प्रविष्ट हुए। सन् १९०४ में कलकत्ता हाईकोर्ट के वकील नियुक्त हुए। परन्तु नियति को कुछ और ही मंजूर था। एक दिन सर आशुतोष मुखर्जी के पास पहुँचे और कलकत्ता विश्वविद्यालय का परीक्षक बनने की इच्छा जाहिर की। सर आशुतोष ने तुरन्त उन्हें हिन्दी का परीक्षक नियुक्त कर दिया। नाहरजी अपनी नियुक्ति से प्रसन्न होने के साथ-साथ स्तब्ध रह गये। उन्हें मालूम था कि हिन्दी में उनकी पैठ नहीं है। अतः दूसरे ही दिन 'भारतमित्र' के कार्यालय पहुँचे। उनके जुट कर लिखना शुरू किया और जब तक परीक्षा की कापियां जांच के लिए आयीं, उन्होंने अपने आपको अधिकारी परीक्षक बना लिया।

साहित्य और पुरातत्व की ओर रुझान होने के कारण शीघ्र ही कानून का क्षेत्र छोड़ दिया। पुरातत्व उनका नशा बन गया। अनेक तीर्थों एवं ऐतिहासिक स्थलों का परिभ्रमण कर अनेकानेक चित्र, वस्तुशिल्प, मूर्तियाँ, हस्तलिखित ग्रन्थ संग्रह कर 'कुमार सिंह हाल' स्थित पुस्तकालय एवं संग्रहशाला की स्थापना की। आपका दियासलाइयों का संग्रह तो जग-विख्यात है। आपको संस्कृत, पाली एवं अंग्रेजी भाषाओं का ज्ञान था। लेखन भी हिन्दी, बंगला एवं अंग्रेजी में निरन्तर चलता रहा। आपका 'जैन लेख संग्रह' अपूर्व ग्रंथ है, जिसमें ३००० शिलालेखों का सन्निवेश है। यह ग्रंथ तीन भागों में है एवं जैन इतिहास का प्रामाणिक दस्तावेज माना जाता है। 'एपीटोम ऑफ जैनिज्म' नामक विशाल ग्रन्थ में आपने एवं श्री कृष्णचन्द्र घोष ने प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। 'प्राकृत सूक्त रत्न माला' में प्राकृत भाषा की सूक्तियों का संग्रह है। साथ ही उनका अंग्रेजी अनुवाद भी आपने दिया है। आपकी कृति 'पावापुरी का प्राचीन इतिहास' जैनों का लोकप्रिय ग्रन्थ है।

विद्वत्-समाज में आपका बड़ा आदर था। कलकत्ता विश्वविद्यालय की अनेक परीक्षाओं के आप परीक्षक थे। इंग्लैण्ड की रायल एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, बिहार—उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, वंगीय साहित्य परिषद्, भण्डारकर ओरियंटल इन्स्टीट्यूट, नागरी प्रचारणी सभा आदि के आप वरेण्य सदस्य थे। एक समय आप मुर्शिदाबाद एवं लालबाग के आनरेरी मजिस्ट्रेट भी नियुक्त हुए। अनेक अन्य सभाओं के आप आजीवन सदस्य, कमिश्नर व मंत्री रहे। राजगृह, पावापुरी, शत्रुञ्जय आदि तीर्थों पर आपने धर्मशालाएँ बनवायीं। अजमेर में सन् १९३२ में हुए 'अखिल भारतीय प्रथम ओसवाल महा सम्मेलन' के आप सभापति चुने गये थे। ३१ मई १९३६ को आपकी मृत्यु हुई। आपने साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में ओसवाल समाज का नाम उजाला।

श्री पूर्णचन्दजी नाहर के विशाल पांडित्य, कठोरतम परिश्रम और अपूर्व शास्त्र-ज्ञान की प्रशंसा में साहित्याचार्य श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी का एक श्लोक उल्लेखनीय है :

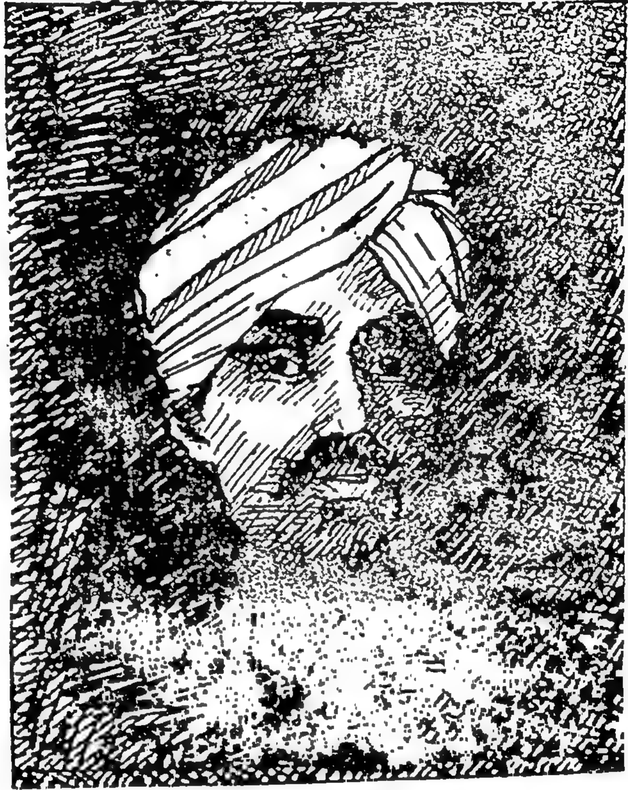
विज्ञान-विद्या विभवप्रसारमधीत जैनागम शास्त्र सारम् ।
चन्द्र' पुराकृत तमोत्कारं, त्वां पूर्णचन्द्रं शिरसा नमामि ॥

राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त ने नाहर जी के आदर्श एवं व्यक्तित्व को अपनी इन पंक्तियों में अमर कर दिया है :

बहुरत्ना वसुधा विदित और धनी भी भूरि।
दुर्लभ हैं ग्राहक तदपि पूर्णचन्द सम सूरि ॥

राय बहादुर सिरमेल बाफना :

जिन ओसवालों ने राजस्थान के इतिहास को गौरवान्वित किया, उनमें अपनी दूरदर्शितापूर्ण राजनैतिक प्रतिभा के कारण सिरमेलजी बाफना का नाम अग्रगणी है। वे अनेक वर्षों तक इन्दौर राज्य के प्राइम मिनिस्टर रहे। नाबालिग राजा की शासकी बड़ी नाजुक होती है। षड़यंत्रों से भरपूर स्थितियों में शासन चलाना और राजा का विश्वास जमाये रखना कोई हँसी-खेल नहीं होता।



वजीर उद्यौला सिरेमल जी बाफना

देशी राज्यों के खजानों के व्यवस्थापक सेठ जोरावरमल जी बाफना की मृत्योपरांत उनके पुत्र चन्दनमल जी उदयपुर रहकर राज्य की सेवा करते रहे। सं० १९२४ में उनकी मृत्यु हुई। उनके कनिष्ठ पुत्र छोगमल जी थे, जिनके द्वितीय पुत्र सिरमेल जी थे। आपका जन्म सं० १९३९ में हुआ। पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा आपके गुरु थे। आपकी प्रायमिक शिक्षा अजमेर में हुई। आपका विवाह बाल-अवस्था में ही मेहता भोपाल सिंह की पुत्री से कर दिया गया। आपकी उच्च शिक्षा इलाहाबाद के म्योर सेण्ट्रल कॉलेज में हुई।

संवत् १९६१ में आपने एल० एल० बी० प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान पर पास कर अजमेर में वकालत शुरू की। संवत् १९६४ में आप होल्कर राज्य के डिस्ट्रिक्ट जज नियुक्त किये गये। सं० १९६७ में जब होल्कर दरबार विलायत गये, तो बाफना साहब उनके साथ थे। संवत् १९७२ में आप होम मिनिस्टर नियुक्त हुए। छः वर्ष तक बड़ी योग्यता से आपने राज्य का शासन भार संभाला। तदुपरान्त कुछ अरसे तक आप पटियाला राज्य के मंत्री नियुक्त हुए। संवत् १९८० में होल्कर दरबार ने पुनः आपको इन्दौर

बुला लिया और राज्य का डिपुटी प्राइम-मिनिस्टर नियुक्त किया। संवत् १९८३ में आप प्राइम मिनिस्टर बने, इस तरह अनेक वर्षों तक राज्य का शासन-भार आप ही के कंधों पर रहा।

संवत् १९७१ में दिल्ली दरबार के समायोजन पर ब्रिटिश सरकार ने आपको 'राय बहादुर' की पदवी से सम्मानित किया। लन्दन में हुई गोलमेज कान्फ्रेंस में आपने इन्दौर के महाराजा का प्रतिनिधित्व किया। संवत् १९८७ में महाराजा ने आपको 'वजीर-उद्दौला' की पदवी से विभूषित किया। अगली साल ब्रिटिश सरकार ने आपको सी० आई० ई० का सम्मान इनायत किया। संवत् १९९२ में 'लीग ऑफ नेशन्स' अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान के जेनेवा अधिवेशन में आप भारतीय प्रतिनिधि की हैसियत से शरीक हुए। संवत् १९९३ में ब्रिटिश सरकार ने आपको सर्वोच्च सम्मान नाईट (सर) की उपाधि दी।

सरकारों में ही नहीं, समस्त प्रजा में आप लोकप्रिय थे। प्रजा का कल्याण आप के लिए सर्वोपरि था। आपके सद्प्रयत्नों से इन्दौर का छावनी क्षेत्र, जो ब्रिटिश सरकार के कब्जे में था, पुनः राज्य में शामिल कर लिया गया एवं भारत के वाइसराय के पास इन्दौर राज्य का प्रतिनिधि हर समय रहने लगा। इससे राज्य के विकास में बहुत सहायता मिली। यह अधिकार किसी अन्य राज्य को प्राप्त नहीं था। इन्दौर में विशाल 'वाटर वर्क्स' के निर्माण का श्रेय आपको ही है। सम्पूर्ण संसार में ऐसी एक-दो योजनाएँ ही क्रियान्वित हुई हैं। इसने आपको चिर स्मरणीय बना दिया। शिक्षा-जगत् में आपने राज्य की अभूतपूर्व सेवा कर क्रान्ति ही ला दी।

संवत् १९९६ में बाफना जी सेवा निवृत्त हुए! तत्कालीन बीकानेर के महाराजा गंगा सिंह जी उन्हें अपनी रियासत का प्रधान मंत्री बनाकर ले गये, जहाँ वे दो वर्ष रहे और बहुत लोकप्रिय हुए। आपने रतलाम और अलवर रियासतों के मुख्यमन्त्री पदों पर भी कार्य किया। परन्तु स्वास्थ्य खराब रहने की वजह से संवत् २००४ में पूर्णतः सेवा-निवृत्त हो गये।

बापना जी सौजन्यता और उदारता की प्रतिमूर्ति थे। अनेक विधवाओं, विद्यार्थियों और दीन-दुःखियों की सहायता वे निरन्तर करते रहते थे। अनेक वर्षों तक महाराजा की नाबालिगी में राज्य के सर्वेसर्वा और निरन्तर चौदह वर्षों तक प्रधानमन्त्री रहते हुए भी जब वे कार्यभार से मुक्त हुए, तो आकंठ कर्ज में डूबे थे। कोई और होता तो करोड़ों की सम्पत्ति अर्जित कर ली होती। अपनी मृत्यु से एक-दो वर्ष पूर्व बापनाजी ने जैसलमेर स्थित अपनी पैतृक सम्पत्ति का भी एक ट्रस्ट बना दिया, जो अब भी गरीबों, बीमारों एवं असहायों की सहायता करता है। ओसवाल वंश का यह सितारा संवत् २०२१ में इन्दौर में अस्त हुआ।

सेठ श्री सोहनलाल दूगड़:

आधुनिक भारत के जिस इतिहास पुरुष ने सर्वाधिक यश कमाया, वे थे–श्री सोहन लाल दूगड़। इस ओढ़रदानी का जन्म विक्रम संवत् १९५२ में शेखावाटी (राजस्थान) के फतहपुर नगर में हुआ। आपके पूर्वज सूरजमलनी मारवाड़ से उठकर फतहपुर आये। यहाँ के नवाब ने उन्हें कुशल योद्धा और दीवान की प्रतिष्ठा दी। आपके पिता श्री जोहरीमल जी नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति माने जाते थे। सोहनलाल जी के कोई अपनी सन्तान न थी। उन्होंने दो पुत्रों को गोद लिया। मुख्य व्यवसाय क्षेत्र कलकत्ता रहा। व्यवसाय के नाम पर सट्टा प्रमुख था—कुछ ही क्षणों में लाखों की खोई-कमाई! बम्बई, दिल्ली एवं कलकत्ता के रूई, चाँदी एवं जूट के सट्टा बाजारों पर वे हावी रहे। परन्तु पैसा बटोरना उनके जीवन का लक्ष्य कदापि नहीं रहा, उनका रस तो उसे बाँटने में था।

दानी तो विश्व-इतिहास में और भी हुए हैं, जिन्होंने बिना हिचक अपना सर्वस्व न्यौछावर किया है, पर सेठ सोहनलाल अद्भुत एवं बेजोड़ थे। जहाँ जरूरत समझते, बिन बुलाये ही वे स्वयं थैलों में नोट भरकर पहुँच जाते। भारत का कोना-कोना विशेषतः शेखावाटी एवं थली प्रान्त की स्कूलें, सामाजिक संस्थाएँ, हरिजन परिवार एवं जरूरतमन्द विधवाएँ—सभी उनके दान से अनुगृहीत हुईं। उन्होंने जितना दिया, उसका लेखा जोखा तक करना असंभव है। ऐसे दिया कि दाहिने हाथ से देते हुए बायें हाथ को खबर तक न होने दी। ऐसे निस्पृह दानी थे दूगड़जी। जब किसी ने कहा—'अभी आवश्यकता नहीं है जरूरत होगी तब मँगा लेंगे' तो फौरन जवाब मिला—"कौन भरोसा, उस समय मेरे पास हो न हो। यह तो रख ही लीजिये।"

दूगड़जी पढ़े लिखे न थे, पर विद्वानों का बड़ा आदर करते थे। गाँधी और विनोवा के बड़े भक्त थे। सम्प्रदाय, जाति या धर्म उनके कार्य कलाप में कभी बाधक नहीं बना। गोरक्षा आन्दोलन में तन मन धन से अग्रणी रहे, जेल गये। सरल हृदय इतने थे कि हर किसी के दुःख से कातर हो उठते और सर्वस्व लुटाने को तत्पर रहते। जैन थे परन्तु धर्माचार्यों को भी खरी खरी सुनाने से नहीं चूके। लाडनूं में आयोजित धार्मिक क्रान्ति सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष के नाते ३० जनवरी १९६१ को उन्होंने दो टूक बात कही कि "आज धर्म के नाम पर आचार्य, साधु-संत, मठाधीश, पंडे-पुजारी इत्यादि अपनी पूजा और सेवा कराने में लगे हैं। इससे समाज और राष्ट्र के जीवन में निर्बलता आयी है। समय आ गया है कि अब सबका विघटन किया जाय। हम पुराने धर्म से निकलकर नयें धर्म को धारण करने के लिए परिश्रम और सेवा करें। देश का साधु समाज आगे और समाज में आकर सेवा के जरिये राष्ट्र को नवीन ज्योति से जगमगा दे"। संवत् १९९८ में उन्होंने अपना फतहपुर स्थित विशाल 'आजाद भवन' लोकार्पित कर दिया, जो कालांतर में नगर की शैक्षणिक, सामाजिक एवं राजनैतिक प्रवृत्तियों का केन्द्र बना।

थली के विभिन्न नगरों में बाल मन्दिरों की शृंखला ही खड़ी कर दी। अकाल से विपन्न या अग्निकांड से त्रस्त लोगों के लिए बिना भूख प्यास की परवाह किये वे नोट बाँटते फिरे। संवत् २०२१ में भारत जैन महामंडल के सांगली अधिवेशन का अध्यक्ष चुन कर समाज ने उनका समुचित सम्मान किया।

संवत् २०२५ में वे स्वर्गवासी हुए। आचार्य तुलसी ने उन्हें 'निष्काम कर्मयोगी' एवं अमर मुनि ने 'सूखी धरती का मेघ' कह कर श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। श्री कन्हैलाल जी सेठिया ने दूगड़ जी की 'कालजयी' विशेषण से अभ्यर्थना की। कलकत्ता में ओसवालों की प्रतिनिधि संस्था 'ओसवाल नवयुवक समिति' के भवन निर्माण के लिए वे स्वयं चन्दा मांगने निकले थे। समिति ने संवत् २०४२ में उनकी संगमर्मर की वक्ष-प्रतिमा अपने प्रांगण में प्रस्थापित कर अपने को धन्य माना। संवत् २०३६ में अखिल भारत वर्षीय अभिनन्दन समिति की ओर से आपकी स्मृति में एक वृहद् स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, जिसमें सभी प्रेमियों के श्रद्धा सुमन ही नहीं, आपके क्रिया कलापों का सही आंकलन एवं दान-वर्षा का अनोखा किन्तु अपूर्व लेखा जोखा दर्ज है।

देवीलाल सामर :

राजस्थान की लोक संस्कृति को विश्व के कोने-कोने में पहुँचाने का श्रेय ओसवाल कुल के दीपक श्री देवीलाल सामर को है। गर्मी की तपती दुपहरी और सर्दी की ठिठुराती रातों में गाँव-गाँव घूम कर इस कला उपासक ने लोक कथाओं के संरक्षण, संकलन एवं संवर्धन में जो योगदान किया, वह स्वातन्त्रोत्तर भारत के सांस्कृतिक इतिहास की विशिष्ट उपलब्धि है।

आपका जन्म खैरादीवाड़ा, उदयपुर में ३० जुलाई १९११ (वि० सं० १९६८) को हुआ। आपके पिता अर्जुन सिंह जी पुत्र-जन्म के तीन महीने पूर्व ही परलोकवासी हो गये थे। पांच वर्ष बाद माता भी नहीं रहीं। उस समय रामलीला का अच्छा प्रसार था। बाहर से मण्डलियाँ आती थीं। देवीलाल जी को रामलीला में इतना रस आया कि ११-१२ वर्ष की उम्र में एक मण्डली के साथ ही निकल पड़े। माता को यह मंजूर न हुआ तो उदयपुर में ही अपनी मंडली बना ली—यही उनके कला जीवन की शुरुआत थी।

प्रसिद्ध शिक्षाविद् डा० मोहन सिंह मेहता के सम्पर्क में आये। जीवन में व्यवस्था एवं सुधार का सूत्रपात हुआ। १६ वर्ष की उम्र में ही विवाह हो गया। संवत् १९८४ में वे श्वसुर के प्रयत्न से पढ़ने काशी विश्वविद्यालय, बनारस चले गये। वहाँ अभिनय कला को उपयुक्त बढ़ावा मिला। वे नायक की भूमिकाओं में पारंगत हो गये एवं अच्छी ख्याति अर्जित की। यहीं उन्होंने संगीत एवं वायलिन की शिक्षा पायी। १९३० में गांधी की आंधी में बह गये। सत्याग्रह आन्दोलन में हिस्सा लेने लगे लेकिन उन्हें नानी की भूख-हड़ताल से द्रवित हो उदयपुर लौट आना पड़ा। फिर तो नाटक-

प्रदर्शनों का दौर चला। सामरजी को प्रेरणा से संपूर्ण मेवाड़ में अनेक-मण्डलियों की स्थापना हुई। मामा को जब यह सहन न हुआ तो उनका घर छोड़कर डा० मेहता के स्काउट आश्रम चले आये। फिर विद्या-भवन की स्थापना हुई तो सामरजी उसे समर्पित हो गये। वहीं से लोक कला के अभिनव प्रयोग शुरू किये। उसके सांस्कृतिक मंच 'कला-मंडल की नींव रखी। बुद्ध, गांधी, राम एवं कामायनी पर लिखे उनके पेजेन्ट में विद्याभवन के ड़ेढ़-ड़ेढ़ सौ पात्र अभिनय करते थे एवं समूचा उद्यान ही रंगमंच वन जाता था।

नाट्य लेखन के साथ गद्यगीत एवं कविता भी सामरजी लिखते रहे जो विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं। उनकी पहली कहानी 'तिरस्कृत' संवत् १९८५ में छपी। 'चन्द्रलोक' 'मृत्यु के उपरान्त' एवं 'आत्मा की खोज' नामक नाटक संग्रह प्रकाशित हुए। अनेक उच्चस्तरीय एकांकी लिख कर उन्होंने साहित्य के इस पक्ष को गरिमा प्रदान की। अनेक एकांकी आकाशवाणी केन्द्रों से प्रसारित हुए। १९४७ में सामरजी प्रसिद्ध नृत्यकार उदयशंकर के सम्पर्क में आये एवं अलमोड़ा में उनके नृत्य केन्द्र में लोक-नृत्य-शिक्षक नियुक्त हुए। उदयशंकर की नृत्य-फिल्म 'कल्पना' में सामरजी ने 'सुन्दर' को महत्वपूर्ण भूमिका ही नहीं अदा की, बल्कि उसके गीत-संवादों का भी सृजन किया।

संवत् २००९ में सामरजी ने विद्याभवन छोड़ा और लोक-धर्मी कलाओं के शोध-संवर्धन एवं उन्नयन के लिए 'भारतीय लोक-कला मंडल' की स्थापना की। बड़े धैर्य और हिम्मत के साथ इस महत् कार्य में जुटे। लेखन भी चलता रहा। लोक संगीत, लोक नृत्य, लोक नाट्य, लोकोत्सव आदि एक-एक कर अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए। अनेक कलाकारों को खड़ा किया। कठपुतली के समारोहों ने देश में धूम मचा दी। उन्होंने भारत सरकार के आग्रह पर मध्य प्रदेश, राजस्थान, मणिपुर एवं त्रिपुरा के आदिवासियों के सर्वेक्षण एवं फिल्मांकन का दुःसाध्य कार्य बड़ी लगन एवं सफलतापूर्वक कर दिखाया। संवत् २०१३ में कला मण्डल का संग्रहालय बना, जो अब अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित कर चुका है। इसमें लोक मंचीय विधाओं, वाद्यों, प्रतिमाओं, भित्ति चित्रों, कठपुतलियों का अभूतपूर्व संग्रह है। कला मंडल द्वारा लोक कलाओं को अन्वीक्षक 'रंगायन' एवं 'लोककला' पत्रिकाओं का प्रकाशन होता है। राजस्थान के सांस्कृतिक गौरव को उजागर करने वाले ढ़ेर सारे प्रकाशन हुए हैं। विविध अंचलों में व्याप्त लोक धर्मी रंगीनियों को इस तरह सब के लिए सुलभ कर देने एक सांस्कृतिक वातावरण का निर्माण हुआ। विश्व विद्यालयों ने लोक कला का पठन पाठन शोध के लिए स्वीकृत किया। डा० महेन्द्र भानावत के निर्देशन में कला मण्डल में अब भी सामरजी का स्वप्न आकार पा रहा है। विदेशी कलाकारों का तो यह तीर्थ स्थल ही वन गया है। उनके वरद पुत्र गोविन्द जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। कठपुतली सर्कस को उन्होंने चमत्कार युक्त कर दिया था। उनके असमय निधन ने सामरजी को निढ़ाल कर दिया।

सामरजी ने अनेक बार विदेश-यात्राएँ कीं एवं लोक-कला का प्रदर्शन कर अपार ख्याति अर्जित की। संवत् २०२४ में राज्य सरकार ने उन्हें राजस्थान संगीत नाटक अकादमी का अध्यक्ष मनोनीत किया। संवत् २०२५ में वे राष्ट्रपति द्वारा 'पद्म श्री' अलंकरण से विभूषित हुए। संवत् २०२६ में कालिदास अकादमी, इलाहाबाद ने उन्हें 'लोकनाट्य श्री' की उपाधि दी। राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर द्वारा वे 'कलानिधि' की उपाधि से सम्मानित किये गये। इटली के पादुआ विश्वविद्यालय ने उन्हें रजत पदक से अलंकृत किया। हनोई की वियतनाम सरकार ने उन्हें सर्वोच्च कला पदक प्रदान किया।

इस प्रख्यात लोक-संस्कृतिविद् एवं कला-मर्मज्ञ का ७१ वर्ष की आयु में संवत् २०३८ में बम्बई में देहांत हुआ।

डा० विक्रम साराभाई :

ओसवाल कुल श्रीमाल गोत्र (दसा) के नक्षत्र एवं भारत के अंतरिक्ष अनुसंधान के जनक डा० विक्रम सारा भाई का नाम आधुनिक भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित हो चुका है। उन्होंने अंतरिक्ष एवं परमाणु ऊर्जा विज्ञान को अन्तर्राष्ट्रीय फलक पर प्रस्थापित कर भारत को विश्व के अग्रणी देशों की कोटि में ला खड़ा किया। स्वयं ऊर्जा के इस भण्डार से भारत के अनेक वैज्ञानिक शैक्षणिक व अनुसंधान केन्द्र संचालित हैं।

आप का जन्म अहमदाबाद में विक्रम संवत् १९७६ में हुआ। आप के पिता श्री अंबालाल साराभाई बड़े उद्योगपति थे। आपकी माता सरला देवी बड़ी आदर्श महिला थीं। प्रारम्भिक शिक्षा अहमदाबाद में ग्रहण करने के उपरांत आपने इग्लैण्ड के कैम्ब्रिज शिक्षण संस्थान से वि० सं० १९९६ में विज्ञान की डिग्री हासिल की। तत्पश्चात् आप बंगलोर के इण्डियन इन्स्टीट्यूट साइन्स में कास्मिक किरणों पर शोध कार्य में लगे। नोबल प्राइज विजेता सर सी० वी० रमन के निर्देशन में कार्य करने का सौभाग्य आपको प्राप्त हुआ। महायुद्ध की समाप्ति पर एक बार फिर कैम्ब्रिज लौट कर अनुसंधान में लगे। फलतः सं० २००४ में उन्हें इसी विषय पर डाक्टररेट की उपाधि मिली।

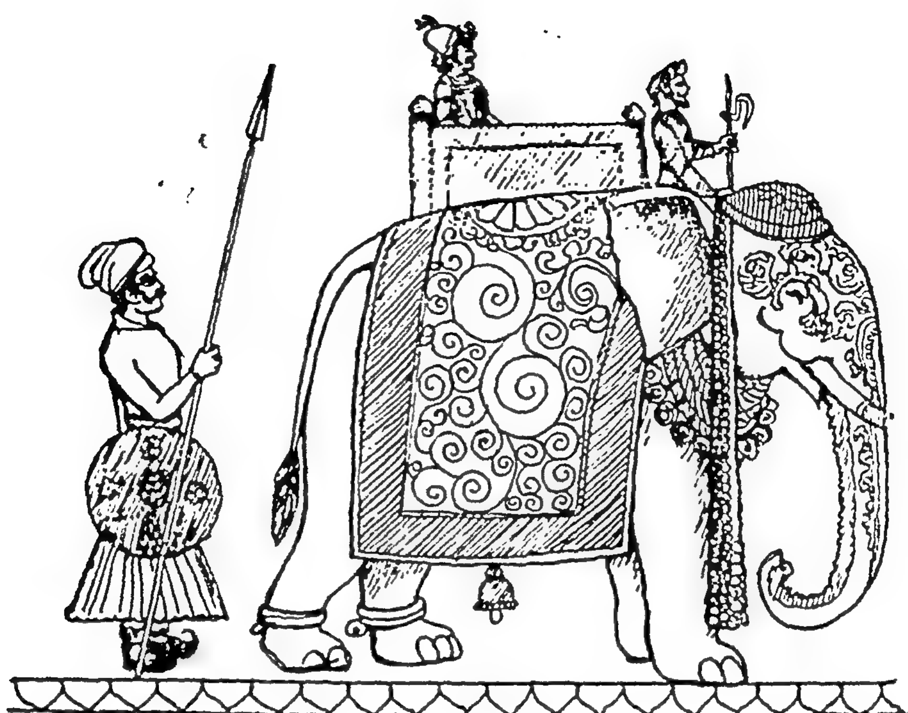
भारत आकर वे अनेक पारिवारिक उद्योगों से जुड़े। उनके विकास में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। उनकी महती उपलब्धि अहमदाबाद में भौतिक अनुसन्धान केन्द्र की स्थापना थी। प्रो० के० आर० रामनाथन् के सहयोग से संचालित इस अनुसंधान केन्द्र ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। डा० साराभाई के निर्देशन में २० से अधिक शोधार्थी डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं। संवत् २००३ में स्थापित अहमदाबाद का टेक्सटाईल उद्योग अनुसंधान केन्द्र (ए० टी० आई० आर० ए०) आप ही के अध्यवसाय का फल है। वे २०१३ तक उनके मानद निर्देशक रहे। सं० २०१९ में उन्होंने भारतीय प्रबन्धक संस्थान (आई० आई० एम०), अहमदाबाद की स्थापना की। तभी पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें भारत के अत्यन्त मूल्यवान नागरिक

अनुसंधान केन्द्र का प्रबन्ध भार सौंपा, जिसे उन्होंने बड़ी योग्यता से निभाया। थुंबा का रॉकेट लांचिग स्टेशन उन्हीं दिनों स्थापित हुआ। रोहिणी एवं मेनका रोकेटों के विकास में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान था। सं० २०१३ में उन्हें ऐटामिक एनर्जी कमीशन का अध्यक्ष बना दिया गया। वे भारत सरकार के इस विभाग के सचिव मनोनीत हुए। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेंसों, सेमिनारों, तथा सभाओं की अध्यक्षता उन्होंने की। राष्ट्रसंघ की 'अन्तरीक्षिय अस्तित्व के शान्तिपरक उपयोगों की खोज' के निमित्त वि० सं० २०२५ में हुई कान्फ्रेंस के आप अध्यक्ष निर्वाचित हुए। वि० सं० २०२७ में वियना में परमाणु ऊर्जा के विकासार्थ हुई १४ वीं अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेंस के आप सभापति चुने गये। वि० सं० २०२८ में राष्ट्र संघ के तत्वाधान में परमाणु ऊर्जा के शांति परक उपयोगार्थ हुई चौथी कान्फ्रेंस के आप उपसभापति मनोनीत हुए।

देश और विदेश में अनेक अलंकरणों से डा० साराभाई को सम्मानित किया गया। सं० २०१९ में उन्हें 'शान्ति स्वरूप यादगार एवार्ड' से सम्मानित किया गया। सं० २०२३ में भारत सरकार ने उन्हें 'पद्मभूषण' की उपाधि से विभूषित किया। उनकी पत्नी मृणालिनी साराभाई ने शास्त्रीय नृत्यों में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। वे नृत्य तथा ड्रामा के आश्रयदाता थे। उनके सुपुत्र कीर्तिकेय तथा पुत्री मल्लिका ने भी अपने क्षेत्र में निजी पहचान बनाई। कीर्ति के शिखर पर होते हुए भी अभिमान उन्हें छू तक न सका। प्रकृति से उन्हें अत्यन्त प्रेम था।

वि० सं० २०२८ में (३० दिसम्वर १९७१) थुंबा में मात्र ५० वर्ष की उम्र में उनका देहान्त हुआ। राष्ट्रपति ने वि० सं० २०२९ में उन्हें मरणोपरांत 'पद्म-विभूषण' अलंकरण से विभूषित किया। किसी भी राष्ट्र के इतिहास में वड़े अन्तराल में ऐसे विरले मनुष्य आते हैं, जो आगामी २०० वर्षों के विकास को आकार प्रदान कर जाते हैं। नभ, भौतिकी तथा परमाणु ऊर्जा के शान्ति परक उपयोग में डा० साराभाई का अवदान इसी कोटि का है। एक बार महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर सं० १९७७ में अहमदाबाद पधारे थे—तव बालक विक्रम साराभाई घुटनों के वल चलने लगे थे। महाकवि ने उन्हें अपनी गोद में उठाकर माता सरला देवी से कहा था—'वहन! तुम वड़ी भाग्यशाली हो। तुम्हारा यह पुत्र वड़ा होकर वहुत नाम कमायेगा।' महाकवि की वह भविष्य वाणी अक्षरशः सत्य-सिद्ध हुई।

•



शासन द्वारा सम्मानित ओसवाल | १२

उपाधि एवं अलंकरण प्राप्ति

राज्य शासन में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग देने वाले ओसवालों की सूची बहुत लम्बी है। जीवन के हर क्षेत्र में ओसवाल श्रेष्ठि अग्रगण्य रहे। राज्य शासन ने अनेक ओसवाल बन्धुओं का समुचित सम्मान करते हुए समय-समय पर विभिन्न उपाधियों तथा अलंकरणों से विभूषित किया।

भारत के बाहरी आक्रमणों से पद दलित होने से पूर्व राज्य शासन के सहयोगी और राज्य के विशिष्ट व्यक्ति भी राज्य के अंग माने जाते थे अतः उपाधि देने की प्रथा ही न थी। मुस्लिम आक्रमण तथा राज्य स्थापना के समय से राजा और प्रजा का भेद गहराया। कुछ लोग शासन के कृपा पात्र बने। विभिन्न कारणों से वे शासन के सहयोगी रहे। अतः समय-समय पर उन्हें विभिन्न उपाधियाँ देकर सम्मानित किया गया। परन्तु निःसन्देह वे अपने क्षेत्र में अग्रगण्य थे।

कुछ उपाधियाँ पुश्तैनी थीं। परिवार का कर्त्ता उपाधिधारी कहलाता था। सेठ, शाह, राय, चौधरी, मेहता आदि अलंकरण इसी कोटि के थे। इनकी पीढ़ी-दर-पीढ़ी सूचि बनाना असम्भव प्राय है। विशिष्ट उपाधियाँ व्यक्ति विशेष तक ही सीमित थीं जैसे जगतसेठ, नगर सेठ, राय साहब आदि।

भारत के स्वतंत्र होने के बाद आयाम बदल गये। जीवन के नाना क्षेत्रों में अग्रगण्य व्यक्तियों को सम्मानित करने की दृष्टि से पद्मश्री, पद्म-भूषण एवं पद्मविभूषण अलंकरण राष्ट्रपति द्वारा दिये जाने लगे। स्वतंत्र भारत में स्वयं सेवी संगठनों, सामाजिक, धार्मिक संस्थाओं, विद्यापीठों ने भी उपाधियों से अनेक ओसवाल बन्धुओं को सम्मानित किया। उनमें समाज भूषण, साहित्य श्री, विद्यारत्नम्, समाज-सेवी आदि उपाधियाँ चर्चित हैं। उपाधिधारी महानुभावों की पूरी सूची उपलब्ध नहीं है।

उपलब्ध विवरणों के आधार पर कुछ अलंकरणों की सूची यहाँ दी जा रही है।

जगत सेठ, नगर सेठ, राय बहादुर, राय साहब, राजा, राय जादा, राव राजा, राजा बहादुर, दीवान बहादुर, शमशेर बहादुर, महारावल, प्रवाल गोरखा, दक्षिणबाहु, सर, सी० एस० आई०, कैसरे हिन्द, सितारे हिन्द, पद्म विभूषण, पद्म भूषण, पद्मश्री प्राप्त एक सौ चौदह महानुभावों का नाम/समय/उपाधि देने वालों का परिचय :

जगतसेठ

नाम	स्थान	समय	उपाधि-दाता
१. सेठ माणकचन्द गेहलड़ा	मुर्शिदाबाद	(संवत् १७७०)	बादशाह फर्रुखशियार
२. सेठ फतहचन्द गेहलड़ा	,,	(संवत् १७८०)	बादशाह मुहम्मदशाह
३. सेठ महताबचंद गेहलड़ा	,,	(संवत् १८१३)	बादशाह अहमदशाह
४. सेठ खुशालचन्द गेहलड़ा	,,	(संवत् १८१९)	बादशाह शाह आलम
५. सेठ हरखचन्द गेहलड़ा	,,	(संवत् १८३९)	अंग्रेज सरकार
६. सेठ इन्द्रचन्द गेहलड़ा	,,	(संवत् १८७२)	अंग्रेज सरकार
७. सेठ गोविन्दचन्द गेहलड़ा	,,	(संवत् १८७९)	अंग्रेज सरकार

रायजादा

१. सेठ थाहरू शाह भंसाली	लोद्रवा	(१७वीं सदी)	बादशाह अकबर

नगर सेठ

नाम	स्थान	समय	उपाधि-दाता
१. श्री शांतिदास जौहरी	अहमदाबाद	(संवत् १६६९)	बादशाह अकबर
२. श्री लक्ष्मीचन्द जौहरी	,,	(संवत् १७१७)	बादशाह औरंगजेब
३. श्री खुशालचन्द जौहरी	,,	(संवत् १७५५)	बादशाह फर्रुखसियार
४. श्री माणकचन्द गेहलड़ा	मुर्शिदाबाद	(संवत् १७६२)	बादशाह फर्रुखसियार
५. श्री प्रह्लादजी शिशोदिया	बेगूं (मेवाड़)	(संवत् १७७३)	महाराणा मेवाड़
६. श्री जीवनदास महणोत	रीयाँ	(संवत् १८२९)	जोधपुर नरेश
७. श्री बखतशाह जौहरी	अहमदाबाद	(संवत् १८३७)	
८. श्री हेमाभाई जौहरी	,,		
९. श्री कनीराम सुराणा	कोटा	(संवत् १८९४)	झालावाढ़ नरेश
१०. श्री प्रेमचन्द बापना	उदयपुर	(संवत् १९०८)	महाराणा मेवाड़
११. श्री चम्पालाल बापना	उदयपुर	(संवत् १९२०)	,,
१२. श्री कन्हैयालाल बापना	उदयपुर		,,
१३. श्री नन्दलाल बापना	उदयपुर		,,
१४. श्री बागमल ममैया	अजमेर	(संवत् १९१४)	
१५. श्री कालूराम लोढ़ा	सिरोही	(संवत् १९१६)	सिरोही नरेश
१६. श्री शिवजी राम लूणिया			जोधपुर नरेश
१७. श्री हिम्मत राम नाग सेठिया	जालना	(संवत् १९३५)	बलून्दा ठाकुर
१८. श्री पनराज सुराणा	सिरोही	(संवत् १९६८)	जोधपुर नरेश

राय बहादुर

१. श्री धनपतसिंह दूगड़	मुर्शिदाबाद	(संवत् १९२२)	अंग्रेज सरकार
२. श्री लक्ष्मीपतसिंह दूगड़	,,	(संवत् १९२४)	,,
३. श्री सितावचन्द नाहर	अजीमगंज	(संवत् १९३२)	,,
४. श्री मूलचन्द सोनी	अजमेर	(संवत् १९३४)	,,
५. श्री विजयसिंह मेहता	(मुणोत) किशनगढ़	(संवत् १९३४)	,,

राय बहादुर

नाम	स्थान	समय	उपाधि-दाता
६. श्री बद्रीदास मुकीम	कलकत्ता	(संवत् १९३४)	अंग्रेज सरकार
७. श्री बुधसिंह दूधोरिया	मुर्शिदाबाद	(संवत् १९४५)	,,
८. श्री बिशनचन्द दूधोरिया	,,	(संवत् १९४५)	,,
९. श्री समीरमल लोढ़ा	अजमेर	(संवत् १९४७)	,,
१०. श्री सोभागमल ढ़ढ़ा	,,	(संवत् १९५२)	,,
११. श्री सुखराज फाफू	भागलपुर	(संवत् १९५४)	,,
१२. श्री गणपतसिंह दूगड़	मुर्शिदाबाद	(संवत् १९५५)	,,
१३. श्री मणिलाल नाहर	अजीमगंज	(संवत् १९५१)	,,
१४. श्री जवाहरचन्द सिंधवी	सिरोही (डीडू)	(संवत् १९५६)	,,
१५. श्री उम्मेदमल लोढ़ा	अजमेर	(संवत् १९५८)	,,
१६. श्री धनपतसिंह नौलखा	मुर्शिदाबाद	(संवत् १९६७)	,,
१७. श्री लखमीचन्द छाजेड़	किशनगढ़	(संवत् १९६८)	,,
१८. श्री विशनदास दूगड़	जम्मू	(संवत् १९६८)	,,
१९. श्री थानमल लूणिया	हैदराबाद	(संवत् १९७०)	,,
२०. श्री हीराचन्द कोठारी	इन्दौर	(संवत् १९७१)	,,
२१. श्री सिरेमल बापना	,,	(संवत् १९७१)	,,
२२. श्री केशरीसिंह बापना	रतलाम	(संवत् १९७३)	,,
२३. श्री पूनमचन्द श्रीमाल	कोटा	(संवत् १९७३)	,,
२४. श्री छगनमल मुणोत	रीयाँ	(संवत् १९७४)	,,
२५. श्री मेहरचन्द कोचर	(मेहता) बीकानेर	(संवत १९७५)	,,
२६. श्री रामजीदास चोपड़ा	मजीठा	(संवत् १९८१)	,,
२७. श्री विरधमल लोढ़ा	अजमेर	(संवत् १९८३)	,,
२८. श्री कुन्दनलल कोठारी	व्यावर	(संवत् १९८४)	,,
२९. श्री फूलचन्द मोघा		(संवत् १९८९)	,,
३०. श्री मोतीलाल मूथा	सितारा	(संवत् १९९३)	,,

राय साहब

नाम	स्थान	समय	उपाधि-दाता
१. सेठ चाँदमल महणोत	रीयाँ	(संवत् १९३४)	अंग्रेज सरकार
२. सेठ समीरमल लोढ़ा	अजमेर	(संवत् १९३४)	,,
३. सेठ लखमीचन्द छाजेड	किशनगढ़	(संवत् १९६३)	,,
४. सेठ धनपतसिंह नौलखा	अजीमगंज	(संवत् १९६७)	,,
५. सेठ केसरीसिंह बापना	रतलाम	(संवत् १९६९)	,,
६. सेठ कृष्णलाल बापना	जोधपुर	(संवत् १९७४)	,,
७. सेठ कुन्दनलाल कोठारी	व्यावर	(संवत् १९७७)	,,
८. सेठ रावतमल चोरड़िया	बरोरा	(संवत् १९७८)	,,
९. सेठ गोपीचन्द छाजेड़	किशनगढ़	(संवत् १९८०)	,,
१०. सेठ पूनमचन्द सिंघवी	(डीडू) सिरोही	(संवत् १९८१)	,,
११. सेठ मेघराज कोठारी	मुर्शिदाबाद	(संवत् १९८१)	,,
१२. डा० रामजी दास चोपड़ा	मजीठा (पंजाब)	(संवत् १९८१)	,,
१३. लाला टेकचन्द लोढ़ा	जंडियाला	(संवत् .९८४)	,,
१४. वाबू लक्ष्मीचन्द सुचिन्ती	बिहार	(संवत् १९८७)	,,
१५. सेठ मोतीलाल मूथा (भंडारी)		(संवत् १९८८)	,,
१६. लाला उत्तमचन्द जी दूगड़	पसरूर (पंजाब)	(,, ,,)	,,
१७. सेठ मिश्रीमलजी कोठारी	रेंठी (भोपाल)	(संवत् १९९२)	,,

राजा

१. सेठ भारमल राक्यान	वैराठ	(संवत् १६३५)	वादशाह अकबर
२. सेठ सुखजी दूगड़	राजगढ़	(संवत् १७१९)	वादशाह शाहजहाँ
३. सेठ अमरदत्त गोखरू	आगरा	,,	,,
४. सेठ उदयचन्द गोखरू	,,	,,	,,
५. सेठ डालचन्द गोखरू	,,	,,	,,
६. श्री शिवप्रसाद गोखरू	बनारस	(संवत् १९४४)	अंग्रेज सरकार
७. श्री विजयसिंह दूधोरिया	मुर्शिदाबाद	(संवत् १९६५)	,,

राव राजा

नाम	स्थान	समय	उपाधि-दाता
१. सेठ शाहमल लोढ़ा	जोधपुर	(संवत् १८४९)	जोधपुर नरेश

राजा बहादुर

१. सेठ थानमल लूणिया	हैदराबाद	(संवत् १९७०)	निजाम हैदराबाद

दीवान बहादुर

१. सेठ उम्मेदमल लोढ़ा	अजमेर	(संवत् १९७२)	अंग्रेज सरकार
२. सेठ थानमल लूणिया	हैदराबाद	(संवत् १९७९)	,,
३. सेठ केसरीसिंह बापना	रतलाम	(संवत् १९८२)	,,

शमशेर बहादुर

१. सेठ शाहमल लोढ़ा	जोधपुर	(संवत् १८४९)	जोधपुर नरेश

महारावल

१. श्री हिन्दूमल बैद	बीकानेर	(संवत् १९४५)	बीकानेर नरेश

प्रवाल गोरखा दक्षिण बाहु

१. सेठ रामलाल गोलेच्छा	विराटनगर	(संवत् २०२०)	नेपाल नरेश

सर नाइट (Sir knight)

१. श्री सिरेमल बापना	इन्दौर	(संवत् १९९३)	अंग्रेज सरकार

सी० एस० आई० (C. S. I.)

१. श्री बिशनदास दूगड़	जम्मू	(संवत् १९७७)	अंग्रेज सरकार

सी० आई० ए०—कैसरे हिन्द

१. सेठ नरपत सिंह दूगड़	मुर्शिदाबाद	(संवत् १९५५)	अंग्रेज सरकार
२. श्री सिरेमल बापना	इन्दौर	(संवत् १९८८)	,,

सी० आई० ई०—सितारेहिन्द

१. श्री शिवप्रसाद (गोखरू)	बनारस	(संवत् १९३१)	अंग्रेज सरकार
२. मेहता पन्नालाल बछावत		(संवत् १९३७)	,,
३. सेठ चाँदमल ढ़ढ़ा	बीकानेर	(संवत् १९५९)	,,
४. श्री बिशनदास दूगड़	जम्मू	(संवत् १९७२)	,,

पद्म विभूषण

नाम	स्थान	समय	उपाधि-दाता
१. डा० मोहनसिंह मेहता	उदयपुर	(संवत् २०२६)	भारत सरकार
२. डा० विक्रम साराभाई	अहमदाबाद	(संवत् २०२९)	,,
३. डा० जीवराज मेहता	बम्बई	,,	,,
४. डा० दौलतसिंह कोठारी	उदयपुर	(संवत् २०३०)	,,

पद्म भूषण

१. श्रीमती हंसा जीवराज मेहता	बम्बई	(संवत् २०१६)	भारत सरकार
२. डा० दौलतसिंह कोठारी	उदयपुर	(,, २०१९)	,,
३. डा० विक्रम साराभाई	अहमदाबाद	(,, २०२३)	,,
४. सेठ कस्तूर भाई लालभाई	,,	(,, २०२६)	,,
५. पं० सुखलाल संघवी	,,	(,, २०३१)	,,

पद्म श्री

१. मुनि जिन विजयजी	चित्तौड़	(संवत् २०१८)	भारत सरकार
२. श्री भगवत सिंह मेहता	जयपुर	,,	,,
३. श्रीमती मृणालिनी साराभाई	अहमदाबाद	(संवत् २०२२)	,,
४. श्री देवीलाल सामर	उदयपुर	(संवत् २०२५)	,,
५. श्री आनन्दराज सुराणा	जोधपुर	(संवत् २०२८)	,,
६. सेठ मोहनलाल चोरड़िया	मद्रास	(संवत् २०२९)	,,
७. डा० नन्दलाल लक्ष्मीलाल	बोर्दिया	(संवत् २०३०)	,,
८. श्री बालकृष्ण विठ्ठलदास डोसी	अहमदाबाद	(संवत् २०३३)	,,
९. श्री कोमल कोठारी	जोधपुर	(संवत् २०४०)	,,

परिशिष्ट (१)

इतिहास की अमर बेल

ओसवाल

संदर्भ ग्रन्थ सूची

अकबर—लेखक : विंसेंट स्मिथ (हिन्दी अनुवाद—राहुल सांकृत्यायन)
अकबर एण्ड जैनिज्म—लेखक : एम० एस० रामास्वामी आयंगर
अकबर्स जैन गुरुज—लेखक : विंसेंट स्मिथ (भंडारकर स्मृति ग्रंथ)
अगरवालों की उत्पत्ति—लेखक : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८९३)
अग्रवाल इतिहास परिचय—लेखक : बालचन्द मोदी
अथ महाजनाँ री जातां रौ छन्द (गुटका)—मथेन अमीचन्द रो कह्यो (नाहर ग्रंथागार–१८८३)
अन्धकार युगीन भारत का इतिहास—लेखक : डा० काशी प्रसाद जायसवाल (अनुवाद : रामचन्द्र वर्मा)
अमर शहीद अमरचन्द बांठिया—लेखक : सूरजराज धाड़ीवाल (१९८६)
अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैन लेख संग्रह—लेखक : जयंत विजय जी
अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया—लेखक : विंसेंट स्मिथ (१९२०)
अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा (आलेख)—लेखक : डा० सागरमल जैन (श्रमण–अप्रैल मई १९८८)
अहिंसा का अग्रदूत (पत्रिका)—सम्पादक : केसरीचन्द सेठिया
अज्ञान तिमिर भास्कर—लेखक : आचार्य आत्मारामजी
आईने अकबरी—लेखक : अबुल फजल
आत्माराम शताब्दी स्मारक ग्रंथ—
आनन्दघन ग्रंथावली—सम्पादक : उमरावचन्द जैन जरगड़ (१९७४)
आबू मन्दिरों का निर्माण—लेखक : ललित विजय जी
आबू जैन मन्दिरों के निर्माता—
आर्कियोलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया—'दी टेम्पल्स आफ ओसिया' (आलेख)-लेखक : डी० आर० भंडारकर (१९०८–१९०९)
इतिहास के बोलते पृष्ठ—लेखक : मुनि छत्रमल जी (१९६१)
इतिहास तिमिर नाशक—लेखक : राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द
इंडियन एन्टीक्वेरी (खण्ड ७)

इंडियन एन्टीक्वेरी (खण्ड १९)—'दी पट्टावली आर लिस्ट आफ पोंटिफ्स आफ उपकेश गच्छ' (आलेख)—लेखक : प्रो० ए० एफ० रूडोल्फ होर्नेल (१८९०)
इंसक्रिपसन्स आन स्टोन—लेखक : डा० के० वी० रमेश (१९७२-७३)
उपकेश गच्छ चरित्र—लेखक : श्री कक्क सूरि (१३३६)
उपकेश गच्छ प्राचीन पट्टावली—लेखक : श्री देवगुप्त सूरि (१३४५)
उपदेश कल्प वल्लरी—लेखक : श्री इन्द्र हंस गणि
उपमिति भव प्रपंच कथा—लेखक : आचार्य सिद्धर्षि (सम्पादन-पीटर पिटर्सन एवं डा० हरमन जेकोबी—१९१४)
एक युग : एक पुरुष—लेखक : ओमप्रकाश शर्मा (१९६९)
एटीन फिफ्टी सेवन (१८५७)—लेखक : सुरेन्द्रनाथ सेन (१९७७)
एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका—
एनाल्स एण्ड एन्टीक्वीटिज ऑफ राजस्थान—लेखक : कर्नल जेम्स टॉड (१८२९)
ऐतिहासिक पूर्वजों की गौरव गाथा—लेखक : चौकसी
एन एपीटॉम आफ जैनिज्म—लेखक : पूरणचन्द्र नाहर (१९१७)
ओघ निर्युक्ति वृत्ति : लेखक—द्रोणाचार्य
ओसवंश की ऐतिहासिकता—लेखक : मुनि ज्ञान सुन्दर जी (१९३५)
ओसवाल समाज निर्देशिका—सम्पादक : डा० खेमराज पिछोलिया (१९८४)
ओसवाल एंड ओसवाल फेमिली—लेखक : उमराव सिंह टांक (१९३२)
ओसवाल जाति का इतिहास—लेखक : सुखसम्पतराय भंडारी व अन्य (१९३४)
ओसवाल जाति समय निर्णय—लेखक : मुनि ज्ञान सुन्दर जी (१९३५)
ओसवाल जाति का संक्षिप्त पद्यमय इतिहास : लेखक धीरजमल बछावत (१९२८)
ओसवाल जाति के इतिहास का परिवर्द्धित संस्करण (१९३७)
ओसवाल नवयुवक (पत्रिका)—
ओसवाल सुधारक (पत्रिका)—
ओसवाल (पत्रिका)—
ओसवाल : दर्शन दिग्दर्शन— लेखिका : श्रीमती मनमोहिनी जैन (१९७५)
ओसवाल दुर्दशा दर्पण : लेखक—खुशालचन्द्र खजांची
ओसवाल वंश : अनुसंधान के आलोक में—लेखक : सोहन राज भंसाली (१९८१)

ओसवाल लोकां री आजकाल री स्थिति : लेखक—नैणसुख केवलचन्दाणी निमाणी (१८९०)
ओसवाल हितैषी (पत्रिका)—
ओसवाल समाज की परिस्थिति—लेखक : मूलचन्द बोहरा (१९२९)
ओसवालाँ री पीढ़ियाँ (ग्रंथांक २५)—डा० टैसीटरी का राजस्थानी ग्रंथ सर्वेक्षण (अनूप लाइब्रेरी, बीकानेर)
ओसवालोत्पत्ति विषयक शंकाओं का समाधान—लेखक : मुनि ज्ञान सुन्दर जी (१९३५)
ओसिया का वीर जिनालय (आलेख)—लेखक : विनयकुमार चोरड़िया (१९७७)
ओसिया की प्राचीनता (आलेख)—लेखक : प्रो० देवेन्द्र हाण्डा (श्री केशरीमल सुराणा अभिनन्दन ग्रंथ—१९८२)
ओसिया तीर्थ का संक्षिप्त इतिहास—लेखक : गुमानमल पारख (१९८५)
कच्छी दशा ओसवाल प्रकाश—लेखक : कुसुमकांत टी० भाटे
कथा कोष प्रकरण—लेखक : मुनि जिन विजयजी
कादम्बिनी (पत्रिका)—
कुमारपाल चालुक्य—लेखक : डा० सत्य प्रकाश (१९७२)
कुमारपाल प्रतिबोध : लेखक—आचार्य सोमप्रभ सूरि
कुवलयमाला—लेखक : आचार्य उद्योतन सूरि
कुशल निर्देश (पत्रिका)—सम्पादक : भंवरलाल नाहटा
कोरंटा तीर्थ का इतिहास—लेखक : यतीन्द्र विजय जी
खरतर गच्छ के प्रतिबोधित गोत्र—लेखक : अगरचंद भँवरलाल नाहटा (१९३०)
खुमाण रासो : लेखक—कवि दौलत विजय
खतरगच्छ गुर्व्वावली
गच्छ मत प्रबन्ध—लेखक : आचार्य बुद्धि सागर सूरि
ग्वालियर के भामाशाह–अमरशहीद अमरचन्द बांठिया— रघुवीर सहाय
गहरो फूल गुलाब रो—लेखक : डा० महेन्द्र भानावत (१९७१)
चमकते चांद—लेखक : मुनि धनराजजी
चाणक्य का अर्थशास्त्र—
चाँद (पत्रिका)—मारवाड़ी विशेषांक (१९३४-जब्त)
चार तीर्थंकर—लेखक : पं० सुखलाल संघवी
चुरु मंडल का शोध पूर्ण इतिहास—लेखक : गोविन्द अग्रवाल (१९७४)

छंदो-विद्या : लेखक—कवि राजमल
जगत सेठ—लेखक : पारसनाथ सिंह (१९५०)
जरनल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल—खण्ड-३५ (१) : लेखक—क० डाल्टन (१८६६)
जम्मड़ भवन—लेखिका : श्री कँवर देवी जम्मड़ (१९८४ ,
जिनचन्द्र सूरि स्मृति ग्रन्थ—सम्पादन : अगरचन्द भँवर लाल नाहटा
जैन प्रकाश (पत्रिका)—
जैन संस्कृति और राजस्थान—लेखक : डा० नरेन्द्र भानावत (१९७६)
जैन धर्म नो प्राचीन इतिहास—लेखक : पं० हीरालाल हंसराज (१९०२)
जैन और बौद्धों का भेद—लेखक : राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द (१८९७)
जैन वीरों का इतिहास—लेखक : अयोध्याप्रसाद गोयलीय (१९३०)
जैन धर्म के प्रभावक आचार्य—लेखिका : साध्वी संघमित्रा (१९७९)
जैन सम्प्रदाय शिक्षा—लेखक : यति श्रीपालचन्द (१९१०)
जैन जाति महोदय—लेखक : मुनि ज्ञान सुन्दर जी (१९२९)
जैन लेख संग्रह (तीन खंड)—लेखक : श्री पूरणचन्द नाहर (१९३८)
जैन धर्म विषयक प्रश्नोत्तर—लेखक : विजयानन्द सूरि
जैन गोत्र संग्रह—लेखक : पं० हीरालाल हंसराज (१९२३)
जैन मत पताका—लेखक : यति शांति विजय
जैन जरनल (पत्रिका)—सम्पादक : गणेश ललवानी
जैन हिस्टॉरिकल स्टडीज़—लेखक : उमराव सिंह टांक
जैनिज्म इन राजस्थान—लेखक : कैलाशचन्द जैन (१९६३)
जैन मर्चेन्ट्स इन इस्टर्न इंडिया अंडर दी ग्रेट मुगल—श्री सुरेन्द्र गोपाल
जैन डाईरेक्टरी—सम्पादक : श्री सी० एल० महता (१९७६)
जैन क्षत्रिय इतिहास—लेखक : रावत शेरसिंह (१९१३)
जैन इतिहास—लेखक : प्रो० वनारसीदास
जैन परम्परा का इतिहास—लेखक : मुनि नथमलजी
जैन धर्म का मौलिक इतिहास—लेखक : आचार्य हस्तिमलजी
जैन शिलालेख संग्रह—लेखक : हीरालाल जैन (१९२८)
जंपुर जैन श्वेताम्बर समाज डायरेक्टरी १९८४—सम्पादक : श्री सौभाग्यमल श्री श्रीमाल
जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह—लेखक : मुनि जिनविजयजी
जैन गुर्जर कवियों
जैन साहित्य नूं संक्षिप्त इतिहास—लेखक : मोहन लाल दलीचन्द देसाई (१९३३)

जैसलमेर दिग्दर्शन—लेखक : दीनदयाल ओझा
जैसलमेर पंचतीर्थी का इतिहास—लेखक : मुनि प्रकाश विजयजी (१९७७)
डा० विक्रम साराभाई—लेखिका : डा० उषा जोशी (१९७४)
ठक्कर फेरू—लेखक : रामुला राजेश्वर शर्मा (श्री भंवरलाल नाहटा अभिनंदन ग्रंथ—१९८६)
तित्थयर (पत्रिका)—सम्पादक : गणेश ललवानी
तिलक मंजरी—लेखक : धनपाल
तीर्थमाला (१५१६)
तीर्थ रक्षक सेठ शांतिदास—लेखक : रिषभदास रांका (१९७८)
तीर्थ दर्शन—प्रकाशक श्री महावीर जैन कल्याण संघ (१९८०)
दर्शन सार—लेखक : आचार्य देवचन्द्र
दादा श्री जिनकुशल सूरि—लेखक : अगरचन्द भँवरलाल नाहटा (१९३९)
दानवीर जगडू शाह—लेखक : महात्मा छोगमल खजवाणा
दी डायनेमिक्स आफ ए ट्रेडिशन : कस्तूरभाई लाल भाई एण्ड हिज इंटरप्रेनर शिप—लेखक : द्विजेन्द्र त्रिपाठी (१९८१)
दी टेम्पल्स ऑफ शत्रुञ्जय—लेखक : जेम्स बरसेज
दी ट्राईब एण्ड कास्ट ऑफ बेंगाल (खंड २)–लेखक : एच० एच० रिसले (१९८१)
दी प्रेजेन्ट स्टेट आफ ओसवाल—लेखक : नैनसुख केवलचन्दानी (१८९०)
दी फ्यूचर आफ ओसवाल कम्यूनिटी—लेखक : अक्षयसिंह डांगी (१९३२)
दी मारवाड़ीज—लेखक : थॉमस ए० टिमबर्ग (१९७८)
नव साहसाक चरित—लेखक : पद्मगुप्त
नाभिनन्दन जिनोद्धार प्रबंध—लेखक : आचार्य कक्क सूरि (१३३६)
नामावली—लेखक : लक्ष्मीचन्द डूंगरवाल
नाहटा बन्धु : अभिनन्दन ग्रंथ—सम्पादक : दशरथ शर्मा
नाहर जन्म शताब्दी समारोह रिपोर्ट—जरनल आफ पी० सी० नाहर इन्सटीट्यूट आफ जेनोलोजी (१९७८)
निजानन्द चरित्र : लेखक—प्राणनाथ सम्प्रदाय
निशीथ चूर्णि—लेखक : जिनदास गणि
नेपाल का शाह वंश और उनके पूर्वज (आलेख)—लेखक : मुनि कनक विजय जी (जीवन साहित्य—१९५१)
पड़िहारों का इतिहास—लेखक : मुंशी देवीप्रसाद
पश्चिमी भारत की यात्रा—लेखक : कर्नल जेम्स टॉड (१९३९)
प्रबंध चिन्तामणि—लेखक : आचार्य मानतुंग सूरि १३०५ (सम्पादन मुनि जिन विजय जी)

प्रबन्धावली--लेखक : पूरणचन्द्र नाहर (१९३७)
प्रभावक चरित्र---लेखक : प्रभाचन्द्राचार्य १२७७ (सम्पादक मुनि जिन विजय जी)
प्रभावक चरित्र प्रबन्ध पर्यालोचन—लेखक : मुनी कल्याण विजय जी
प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ---लेखक : डा॰ ज्योतिप्रसाद जैन
पाँच पाट रास–लेखक : कवि उदयरत्न (स्व॰ मोहन लाल दलीचन्द देसाई संग्रह)
पार्श्वनाथ परम्परा का इतिहास—लेखक : मुनि ज्ञान सुन्दर जी
प्राचीन कलिंग या खारवेल—लेखक : गंगाधर सामन्त
प्राचीन जैन इतिहास—लेखक : सूरजमल जैन
प्राचीन जैन इतिहास संग्रह—लेखक : मुनि ज्ञान सुन्दर जी
प्राचीन जैन लेख संग्रह—लेखक : विजय धर्म सूरि जी
प्राचीन भारत—लेखक : हरिमंगल मिश्र (१९२०)
प्राचीन राज वंशावली—लेखक : पुरुषोत्तम दास गौड़
पुरातन प्रबन्ध संग्रह—सम्पादक : मुनि जिन विजय जी
पूर्व कालीन ओसवाल ग्रंथकार—लेखक : अगरचन्द भंवरलाल नाहटा (१९३७)
प्रोग्रेसिव जैन्स आफ इण्डिया—लेखक : सतीशचन्द्र जैन (१९७५)
बंगाल का आदि धर्म : लेखक—प्रबोधचन्द्रसेन
बछावत गोत्रीय मेहता वंश—लेखक : लक्ष्मण सिंह मेहता (१९८५)
बड़ा बाजार के कार्यकर्ता—प्र० सम्पादक : राधाकृष्ण नेवटिया (१९८४)
बिजनेस कम्यूनिटी आफ इण्डिया—लेखक : द्विजेन्द्र त्रिपाठी (१९८४)
बिब्लियोथिका इंडिका (राजस्थान सिरीज) : लेखक—डा० टेसीटेरी
बीकानेर जैन लेख संग्रह—लेखक : अगरचन्द नाहटा (१९५५)
बीकानेर राज्य का इतिहास—लेखक गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
भामाशाह और डा॰ ताराचन्द–लेखक : डा० राजेन्द्र प्रकाश भटनागर (१९८७)
भारत के प्राचीन राजवंश—लेखक : विश्वेवर नाथ रेउ (१९२०)
भारत में मारवाड़ी समाज—लेखक : भीमसेन केडिया (१९४७)
भारतवर्ष का इतिहास—लेखक : एक इतिहास प्रेमी (१९३९)
भारतवर्ष का इतिहास—प्रकाशक : ज्ञान मण्डल, काशी
भाषा कल्प सूत्र की प्रस्तावना—लेखक : राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द
भीनमाल दर्शन—लेखक : भंवरलाल सेठिया (१९८१)
भीनमाल जैन इतिहास के पृष्ठों पर (आलेख) लेखक : घेवर चन्द माणेकचन्द
भोज प्रबंध : लेखक—बल्लाल पंडित
भूगोल हस्तामलक—लेखक : राजा शिव प्रसाद सितारेहिन्द

मध्य एशिया और पंजाब में जैन धर्म—लेखक : हीरालाल दुग्गड़ (१९७९)
मंत्री कर्मचन्द्र वंशावली प्रबन्ध—लेखक : जयसोम पाठक (१५९३) (हिन्दी अनुवाद—पं० मदनकुमार शास्त्री–(१९८५)
महाजन वंश मुक्तावली—लेखक : यति रामलाल जी (१९१०)
महिला मृदुवाणी—लेखक : मुंशी देवी प्रसाद (१९०५)
महेश्वरी कल्पद्रुम—
मणिधारी जिनचन्द्र सूरि—लेखक : अगरचन्द भंवरलाल नाहटा (१९३९)
मानदेव सूरि प्रबंध (१८६९)
मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान लेखक—जी० ए० ग्रीयर्सन
मारवाड़ के प्राचीन लेख—लेखक : मुंशी देवीप्रसाद
मारवाड़ के परगनों की विगत—लेखक : मुणोत नैणसी
मारवाड़ राज्य का इतिहास—लेखक : कु० जगदीशसिंह गहलोत (१९२५)
मारवाड़ी समाज—लेखक : थॉमस ए० टिम्बर्ग (अनुवाद–देवलीना)
मारवाड़ी समाज : चुनौती और चिन्तन—लेखक : भंवरमल सिंघी (१९६५)
मुन्तखाब-उत-तवारीख : लेखक–मौलवी अल बदाउनी
मुणोत नैणसी री ख्यात—प्रकाशक : नागरी प्रचारिणी सभा (अनुवादक रामनारायण दूगड़ सम्पादक गौ० ही० ओझा–१९२४)
(संशोधित संस्करण प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर)
मेहता नैणसी लेखक : ब्रजमोहन जावलिया (१९८२)
मेजर मेकफरसन की डायरी—लेखक : रघुवीर सहाय
मेवाड़ के शासक और जैन धर्म : लेखक—जसवंत लाल मेहता
मैं अपने मारवाड़ी समाज को प्यार करता हूँ (१० खण्ड) लेखक : जेमिनी कौशिक बरुआ
मैं देखता चला गया—लेखक : कपूरचन्द कुलिश
मोहनोत वंश प्रकाश—सम्पादक : डा० कृष्ण मोहनोत (१९७१)
यवन राजाओं का इतिहास—लेखक : मुंशी देवी प्रसाद
युग प्रधान श्री जिनदत्त सूरि—लेखक : अगरचन्द भंवरलाल नाहटा (१९४६)
युग प्रधानाचार्य गुर्वावली
राजपूताना का इतिहास—लेखक : गौरीशंकर हीराचन्द ओझा (१९२७)
राजपूताना की शोध खोज—लेखक : मुंशी देवी प्रसाद
राजपूताने का इतिहास—लेखक : जगदीश सिंह गहलोत
राजपूताने के जैन वीर—लेखक : अयोध्याप्रसाद गोयलीय
राजपूताने के प्राचीन जैन स्मारक—लेखक : शीतलप्रसाद

राजरसनामृत—लेखक : मुंशी देवीप्रसाद
राजस्थान—लेखक : गोविन्द हयारण (१९३२)
राजस्थान के जैन ग्रन्थ संग्रहालय (आलेख)—लेखक : डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल (१९७७)
राजस्थान की जातियाँ—लेखक : बजरंगलाल लोहिया (१९५४)
राजस्थान स्टडीज—लेखक : डा० जी० एच० शर्मा (१९७०)
राजस्थानी जातियों की खोज—
रायकुमार सिंह एवं अन्य बनाम सर सेठ हुकमचन्द एवं अन्य (मुकदमा नं० ८, राजगिर–१९२४)
रोपोर्टेयर डेपीग्राफी : लेखक—डा० ए० गेरीयेनर (१९०८)
लाडनूं गौरव—लेखक : मुनि नवरत्नमल जी (१९८५)
वल्लभ भारती—लेखक : विनय सागर जी
विमल प्रबन्ध—
विविध तीथं कल्प—लेखक : आचार्य जिन प्रभसूरि (१३६४-८९)
वीर विनोद : लेखक—रावराजा श्यामलदास
वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना—लेखक : मुनि कल्याण वियज जी
वीर शासन प्रबंध : लेखक—जेठमल सेवग
वैश्य कल्प द्रुम—
वृहत् कल्प भाष्य—
शत्रुञ्जय महात्म्य—लेखक : धनेश्वर सूरि
शत्रुञ्जय का रास—लेखक : उपाध्याय समय सुन्दरजी
श्वेताम्बर जैन दर्शन—लेखक : गणपतिराय अगरवाल (१९२८)
शक कालीन भारत—लेखक : प्रशांत कुमार जायसवाल
शासन समुद्र—मुनि नवरत्नमल जी
शिशुपालवधम्—लेखक : महाकवि माघ (टीकाकार–पं० हरगोविन्द शास्त्री)
स्याद्वादानुभव रत्नाकर—लेखक : आचार्य चिदानन्द स्वामी
स्टडीज इन साउथ इण्डिया जैनिज्म—लेखक : एम० एस० रामास्वामी आयंगर (१९२२)
स्थविरावली चरित आफ हेमचन्द—सम्पादक : डा० हरमन जैकोबी (१९३२)
सकल तीर्थ स्तोत्र—लेखक : आचार्य सिद्ध सेन सूरि
सम हिस्टारिकल जैन किंग्ज एण्ड हीरोज—लेखक : कामता प्रसाद जैन
समराइच्च कहा—लेखक : आचार्य हरिभद्र सूरि (सम्पादन: एम० सी० मोदी—१९३५)

सार्द्ध शताब्दी स्मृति ग्रन्थ—सम्पादक : भंवरलाल नाहटा (१९६५)
सामोली शिलालेख (आलेख)—लेखक : बलवन्त सिंह मेहता (अन्वेषणा-१९८७)
सिंध का इतिहास—लेखक : मुंशी देवी प्रसाद
सिरोही राज का इतिहास—लेखक : गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
सूरीश्वर और सम्राट्—लेखक : मुनि विद्या विजय जी
सेठ मोतीचन्द शाह—लेखक : मोतीचन्द गिरधर लाल कापड़िया
हाउस ऑफ जगतसेठ—लेखक : जे० एच० लिटल (१९६७)
हिन्दी विश्व कोष—
हिस्ट्री ऑफ इण्डिया—लेखक : सर जी० डनबर (१९४३)
हे प्रभो ! तेरापंथ—लेखक : सोहन राज कोठारी (१९८६)
श्रमण (पत्रिका) सम्पादक : डा० सागरमल जैन
श्रमण कुलतिलक आचार्य श्री रघुनाथ जी महाराज—लेखक : मिश्रीलाल जी महाराज (१९८१)
श्री आर्य कल्याण गौतम स्मृति ग्रन्थ—सम्पादक : मुनि कला प्रभ सागर जी (१९८२)
श्रीमद् रायचन्द : जीवन साधना—लेखक : मुकुल भाई कलार्थी
श्रीमाल जाति—एक परिचय—लेखक : राजेन्द्र कुमार श्रीमाल (१९८५)
श्रीमाल पुराण—
श्रीमाल महात्म्य (स्कंध पुराण)—
श्रीमाली वाणियाँ नो जाति भेद—लेखक : प्रो० मणिलाल वकोरभाई सूरतवाला
श्री वर्धमान पद्मसिंह चरित्र : लेखक—अमर सागर सूरि
श्री समग्र जैन चतुर्मास सूचि—सम्पादक : बाबूलाल जैन 'उज्ज्वल' (१९८६)
त्रिषष्टी शलाका पुरुष चरित्र—लेखक : आचार्य हेमचन्द

•

परिशिष्ट (२)

इतिहास की अमर बेल

ओसवाल

देशना (Index)

आ

क

ख

झ

ट

ठ

ड

ढ

त

प

भ

य

ल

श

स

ह

क्ष

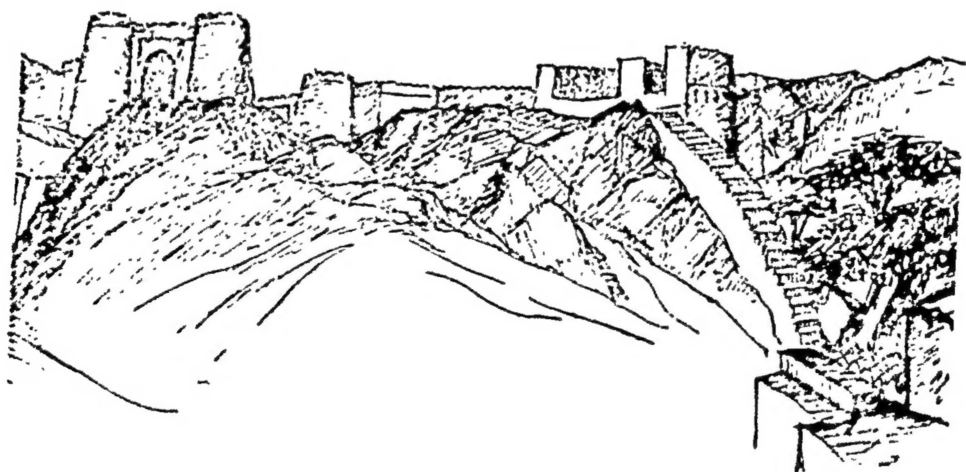
त्र

ज्ञ

श्र

ऋ

•



शुद्धि पत्र

पृष्ठ संख्या	अशुद्धि	शुद्ध पाठ
३३	'४००'—दूसरी पंक्ति	'पहट्ट' की जगह 'पट्टण'
	—चौथी पंक्ति	'उपदेश' की जगह 'उपकेश'
	'११२'—दूसरी पंक्ति	'राज्यारोहण' के बाद '।'
३५	'४१२'—पहली पंक्ति	'।' की जगह ':'
	'५३०–५८५'–चौथी पंक्ति	'उल्लेख' के बाद '।'
३६	'८३५'—दूसरी पंक्ति	'वलय' की जगह 'कुवलय'
३७	'९५४'—पहली पंक्ति	'गोमाट्ट' की जगह 'गोमट्ट'
३८	'११५०'–पहली पंक्ति	'११५०' के बाद—'१२०५' जुड़ेगा एवं 'निधन' शब्द काट दिया जाय
३९	'१४७२-१५४६'–दूसरी पंक्ति	'लोका' की जगह 'लोंका'
४०	'१४७८-१४८०'–पहली पंक्ति	'पोरवाल' शब्द के पहले 'मुबारिक शाह के शासन काल में शाह हेमराज मंत्री थे।' शब्द जुड़ेंगे।
	'१५४७'—पहली पंक्ति	'माण्ड' की जगह 'माण्डू'
४२	'१६७०'—पहली पंक्ति	'लोढ़ा' के बाद 'द्वारा' जोड़ दिया जाय
४३	'१७६६-१८४६'–दूसरी पंक्ति	'जी' के बाद सभी शब्द काट दिए जायँ
	'१८०३-१८४५'–दूसरी पंक्ति	'रघुनाथ जी को' के बाद 'अपने आचार्यत्व काल में' शब्द जोड़ दिये जायँ
५३	पांचवे मनु—तीसरी पंक्ति	'के' काट दिया जाय
५४	ग्यारहवें मनु—दूसरी पंक्ति	'क' की जगह 'की' होगा
	धर्म तीर्थ प्रवर्तन—छठी पंक्ति	'सर्व प्रथम' के बाद 'विधवा' जोड़े
५७	महावीरका धर्मचक्रनवीं पंक्ति	'वेलटिट' की जगह 'वेलट्ठि'
५८	चौथी पंक्ति	'२६' की जगह '२०'
६१	तेरापंथी—पांचवीं पंक्ति	'इस' शब्द काट दिया जाय
६६	(३) श्वे० तेरापंथी–पहली पंक्ति	'आचार्य–२' की जगह 'आचार्य–१'
६४	पहली पंक्ति	'मांसं च' के बाद 'मीनं च' जुड़ेगा।
८१	ओसिया तीर्थ—दूसरी पंक्ति—	'निकास' की जगह 'निवास'
८४	नीचे से ८वीं पंक्ति	'१९७२' कोष्ठक में
९७	नीचे से १३वीं पंक्ति	'रत्नप्रभ सूरि' के बाद 'द्वयं' जुड़ेगा '७७० के' की जगह 'वि० सं० ५५० में'
११५	नीचे से ८वीं पंक्ति	'संवत् [illegible]' की जगह 'संवत् [illegible]'

११९	१२वीं पंक्ति	'मोलंखी' की जगह 'सोलंखी'
१२३	१६वीं पंक्ति	'मिहिरगुल' की जगह 'मिहिरकुल'
१२५	९वीं पंक्ति	'अभिप्रेत' की जगह 'अभिप्रेय'
१३८	१२वीं पंक्ति	'एक कारण' है के बाद '।' नहीं होगी
१४९	८वीं पंक्ति	'संवत् ००' की जगह 'संवत् ७०'
१५०	३ री पंक्ति	'७७० के' की जगह 'वि० सं० ७७० से'
१६३	९वीं पंक्ति	'उपकेश' के बाद 'गच्छ' जुड़ेगा
१६३	'जैन धर्म प्रश्नोत्तर'	'जैन धर्म' के बाद 'विषयक' जुड़ेगा
१६६	अंतिम पंक्ति	'आमराज' की जगह 'आम राजा'
१७०	नीचे से ९वीं पंक्ति	'म उपलब्ध' की जगह 'में उपलब्ध'
२३४	नीचे से ६ठी पंक्ति	'गंर्थो' की जगह 'ग्रंथों'
२५४	जिनपति सूरि—प्रथम पंक्ति	'माल' की जगह 'मालू'
	नीचे से ३री पंक्ति—	'वृत्ति' की जगह 'कृति'
२७१	नीचे से ३री पंक्ति	'घटीसने' की जगह 'घसीटने'
३१४	४थी पंक्ति	'अरहनाथ' की जगह 'अरनाथ'
३१९	१४वीं पंक्ति	'नेमिमाथ' की जगह 'नेमिनाथ'
३२२	कलकत्ता–२री पंक्ति	'सुतानदी' की जगह 'सुतानटी'
३२७	नीचे से ८वीं पंक्ति	'देसर' की जगह 'देशल'
३३२	२०वीं पंक्ति	'अग्रण' की जगह 'अग्रज'
३३३	भैंसा शाह—४थी पंक्ति	'जनदत्त' की जगह 'जिनदत्त'
	—८वीं पंक्ति	'सासाणी' की जगह 'आसाणी'
३३५	अंतिम पंक्ति	'वन्हिलवाड़ा' की जगह 'अन्हिलवाड़ा'
३३९	नीचे से १०वीं पंक्ति	'रथपति' की जगह 'रयपति'
३५२	१३वीं पंक्ति	'जहांगीर दारा' की जगह 'जहांदार शाह'
३५३	१४वीं पंक्ति	'पेढ़ी' के बाद 'के' जुड़ेगा
३५८	३री पंक्ति	'अलीम' की जगह 'सलीम'
३६७	नीचे से ५वीं पंक्ति	'रत्नगभ' की जगह 'रत्नगर्भा'
३७५	नीचे से १०वीं पंक्ति	'कस्तूचन्दजी' की जगह 'कस्तूरचन्दजी'
३८९	४थी पंक्ति	'सूरजमल्नी' की जगह 'सूरजमलजी'
३९५	नीचे से ३री पंक्ति	पूरी पंक्ति नहीं रहेगी
३९६	अंतिम पंक्ति	'विजया' की जगह 'विजय'